



वैदिक  
संस्कृति और  
सभ्यता



# वैदिक संस्कृति और सभ्यता

डॉ० मु शीराम शर्मा



**ग्रन्थाम**

शोध अन्थों के प्रकाशक

रामबाग, कानपुर



पुस्तक का नाम  
वैदिक संस्कृति और सम्यता

लेखक  
डॉ० भुशीराम शर्मा

प्रकाशन-काल  
जनवरी, १९६८

मूल्य  
बीस रुपए

प्रकाशक  
ग्रन्थम  
रामबाम कागपुर

मुद्रक  
मार्कम आर्ट प्रिंटर्स  
कागपुर

## प्राक्कथन

संस्कृति और सम्मता दोनों अत्यन्त प्राचीन शब्द हैं। इनका प्रयोग हमारे साहित्य में दो भिन्न विद्याओं का द्योतक रहा है। संस्कृति में आध्यात्मिक दिशा है सम्मता में सामाजिक। संस्कृति किसी देश के आन्तरिक विकास के स्तरों की सूचना देती है, सम्मता उसके बाह्य विकास की सूचिका है। जब हम किसी व्यक्ति को संस्कृत कहते हैं, तब हम उसके शील पर ध्यान देते हैं। जब हम किसी को सम्म कहते हैं, तब हम उसकी व्यावहारिकता पर लक्ष्य करते हैं। समा के या समाज के द्योप्य जो व्यक्ति है वह सम्म है। सम्मन है, ऐसा सम्म व्यक्ति संस्कृति से मूर्ख हो। संस्कृत व्यक्ति भी सम्मन है, सम्म न हो। महात्मा गांधी इस युग में परम संस्कृत व्यक्तित्व रखते थे परन्तु अचिन महोदय सर्वत्र उन्हें नमा फकीर कहा करते थे। जब महात्मा भी ईंग्लैण्ड जाने लगे, तब कतिपय सम्म कहसाने वाले व्यक्तियों ने उनके परिधान के सम्बन्ध में संकेत किया— 'ब्रिटिश साम्राज्य के अकर्मर्ती सम्राट पंचम जार्ज से उनकी भेंट होगी, तब क्या वे इसी अर्चनमय देश में उनसे मिलेंगे?' पर महात्मा गांधी की संस्कृत आत्मा सम्मता के इस तकावे को बहुत दूर तक स्वीकार न कर सकी। उन्होंने ईंग्लैण्ड जैसे देश की छतों को छहारने के लिये चमड़े का परिधान तो स्वीकार कर लिया, पर अंगोरी को नहीं छोड़ा। इसका अर्थ यह नहीं कि महात्मा गांधी केवल शिष्ट या संस्कृत थे। हमारी सम्मति में वे सम्म भी उच्चकोटि के थे। उनका सम्पूर्ण जीवन सामाजिक व्यवहार में व्यतीत हुआ उनके असहयोग आन्दोलन तथा उत्पादक-संग्राम लोकप्रिया थे। महात्मा भी जन-जन के हृदय में अपना आसन बना चुके थे। वे स्वयं अपने और उनके साथ भारतीय समाज भी बनका। समा का यही अर्थ है। जिसमें सब समान भाव से अपने बही समा है और अपने बाला व्यक्ति सम्म है। महात्मा कीन्त्य भी इसी कोटि के थे। हमारे अर्चवारी महापुरुषों में भी अनेक इसी कोटि के हैं। महात्मा बुद्ध महावीर स्वामी पार्श्वनाथ आद्यत्र देव आदि सभी महात्मा इसी कोटि के हैं। वे परम संस्कृत हैं, साथ ही परम सम्म भी।

जिसे आज का विद्वान सम्मता कहता है भारतीय मनीषा ने उसकी भी जब हेसना नहीं की है, पर यह सत्य है कि उसने इसकी अपेक्षा संस्कृति के विकास पर अधिक ध्यान दिया है। परिधान नैसा ही हो भोजन पुष्ट-व्यवस्था भवे ही साधारण

हो पर मन संभूत होना चाहिये । मन सर्वत्र सम्भूत ही लिया जाता है । मनको सम्भ बनाओ—ऐसा उच्चारण या बचन व्यवहार में कभी किसी ने नहीं किया । अन्तः शक्तियों का संस्कार होता है और उन्हीं को संभूत बनाने के लिये हमारे यही योग्य संस्कारों का विधान पाया जाता है । इन्हीं संस्कारों ने हमारी सम्भता को भी प्रभावित किया है । हमारी समग्र जीवन प्रणाली सामाजिक व्यवहार इसी संस्कृति के विकास पर आधारित है । इसी हेतु भारतीय सम्भता को आध्यात्मिक सम्भता कहा जाता है ।

भारतीय गुरु सर्वहृत यज्ञ के समय सर्वत्र का ध्यान करते हुए मित्र बनते रहे हैं या वनस्पत की ओर चलते रहे हैं । उन्होंने जलों के बल पर नहीं, धर्म के बल पर अपनी विजयपथाका पहराई है । इतिहास इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है । अशोक तथा हर्षवर्धन की एतद्विषयक जीवन-गाथाएँ इतिहास प्रख्यात हैं । इनसे भी पूर्व सुबुर जदीव के खिबि मयूरम्बर नाम्नाता रघु शाहि राजाओं की कथाएँ भी साहित्य में अभी तक सुरक्षित हैं ।

आर्य संस्कृति विश्व संस्कृति है, ऐसा हमारा अभिमत है । वह मनुष्य-मनुष्य में देश-देश में भेद नहीं करती । सभी मानव समूह संतान हैं । उन सबको निवास देने वाली पृथिवी माता है । अथर्ववेद का पृथिवी मुक्त पृथिवी की बन्दना करता है किसी भारत ईरान अरब चीरिया चीस इटली या अफगने जर्मनी की नहीं । इस पृथिवी पर एक ही संस्कृति फैली है । सम्भताएँ भले ही देश-काल के आधार पर अनेक रूपा रही हों रही हैं और आगे भी रहेंगी पर संस्कृति सभी देशों के लिये एक है । सम्भताएँ परिवर्तनशील हैं पर संस्कृति अपरिवर्तनीय है । अथर्व किसी देश-विशेष की नहीं पृथिवी भर की सम्भति है । वैदिक संस्कृति इसी हेतु पुरुषाकास में पृथिवी भर पर फैली हुई थी । भारतीय गुरुओं की भांति ईरान के गौदेरबाँ जैसे बाबयाह तथा अरब के खलीफा समर जैसे संस्कृत महापुरुषों की कथाएँ भी इतिहास में अमर हैं और संस्कृति के एक समान रूप की मुक्त कण्ठ से घोषणा कर रही हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम वैदिक संस्कृति और सम्भता है । पारशर्य सैनी के अभिमानी विद्वान इसका एक ही अर्थ सवाबेंगे कि ग्रन्थ में वेदपुराण संस्कृति और सम्भता के स्वल्प का विवेचन किया गया है पर भारतीय आर्य प्रणाली का अनुमन करने वाले विद्वान कह सकते हैं कि वेद अपोस्तेम है अतः यह किसी धर्म विवेच की नाम्भताओं का नहीं प्रस्तुत सार्वभौमिक तथ्यों का उद्घाटन करता है । क्या है यह नहीं क्या होगा चाहिये—इसका उल्लेख करना वेद की विधिष्ठता है । वेद में माना प्रकार के नामों आवासों रथों नावों अस्त्रों आदि के नाम आते हैं जो संकेत करते हैं कि मानव को इन विधाओं में सम्भता का विकास करना चाहिये । इसी प्रकार वेद अज्ञान्य तप वीक्षा यज्ञ आदि की प्रशंसा के द्वारा सांस्कृतिक विकास की पद्धति को भी स्पष्ट करता है ।

वैदिक संस्कृति को आर्य संस्कृति या मानव संस्कृति भी कहा जा सकता है ।

वेद नानाविध विश्वाधिरागि, पुरुषावस, विश्वाकृताणि तन्मै द्वारा मानव के अनेक रूपों की ओर निर्देश कर रहा है। हम सब हैं ही विविध रूपों वाले। बाबायों ने सद् रज, तम के तीन भेदों को तीन मुणों तीन रूपों तक ही सीमित नहीं किया है वे इनके सात-सात अर्थात् इक्कीस विभाग करके फिर इक्कीस की संख्या को संसृष्टि-संकरावि द्वारा नानात्व की ओर से गये हैं। यह नानात्व एवं बहु रूपता बहुत्व से सीमित होती हुई एकत्व में भी परिणत होती है। सद् रज तम तीनों गुणों की जिस साम्यावस्था की ओर ऋषियों ने संकेत किया है वह इसी एकत्व की निर्देशिका है। ब्रह्म संस्कृति इसी एकत्व की ओर से जाती है। सम्मता बहुक्या है, क्योंकि उसका सम्बन्ध ही सृष्टि की इस विविधरूपता के साथ है। किसी को जानना ये प्रेम है तो किसी को नेहूँ जो फस दूब आवि से। किसी को पानामा पसन्द है तो किसी को बोली, नैकर या पेंट। कोई मंगलतट पर कूटी में रहना चाहता है, तो किसी को उष्ण अट्टालिकाओं के बीच से रुचि है। किसी का स्नान स्वाध्याय की ओर है तो किसी का कृपि व्यापार श्रम आदि की ओर। इसी हेतु संस्कृति एकत्व का तो सम्मता विविधता का संवेद्य-बाह्यन बनी है।

इस ग्रन्थ में संस्कृति और सम्मता दोनों का विस्लेषण किया गया है। अपना अपना आग्रह या अस्मिता परोक्ष रूप से सभी की हृदयों में वर्तमान रहता है प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक भी इसका अपवाद नहीं होगा। फिर भी लेखक ने प्रयत्न इसी दिशा में किया है कि वह स्व आग्रह को ठट्ठस्य रहे और वैदिक विचार-निधि की व्याख्या भर कर दे। कठिपय अन्य ग्रन्थ भी इस विषय पर लिखे जा चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ अपने लक्ष्य प्रगासी तथा स्थापनाओं में उनसे पृथक् दिखाई देगा। इसके लिये लेखक मौलिकता का दावा नहीं करता। वेद गाथा के निरूप सत्सजन ने जो सामग्री दे दी, वही इस ग्रन्थ में लेखक के शब्दों में अभिव्यक्त हो गई है।

ग्रन्थ के लेखन कार्य में प्रिय शिष्य श्री कैलाश नारायण बाबपेयी एम ए साहित्याचार्य ने जो निष्पन्न सहायता की उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। उन्होंने लेखक के साथ पूरे डेढ़ वर्ष तक उपस्थिति की। मंगलमय समयान उन्हें मंगल पत्र पर निरन्तर अग्रसर करते रहे।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मेरे अवकाश ग्रहण के उपरान्त आर्थिक सहायता देकर अनुसंधान कार्य को सुगम बनाता रहा है इसके लिये मैं उसके अधिकारियों विशेषतः श्री कोठारी जी को हृदय से अभ्यवाह देता हूँ। वैदिक निबन्धावलि उत्सवर्धन वेदार्थ बरिहदा अप्यारममुखा (A Comparative Study of vaidik Hymns) तथा प्रस्तुत ग्रन्थ अवकाश ग्रहण के उपरान्त ही लिखे गये हैं और उनके लेखन के पीछे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेष हाथ है। सबसे अधिक तो उस महाशक्तिका अनुकम्पा-पूर्ण बरह हस्त है जिसके बिना बड़े से बड़े ज्ञानी की भी यह-योजना संभव नहीं होती। उसी का सम्बन्ध, उसी का

ब्रह्मसम्यं उषी का भाषय इयं जीवनं को यही तक से आया है । वह सबैव सपरम  
यनी रहे यही आकांक्षा है ।

परिपुषा परस्तात् हस्तं दद्यात् ब्रह्मसम्यम् ।

पुनर्नोत्पद्ये माजतु ॥

आत्मा रश्मिं न विद्वयो रश्मिमा शब्दसत्पते ।

ब्रह्मसि रश्मा सपश्ये आ ।

सागब्रह्मसम्यम्

९/७० आर्यनगर, कागपुर  
मकर संक्रान्ति, २०२४ वि०

विनयावनत

मु शीराम शर्मा

## प्रथम भाग : वैदिक संस्कृति

१	संस्कृति स्वरूप एवं सीमा	९-४५
क	संस्कृति की अवधारणा	११
ख	संस्कृति और सम्प्रदाय	१५
ग	संस्कृति और शास्त्र	१७
घ	शास्त्र और साहित्य	१८
ङ	संस्कृति और साहित्य	२०
च	संस्कृति और कला	२४
छ	संस्कृति और सौन्दर्य	२९
ज	संस्कृति का विकास और पंचजन	२८
झ	संस्कृति और व्यक्तित्व	३१
ञ	संस्कृति और नव्य	३८
ट	सर्वज्ञान यज्ञ	४२
२	संस्कृति और संस्कार	४६-११६
क	संस्कार अर्थ, प्रकृति एवं महत्व	४९
ख	पौंड्र संस्कार और सांस्कृतिक विकास क्रम	५२
•	(१) पर्याधान, (२) पु संस्कार, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) बाणकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण, (७) अन्न प्राशन, (८) भूषण कर्म, (९) कर्णवेध, (१०) क्षणयन, (११) वैशारम्भ (१२) समावर्तन ।	
(१३)	विवाह—पार्हस्य-सर्पाया, सिंहासनोत्थान	६०-१०१
(१४)	बालप्रत्य	१०९
(१५)	सम्पाद्य आभय	१०८
(१६)	अग्नेयि	११२

## ३ योग और संस्कृति

११७-१५७

क	योग का अर्थ	११७
ख	योग के अष्टांग	११८
ग	यम	११८
	(१) अहिंसा (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह (६) यमों का मूल्यांकन	११९
घ	नियम	११९
	(१) शौच (२) संतोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय (५) ईश्वर प्रणिधान (६) नियमों का महत्त्व	१४३
ङ	आसन	१४४
च	प्राणायाम	१४६
छ	प्रत्याहार	१४८
ज	धारणा	१५०
झ	ध्यान	१५२
ञ	समाधि	१५५
ट	योग और उपनिषद्	१५७

## ४ संस्कृति और चतुर्वर्ग

१५९-१९९

क	चतुर्वर्ग का महत्त्व	१५९
ख	धर्म	१५९
	भूति भूमा धन, अस्तेय शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बी, विद्या सत्य, अक्रोध, बीड़ों का अष्टांग मार्ग ।	
ग	अर्थ	१७८
घ	काम	१८३
ङ	मोक्ष	१८३

## ५ संस्कृति तथा काण्डवय

२००-२२६

क	त्रिगुणात्मक जगत और काण्डवय	२००
ख	ज्ञान काण्ड	२००
ग	कर्म-काण्ड	२०७
घ	भक्ति-काण्ड	२१०
ङ	त्रिगुण सीता	२१३
च	भूतपक्ष	२१५
छ	मानवता	२१७
ज	मानवता के पुजारी	२२०
झ	मानवता का विकास और संस्कृति	२२२

६ संस्कृति और विकास-पद्धति	२२७-२३५
क विकास-चक्र	२२७
ख शरीर	२२७
घ प्राण	२२८
च मन	२३०
छ बुद्धि	२३१
ज अहंकार-समन	२३३
७ उपसंहार	२३६-२४४
क एकत्व	१
ख कृष्ण प्रश्न	२३६
ग अमृत पुत्र	२४२

## द्वितीय भाग . वैदिक सभ्यता

१ वैदिक सभ्यता	२४५-२५१
क वैदिक सभ्यता	२४७
ख सभ्यता	२४७
घ सभ्यता और वर्ग	२५०
२ वैदिक जीवन और व्यवहार	२५२-२८१
क खानपान	२५२
ख कृषि	२५३
घ बासा	२६१
च पाश और वस्त्र	२६६
छ व्यापार	२७१
३ युद्धकला	२८२-२८४
क युद्ध और राज्य-व्यवस्था	२८२
ख सैनिक एवं सेनापति के गुण	२८८
घ सेना की स्थिति तथा अग्रह-रचना	२८६
च शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय	२९०
छ विस्वाधवाती से बचना	



४ कला, विज्ञान और दर्शन	२९५-३२१
क कला-कौशल	२९५
ख विज्ञान	३०२
घ मायुर्वेद	३०३
च व्योमवि	३०३
ङ तरङ्ग-चिन्तन	३१२
५ साहित्य	३२२-३४६
क वेद	३२३
ख उपवेद	३२५
घ ब्राह्मण	३२६
च आरण्यक एवं उपनिषद्	३२८
ङ वेदांग	३३०
च बृहदेकता तथा अनुक्रमनिकाएँ	३४०
छ भाष्यकार	३४१
ज अग्न साहित्य	३४२
६ सभ्यता और संस्कृति से सम्बंधित मूल प्रमाण	३४७-३५९
क कला का विकास	३४७
ख हस्तपा तथा मुरें मोवड़ो	३४८
घ तलबिला	३५१
च नासन्दा	३५३
ङ सरलाच	३५३
ज कला सम्बन्धी अन्य प्रमाण	३५५
७ भारतीय सभ्यता का विस्तार	३६०-३६५
क सांस्कृतिक भाषा	३६०
ख विविष्टप तथा पूर्वीय द्वीपसमूह	३६१
घ चीन तथा पक्कन	३६२
च हिताई और मितानी	३६३
ङ अन्य प्रदेश	३६४
८ हमारी विशेषतायें	३६६-३७३
क धनसम्पदा	३६६
ख राजनीति	३६७
घ सहयोग	३६८
च आप्तात्मिकता	३७१

प्रथम भाग

वैदिक संस्कृति



# १ । संस्कृति: स्वरूप एवं सीमा

## क संस्कृति की अवधारणा

संस्कृति का अर्थ है संस्करण परिमार्जन, सोचन परिष्करण अर्थात् ऐसी क्रिया जो व्यक्ति में निर्मलता का संचार करे। अनेक व्यक्ति मिलकर समाज तथा जाति का निर्माण करते हैं। अतः निर्मल एवं संस्कृत व्यक्तियों के समाज तथा राष्ट्र भी संस्कृत होते हैं और उनके निर्मलता विधायक तत्त्व संस्कृति के मूल सूत्र बन जाते हैं। आदर्शन हिन्दी में संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर शब्द का पर्यायवाची बन गया है। 'कल्चर' का विमुख पर्यायवाची शब्द कृष्टि है। जैसे कृषि कर्म में भूमि का संशोधन उपप्राप्त बीजवपन किया जाता है और सिंचन निरूपण आदि द्वारा आवश्यक संस्कारों का संस्पर्श देकर भूमि को उत्तम सम्पन्न बनाया जाता है वैसे ही मानव-मानव में संस्कारों द्वारा विकास की भूमिका तैयार की जाती है। जिस मानव का मन नितना ही अधिक विकार रहित तथा विमुख है, उतना ही अधिक वह संस्कृत कहा जाता है।

विमुख निर्मलता परिष्कृति एक मानव से चल कर जैसे समाज तथा जाति की संरक्षित होती है उसी प्रकार वह विश्व भर की जाती भी बन सकती है। संस्कृत कि इस व्यापक रूप को वेद 'विश्ववारा संस्कृति' का नाम देता है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय के १४वें मन्त्र में सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' जो पद आता है वह विश्व भर के लिए बरणीय संस्कृति को प्रथम या सर्वप्रमुख कहता है। सम्प्रति देश विदेश के अनुसार अपने रूप में दूसरी सम्प्रदायों से पूरक हो सकती है परन्तु संस्कृति जो विश्व भर की एक ही होगी। सभी मानवों का आन्तरिक विकास एक ही पद्धति से होता है। इस विकास के मूल में अविच्छिन्न सुधीर्घ्य की प्रतिष्ठा है। विकासक्रम में आगे जाने वाले समयसोप आदि धीर्घ्य की अविच्छिन्ना बलवती शक्ति पर ही अवसंबित है। उपनिषद् की रमि का पोषण आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में इसी मूल विमुख पर आधारित है। धीर्घ्य की रक्षा जहाँ व्यक्ति को तेजस्वी तथा सदाचार-मर्यादा बनाती है, वहाँ वह जाति तथा विश्वभर को सदाचार की ओर ले जाती है। कामुक व्यक्ति बाह्य से सम्म होने का शौच भले ही कर से, पर वह अन्तर से संस्कृत नहीं हो सकता।

औपसर्गिक विषयवस्तु में 'कल्चर' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined, the intellectual side of civilization, the acquainting ourselves with the best.

मन का शिक्षण तथा परिष्करण जिनसे रुचि एवं व्यावहारिक आचरण का निर्माण होता है संस्कृति के उपादान है। संस्कृति सम्पत्ति का वैदिक पार्श्व है जिससे हम सर्वोत्तम के साथ अपना ससर्ग स्थापित करते हैं।

संस्कृति इस रूप में अपूर्णता से पूर्णता की ओर से आने वाली है। जो व्यक्ति पूर्णता की ओर में संलग्न है जो चतुर्दिक प्रसूत बंधकार अज्ञान अविशेष से निष्कम कर ज्ञान और प्रकाश के अनुशीलन में मग्न है जो माधुर्य, सौन्दर्य तथा ज्योति का उपादान है वही संस्कृत कहसने का अधिकारी है। व्यक्ति एवं विश्व अपनी आन्तरिक प्रतिभा का इसी रूप में प्रकाशन करते हैं।

संस्कृति व्यक्ति कल समाज जाति तथा विश्वभर के समस्त आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिपासित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संस्कृति की प्रेरणा देते रहते हैं। संस्कृति वस्तुतः मानवता का मेरुदंड है। वह शिष्टता सौजन्य तथा शील की आभारविता है। किसी जाति की ज्ञानधारा किस विज्ञान में प्रवाहित हुई है उसकी बुद्धि-गरिमा में बौद्धि ने स्थायी मूल्यवान् तत्व हैं उसकी भावना कितनी विस्तृत तथा उद्देश्य विवर्तना प्रोत्साहन एवं मनोवृत्ति कितनी निर्मल और अनहित-साधिका है उसकी जीवनचर्या कितनी अहिंसामयी है वह सत्य के लिये कितनी साक्षात्कारित है— एक शब्द में वह उत्तमप्रयोजन है अथवा अवमानमुखी इसी से उसके संस्कृत अथवा अमंगल्य होने का परिज्ञान हो जायगा।

‘भारतीय माधन्य और भूर-ग्राह्य’ में हमने संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार की थी —

मपकती हैं। संस्कृति मानव-महिमा का उच्च स्तर से उद्बोधन करती है।

विश्वभर के दार्शनिक अपना ध्येय सभी एक ही सत्ताओं पर ही केंद्रित करते रहे हैं। ये सत्तायें हैं — प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा। इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? प्रकृति की व्यवस्था का संभालन कहाँ से होता है? प्राणियों के विविध रूपों में आभिर्भाव एवं तिरोभाव का प्रेरक केन्द्र कौन है? ये प्रकृति तथा परमात्मा दोनों में किस रूप में भिन्न हैं? ये प्रश्न आज के नहीं शास्त्र प्रश्न हैं। प्रकृति मेरी सहचरी बाहर तो है ही वह शरीर के अन्दर-अन्दर बहुत दूर तक मेरा साथ देती है। परमात्मा भी मेरा सहचर है। वेद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को समुच्चा तथा सत्ता कहता है। वेदांत-दर्शन मंडितपरक कहा जाता है पर 'मुहा प्रविष्टो आत्मानो हि तद्व्यंशमात्' १२११ इस सूत्र से हृदय की मुहा में प्रविष्ट जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों की ही सत्ता उसे स्वीकार है।

वेद के शब्दों में प्रकृति स्वधा है पुरिह है तथा पित्र्यमिमा पित्रिपितृषा अवा ममृता, अविदि जत् अप अवि सिन्धु, ब्रह्म ऋत विबाधु आदि अनेक नामों वाली है। उससे जीव को विविध प्रकार की भोग सामग्री प्राप्त होती है जिसे वह अपने कौशल द्वारा और भी अधिक उपयोगी बना लेता है। प्रकृति के क्षेत्र बहुमुखी हैं जिनका संपूर्ण ज्ञान अभी तक मानव को नहीं हो सका। जितना अंश ज्ञात हो सका है, उसी ने हमारे क्रिया-कलापों को इतना अधिक प्रभावित किया है कि हमारी जीवनशायर उससे असंपृक्त होकर बस ही नहीं सकती। अपनी विविध पद्धतियों को मिये हुए हम दिन-रात उसी में जकड़कर काटा काटे हैं। हमारी दैनिक मौखिक जीवन पर्या ही नहीं आध्यात्मिक सुष्टि भी उसी के संकेतों पर चलती है।

प्रकृति के इस क्षेत्र में बैठे छो पशु-पक्षी आदि सभी भाग ले रहे हैं पर मानव का भाग विशेष महत्त्व रखता है। ऐतरेय उपनिषद् के आचार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृति के सभी दैवी अंश मानव शरीर में ही अवस्थित हुए हैं अन्य जीवियों में नहीं। यही कारण है कि प्राणियों में सर्वाधिक विकसित प्राणी मानव को ही प्राप्त है। इसी के माध्यम से उसने काष्ण धर्म वर्तन विज्ञान आदि का सूत्रन किया है तथा जीवन-परिभोजन की परिपाटी निकाली है।

लोक-जीवन की विविधतायें तथा आध्यात्मिक क्षेत्र की उपलब्धियाँ जिनसे मानव की पूर्णता का बोध होता है संस्कृति के आवश्यक अवयव हैं। स्थितोमा के मतानुसार मानव ज्यों-ज्यों स्वतंत्र होता जाता है शरीर प्राण उद्वेग आदि की अधीनता से मुक्त होता जाता है त्यों त्यों वह पूर्णता की ओर प्रयाण करता जाता है। जब वह विमुक्त रूप से ज्ञान के प्रकाश में विचरण करने लगता है और उद्वेग आदि के बंधीभूत नहीं होता अर्थात् इनको अपने वश में कर लेता है तभी वह विकास की ऊर्ध्व दिशा पर अवस्थित होता है। संस्कृति का यही चरम बिन्दु है।

यदि हमारी आत्मिक क्षमता कम होती है विचार-व्यक्ति मृदुल है, सत्य, शिव और सौंदर्य के प्रति आकर्षण का अभाव है

नहीं है। हमारी भावना में सीधता तथा चित्तशुद्धि में बिस्तार नहीं है। हमारे हाथ पैर संघे हुए हैं। किसी चीज का भीतरांतर सुन कर न घेर आये बढ़ते हैं। न हाथ सहारा देने के लिए उठते हैं, सो हम संस्कृत कहाँ ? विकसित कहाँ ? पूर्णतः हमसे बहुत दूर पड़ा है।

जीवन की जिस विविध विधि को अपनाकर हम प्राणीमात्र के साथ सहयोग एवं सहानुभूति की स्थापना करते हैं। सबको अपना समझने में सफल होते हैं। मनुष्यमत्तारों की भिन्नरूपता प्रभावों एवं रीति प्रथासियों की अनकता जहाँ मानव मानव में भेद नहीं बालसी सत्-कुम यत्र निःशेष जहाँ सबके प्रेम के अभिप्राय है पारस्परिक सौहार्द जिसकी अभिव्यक्ति निरूपता है। सचेतनजीवता जिसका अन्तिम बिन्दु है। वही संस्कृति है। उसके अभिव्यक्ति-आप्यम भले ही विरूप हों पर उसकी आत्मा सर्वत्र और सर्वत्र एकरूपा है।

संस्कृत व्यक्ति संकीर्ण नहीं सहिष्णु होता है। उसकी उदारता में काले-गोरे, पीले नाटे श्वेत भस्मे, सभी पुरुष सभी समा जाते हैं। सबको आत्म-सदृश मान कर वह स्वयं निर्भय हो जाता है और प्राणिमात्र को निर्ममता का दान मुक्त-हस्त होकर देता है। उसकी विद्या विचार के लिये नहीं ज्ञान के लिये होती है। उसकी शक्ति उसका बल पीक्ष्य पर हीन नहीं पर राज में प्रयुक्त होते हैं। उसका बल मद और अहंकार के लिये नहीं दीनबल भाव के लिये काम आता है। उसका मध्यम स्वयं का निराकरण बनता है। उसका धर्म दूसरों को आनन्द करने के लिये नहीं विधान देने के लिये होता है।

जहाँ पशु-बीजियों में स्वर्ण को उल्लासते हुए निकल जाइये गृहों में ताता लगाने की आवश्यकता न हो जहाँ नारी सम्मान की भावना समझी जाती हो और किसी भी पुरुष की कृष्टि उस पर न पड़ती हो जहाँ अक्षत एवं पंडु को भी जीवन का अधिकार प्राप्त हो जहाँ खानी तथा सदाचारी को पूज्य दृष्टि से देखा जाता हो जहाँ श्रमदान की नहीं शतनता की आवश्यकता की सचेष्टता की शान्ति विद्यमान हो जहाँ चारों ओर स्वस्वता के वर्चन होते हों वातावरण में निर्ममता की सुगन्ध फैली हो प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्य परामर्श तथा अकरणीय से हाथ सींचने वाला हो जहाँ नील से पुष्ट तथा छाबुता से अनुप्राणित हृदय विद्यमान हों संस्कृति का नहीं निवास है।

ब्रह्माण्डीय ग्रह एवं नक्षत्र स्वार्थरहित होकर एक दूसरे की सहायता करते हुए अपने-अपने अक्ष पर तथा नियत फान्ति-कक्षा में घूम रहे हैं। कहीं राग और द्वेष नहीं है। उनका आसक्त प्रसरणशील है। उनका अस्तित्व अपने लिये नहीं अपने अन्तर बसने वाले प्राणियों के परिपोषण के लिये है। सबके अन्तर एक अद्भुत बल है विभिन्न निष्ठा है। न जाने कब से वे इस उपरजर्वा में जीते हैं ? क्या हम इनसे अपने आममवाताओं से अपने परिपोषकों जीवनवाताओं से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते ? इन सबका एक कृदुम्बल बना हुआ है जिसमें विषह नहीं सहवास की अनुकरणीय भावना है। अनुरिक्त स्वन्तिमता तथा शान्ति का साम्राज्य है। फिर

मानव क्यों असान्ति एवं अकल्याण का बूढ़ बना हुआ है ? क्या वह वसुधैव कुटुम्ब-  
कम् के सिद्धान्त को नहीं अपना सकता ? क्या विश्वमैत्री तथा विश्वभ्रान्ति उसके  
बीज का स्रव्य नहीं बन सकते ? क्या सर्व-स्वातन्त्र्य की कल्पना उसे मुग्ध नहीं कर  
सकती ? क्या वह ससीमता के आकार का उत्सर्जन करके असीम का स्पर्श करने के  
सिमे सामायित नहीं हो सकता ? हो सकता है संस्कृति की सभाजनार्थ उसमें  
बिद्यमान है। औदार्य के अंकुर जल नहीं गये प्रकट होने का सामर्थ्य रखते हैं।  
पुरावास में उन घुबूर युगों में जिन्हें अयकार के युग कहा जाता है वास्तव में  
संस्कृति का सूर्य अपने मध्याह्न पर पहुंच गया था। वह काम आज पुन सीटाया  
जा सकता है।

वेद ने संस्कृत पुरुष को आर्य की सजा दी है। वैदिक आर्य स्व-वर्तमान-निष्ठ है,  
परोपकार-परायण है। उसका भीर्य ओज तेज सभी जन्मनीय हैं। वह उच्च श्रोत्र  
से सम्पन्न है दिव्यता का साथी है और यजन-जीस है। वेद ने आधार पर जब हम  
उसके स्वरूप का विवेचन करते हैं तो संस्कृति का स्वरूप भी स्पष्ट हो उठता है।

## ख संस्कृति और सम्मता

संस्कृति और सम्मता दो भिन्न-भिन्न स्थितियों की चीतक हैं। एक को आत्मा  
तो दूसरी को शरीर कहा जा सकता है। संस्कृति आन्तरिक नैर्मल्य है तो सम्मता  
बाह्य प्रमाण। एक में शान्ति है तो दूसरी में जमक-धमक। एक में प्रबुद्धता है  
तो दूसरी में उपयोगिता। एक केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तन करती है तो दूसरी परिधि  
की ओर प्रवृत्ति। एक में नि श्वेयस है तो दूसरी में अम्यदय। एक में नितान्त  
ऐकान्तिकता है तो दूसरी में सामाजिकता।

सम्मता समा के योग्य जनन का आवेष्ट होती है। हमारा उठना-बैठना, व्यवहार  
करना बेलभूषा ज्ञान-पान सबाध-विबाध कमा-कुबलता नृत्यगीत वेश-विवेश  
के सम्बन्ध सब में एक प्रकार की जालीनता होनी चाहिये। हमारा बाह्य व्यापार  
क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसके साथ संतुलन बनाये रखने के लिये हमें अनेक बार  
अपने को बचाना पड़ता है। यह सामाजिकता की मांग है। इसमें व्यवहार-कौशल  
की परीक्षा होती है। समाज में एक ही स्वभाव के व्यक्ति नहीं होते। सबकी भिन्न  
भिन्न रुचियाँ हैं भिन्न भिन्न लक्ष्य हैं भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र हैं। हमें सबके साथ अपने  
सम्बन्ध का निर्वाह करना है। इसके लिये पारस्परिक सहयोग नितान्त अपेक्षित है।

सम्य व्यक्ति संस्कृत होगा ही यह अनिवार्य नहीं है। बड़े-से-महा सम्य व्यक्ति  
व्यवहार-कुशल होने पर भी अत्यन्त असंस्कृत हो सकता है। बातचीत करने में  
निपुण बेलभूषा से नागरिकता की छाप सगाये हुये सभी प्रकार से टिप-टोप  
व्यक्ति में एक भयंकर जोर के दर्शन हो सकते हैं। ऊपर से मृदुल दिखाई देने वाले  
मानव में एक भयंकर मेढ़िया निवास कर सकता है।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में ग्रामीण व्यक्ति असम्य हैं और नगर का निवासी  
सम्य है परन्तु ग्रामीण व्यक्ति में जो निश्चलता है चहुँपता है चरमता है  
यह कृमिमता, छलकपट एवं भ्रूँसता से गरे नागरिक में कहाँ है ? इसका जर्न यह



नहीं मगामा चाहिए कि सभी नागरिक छत्री हैं और सभी ग्रामीण सरल । संस्कृति की कसौटी संयम है । वह ग्रामीण तथा नागरिक दोनों में उपसम्पन्न हो सकती है । बाह्य जीवन से जीवन के स्तर को उन्नत रखने वाला व्यक्ति संस्कृत भी हो सकता है और असंस्कृत भी । संस्कृति जीवन की पवित्रता में है। वेप धूपा के मापदण्ड में नहीं । सम्पत्ता परिवर्तनशील है संस्कृति नहीं । नम पनड़ी तिर पर मोमा देती थी तो आज टोपी मोमायमान है । कभी घोड़ी-कुत्ता जमता था तो आज बुसर्ट और पैट जमती है । कभी चौके में बैठ कर भोजन किया जाता था तो आज कुर्ची मेज लगा कर । ये विभिन्नपुगीय सम्पत्ताओं के निवर्तन चिह्न हैं । संस्कृति एकरूपा है । तथापि मैत्री सहिष्णुता संव्यपादिता अहिंसा आर्जव आदि गुण जैसे पूर्वकाल में मानव को अभिनवनीय बनाते थे वैसे ही वे आज भी बनाते हैं । इनके मूल्यों में अन्तर नहीं पड़ा ।

सम्पत्ता निश्चितरूप से मौक्तिक है । यह बाह्य आभूषण मात्र है । संस्कृति आत्मा का नृगार करती है । हृदय को उधात बनाती है तथा मन को विमल विचारों से सुशोभित करती है । सम्पत्ता बहिर्मुखी है तो संस्कृति अन्तर्मुखी । सम्पत्ता नवीन आविष्कारों उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक संस्थाओं से अपने स्वल्प को उत्तल करती है और जीवन यात्रा को सुगम तथा सरल बनाती है । संस्कृति इनके अभाव में भी फलती और फूलती है ।

सम्पत्ता का जीवन प्रकृति के सुरम्य वातावरण से आज पुष्क हो गया है । वह रौबराब की कृत्रिमता से आच्छादित है । इसी कारण संस्कृत जीवन से उसका सूत्र विच्छिन्न दिखाई देने लगा है । इसमें आवर्ष तो रहा ही नहीं मघार्ब से भी यह कोर्षों दूर लड़ा है । यह मानवता के विकास का नहीं ह्रास का सूचक है । वैयक्तिक स्वार्थ प्रान्तवास मठवास वैज्ञानिक हठधर्मिता साम्प्रदायिकता आदि हैं असहिष्णुता वर्द्धमान हो रही है जो मानवता के ह्रास ही नहीं संहार की भी अभ्युक्ति है । मौक्तिक समृद्धि अल्पय बड़ रही है पर उसी मात्रा में आध्यात्मिकता घटती जाती है । मोटरों कल-कारखाने रीकेट मिसिस्यू आदि का आधिक्य है, तो सहयोग, समवेचना परबुद्ध कातरता आदि की म्युलता भी । बाह्य उपादान समृद्ध और समुन्नत हैं तो आन्तरिक सम्पत्ता सीन से क्षीणतर होती जाती है ।

आज भी महती आवश्यकता सम्पत्ता को संस्कृति की ओर मोड़ने की है । जो प्रेरणा जो उत्साह जो क्षिति मौक्तिक उपादानों के जुटाने में प्रदर्शित हो रहे हैं वैसे ही आत्म-सन्तुष्ट प्रेरक-उत्पन्न आन्तरिक विकास के उद्बोधन में भी प्रयुक्त होने चाहिये । जिन आलोक-स्तम्भों की प्रतिष्ठा जल बल तथा अन्तरिक्ष में आयोजित हो रही है, वैसे ही मन तथा बुद्धि में भी होनी चाहिये । प्रदत्तीय तथा साम्प्रदायिक नहीं मानवीय एकता की प्रतिष्ठा हमारा सक्न होना चाहिये । अन्तरात्मा की यह चिरस्थान मांग है, जिसे दृढ़ता कर आज तक न कोई धुन्नी हुआ और न मविष्य में होना ही ।

## ग संस्कृति और शास्त्र

बहा जाता है—शास्त्रों पर स्थित राष्ट्र शास्त्र चिन्ता प्रवर्तित है। जब राष्ट्र शास्त्र से सुरक्षित होता है, सभी शास्त्र-चिन्तन का प्रवर्तन होता है। इसका सामान्य अर्थ यही है कि शास्त्र की चिन्तना या विचारणा या बौद्धिक क्षेत्र के कार्य सभी समय हैं जब देश भीतर और बाहर से सुरक्षित हो। खान्द मिथपद्वन बामुमंडम में ही शास्त्रचर्चा समय है। जिस भूमि पर निरन्तर सभ्य ही बसता रहेगा जहाँ भिर पर युद्ध के बाद ही मंदराते रहेंगे जिस जनता को सबैव संकटों का ही साम्मुख्य करना पड़ेगा वहाँ रच-बुर्ख साहसी सैनिक तो उत्पन्न होते रहेंगे पर विचारणा के अभाव में दार्शनिक जग न से सँगे।

जब देश की रक्षण-शक्ति प्रबल होती है तो उस पर जाने वाले उत्पात और बगडर शांत हो जाते हैं। ऐसे सुरक्षित देश में ही बुद्धि विचलित होकर नाना रमणीय चिन्तन क्षेत्रों में विचरण करती है और परिणामतः विद्याम शास्त्रीय एवं कलात्मक वाङ्मय अस्तित्व में आता है। संस्कृति ऐसे वायु-मण्डल के निर्माण में स्वतः सक्षम है। अब जहाँ संस्कृति का विकास होगा वहाँ शांति का साम्राज्य होगा और वहाँ शांति का साम्राज्य होगा वहाँ शास्त्र-चिन्तना एवं रचना भी होगी। युद्ध का मुख्य आधार स्वार्थ का तोषण तथा अहङ्कृति का पोषण है जो सांस्कृतिक चेतना के उद्बुद्ध होने पर पनप नहीं पाते। जब मानव संस्कृत होगा तो वह स्वभावतः बुद्धि के शासन में कार्य करेगा। इस कार्य से ही चिन्तन और उपयोगी एवं सतित कलाओं का उद्भव होता है।

संस्कृति और साहित्य का अन्वयोन्वयम सम्बन्ध भी है। संस्कृति साहित्य की जन्म देती है तो साहित्य संस्कृति के विकास में योग देता है। संस्कृति अविच्छिन्न साहित्य में होती है तो साहित्य के द्वारा संस्कृति का भी पोषण होता है। साहित्य वहाँ जीवन का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ उसका संचालन भी है। जहाँ वह संस्कृति का चिह्नबोधता है वहाँ उसे प्रेरणा भी देता है। संस्कृति के सभी सत उत्तम साहित्य में संरक्षित पाते हैं जिसका अध्ययन एवं अनुशीलन अध्येता के अन्दर विचारों को उत्तेजित करता है और परिणामतः चिन्तन का क्षेत्र उर्वर बना रहता है।

शास्त्र एवं कलाओं साहित्य का शरीर बाण्य करके अपने जन्मदाता देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर पाते हैं। वे देश-देशान्तरों में फैल कर और विश्वभर की सम्पत्ति बनकर न जाने कितने मानवों के मानस का परिष्कार करते हैं। भारत के उपनिषद् ईरान अथवा यूनान अमेरिका तथा जापान आदि देशों में पहुँच कर वहाँ के प्रमुख चिन्तकों तक को प्रेरणा देते रहे हैं। जर्मनी के गोपनहावर मैक्समूलर प्रभृति बौद्धों के विद्वान् उनकी यज्ञोपासना पाते बकते नहीं। साहित्य की यह प्रबलमानता उसकी प्रबलचिन्तुता को तो प्रकट करती ही है उसके रहस्यों का उद्घाटन करने में भी समर्थ है।

शास्त्र की चिन्ता और निमित्त जीवन के सत एक निव दोनों ही संकटों का उद्धार कर उन्हें सीन्दर्य से संबन्धित करती है। वह किसी देश के । ।

## १३ । नैतिक संस्कृति और साम्यता

को सर्वजनसुखम बना देने का अधिक साधन है । शास्त्र का निर्माण अपने देश के उच्चस्तरीय सांस्कृतिक वैभव एवं आदर्शों की गरीबी की स्थिति की भी सूचना देता है । उसमें देश का उच्चतम पक्ष गिना कर सामने आ जाता है ।

शास्त्र विग्रह के स्थापन पर निश्चित विश्वास का संकेत करता है । वह आकाश में न उड़कर पृथ्वी की ठोस भूमि पर पैर रखता है । विकृतियों के स्थान पर उससे सुकृतियों को प्रथम मिलता है । वह हितकर हानि के साथ उदात्तक भी है । वह प्रेम एवं भय दोनों का साधक है । उससे सीक तथा परसोक दोनों बनते हैं । दयार्थ का आलोक और आदर्श का आकर्षण दोनों उसमें विद्यमान रहते हैं । संस्कृति की पृष्ठ भूमि इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत होती है । संस्कृत समाज विग्रहना संविकर्षण करता है तो अभिनवनीय के प्रति आकर्षण भी रखता है । वह असत का विरस्कार तो सद् का पुरस्कार भी करता है । मानवता का स्फुरण इसी आधार पर होता है । जन-कल्याणी भावनाएँ अनैतिकता के कामुष्य के प्रति सर्वत्र आक्रान्तभी रही हैं । उन्होंने नैतिकता के पुष्पपत्र की ही सम्मर्पणा की है ।

शास्त्र नैतिकता का समर्थक एवं पोषक है । साहित्य इसी का मुखरित रूप है । जो साधन नैतिकता के प्रति उदासीन है वह जीवन से भी उदस्य है और अन्त में उसका कोई भी सांस्कृतिक भूस्व नहीं है ।

प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी चिन्तक जीवन के आनन्दपक्ष पर पड़े आचरण को बनाबूत करते रहे हैं । संस्कृति का ऊर्ध्व स्तर भी इसी पक्ष तक पहुँचता है । शास्त्र भी इसी की महनीय महत्ता से परिपूर्ण है । प्रत्येक देश और प्रत्येक काल का मानव इसी आनन्द के प्रति आसक्त रहा है । साहित्य शास्त्र या संस्कृति सबका केन्द्र बिन्दु अन्तिम उद्देश्य मानव ही है । वही इनका जनक है और वही इनका उद्दिष्ट भी है । इसी के लिए तो इस प्रपञ्च का प्रसार है । वह न हो तो यह सब बेस व्यर्थ है । वह आनन्द के प्रति सम्मुख है । अतः उसकी निमित्ति उसकी रचना उसकी कृति आनन्दोन्मुखी होगी ही चाहिए ।

संस्कृति से निमित्त शास्त्र शास्त्र नहीं है । शास्त्र केवल शास्त्र के लिए नहीं होता । उसका भूस्व जीवन की सफलता में ही सार्थक होता है । जीवन का यह सफल संस्कृति के अतिरिक्त और क्या है ? संस्कृति जीवन की निर्मात्री है । शास्त्र भी जीवन को बुद्धिबोध में ले जाकर निम्न स्तरों से उसे अस्पृष्ट कर देता है । ऊर्ध्व क्षेत्रों में विहरण की कामना हम सभी के अन्तर समिहित है ।

(घ) शास्त्र और साहित्य शास्त्र-चिन्तन प्रमाण है । साहित्य में भी चिन्तन रहता है पर उसमें भावना की प्रमुखता है । शास्त्र भावना का भी चिन्तन करता है पर उसके क्रियात्मक पक्ष से उदासीन है । साहित्य इससे सीधा सम्बन्धित है । चिन्तन में मन केन्द्रित होता है भावना में वह बह-बह फिरता है । केन्द्रस्थता सबके पक्ष की बात नहीं पर भावना की अनुमति तो सभी को सुखम है ।

शास्त्र भी साहित्य है और साहित्य में भी शास्त्र विद्यमान रहा है ।

जिसे हम विमुख साहित्य कहते हैं वह जीवन का और हृष्य का साहित्य है। जिसे हम विमुख शास्त्र कहते हैं वह जीवन और हृष्य दोनों का ही विवेचन करता है। एक में विवेचन तो दूसरे में अनुभूति की प्रधानता है। विवेचन और अनुभूति साम-साम नहीं बन सकते। जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा अनुपस्थित। पर जीवन में दोनों का मूल्य है दोनों का स्थान है। एक के अभाव में दूसरे की सत्ता सङ्कटग्रस्त होगी।

हम कहते अभिन्न हैं केन्द्रस्थ कम होते हैं। इसी हेतु साहित्य की मात्रा अधिक है शास्त्र की कम। जीवन में भी साधना का ही बाहुल्य है। चिन्तन कुछ विरले व्यक्तियों तक ही सीमित है। साधना दोनों ही क्षेत्रों में करनी पड़ती है। शास्त्रकार एवं साहित्यिक दोनों ही साधक होते हैं। साधना एवं तपस्या की मात्रा में भी तार तम्य नहीं बिन्ना जा सकता।

साहित्य संस्कृति की अभिव्यक्ति है उसका बाह्य है। शास्त्र इस संस्कृति का प्रवेष्टा है ब्रह्मा है। एक प्रवर्धनी है तो अपर निर्माण-साक्षात् है। जब हम किसी साहित्य का अध्ययन करते हैं तो उससे जातीय सांस्कृतिक विकास के इतिहास को अवगत कर लेते हैं। जब हम शास्त्र का अनुशीलन करते हैं तो अपने अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपनी ही चिन्तनस्थितियों में रमण करने लगते हैं। एक में जन-जीवन का रूप है, दूसरे में मन की कथा है। एक में संसार है, दूसरे में सिमटाव।

शास्त्र का निर्माण सबैव नहीं होता, पर साहित्य शान्ति के युग में ही नहीं संसाधन की भीषण परिस्थितियों में भी निमित्त होता रहता है। विपत्तियों में चित्त को झकझोर देती हैं, उल्लेखों को उमाड़ देती हैं और जब कोई सत्ता उत्तेजित हो उठती है तो स्वभावतः बाधों का परिधान ग्रहण कर लेती है। बाधों द्वारा है, जिससे भीतर का उत्तेजन बाहर आता है। यह उत्तेजन, यह वैकल्प यदि निष्कासित न हो तो अन्तस्तल उसके बोझ से पिस जायगा। प्रभु ने उसे सेहत देने के लिए बाधों का द्वार खोल दिया है जिससे आन्तरिक विकसता बाहर निकल कर अपनी तीव्रता को कम करती रहे।

शान्ति के बातावरण में जिस साहित्य का निर्माण होता है, वह अपेक्षाकृत नमीर होता है। यही बातावरण शास्त्र की रचना के लिए भी उपयुक्त होता है। साहित्य में बाधों सुषण उत्तेजना उबास आवि नहीं प्रसृत जीवन की विराट समस्माओं का भावना-परक समाधान रहता है।

वह मार्मिक पलों पर भी वृष्टिपात करता है सिंहासभोकन द्वारा जाति की स्मृतियों एवं महती उपलब्धियों पर प्रकाश डालता है तथा अभिव्यक्ति के लिए पक्ष-निर्देश भी करता है। शास्त्र वैज्ञानिकता की धारण में उन मूलभूत सिद्धांतों का अनु-संधान करता है जो कृतियों के कारण हैं। संक्षेपण एवं विस्फेपण की पद्धति द्वारा वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है जो सार्वभौम एवं सार्वकालिक होते हैं। साहित्य सार्वभौम है तो शास्त्र साहित्य का भी नियामक है और अग्रतय रूप से जन-जन का साधक।

साहित्य में भी विचार हो है । उसका विग्रहण एवं भी साम्यही ज्ञेयता कम प्रोढ़ नहीं होता । पर जहाँ एक व्यक्ति के आध्यत्म के शक्ति की वृद्धि के विविध प्रामी पर आश्रित नरक आभी बाध पड़ता है आन्तरिक विचार होता है वहाँ दूसरे में व्यष्टि नहीं समष्टि के सामाज्य पर आश्रित रहता है जिसमें वैदिक विचार नहीं पर व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधित विचारों का निवेद्य गन्त मर्यादाय अन्तर्गत रहने है । ये मर्यादाय मर्यादय है जिसमें वैदिक नया सामाजिक मर्यादा का निर्माण होता है । ये ऐसे अन्तर्गत है जो मानव को गन्तव्य की ओर मोड़ने है । साहित्य भी इस कार्य का उपायन करता है पर उपायन एवं सदा अन्तर्गत भी है । साम्य का एक मात्र मध्यम यही है ।

साहित्य मनुष्य का साहित्य रचना की वृत्ति है । एक पक्षाने जाना तो दूसरा पक्षाने को मिटाने वाला है । एक मनुष्य के ही दूसरा उपायन में उपायन होता है । साहित्य को पढ़कर हम अपनी उपायन को पढ़ने के लिए हमें लेते हैं । साम्य अन्तर्गत में पढ़ा ही नहीं जा सकता । उसके लिए सुननी हुई मानविक परिस्थिति चाहिए । साम्य अपने निर्माण और उपयोग दोनों के लिए साम्य की ज्ञेयता रहना है । साहित्य इसका अन्तर्गत है । एक से दूसरे साम्य तो दूसरे में हुना होता है ।

साहित्य मनुष्य तथा वर्तमान का चित्रण करता है और भविष्य के अन्तर्गत में शारदा है । इस रूप में वह वैज्ञानिक है । साम्य के लिए मनुष्य और भविष्य भी वर्तमान ही है । जो उपायन वस समय में के आन्तरिक भी समय है और भविष्य में भी समय सिद्ध होवे । मनुष्यवर्तमान का मिश्रित कारण कार्य का मिश्रित वर्तमान का मिश्रित सभी सार्वजनिक है । इस का है साम्य ही वैज्ञानिक है । साहित्य और साम्य सार्वभौम भी हैं पर साहित्य में जिन परिस्थितियों का चित्रण रहता है वे देस तथा मनुष्य विदेश से सम्बन्ध रखती हैं । साम्य परिस्थिति का चित्रण ही नहीं करता वह निम्नों का निर्धारण करता है जो देस ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहने । साहित्य में जिन भावों का वर्णन रहता है वे समानरूप से सभी मानव-वृत्तियों की सम्पत्ति हैं सार्वभौम हैं । सर्वत्र साम्य नीति साम्य आदि के साथ साहित्य साम्य का भी निर्माण हो चुका है ।

## ४ संस्कृति और साहित्य

किसी देश का साहित्य उस देश की प्राकृति सामाजिक धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के मिये आधार (वर्णन) का कार्य करता है । इतिहास सम्भव है इन परिस्थितियों का यथार्थ मूल्यांकन म कर सके क्योंकि वह अनेक प्रमाणों से आश्रित रहता है पर साहित्य जिसे काव्य की संज्ञा प्राप्त है इन प्रमाणा से उन्मुक्त सर्वतन्त्र स्वतंत्र निरंकुश कवियों की उदय सेवनी से प्रभुत होता है । कविपर निरिपर कवियों से संचेत रहने के लिए इसीलिए अपनी एक कृष्णसिया लिख गये हैं । कवि जहाँ आन्तु प्राप्ति होता है वहाँ तीव्र अभिप्रेत्यक गी । वह जो कुछ लिखता है उसमें इतिहास

जाने ही न हो, परन्तु रसमिर्मर आश्रय सत्य-समावृत, निरपेक्ष भावी का समानेसे असंदिग्ध रूप से रहता है। किसी जाति की संस्कृति का अभ्योक्त करना हो, तो उसके साहित्य का अध्ययन अनिवार्यरूप से करना होगा।

साहित्य अभिव्यक्ति है उस सबकी जो कवि को अपने भूत और वर्तमान से प्राप्त होता है। संस्कृति निक्षेपरूप से उसके काव्य कसेबसे का उपादान बनती है। यदि कवि वस्तुतः कवि है तो उसे अपने पूर्वजों के अमूल्य सांस्कृतिक रिक्त से अवश्य परिचित होना चाहिये। जिस कवि के हृदय में जातियों का निर्माण और ध्वज रहता है वही यदि अपनी संस्कृति से अपरिचित होगा तो अपने उत्तरवाचित्य का वास्तविक अर्थों में निर्वाह नहीं कर सकेगा। मानवता के विकास की साधिका संस्कृति अमर कवि के अमर काव्य में सन्निहित रहती है। कवि अपने काव्य द्वारा व्यक्ति नहीं आश्रय सत्य का उद्घाटन करता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उसके सम्बन्ध में क्या कहा जाता है। उसे तो बही कहना है और बही सिखना है जो मानवता का गुण बन सके।

वात्सीकि अपनी 'रामायण' में और व्यास अपने 'महामारत' में जो कुछ अंकित कर गये हैं वह उनके समय के चित्र के साथ ऐसे चित्रों का भी सम्बन्ध है जिन्हें हम अमिट चित्र कहते हैं। इन चित्रों में संस्कृति की जो कर रेखा प्रकट हुई वह उसे उन दिनों समय की बेसी ही मात्रा भी सत्य है। राम का चरित्र संस्कृति की इन्हीं रूप रेखाओं से संबन्धित हुआ है। उनके द्वारा पिता की आज्ञा का पालन ब्रह्म का परिचय बन के कन्दमूल फल खाकर संयम की प्रतिष्ठा देना ऋषियों की अस्त्रियों को देखकर वसुन्धरा को राजस-हीन करने का प्रयत्न मैत्री का निर्वाह, सीता का उद्धार तथा मानेय परीक्षा द्वारा उसके सतीत्व का समाज के हृदय पर प्रतिष्ठापन आदि जीवन के ऐसे तत्व हैं जो सभी कालों और सभी देशों में समावृत होंगे।

महर्षि व्यास भी भीष्म और युधिष्ठिर के रूप में ऐसे ही चित्रों की उद्भावना कर गये हैं। श्री कृष्ण का चरित्र भी वही उनकी राजनीति-कुशलता का परिचय देता है वही उनकी सदाचार गद्यमत्ता तथा धर्मनिष्ठता का भी आदर्श उपस्थित करता है। आन्तिम संस्कृतिक तत्वों के अन्वेष से ओतप्रोत है। व्यक्ति के निर्माण में उसके आध्यात्मिक विकास में जो साधन सक्रिय होते हैं उनका विशद विवरण इस पर्व में प्राप्त होता है। दुर्योधन की जानबूझ कर अज्ञान में प्रवृत्ति और धर्म से निवृत्ति उसके असंस्कृत होने का स्पष्ट प्रमाण है। इस असंस्कृत के साथी भी असंस्कृत ही कहे जायेंगे। दस्यु और शकुनि इसी काटि के हैं। श्रेण और कर्म के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? क्या वे भी असंस्कृत हैं? व्यास जी ने इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि श्रेण दुर्योधन की ओर से कहे गये सद् ही नहीं समापति के पक्ष पर भी प्रतिष्ठित हुए थे परन्तु वे दुर्योधन को समार्ग पर जाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। व्यास ने उनके मिथन का भी गौरवपूर्ण चित्रांकित किया है। वे

हारा आत्मा को मूर्छा में डालकर विवृति द्वार से निकले और प्रकृतात्मा में बने गये। उनका जीवन वास्तव्य का जीवन नहीं है। उसमें अनार्यत्व के बिन्दु दिखाई नहीं देते। वे समानरूप से कौरवा और पाण्डवों को युद्ध मित्रा देते रहे। यद्यपि उनके हृदय का अनुराग अर्जुन पक्ष की ही ओर विशेषण से था। युयुपथ की अनार्य प्रकृति का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। कर्ण बानी है। गायत्री का पाप भी करता है। परन्तु नहीं कुछ न कुछ आणवमल उसके साथ संविपण है। उसी ठो बह अस्मिन्मय के रूप में सहायक बनता है और अर्जुन से विशेष भी रहता है। भीष्मपुत्र के उसके प्रति यह वचन 'यद्यपि परमस्वभावतः उस की अधार्मिकता को अनामृत कर रहे हैं।

संस्कृति के जिस अंगों का वर्णन होता रहा है। वे भी हम अपने साहित्य से ही उपलब्ध हुए हैं। वैदिक साहित्य भारत ही नहीं भूमण्डल भर का लिखित प्राचीन ठम साहित्य है। संस्कृति का निरूपण हमने इस ग्रन्थ में उसी के आधार पर किया है। वैदिक साहित्य का अनुसरण करने वाला हमारा जितना परवर्ती साहित्य है, वह वेद के ही रंग में रंगा हुआ है। जब कभी हमारे दार्शनिक या कवि अपने मत का समर्थन चाहते हैं। तब एक स्वर से वे वेद की ही पुर्नर्द देते हैं। वेद जिस संस्कृति को विश्व का मूलतः विश्व भर के लिए बरणीय कहता है। उसी का चिन्तन हमारे साहित्यिक प्रत्येक युग और परिस्थिति में करते रहे हैं। वेद तथा बौद्ध साहित्य की संस्कृति के इसी रूप का अस्मिन्मयन करता रहा है। हमारे साहित्य की सभी विधाओं से इस विश्वभारत संस्कृति का स्वर प्रसृतित हुआ है। भव्यकाव्य, द्रव्य काव्य, आत्मामिका, तथा चम्पू, पद्यकाव्य, नीति ग्रन्थ, यहाँ तक कि जायुर्वेद जैसे वैज्ञानिक ग्रन्थ भी अपने क्षेत्र की सीमाओं में रहते हुये संस्कृति के इस स्वरूप को बिस्मृत नहीं करते।

साहित्य संस्कृति का बाहक है और उसके अध्येता जो उसके सांघे में जीवन को बामते हैं, उस संस्कृति के रखक हैं। वे अध्येता वेद और काल का अतिक्रमण कर जाते हैं। यदि गोस्वामी तुलसीदास आर्य संस्कृति के अटल पुजारी हैं। तो अमरी में उत्पन्न हुआ मीरसमूह भी इस संस्कृति का अनुपम मल्ल कहा जा सकता है। माँची और टाभस्टाय से विभिन्न देशों में उत्पन्न होकर भी इस संस्कृति के अनुयायी बन सकते हैं। वेद का विरोध करने वाले भी संस्कृतिक तत्त्वों का अपमान नहीं कर पाते। यद्यपि वेदों में हम सबकी प्रामाण्य बुद्धि रही है। फिर भी उसके कर्मकाण्डीय अंश को लेकर वैमर्ष भी प्रचलित रहा है। कर्मकाण्ड का यह अंश सर्व सम्मत नहीं है। यही तथ्य इसे संस्कृति से बाह्यतत्त्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। कर्मकाण्ड का रूप परिवर्तित होता रहता है। वेद और काल दोनों का ही उस पर प्रभाव पड़ता है। कभी कर्मकाण्डीय पारिभाषिक शब्दों के अर्थों में भी वैविध्य उपस्थित हो जाता है। गोमेय तथा अरुणमेय का जो रूप वेद-सम्मत है वह सम्मत है। निरी २ कल्पसूत्रकार द्वारा अन्यथा समझ लिया गया हो क्योंकि सबकी मनोवृत्ति एक जैसी

नहीं होती। मांस-भक्षण पर प्रतिबन्धन मत सपत्न्य होते हैं परन्तु संस्कृति तो परि  
मार्जन करने वाली है। वेद इस विषय में जा सकेत वेदा नहीं मान्यमत समझा  
जायगा।

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न साहित्यिकों के समक्ष भी उपस्थित होता रहा है। साहित्य ने संस्कृति का साधन बने हुए अहिंसा को भी माय्यता प्रदान की है। हिंसा करनी है तो वह अपनी पुनर्जन्म की होनी चाहिये। प्राणियों का बन्धनसंस्कृति में कोई स्थान नहीं पाता। महाकवि मन्नभूति ने हिंसा को प्रकृति सागियों के लिए विहित मानकर भी अहिंसा को ऊँचा स्थान दिया है और निष्कृति परामर्शता के लिये जो संस्कृति की साधिका है साधिका ही नहीं उससे अविनाश — सम्बन्ध रखती है, अहिंसा को ही स्वीकरणीय तत्त्व कहा है। सम्भव है मन्नभूति पर हिंसा के सम्बन्ध में तत्कालीन सामाजिक व्यवहार का प्रभाव पड़ा हो। परन्तु उसकी निर्मल बुद्धि ने कवि प्रतिष्ठा की पृष्ठभूमि में अहिंसा के सत्यस्वरूप की ही खोज की। 'पर पीड़ा सम नहिं अघमार्ग' वैसी उक्ति सार्वकालिक और सार्वभौम रही है। संस्कृति के स्वरूप में उसी का समावेश है।

संस्कृति के सभी अंग साहित्य द्वारा अभिव्यक्ति पाते रहे हैं। इसके सिवाय भी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन साहित्य इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है। ग्रीक तथा लैटिन का साहित्य भी संस्कृति के इन अंगों का गूणगान करता है। प्लेटो की रिपब्लिक में तथा डान्टे की डिवाइन कॉमेडी में संस्कृति का यही स्वरूप प्राप्त होता है। ईरानी साहित्य तो वेनों से ही प्रभावित रहा है। जैनशास्त्रों में वैदिक मंत्र ही नहीं उद्धृत भाषनाएं भी ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। अत्यंत और अक्षरों के संघर्ष में अन्तिम विजय अक्षरों की ही होती है। इसे निरपवाद रूप में अक्षरों ने स्वीकार किया है। बार्डिच और कुरान भी संस्कृति के कुछ स्वरूप से विपरीत नहीं जाते। कुरान का स्वर तो ज़म्बेद के स्वर जैसा ही है। अन्य भी लगभग उसी के सदृश हैं। बार्डिच का अभ्यारम्भ घोष वैदिक संस्कृति का ही उद्घोष है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य कवि की अन्तरतम हृदय भूमि से उत्पन्न हुआ साहित्य सत्कृति का ही संकेत बहान करता रहा है। आज साहित्य अपनी इस भूमिका का परित्याग सा करता प्रतीत होता है। अपने आदर्श से च्युत होकर जैसे मानव भटकता है वैसे ही मुनिविद्युत प्रणामी को छोड़कर आज का साहित्य जिन रम्याओं में भ्रमण कर रहा है वे स्वस्थ तथा शोभन नालिकाएँ नहीं हैं। कमी बहु मोर पदार्थवाद की गामी में पड़ जाता है कमी मनोबिज्ञान का सहारा लेकर कुष्ठाओं की कोढ़ में छिपने का प्रयत्न करता है और कमी बुद्धिवाद का आश्रय लेकर अस्ती-सता के बिज खींचता है जिससे सामाजिक का हृदय मितुम्ह होता है अवांछनीय बीजों में बिबरण करता है और परिणामतः पतन पथ पर अग्रसर होता है। पर यह अवस्था अधिक देर तक नहीं ठहर सकती। साहित्यिक को अपने उन्नी



स्मृत-होना होगा जो संस्कृति का केन्द्र है । मानव का स्वास्थ्य तथा मंगल इसी केन्द्र में निहित है । वही केन्द्र उसे अस्वास्थ्य से निकाल कर विद्याम की भूमि प्रदान करेगा ।

## घ संस्कृति और कला

कला क्या है ? जीविक वस्तु के स्वरूप को उसके प्रारम्भिक प्रकृत या सहज रूप से निकाल कर संवारना अलंकृत करना कसई करना या संस्कृत करना कला है । कला के हाथों में पड़कर वस्तु अपने मूलरूप को छोड़ देती है और ऐसा रूप ग्रहण कर लेती है जिससे वह सम्प्रदायों के समाज के योग्य हो सके । सम्प्रदाय के प्रामाण्य सभी रूप कला की ही रेत है ।

कला उत्पन्न होने के समय नष्ट होता है पर कला उसे नष्ट नहीं रहने देती । वह उसे वस्त्राभूषणों द्वारा अलंकृत करके समाज के समक्ष प्रस्तुत करती है । वह कार्य वाद्यक को समाज या समा के योग्य अर्थात् सम्य बनाता है । वस्तुनाश अन्त-मन्त अपने सहज रूप में उत्पन्न करती ही रहती है, पर मनुष्य उन्हीं के बीजों को लेकर भूमि को जोतकर जब बीज का बोध करता है और सिंचन आदि द्वारा उसे अंकुरित संवर्धित तथा पोषित करता है तब यानों एक प्रकृत वस्तु कलाकार के हाथों में पड़कर परिमार्जित रूप धारण करती है और उस पर जो कल लगते हैं वे प्रकृत कला की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े और अधिक से अधिक मनुष्यों को दृष्टि देने वाले बन जाते हैं । अपने सहज रूप में वे पशु-पक्षियों का ही भोजन बन पाते वे अपना ऊपर से नीचे गिरकर समाप्त हो जाते या जाय का काम करते वे परन्तु मानव द्वारा संस्कृत होकर वे व्यवस्थित रूप से पशु, पक्षी मानव आदि सभी का आहार बनते हैं और एक स्वान से दूसरे स्वान पर भी पहुँचाये जाते हैं । कला की सम्प्रदाय को यह बड़ी भारी रेत है । इसी हेतु इति कर्म बुधारोपण सूची कर्म वस्त्रधन लघुच कार्य निव निमिर्ण मवन निर्माण आदि कला के अन्तर्गत हैं । वे मानव समाज के भिन्ने हितकर ही नहीं जोयाकर भी हैं ।

मानव के पास सहज स्वर भी हैं जिनके द्वारा वह अपनी इच्छाओं आवश्यकताओं तथा भावनाओं को प्रकट किया करता है । अभिव्यक्ति के साधन वे स्वर भी अच्छे हैं पर इनमें भी अन्ध एवं समर्थ वे स्वर हैं जो कलात्मक रूप ग्रहण करते हैं । संगीतज्ञ इन्हीं स्वरों के व्यवस्थित आरोह-अवरोह द्वारा जो भावार्थ उत्पन्न करता है, उससे मानव-मन ही नहीं पशु-पक्षी भी प्रभावित होत हैं । कवि भी अपनी कला द्वारा इन स्वरों को जो प्रभावितपूठा प्रदान करता है वह हृदय पर्वत तो है ही अपने मूलन या अनुरूपन में ऐश्वर्य की भी साधिका है ।

पारंपार्य विज्ञानों में कला की कई कर्तों में व्याख्या की है । सामान्यतः कला उनकी दृष्टि में उपयोगी तथा सज्जित दो प्रकार की है । उपयोगी कलाएँ मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और सज्जित कलाएँ मानव को मानसिक आह्लास देती हैं । योरनगर की सम्प्रति में सज्जित कलाएँ वैयक एवं विज्ञान की उत्पत्ति हैं । हमारे यहां कहीं ने नृत्य, गीत प्रभृति कलाओं को काम और कर्म पर

संमित माना है। सम्य जीवन में काम और अर्थ का संपन्न रूप स्वीकार किया जाता है पर जो कसार्थें समित वासनाओं को उभारती हैं, यमाचार एवं मरसीसता को चन्न होती है, वे मानव को सम्यता की ओर नहीं से आती और परिणामतः अवांछनीय हैं।

कला हमारे यहां सम्यता की निवर्तक समझी गई है। वास्तव्यपन ने कामशास्त्र में उसके १४ विभाग किये हैं। प्रबन्धकोशकार ने ७२ कसार्थों के नाम दिये हैं। समित विस्तर में कसार्थों के ८९ भेद हैं। कसार्थों के साथ उपपन्थायें भी प्रथमित हुई और उनकी सूच्या संख्याओं तक पहुँच गई। सम्यता के विकास के साथ ऐसा होना स्वाभाविक भी था।

सम्यता के साथ कला का सम्बन्ध तो स्पष्ट है पर सम्यति से उसका क्या सम्बन्ध है? हम यह तो जानते हैं कि सूचिकार की कला हम सम्य समा के सम्य बनाने वाली है पर वह हमारा अन्त संस्कार भी करती हो ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। कहत है समित कसार्थें मन का प्रसाधन करती हैं उन्हें दक्षकर या मुनकर मन आह्लादित होता है पर क्या मन का प्रसाधन या आह्लाधन भाव संस्कृति है? बाव पया के मन्दिर में स्थापित महात्मा बुद्ध की मूर्ति शान्ति प्रदायिनी है। उसे देखते ही मन शान्ति का अनुभव करने लगता है पर क्या यह शान्ति शास्त्रत रूप पारण करती है? जब तक देख रहे हैं, तब तक शान्ति हटते ही मन पुन प्रपन्थ में जाबद्ध हो इसे हम आध्यात्मिक विकास की साधिका कैसे कहें? संस्कृति हमारा अन्त विकास करती है। कला के क्षेत्र से यह भिन्न वस्तु है।

कला बँसा कि हम मित्र चुके हैं भौतिकता का संस्कार है। संस्कृति इसके विपरीत हमें भौतिकता के आवरणों से मुक्त करने वाली है। वह अन्त विकास है जो प्रकृति से हटाकर हमें स्वल्प में अवस्थित करता है। एक प्रकृति को परिमार्जित एवं विमार्जित करता है परिधि के विस्तार तक के जाता है द्वितीय प्रकृति का अवमोचन विस्तार का केन्द्रीकरण तथा शालाओं से मूस तक पहुँचाने का कार्य करता है। अतः कला को हम संस्कृति के अन्तर्गत स्थान नहीं दे सकते।

भारतीय आर्य या वैदिक संस्कृति पर मित्रने वाले विद्वान कसार्थों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं। वे सम्यते हैं कि अंग्रेजी कल्चर' शब्द संस्कृति के 'कृति शब्द का पर्यायवाची या समानार्थक है अतः कृति संस्कृति के अन्तर्गत होनी चाहिये। कर्तव्य रूपन आदि कला है वह हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। उससे आत्मोत्थान होता हो ऐसा तो विश्वास नहीं देता। उद्योग-धंधे भी भौतिक समार हैं। पशु-पालन शास्त्र-निर्माण वस्त्र धारण वसयान विमान आदि भी सम्यता के निवर्तन हैं। मित्रके पास यह सब है उन्हें आप सम्य तो कह सकते हैं पर वे संस्कृति भी हों, यह आवश्यक नहीं है।

कला और संस्कृति में सबसे बड़ा भेद उनके आधार का है। कला चाहे कितनी सूक्ष्म हो, उसके साथ कुछ न कुछ भौतिक आधार लगा ही रहता है।



उपयोगी कलाओं को छोड़िये समित कलाओं में यह व्यापार स्थूल है सूक्ष्म होता जाता है। वास्तुकला तो पत्थर ईंट चूना सीमेंट आदि के व्यापार पर ही पड़ी होती है। मूर्तिकला में यह व्यापार कोई प्रस्तर खण्ड या बाण्ड खण्ड रह जाता है। सम्पाई चीकाई, मोटाई चीनों ही वहाँ विद्यमान रहती हैं। चित्रकला में भित्ति फलक या कागज व्यापार बनता है जिसमें मोटाई नाम मात्र की रह जाती है। मोटाई न रहते हुये भी चित्रकलाकार अपने चित्र में मोटाई को प्रदर्शित कर ही देता है। संगीत कला में इस प्रकार का स्थूल भौतिक संभार नहीं रहता। वह स्वरों से अपना कार्य निकालती है। पर स्वर भी आकाश का गुण है जो पंच भूतों में सूक्ष्मतम है। जहाँ वायु कला का सम्बन्ध है स्वरों का व्यापार उसे भी ग्रहण करना पड़ता है। जैसे ही वायु स्वर प्रधानता छोड़कर भाव प्रधान होने लगता है वैसे ही वह कला के क्षेत्र से पृथक् हो जाता है। स्वर प्रधानता अगर कोटि के वायु की विशेषता है। इसलिये हमारे आचार्यों ने काव्यपथ स्वर प्रधान प्रहेलिका अस्यासारी कूटकाव्य समस्वापूर्ति और अभिनय को कलाओं में परिगणित किया है। भाव प्रधान काव्य रस-निर्भर होने के कारण भौतिक आवरणों से दूर्य हो जाता है। अतः वह कला नहीं कहलाता।

स्वर बैद्यीबाणी का अंग है। कला का वही प्रसाधक है। सम्प्रदाय बाणी भी संदीप्त तथा काव्य दोनों में प्रीति करती है। पद्यन्ती बाणी विज्ञान तथा दर्शन से सम्बद्ध है। पद्यबाणी का सीमा सम्बन्ध आत्मा के साथ है। संस्कृति हमें वही से जाती है। अतः कला का जहाँ अन्त है संस्कृति का वहाँ प्रारम्भ है। संस्कृति आत्मा को प्रकृति से अलग करने वाली है। कला प्रकृति की अन्तर्कारिका है।

## ॥ संस्कृति और सौन्दर्य

सौन्दर्य की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। सौन्दर्य रूप से संबन्धित है और रूप बोध का विषय है। अतः सौन्दर्य असुरिन्द्रिय का विषय है। जो रूप नेत्रों को आकर्षित करे वही सुन्दर है। तो क्या सौन्दर्य-बोध नेत्रों तक ही सीमित है? नहीं विचार भी सुन्दर होते हैं भावना भी भव्य होती है कल्पना में भी रमणीयता का निवास है। इनमें से एक भी नेत्र का विषय नहीं। तब सौन्दर्य क्या है? सौन्दर्य व्यवस्था में है सामुपात निर्मित में है संपुमित अनुक्रम में है, सामंजस्य में है। आधुनिक सौन्दर्य बर्णों की संपुमित संपठित आकृति का नाम है जो स्वतः अविद्यती प्रतीत होने लगती है। यदि कोई अंग टेढ़ा कोई सीमा और कोई विच्छिन्न हो तो सटीर सुन्दर नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार विचारधारा की क्रमबद्धता अथवा व्यवस्थित बन्ध उसे सुन्दर बनाने में सक्षम है। भारतीय मनीषा इसे औचित्य कहती है।

वेद सृष्टि को वेद का काव्य कहता है। काव्य का सौन्दर्य उसके गने-गुने अनुचित शब्दों एवं पदों में है। पदों की इस अनुक्रमता में वाङ्मय सौन्दर्य है। पदों में जो विचार और भाव धरे पड़े हैं वे भी यदि क्रमबद्ध हों तो मन में सौन्दर्य भावना का अवश्य उद्रेक करेगा। भविष्य भविष्या भी मन को आकर्षित करती है। विभिन्नता में

छवि है इसे सभी स्वीकार करते हैं। कल्पना की रंगीनी आकर्षकमिथित रमणीयता की जननी है। अतः सौन्दर्यानुभूति आन्तरिक है। बाह्यरिक छवि भी नेत्रों के माध्यम से मन को ही आकर्षित करती है।

वेद समस्त सौन्दर्य का स्रोत ईश्वर में देखता है। ऋग्वेद के निर्माकृत मंत्र इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं—

‘एवम् विष्वा सुमय सौभागानि अग्ने विधमिन्ति वनिनो न वया । १.११.१

प्रभु ! तूम सुमय हो धुन्वर हो। तुम्हारे अम्बर सौन्दर्य का स्रोत है। इस स्रोत से फूट कर सौन्दर्य तथा सौभाग्य की धारायें निजिस ब्रह्माण्ड में उसी प्रकार फैल रही हैं जैसे वृक्ष से निकल कर उसकी शाखा—प्रशाखायें फैलती हैं।

प्राकृत सौन्दर्य, मानव-सौन्दर्य, तितली जैसे कीट का सौन्दर्य मयूर के पंखों, घोड़ा आदि का सौन्दर्य नील सवन मेघमाला की अमिरामता आकाश की ऊँचा अरुणिमा सब में सौन्दर्य भर पड़ा है। यह कहाँ से आया? इसका स्रोत किसमें है? वेद कहता है—प्रभु में। प्रभु अनिर्वचनीय है। उसका सौन्दर्य भी अकवनीय है।

स वसंत भी रतिधि पृथि पृथे बने बने शिबिमे तत्त्ववीरिव’

ऋग्वेद १०-११-२

प्रभु की सोमा वर्धनीय है। वह घर-घर में अतिथि बन कर विराजमान है, जन-जन में जोर की तरह छिड़ा पड़ा है। वह व्यक्ति व्यक्ति में विद्यमान है। वह सबका अधिक्रमण कर जाता है, पर उसको कोई भी अविक्रान्त नहीं कर सकता। उसकी सोमा अतुल है। उसकी समता कोई कैसे करेगा? सब उसी के जन से जनवान बने हैं उसी की छवि के एक अंश को लेकर अविधान बने हैं।

जिसने उसकी सोमा देखा सी, वह फिर वहीं ठकटकी लगा कर दृष्टि धमा कर बैठ जाता है। वहाँ से हटने का नाम भी नहीं लेता।

न वा त्वद्रिक् अपवेति मनः मे त्वे इत्थं कामं पुच्छतु शिबिय ।

राजैव हसन् निपयोऽत्रि बहिधि अस्मिन्सुतोमे अवपानमस्तु ते ॥

ऋग्वेद १०-४३-२

प्रभु ! तूम राजते हो कमलते हो परमवर्धनीय हो। जब से मैंने तुम्हारी बाँकी छवि के दर्शन किये हैं तब से आँखें वहीं लगी हैं मन वहीं रमन करने लगा है। अब कोई आकांक्षा भी तो नहीं उठ रही। तुम्हें पाकर जैसे मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया। तो अब तुम भी इस मन में आसन जमा कर बैठ जाओ। तुम्हारी विराजमानता में जिस सोम का खन हो रहा है उसके पान का अधिकारी अब तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कौन है?

विराजमान ब्रह्म का यह विराजमान सौन्दर्य। इसकी अनुभूति तो साक्षात्कार करने वालों को ही होती है। यह कामाक्षी विश्वविजयी ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत हो गई थी। क्या वह अवतरित हुई थी? नहीं, अम्बर से निकल कर ~~उत्पन्न~~ जा

गई थी। साधारण्य करने का भी इसका वर्णन नहीं कर सकते। फिर सामान्य जन के लिये तो यह अवर्णनीय कमस्कृति रहेगी ही।

कहते हैं काम का सौन्दर्य अनुपम है, पर प्रभु के सौन्दर्य पर तो कोटि-कोटि कामदेव श्योषावर किये जा सकते हैं। सहस्रों सूर्य समेत होकर प्रकाशित हो उठें, तब भी वे उस मोकोत्तर की प्रभा का सहस्रान्त भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। वही एक पूर्ण है। उसी का सौन्दर्य पूर्ण है। अग्य सब मधूरे हैं जो अपनी भूतता की पूर्ति के लिये उसकी ओर आत्मावली बुद्धि से देखा करते हैं।

प्रभु वहाँ सुपमा के भाग्यार हैं वहाँ वे प्रकाश और वाक्मय के भी आविर्भाव स्रोत हैं। जिन जिन छटाओं में मन आकर्षण का अनुभव करता है उनका आविर्भाव इसी छवि स्रोत से हुआ है। प्रभु अमिदमता के अराय कोष हैं। वहाँ पल-पल में नव-नव सौन्दर्य का प्रवाह होता रहता है। अग्य सब उसी के सौन्दर्य से सौन्दर्यवन्ती बने हैं। मधु-मधु चित्तियां उसी महाचित्त के स्फुल्लित भाग हैं। इनका उन्मेष उसी परम केन्द्र से हाता है। इस केन्द्र की समिति में कौन सुन्दर नहीं बनेगा ?

सौन्दर्य रस-संचारी है। श्रुति के मन को वह रस-सिक्त कर देता है। सावध्य में माधुर्य है यह विरोधाभास मात्र है। लमकीन में मिठास है इसे कोई मानेगा ? पर सत्य यही है। *our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts*

यह कविस्वमयी पंक्ति एक असाधारण कवि की है। शोकान्तरापी नाटक में मधुरता। यही तो उस सौन्दर्य-सागर का वैशिष्ट्य है। न जाने वह कितना विविध है। वही राजा है। चित्र होने से ही राजा है। रोष राजक है। सुन्दर वही है। सेप उसकी फूलझाड़ियां हैं। संस्कृति हमें इस सौन्दर्य तक पहुँचा देती है। वह मौलिक सोना से जिस छवि या सौन्दर्य का आकलन करती है वह छनता हुआ अन्त में सौन्दर्य के स्रोत परमप्रभु से समरस हो जाता है। अतः संस्कृति और सौन्दर्य का अविनाशक सम्बन्ध है।

**अ संस्कृति का विकास और पञ्चजन**

मित्राश पञ्चमेभिरे जना अभिदि शब्देः । सदेवान् विद्वान् विमतिः ।

( ऋग्वेद, १-५९-५ )

अभीष्ट बल की प्राप्ति के लिए पाँचों प्रकार के जन मित्र रूप प्रभु के आवे संयत होते हैं। वही प्रभु समस्त देवों को धारण करता है।

परम तत्त्व सबको धारण कर रहा है। पृथिवी से लेकर आकाश तक को पाँच देव हैं और इन्हीं पाँच तत्त्वों की प्रभावता के कारण जो पाँच प्रकार के प्राणी हैं जिनमें अपने अपने तत्त्वों की प्रभावता से सापेक्ष विषमता रहती है परन्तु जिन्हें अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये बल या शक्ति की आवश्यकता पड़ती है वे परम प्रभु से ही अपने बल को

प्राप्त कर पाते हैं। जिसे अपने बल का अभिमान है, वह प्रभु के आगे प्रणत नहीं हो सकता। उसे अपने बल की प्राप्ति अपने पुण्यार्थ पर ही अवलंबित जान पड़ती है। ऐसे अहंकारी व्यक्तियों का बल पर-मीडन में व्यय होता है। अहंकार उन्हें निर्मल से संबंधित रखता है। परिणामतः वे बिन-अन प्राण के लिये शुक नहीं पाते। उनके चित्त की प्रवणशीलता अहंकार की मल भूमि में सुख जाती है। जो प्रवित नहीं हो सकता ऐसा कठोर हृदय दूसरों के लिए आस का कारण बनता है। अतः मंत्र में जो 'मेमिरे' शब्द पड़ा है वह सुष्कृता एवं क्लृप्ता से सम्पन्न पुरुषों के लिये नहीं है। सफल होने के लिये अपने अहंकार को दवाना पड़ता है किसी महिमामय आदर्श के आगे प्रणत होना पड़ता है। समय मानव को प्रपत्तिमार्ग की ओर ले जाता है। संयम में सहनशक्ति के साथ बिनश्रुता का समावेश भी है। अतएव पंच जन भी संयत होते हैं तथा बिनश्रु बनते हैं वे असीम बल को प्रभु-रूपा से प्राप्त कर लेते हैं। प्रभु ऐसे ही जनों के लिये मित्र रूप है।

प्रभु मित्र है सर्वज्ञ है स्नेह तथा भाग देने वाला है। मेघति माययति जानाति सर्वं निनोति मानं करोति इति वा। वह स्वस्वता संकीर्णता मञ्जुता आदि से भाग करने वाला भी है। मित्र के आगे संकीर्णता या लघुता नहीं रहती। मित्र से बल मिलता है। ब्रह्मात्मता की भावना जाग्रत होती है। निर्बलता में लघुता है। सबसत्ता में महत्ता है। सीमित या संकीर्ण में वह लपित नहीं है जो असीम और उदार में होती है। महत्ता उदारता एवं व्यापकता ब्रह्म का रूप है। ब्रह्म का अर्थ ही बड़ा या महान् है। परम देव की आख्या ब्रह्म है। जो बड़ा है, वही दूसरों के लिये अवलंबन बन सकता है। अर्थों को कारण कर सकता है। जिसे स्वयं सहारे की आवश्यकता है वह दूसरों का कारण या पावन नहीं कर सकेगा।

पंच जन शब्द भी ध्यान देने योग्य है। टीकाकारों ने इसके मिश्र मिश्र अर्थ सगाये हैं। किसी ने इसमें आर्यों के चार वर्ण तथा पंचम लिपाव की गणना की है और किसी ने यदु पूर्वमु, पुरु हुह्य, और अनु जैसे पाँच वंशों का इसमें समावेश किया है। हमें तो पंच जन का अर्थ ऐसे पाँच प्राणी जान पड़ता है जिनमें पंच तत्त्वों की पृथक् पृथक् रूप से प्रधानता है। इन्हीं पंच जनों के आधार पर पंचायत शब्द का निर्माण हुआ है और 'पाँच पंच मित्र कीर्ति कामा हारे भीते ह्येव न सात्रा' की लोकोक्ति जन्म पड़ी है। तुमही ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। यथा

'ओ पंचै मठ सार्वे नीका हरपि हृदय वेबु रामहि टीका। बीड़ कालीन कुत्रि एवं निषिद्धविषय तन्त्रों में पंचायत प्रथा की ही प्रधानता थी। पश्चिम के कठ तथा मस्न गणतंत्रों में भी यही प्रथा प्रचलित थी।

पंचजन के अन्तर्गत समस्त मानव जाति का वर्गीकरण किया जा सकता है।

सर्व प्रथम मानवों का यह निम्न स्तर था। जिसमें पवित्र तत्व की प्रधानता है। हम सबके शारीरिक उत्पादन पंचभूत ही हैं। परन्तु हम सब एक ही प्रकार के उत्पादनों से निर्मित नहीं हुये हैं।

हमसे जिनके शारीरिक उत्पादन पवित्रता-प्रधान हैं उनकी वृत्ति इसी तत्व की ओर आसगी। वे मिट्टी के बने शरीर को ही सब कुछ समझते। काया पर अधिक धन देने के कारण वे उसी को अपने जीवन का एकमात्र सत्य समझते और उसी में रमण करते। वे भोर मौतिकाबाद के 'साओ पियो और मौज करो' वाले सिद्धान्त को सर्वोपरि स्थान देते और 'भूया भूयै संगमनु ब्रजन्ति' की उक्ति के अनुसार इनके संगी साथी भी इसी प्रवृत्ति के होंगे।

दूसरे प्रकार के प्राणी वे हैं जिनमें जल तत्व की प्रधानता है। पवित्रता में जितनी क्लृप्ता है जलीय तत्व में उतनी ही सरसता है। पवित्र-तत्व ऊहटा है, एक ही स्थान से थिपटता है। तो जलीय तत्व बहता है, प्रवित होता है और कहीं से नहीं जा पड़ता है। ध्रुव दबड़-उबड़ की ढीङ्ग-धूप में नहीं पड़ता। इसलिये उसमें पवित्र तत्व प्रधान है परन्तु वैश्य वर्ग को व्यापार के लिये अनेक उद्योग-धर्मों का विकास के लिये दबड़-उबड़ मटकना पड़ता है, एक देश से दूसरे देश को घूमना करना पड़ता है। नदियों और समुद्रों को साँचना पड़ता है और जन को भी स्थिर नहीं प्रत्युत नाना दिशाओं में गतिशील करना पड़ता है। सक्ष्मी जैसे भी बँचसा है। उसे आप धूमि में गड़बा छोड़ कर रखिये वह भी वह स्थान-परिवर्तन करेगी ही। यह आज तक किसी भी भी संगिनी नहीं बनी है। जैसे भी जन को बहाने या गतिशील रखने में ही कल्याण है। इसी विधि से जलका संरक्षण होता है। संरक्षण ही नहीं बुद्धि भी होती है।

जल में सरसता के साथ एक विशेषता और भी है कि वह निम्नमा प्रवृत्ति रखता है। जिधर काम होया उधर ही जल बहेगा। इसमें वैश्य वर्ग की गतानुगत-तिष्ठता भी छिपी पड़ी है। अपने पूर्वजों के व्यवसाय में ही उसे रुचि होती है। अपनी मूल-भूमि के आधार पर नवीन व्यवसायों की ओर बहुत कम व्यक्ति जा पाते हैं। परम्परा एवं कटि का ऐसा परिणाम उन व्यक्तियों में नहीं दिखाई देगा जो आग्नेय तत्व की प्रधानता रखते हैं।

आग्नेय तत्व ऊपर उठता है। पृथिवी और जल नीचे ही रहते हैं ऊपर चढ़ते भी हैं तो आग्नेय तत्व की सहायता से। परन्तु अग्नि तत्व स्वतः ऊपर जाता है। यह तत्व दक्षिण वर्ग के अउपग्रह विशेषण से विद्यमान रहता है। दक्षिण का संरक्षण पाकर ही वैश्य एवं घृषों के वर्ग बनना कार्य निरूपक रूप में कर पाते हैं। अग्नि में जन है। शक्ति के निर्माण में भी जनकता है। अग्नि जन के साथ क्रिया का भी पाठक है। अग्नि ही प्राणियों के शरीर को लिये हुए भूमता है। अग्नि से ही रैन पट्टी पर दोड़ती है। अग्नि ही जलानों को समुद्री तरंगों पर चढ़ता है।

और आगे बढ़ाता है। अग्नि ही विमानों का सभासक है। अग्नि में इन गुणों के साथ बिम्बसारथक शक्ति भी है। क्षत्रिय भी जहाँ शत्रु से ज्ञान करता है वहाँ शत्रुओं के वस में प्रत्येक रूपम भी बढ़ा कर देता है।

क्षत्रिय से ऊपर ब्राह्मण तत्त्व है जिसे हम वायु प्रधान तत्त्व कहेंगे। वायवी उद्धान प्रख्यात है। ब्राह्मण बर्ग में भी जो कल्पना प्रवण जन हैं उनमें वायवी उद्धान रहती है। वे विचारों और भावों में बहुत सम्पन्नी-ऊँची उद्धानें भरते हैं। वायु अग्नि का जनक है। ब्राह्मण भी क्षत्रिय से पूरा है। ब्राह्मणसर्व सनस्य पूर्वम्।<sup>१</sup>

ब्राह्मण क्षत्रिय को मज्जना देकर उत्साह एवं प्रेरणा देकर आगे बढ़ा सकते हैं। उनके उद्बोधन में वायु के समान ही प्रेरणा निहित रहती है। वायु जैसे अग्नि को प्रदीप्त करता है वैसे ही ब्राह्मण की वाणी क्षत्रिय का उद्दीप्त करती है। ऐसे वायवी शक्ति से सम्पन्न ब्राह्मण समाज के लिए अत्यन्त हितकारी सिद्ध होते हैं। जाबक्य ने चन्द्रगुप्त जैसे सामान्य जन को सम्राट बना कर यवनों को देख से निष्क्रान्त करा दिया। मृगण ने सिवा जी को हिन्दुत्व की ध्वजा फहराने के योग्य बना दिया। चन्द्रगुप्तवासी और बिहारी अपने आपयवाताओं को अन्त-पुर की रण-रेखियों से निकाल कर जनसम्पर्क में ले आये और रण-दुर्मय बना सके। नरहरि बकवर से मोरला का पुनीत कार्य करा सके। यह सब उनकी वायवी जब्बता ब्राह्मी शक्ति का ही जमत्कार था।

वायवी शक्ति के ऊपर आकाशीय शक्ति है। जिन प्राणियों में आकाश तत्त्व की प्रधानता है, वे चारों ओर से जमकते हैं ज्ञान प्रकाश से समन्वित होकर अपनी समोहारिणी किरणें अतुलिक विकीर्ण करते हैं और प्रकाश-आराधनों में स्वयं स्नात होकर पवित्र बन कर दूसरों को भी पवित्र बनाते हैं। वायवी शक्ति वाले कवि हैं जो वे पार्थिव हैं। विष्मता का ऊर्ध्व अंश दोनों में ही है। इसी हेतु ब्राह्मण को पृथिवी का देवता भी कहा जाता है। यही पाँच प्रकार के प्राणी प्रभु से अभीष्ट वस पाकर अपने-अपने कार्य में गिरत होते हैं और समाज-व्यवस्था के साधक बनते हैं।

पञ्चजन समाज के और समा के योग्य होने के कारण ही सम्य समा से अभिहित होते हैं। जो समा के योग्य नहीं है वह असम्य है। वही अमार्थ है। वही व्यर्थ है। इसीलिए उसे समाज से बहिष्कृत समझा जाता है। हम सम्य बनें मात्र के निर्बलन के अनुसार संयमी बनें और परम प्रभु के समक्ष प्रणत होना सीखें। वही हमें अभीष्ट वस की प्राप्ति हो सकेगी।

## ३ संस्कृति और व्यक्तित्व

मानव अपने व्यक्तित्व को समझ से और समझ कर तत्पुनः आचरण करे तो उसने व्यक्तित्व की सार्थकता स्पष्ट हो उठती है। यह सार्थकता मानव से



अतिरिक्त जगत् के साथ भी सम्बन्ध है। मैं और तुम' इन दो शब्दों में दोनों पर समाविष्ट हो जाते हैं। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व भी है जिसे निरुक्तकार मास्के ने अन्य शब्द द्वारा व्याख्यात किया है। मास्के के अनुसार 'अ' अर्थात् नहीं है जो न्य अर्थात् मेय मानेय या मे माने योग्य। इस अर्थ से अन्य का दूरवर्ती होना सिद्ध होता है। मैं' अथवा अपना व्यक्तित्व विहित है। 'तुम' अर्थात् सम्बोधित व्यक्ति का व्यक्तित्व कुछ विहित है और कुछ अनिहित। जितना मैं अपने को जानता हूँ। उतना दूसरा मुझे नहीं जान सकता। अन्य तो एकदम अनिहित है। कठोपनिषद् में परम तत्त्व को विहित और अनिहित दोनों से ऊपर कहा है। वह ईश उपनिषद् के अनुसार दूर से दूर है और निकट से निकट है। विस्तार को सामने रखें तो उसकी दूरी मानव की पहुँच में नहीं आ सकती। निकट से निकट होने पर भी वह अविनाशक नहीं बन पाता। बीघा उप और धरा का सम्बन्ध लेकर मानव यदि पहलाई में प्रवेश करे तो समझ है उसकी एक दीन क्षमता सामने आ सके।

सब प्रथम अपने व्यक्तित्व पर विचार करें। मैं क्या हूँ ? मैं मांस आदि का पुत्रता या प्राणायाम वासा या मननकर्ता या नागा वासवाओं का पुत्र या ज्ञान वाद्य ? वस्तुतः मेरे व्यक्तित्व में यह सब कुछ है। पश्चिम शरीर बाणी द्वारा सार्वक होता है। वाक्य या शब्द वाक्वाक्य का गुण है। वैदिक वाङ्मय में वाणी या आकाश कह देने से पाँचों भूतों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि आकाश के परभाव अन्य चारभूत उत्पन्न होते ही हैं। आकाश सबसे ऊपर है पूर्ववर्ती है और भूमि सबसे उत्तरवर्ती। अब उसे आकाश कह देने से पाँचों भूतों का ज्ञान हो जाता है वैसे ही भूमि कह देने से भी वैसे ही ज्ञान होता है। वाणी मेरे पाँच भौतिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। वेद त्रयी में यह अभिव्यक्ति ऋक यजुस् द्वारा सार्वकता पाती है। वाणी के उपरान्त मेरे व्यक्तित्व का दूसरा प्रथम अंश मन है। मनुष्य की मनुष्यता मनन शक्ति से ही सिद्ध होती है। मनन मनुष्य को महता प्रदान करता है। जो व्यक्ति मननशील नहीं है उसे मानुष होते हुये भी मानुषता की पदवी नहीं दी जा सकती। उसे कमी कमी पशु भी कह दिया जाता है। यह मनन वेदत्रयी में 'यजु' शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है।

ऊपर वर्णित दो अंशों को चेतना और स्वाधरता का नाम भी दिया जा सकता है। इन दोनों को जोड़ने वाला तीसरा तत्त्व प्राण है। प्राण आत्मा की छाया है। यह सब ईश आत्मा के साथ रहता है। जब सब सो जाते हैं तब प्राण और आत्मतत्त्व दो ही आवृत्त रहते हैं। इन दो में सोना कभी आना ही नहीं। शरीर सो जाता है मन भी सुषुप्ति में चुप हो जाता है पर प्राण अपना कार्य करता रहता है। आत्मा तो उसके साथ रहता ही है। प्राण तत्त्व की गरिमा उपनिषद् के ऋषियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों ही प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहते हैं। ज्येष्ठ इसलिये कि यह आयु में शत्रिय व्यक्ति से पहले का है और श्रेष्ठ इसलिये कि मुर्तों में

इसकी मूला को कोई भी अवयव नहीं पहुँच पाता । किसी इन्द्रिय जगत् अवयव के न रहने पर भी प्राणव्यक्तिव को सार्वकता देता रहता है । प्राण के जगत् में सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बिखर जाता है । वैदिकी में प्राण को साम कहा जाता है । मेरे व्यक्तित्व में यही तीनबंश हैं ।

यदि विशुद्ध चेतना के पक्षों पर विचार करें अर्थात् आत्मा के बाह्य आवरणों के स्थान पर केवल आन्तरिक धारा का विश्लेषण करें तब भी ज्ञान क्रिया और इच्छा नाम के तीन पक्ष ऊपर वर्णित विचारधारा से समुक्त दिखाई देंगे । बाणी या ऋक् विज्ञानरूप है उससे बाह्य पदार्थों के गुण-गुणों का ज्ञान होता है । मन तथा यज्ञ कर्मकाण्ड के प्रेरक हैं और सामवर्षी प्राण भक्ति भावना का प्रतीक है । साम में संगीत है और प्राण में उद्गीष का गाना । प्राण अपनी प्रक्रिया में निरन्तर सौष्ट्य का जाप क्रिया करता है । यह हृत् है जो बाहर के समुद्र में भी डुबकी लगाता है और अन्दर के समुद्र में भी । बाहर और भीतर का सम्बन्ध सूत्र इसके प्रणवर्णन में अनुस्यूत है । ओषध का जाप भक्ति-योग में जाता है और भावपरक है । इस प्रकार चेतना और विस्तार अक्षय्य एवं अमरत्व तरलता तथा सचनता स्तब्धता एवं सन्नियता दोनों का संमिश्रित रूप मेरे व्यक्तित्व के अन्तर्गत है ।

अब 'तुम' पर विचार करें । यह तुम मुझसे बाहर है । इसका ज्ञान मुझे मेरे जन्म और मेरे शोच देते हैं । जो ज्ञान जन्मों से प्राप्त होता है वह अधिकतर में वास्तविकता लिये होता है । जिसे मैंने देखा है उसके अस्तित्व का निषेध मैं कैसे कर सकता हूँ ? मैंने परिवार वालों को देखा है पड़ोसियों को देखा है । यात्रा में मिलने वालों को देखा है । बृक्ष वनस्पति ठंडाग सरिता सूर्य चन्द्र नक्षत्र सभी तो दृष्टिपथ में आये हैं । वे ज्ञान के नहीं न जाने कब से मेरे सहचर हैं इन सबका ज्ञान मेरे जन्मों की देन है । जन्म के रूप में ऐसा अमूर्त्य रत्न मुझे दिया गया है जो अक्षयनीय है । इसके मूल्य को इसके जगत् में ही माँका जा सकता है । जगत् कस कहे कि मुलाब का फूल कैसा है । सूर्य की स्वनिमा और चन्द्र की रश्मिमा का उसकी किंचित्मात्र पता नहीं । आकाश में नम की भाँति बड़े हुये तारे उसके लिये व्यर्थ हैं । जन्म मेरे व्यक्तित्व का सम्बन्ध दूसरों के साथ स्थापित करने वाले हैं । यदि यह न हों तो बाहर के सत्कार का स्पष्ट बोध मुझे न हो सकेगा ।

जन्म के साथ शोच भी बहुमूल्य रत्न है । बाहर का बहुत कुछ शोच मुझे सुत कर ही होता है । अपने आप मानव चित्तना ज्ञान प्राप्त कर सकता है । उससे कहीं अधिक ज्ञान श्रवण द्वारा प्राप्त हो जाता है । मेरे अध्यापक कक्षा में जो कुछ बोलते हैं वह अवचेष्टित्व द्वारा मेरे मन को उपमन्य होता है । एक बच्चे के कानों में माता-पिता के शब्द पड़ते हैं । वह सगुण सुनकर अनुकरण द्वारा जैसे ही शब्द बोलने की चेष्टा करने लगता है । सामाजिकता का भाव अवगण द्वारा चरितार्थ हो जाता है ।

मेरे व्यक्तित्व का जो अर्थ मेरे साथ है अथवा बाह्य तुम के द्वारा बना है।

उसमें ओज अथवा बीज का भाव विद्यमान होना चाहिये । मेरा गायिक सम्भार बन जान हो, ओजयुक्त हो और गाय ही मन भी आकरणी हो । इन दोनों का सम्पर्क ओज ही मेरे व्यक्तित्व का उद्गीर्णक है । इन व्यक्तित्व में तेजस्विता इच्छता एवं स्थिता हरिष्ठा का समावेश यदि हो गया तो व्यक्तित्व मजबूत बना जाएगा । हरिष्ठा में हरम-मीलता है । उसमें सहन का भाव है तो तेजस्विता एवं बर्चस्विता में शान-मीलता की प्रत्यक्षता है । मैं सहन भी बर्च और त्याग भी बर्च । आशान और उत्तम होना ही मेरे साथी बनें । प्राण मे गाय आशान यदि निरन्तर चमका रहे तो व्यक्तित्व उज्ज्वल हो जायेगा व्यक्तित्व बना जा गयेगा । दोनों ही क्रियायें स्वाभाविक हैं पर मानव की स्वार्थवृत्ति कभी-कभी इसमें बाधा उत्पन्न कर देती है । सामान्य विचार जाता है समुत्तम मष्ट हो जाना है और परिणामस्वरूप व्यक्तित्व में सुकाया का स्थान कुत्ता में लेती है । व्यक्तित्व बिगड़ जाता है । आचरण का हमको संभालने की । आचरण ही इस व्यक्तित्व की आधारभूत है । बारी बराला बहनों के पास है पर आचरण की पवित्रता के बनी बहुत कम व्यक्ति पाये जाते हैं । ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका आधार यजुर्वेद के छठीसवें अध्याय का प्रथम मंत्र है जो सर्व सहित नीचे दिया जाता है—

अथ बर्च प्रपद्य मनो यजु प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये ।

यजु ओजं प्रपद्य । वासोऽजं यहीओ यमि प्राणायानी । ।

मैं अग्नेयकी वाणी को प्राप्त होता हूँ यजुर्वेदकी मन को प्राप्त होता हूँ और सामवेदकी प्राण को प्राप्त होता हूँ । मैं यजु और ओज को प्राप्त होता हूँ । मेरी वाणी का ओज मेरी समस्त क्रियायों का सम्मिश्रित ओज और मेरे प्राण तथा अपान की क्रिया सब मेरे साथ रहें । यही मेरी उम्मीद है यही मेरे व्यक्तित्व की आत्मा है । मेरे आत्मा का मुख्य इच्छा के द्वारा आका आयाता ।

व्यक्तित्व के जो तीन पद इससे पूर्व वर्णित हुए हैं वे आचारमय अथवा विधि परक हैं । इन पदों का अस्तित्व और उस अस्तित्व का सन्तुलनात्मक स्वरूप किसी भी व्यक्तित्व को समझना देने के लिए अनिवार्य है पर यजुर्वेद में तो सर्वैक स्वत्व रहता है और न सन्तुलित ब्रह्म में कार्य करता है । अस्वस्वता एवं असन्तुलन आकर कभी न कभी उसे भेद ही लेते हैं । इसके मूल में मानव का प्रभाव तथा परिस्थितियों का प्रभाव दोनों ही हैं । मुझसे मूल होती है और परिणामतः प्रकृति मुझे बंध लेती है । मैं अज्ञान का सेवक बन जाता हूँ तो प्रकृति भीतर से प्रयत्न करती है कि उसे बाहर निकाल कर फेंक दे पर जब अज्ञान निष्कासित न होकर भीतर ही रह जाता है तो आमात्म को सहन करता ही पड़ता है जिससे अनेक शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । यह व्याधियाँ भी अज्ञान के निष्कासन का एक सहायक का है । व्याधि के समय के साथ अज्ञान का प्रभाव भी शान्त हो जाता है ।

वैयक्तिक प्रभाव के अतिरिक्त परिस्थितियाँ भी जीवन को कभी कभी बुरी

छरछरकरती है। संसार में जैसा मैं ही नहीं हूँ, मेरे अतिरिक्त भी अनेक प्राणी हैं और प्रकृति का बना हुआ यह विशाल ग्रहण्ड है। सूर्य अपनी उज्ज्वलता से जगत् अपनी सीतलता से मेघ धाराधार वर्षा से वायु अपने झकोरे एवं प्रमत्तजनारमक भीष्म रूप से मेरे व्यक्तित्व पर प्रभाव डाला करते हैं। त्रिम प्राणियों के सम्पर्क में मैं आता हूँ और जिनके सम्पर्क में नहीं भी आता, वे भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुझे प्रभावित किया करते हैं। किसी परिचित के प्रयोजन में यदि मैं सहायक सिद्ध न हुआ तो उसकी बाजी में मेरे लिये निहित अपमान और मनमें निहित नन्मू एवं उद्वेग और उसके साथ साथ अथवा कोसने की प्रक्रिया सभी भिन्न कर मेरे जीवन को किरकिरा कर देते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्तित्व में असंतुलन अथवा अस्वास्थ्य का आ जाना स्वाभाविक है।

व्यक्तित्व में इस अस्वास्थ्य के कारण विविध के स्थान पर निषेध और आवात्मकता के स्थान पर अमावात्मकता का अनुभव होने लगता है। जीवन के इस निषेध-परक पक्ष का जब तक निरसन नहीं हो जाता जब तक उसमें आकाश का छविबोध नहीं हो सकेगा। निम्नांकित वेदमंत्र में प्रार्थना की गई है कि प्रभु मेरे जीवन की इस स्थिति को, अमावात्मकता को दूर करे —

अग्ने त्विह जमुषो हृदयस्य मनसो वाति तूष्णम् ।

बृहस्पतिर्मे तद्ब्रह्मातुशमो ममसु द्विपदे शक्तुष्यरे ॥

बृहस्पति बृहत् लोकों का पति है अथवा सब से बड़ा रखक है। जो अनेक चीज परिवारों का पालन कर रहा है, जो किसी भी ग्रहण्ड के तन्म को विभिन्न नहीं होने देता जो जाने-जाने के रूप में विश्ववृत्ती यज्ञ का बपन कर के उसे सुरक्षित रखता है यदि कहीं ठागा टूटता है तो तुरन्त उसे जोड़ देता है जहाँ आत्मक शक्ति की स्थिति होने लगती है वहीं अपने अपार प्रायश्चन में से शक्ति निकाल कर स्थिति को दूर करता रहता है, ऐसा बृहस्पति मेरी स्थितियों को भी दूर करे।

मानव का आन्तरिक भाव ज्ञान एवं कर्म का समुदाय है। कर्म का बाह्य रूप आचरण से व्युत्पन्न होता है। ज्ञान बाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है, परन्तु भाव अपनी अभिव्यक्ति का द्वार कहाँ खूँ ? जसु वर्तन अथवा ज्ञान का साधन है। मन कर्म का प्रेरक है परन्तु भाव का स्थान तो हृदय है। हृदय की अभिव्यक्ति अपने निज स्वतन्त्र स्तर में आंतरिक चेतनाओं द्वारा कुछ न कुछ हो जाती है परन्तु अपने अन्तरगत अथवा उज्ज्वलतम रूप में वह गीरव है अव्यक्त है अथवा स्वयं-सम्बोध है पर सम्बोध नहीं।

जसु अथवा वर्तन की स्थिति क्या है ? वर्तन की अवस्था अथवा मूमरी चिन्ता जैसा भ्रम अथवा नीति के स्तर पर अमग्न एवं अस्थिर वर्तन। वर्तन की यह तीनों विचारों मेरे जीवन पक्ष की अवलोकन स्थितियाँ हैं। मेरा देखा हुआ निम्न म स्पष्ट

तथा सोमन होना चाहिये । ज्ञान का स्वरूप स्वयं निर्मल है । गीता के शब्दों में—

न हि ज्ञानेन सवृक्षं पवित्र मिह विद्यते ।'

ज्ञान के सवृक्ष जगत् कुछ भी पवित्र नहीं है । यह ज्ञान की प्रशंसा है । संशय, अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान अपने मुख तथा बिस्तार दोनों में ही अपवित्र हैं और मानव को विकारों में प्रसिप्त करने वाले हैं । इसीलिये वैदिक ऋषि बार बार अस्त से अस्त और तम से ज्योति की ओर न जाने की प्रभु से प्रार्थना करते हैं ।

कर्म की समस्या और भी पहलु हैं । क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये । इस विषय में साधारण मानव ही नहीं बड़े बड़े कवि ऋषि एवं ज्ञानी भी बिचिकरिता में पड़ते रहे हैं । कर्म अकर्म और विकर्म की उत्पत्ति में पड़ कर अनेक व्यक्ति कर्म मार्ग से पसायन कर जाते हैं । पर इससे समस्या का समाधान नहीं होता और समाधान के अभाव में अज्ञान बुद्धि मेदी बन कर अनाप-सनाप कर्म-कनाप करने लगते हैं । जीवन निर्वाह के लिये वे परहित से विनरीत होकर हिंसक बन जाते हैं और पर-मीड़न जैसे महिष्ठ कुर्यों में संलग्न होकर समाज के लिये अभिघात सिद्ध होते हैं । इसी आधार पर असुरों के कर्मकाण्ड और मनुष्यों के कर्मकाण्ड में भेद किया गया है । मन्त्र दोनों करते हैं पर एक का उद्देश्य होता है मेन-केन-अकारेण सत् पुंस्य का अभिभव और दूसरे का उद्देश्य होता है त्याग एवं परहित साधन । एक का उद्देश्य होता है पराये मान को बर्बाद करना दूसरे का उद्देश्य होता है अपने को दबाना और सामाजिक कल्याण का संसाधन करना । कर्म दोनों करते हैं, पर दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं । समाज एक के कार्य की निन्दा करता है और दूसरे के कार्य की प्रशंसा ।

यह सत्य है कि मानव कर्म किये बिना रह नहीं सकता रहना चाहे भी तो प्रकृति एवं समाज बड़े-बड़े मार मार कर उसे कुछ न कुछ करने के लिये बाध्य कर देंगे । अतः आसानी न बन कर कर्म-परायण बनना ही अच्छा है । कर्म शुभ हो अशुभ हो महः अत्यन्त आवश्यक है । वेद कहता है ।

यदि अशुभ ने हमारा पीछा न किया तो सामने निश्चित रूप से अशुभ ही होगा ।

इस कर्म का प्रेरक मन है । यदि मन में शुभ सकल्प आपत होते रहे तो उनसे साधारण को ही प्रेरणा मिलती रहेगी और वह क्रियात्मक रूप में जीवन की लोभा बनेगा । मन का छिद्र या उसकी स्थूलता अतिविक संकल्प और तदनुकूल कृतिसत् प्रेरणा ही है । शिवरूप के प्रतिकूल विचार करना ही पाप की ओर पग बढ़ाना है । अतिविक संकल्पों से हट कर मन जब अपने छिद्र की पूर्ति कर लेगा तभी वह मन्त्र कर्म की साधना में प्रवृत्त हो सकेगा तभी वह वर्तमान को नहीं भूत और भविष्य को भी देख सकेगा और अज्ञानक दृष्टि के कारण उसके द्वारा पुण्य कर्मों का ही संशय होगा पावमानी वैश्याना का पूर्ण वैभव उमड़ा साथी बनेगा और वह अस्वयं भोक्त की उपलब्धि कर सकेगा ।

ज्ञान और कर्म दोनों की अनेका भाव-भुक्ति विचार रूप से वांछनीय है । निर्मल

ज्ञान के ऊपर ही परिमृद भाव की प्रतिष्ठा है। भाव का यह विभुद स्वरूप प्रेम में परिमजित होता है। प्रेम को को एक कर देता है। ईश में रजोगुण की स्थिति है एकत्व में एकान्त सत्व ही कीड़ा करता है। वेद कहता है— प्रभु मेरा है मैं प्रभु का हूँ। मैं उसी के कर्मों के लिये जीवित हूँ। मेरा अपनापन उसके सामने मगन्य है क्षुब्ध है। बान्ते ने अपनी डिवाइन कमेडी ( Divine Comedy ) का प्रारम्भ प्रेम से किया है और प्रेम पर ही उसकी समाप्ति की है। उसी के शब्दों में —

इन्टेलेजेंस गिव्स बर्थ टु लव (Intelligence gives birth to love)

अपने आध्यात्मिक गुरुओं के शब्दों में विज्ञानमय कोप की पवित्र ज्योतिष्मती घूमिका ही ऐक्य के ज्ञानान्वय कोप की ओर से जाती है। भाव खुद है तो मानों हमारा अस्तित्व ही खुद है। यह आनन्द हृदय गुहा में निहित आत्मतत्त्व के साथ ही अनुस्यूत है। ऊपर उठत वेदमन्त्र में इसीलिये हृदय के छिद्र को भी दूर करने की प्रार्थना की गई है।

अखुद भावनायें ग्रन्थियों को जन्म देती हैं क्योंकि उनसे मन अखुद बनता है और पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। मानव अपने भूत रूप में क्षुब्धिय है। पवित्रता उसे बरबस आकर्षित करती है। काण्ट ने पवित्रता की इस स्थिति पर बड़ा ध्यान दिया है और इसी आधार पर वह अपने चिंतन को पवित्रता के छोट-स्वरूप परमात्मा तक ले गया है। भाव के खुद होने पर ममता एवं आचरण दोनों ही पवित्र होने और हमें किसी बात के छिपाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। कठोपनिषद् ने उस परावर के वृष्ट होन पर कर्मों की क्षीयता सत्यों के सिद्ध भिन्न होने और हृदय की ग्रन्थियों के मष्ट होने का प्रतिपादन किया है।

ये तीनों बातें मन्त्र में उन्मिश्रित मन अक्षु और हृदय से सम्बन्ध रखती हैं। हमारा कर्मतन्त्र, हमारा ज्ञान प्रसार और हमारा भावकोप ही तो हमारा सर्वस्व है। यदि ये तीनों ही पवित्र हैं, तो मेरे व्यक्तित्व का ऐकान्त्य उस पवित्र स्वस्व प्रभु के साथ होकर रहना। पवित्र को ही पवित्र आकर्षित करता है। वेद कहता है —

येते पवित्र भूमयो अमिद्धरस्त्रिचारया

तेभिर्न सोम भूत्य

पवमानस्य ते वयम् पवित्रमभ्युदतं

सर्वित्त्वमावृणीमहे ।

प्रभु की निर्मल ज्ञान-आरायें पवित्र का ही अभिप्रेक करती हैं। हम भी उनसे अभिप्रेक हों। पवमान प्रभु पवित्र को ही अपने प्रेम से अभिप्रेषित करते हैं। उनके स्वस्व का वरण पवित्र ही कर सकता है।

अब मेरा मन खुद हो जिससे मैं निरन्तर सत्कर्म करता रहूँ। मेरी वर्तन अति निर्मल हो जिससे विभुद ज्ञान का संचरण मेरे अन्दर होता रहे। मेरा हृदय

## ६८ : वैदिक संस्कृति और सम्पत्ति

मुझ हो जिससे मेरे अन्तर निर्मल भावों की ही प्रतिष्ठा होती रहे। मेरी असमर्थता इस विद्या में बिम्ब बड़े करती है अतः परम समर्पण प्रभु ही को सबसे बड़े रक्षण है और जो इस अनन्त ब्रह्माण्ड के और उसमें निवास करने वालों के रक्षक हैं, मेरे सहायक बनें और मेरी न्यूनताओं को अभावों को अक्षतियों को दूर करते हुए मेरे सर्वांग को पवित्र करें। अतुल्य और शिष्य सभी को शान्ति प्राप्त हो।

व्यक्तित्व के निर्माण का यह कितना सुखद परिणाम है। इससे शिष्य मानव तो सुखी होता ही है, अतुल्य प्राणी भी उससे सुख प्राप्त करते हैं। मैं पवित्र हूँ तो मेरे सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को मुझसे सुख प्राप्त नहीं होगा। मैं शान्त हूँ तो वे भी शान्त होंगे। सबसे बड़ा सुख हिंसा है। अहिंसा को जो परमधर्म कहा गया है वह इसीलिए कि उससे सुख एवं शांति के बाधावरण का उद्भव होता है। जब कोई किसी की हिंसा न करेगा सभी अहिंसक होंगे तभी व्यक्तित्व के निर्माण की सिद्धि समझनी चाहिए। संस्कृति का मूल उद्देश्य पवित्रता की ओर प्रयाण करते हुए पवित्र बन जाना ही है।

### ३ संस्कृति और यज्ञ

ज्ञान के क्षेत्र में यज्ञ पूजा संयतिकरण और शान्ति दोनों का स्रोत है। यदि हम पूज्यों की पूजा करते हैं सत्त्वगुण-सम्पन्न ज्ञानी एवं सदाचार परामर्श सत्पुत्रों की संगति में रहते हैं और ज्ञान बन एवं शरीर के द्वारा दूसरों की सहायता करते हुए यदि समाज की सेवा में अपना भाग-दान देते हैं तो लोगों हम यज्ञ ही कर रहे हैं। इस यज्ञ में ज्ञान यज्ञ तथा द्रव्य यज्ञ दोनों का समावेश हो जाता है। ज्ञान-दान के लिए स्वयं ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है। अतः अध्ययन के साथ अध्यापन भी ज्ञान-यज्ञ का ही अंग है। यदि कर्मयोग पर यज्ञ के व्यापक अर्थों को घटाया जाय तो प्रत्येक स्वार्थ रहित कर्म की संज्ञा यज्ञ हो जायगी। बन देना है तो अर्चन भी करना है। अर्चन से बन जाता है और जब आवेगा तभी तो दिया जा सकेगा। इस प्रकार व्यापार यज्ञ का ही एक रूप है। शरीर से सेवा करनी है तो शरीर को स्वस्थ रखना होना। स्वास्थ्य का सम्पादन इस रूप में यज्ञ ही है।

यज्ञ भाग्य रूप में इष्ट और पुष्ट दो प्रकार का है। इष्ट में दान तथा पीर्णमास दो प्रकार के यज्ञों की गणना है। पुष्ट में कर्ष बावड़ी बाग प्याऊ आदि का निर्माण आता है। प्रथम व्यक्तिगत द्रव्य यज्ञ है तो दूसरा शरीर तथा मन मना कर सामाजिक यज्ञ करना है। दान तथा पीर्णमास यज्ञों को सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है। उस दशा में वे भी सामाजिक यज्ञ कहें जायेंगे।

यज्ञों में पंचमहायज्ञ का स्थान महत्वपूर्ण है और वे प्रमुखतः गृहस्थ आश्रमी के लिए हैं। इनमें प्रथम ब्रह्म यज्ञ है जिसमें सध्या तथा स्वाध्याय आते हैं। दूसरा यज्ञ है जिसमें माता पिता पितामह तथा पितामही की सेवा गुणपूर्वक की जाती है। इनके अनाथ में इनका स्मरण तथा स्मृति को जागृत रखने के निरुपेक्षित साधनों का कार्यान्वयन होना चाहिए। तीसरा देव यज्ञ है जिसे अग्निहोत्र भी कहा जाता है। चतुर्थ भूतयज्ञ

अथवा अग्निर्ब्रह्मदेव यज्ञ है जिसमें पकाये हुए भोजन में से कुछ भाग या भाग पतित पापरोमी कृमि वषपच खान आदि के लिए निकास जाया है । पाँचवा अतिथि यज्ञ है । भोजन से पूर्व ब्राह्मवृत्ति वाले साधु आदि को भोजनादि द्वारा सम्मान देना तथा सेवा आदि करना अतिथि यज्ञ कहलाता है ।

पच महायज्ञों के अतिरिक्त सात-सात प्रकार के पाक यज्ञ, हवियज्ञ तथा सोम यज्ञ भी होते हैं । पाकयज्ञों में अष्टका आबन्धी आप्रहायणी चैत्री आश्वयुजी पार्वण और याद के नाम हैं । कार्तिक से मार्ग तक इष्ट पक्ष की अष्टमी को चार अष्टका यज्ञ किये जाते थे । आबन्धी की पूर्णिमा को रक्षा बचन के साथ आबन्धी यज्ञ किया जाता था । आप्रहायणी यज्ञ मार्ग शीर्ष की पूर्णिमा को चैत्री चैत्र की पूर्णिमा का और आश्वयुजी आश्विन की पूर्णिमा को किया जाता था । याद पच महायज्ञों में परिगणित पितृ यज्ञ का ही एक रूप है । अन्तर्गत इतना ही है कि पितृ यज्ञ दैनिक अनुष्ठान है और याद प्रतिमास की वृत्त प्रतिपदा का पितृतर्पण के रूप में किया जाता है ।

सात प्रकार के हवियज्ञों में अग्न्याधान अग्निहोत्र वर्क ईर्ममास आश्रायण, चातुर्मास्य निरुद्ध पशु बन्ध और सोमामणि के नाम हैं । प्रत्येक पृष्ठ में तीन अग्निकुण्ड रखते थे जिन्हें पूजा स्थान या देवपृष्ठ भी कहा जाता था । इन अग्नि-कुण्डों में गार्हपत्य आहुतनीय तथा दक्षिणाग्नि नाम की अग्नियाँ स्थापित की जाती थी । इसी स्थापना को अग्न्याधान कहा जाता था । अग्निहोत्र इन तीन अग्नियों में हुवन करने का नाम है । जो ईरानी भारत में आकर बस गये उनके पृष्ठों तथा मंदिरों में अग्निस्वापना का यह क्रम अभी तक प्रचलित है । आश्रायण आश्विन की होती है जिसमें नवरात्र की आहुति दी जाती है । चातुर्मास्य यज्ञ चार चार महीनों के उपरान्त जाड़ा गर्मी तथा वर्षा के प्रारम्भ में किया जाता था । ऋतुसन्धि यज्ञ इसी का अपर नाम है । चातुर्मास्य यज्ञ का एक कर अनघर्ष के अन्तर्गत भी उपलब्ध है जिसमें वर्षा के चार मासों में कठोर श्रम यथियों के उपवास तथा वार्षिक उपरचरण उपदेश आदि का विधान है । निरुद्ध पशु वष स्वतन्त्र पशु बलि का एक रूप है । सोमामणि यज्ञ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्द्र को अधिक सोमपान से जब रोग हो गया तो देव ब्रह्म अश्विनी कुमारों ने इस यज्ञ द्वारा चिकित्सा करके इन्द्र के रोग को दूर किया था । राज्य से परिभ्रूयुत राजा भी इस यज्ञ द्वारा अपना सीमा राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे । पशु-काम यज्ञपान तथा सोमरस के अमिसायी व्यक्ति इसी के द्वारा अपना अमिलपित पूर्ण करना चाहते थे । इस यज्ञ में मुरपान विहित था ।

सोमयज्ञों में अग्निष्टोम अरयमिष्टोम उरुध्य योवशिन वाजपेय अतिरात्र तथा भार्गोर्वाम यज्ञों की गणना है । अग्निष्टोम ही ज्योतिष्टोम है और बड़ी इन सात यज्ञों में प्रधान है । अग्निष्टोम में सोमसत्ता को पाण्डों से कूटकर भेड़ की उन्न की बनी धत्री द्वारा निचोड़ा जाता था । निचोड़े हुये सोमरस में दूध मिलाकर अमिकृष्ण में उसकी आहुति दी जाती थी । सोम यज्ञ यज्ञः किञ्च नैऋत्याय को आश्रय



या । मात्र पेय याम सोमयाग ही है । एताह गोमयाग में प्रातः मास्यम्दिन तथा सामं याम के तीन सवन होते थे । सोमयागों के अनुष्ठान से पूर्व यजमान तथा यजमान गली को उपवर्चया का जीवन व्यतीत करना पड़ता था । अनुष्ठान के समय सोममठा जिसे सोमरात्रा या गोमरात्री भी कहा जाता था मकट में भरकर साईं जाती थी और सम्प्रातः पूर्वा उद्यम शिष्य होता था । अग्निसिन्धु तथा अग्निरात्र सोमयाग दिन के व्यतीत होने पर भी जलन रहता था । अग्निरात्र का अर्थ ही है वह यज्ञ जो रात्रि को भी अनिच्छान्त चरता था । उद्यम में प्रणव अर्द्धार के जाग के साथ संघ पड़ जाते थे । जो तिन विभुद आत्मसम्बन्धी यज्ञ था । आत्मा की संज्ञा योद्धा प्रजापति है जिस ११ कलाओं वाला कहा जाता है । आप्तोर्गाम यज्ञ में यामों की परिमित मात्रा रहनी चाहिये ।

इनके अतिरिक्त अश्वमेध नरमेध गामेध राजसूय आदि यज्ञ भी किये जाते थे । अश्वमेध में ऋक्वर्गी साम्राज्य की घोषणा करने वाला अश्व छोड़ा जाता था । जो राजा ऋक्वर्गी सम्राट की अधीनता स्वीकार न करता वह घोड़े को पकड़ कर वाप लेता था । परिणामतः युद्ध होता था । यदि राजा हार जाता तो वह सम्राट का करार राजा बन जाता था और अश्व छोड़ दिया जाता था । अश्व के पीछे-पीछे सम्राट की सेना भी रहती थी । भूमण्डल भर के भ्रमण में पर्याप्त समय लग जाता था । अन्त में जब पृथ्वी भर के राजा सम्राट की अधीनता स्वीकार कर लेते, तो अश्वमेध यज्ञ किया जाता था । इस यज्ञ में सभी अधीन राजाओं को उपायन लेकर सम्मिलित होना पड़ता था । नरमेध या पुरुषमेध मानवता का संवर्धन करने वाला तथा मानव के शारीरिक अवयवों को पुष्ट करने वाला यज्ञ है । नरमेध का एक अर्थ यह भी समाजोपयोगी कार्य में उसकी योग्यता के अनुसार समानता भी है । यजुर्वेद के ३ वें अध्याय में इन कार्यों का विवरण पाया जाता है । योमेध हृदि तथा पोषक वृद्धि से सम्मिलित यज्ञ है । राजसूय यज्ञ राजा के राज्याभिषेक के समय किया जाता था ।

प्राचीन काल में एक ब्राह्मस्तोम यज्ञ का भी प्रचलन था । ब्राह्म नियम-धर्म करने वाले का नाम है । ऐसे ब्राह्म समाज से बहिष्कृत समझे जाते थे परन्तु जब वे नियम-वासन द्वारा अपने को सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत रहने के योग्य सिद्ध कर लेते तो पुनः समाज के सम्प्राप्य सदस्य बना लिये जाते थे । वे समाज के धर्म हैं इसी मुख्य को चाँवित करने के लिये ब्राह्मस्तोम यज्ञ किया जाता था । परवर्ती समय में भी धर्मश्रुतों को कार्य धर्म में सम्मिलित करने अपना कुछ वर्गों को समाज में उच्च स्थान का अधिकारी बनाने के लिये इस प्रकार के यज्ञ होते रहे हैं ।

यज्ञ के कई नाम हैं, यथा यज्या इष्टि होम होम सवन सृष्टि विश्व । कुत्सून् मट् ने होम में सावित्रचक्र होम आदि की गणना की है । धार्य प्रातः अग्निहोम को भी यद् होम की संज्ञा देता है । इज्या का सम्बन्ध ब्रह्मर्षि काल से है जिसने देवर्षि-शिव-उपनिषद् रूपी यज्ञ किया जाता है । पंच महायज्ञों का सवन

य भाषम से है, ऐसी कृत्स्नक भट्ट की मायता है । यज्ञों में उसने ज्योतिष्योम सोमयामों की कल्पना की है । (मनुस्मृति २/२८ की व्याख्या)

जैसा हम सिद्ध चुके हैं, यह सृष्टि यज्ञ-पुरुष से उत्पन्न हुई, वह स्वयं यज्ञरूपा उसका एक एक अंग यज्ञ कर रहा है । यज्ञ के कारण ही इसका अस्तित्व है । यम होते ही इसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है । सर्वहृत् यज्ञ की कल्पना में इसी यज्ञ से सीखी है । पुरुष मूल में यज्ञ-पुरुष का एक विशेषण सर्वहृत् है । अपना सब कृष्ण आहूत कर दिया है । ब्रह्माण्ड और प्राणिजगत् उसी के सर्वहृत् का विवर्धन कर रहे हैं । मानव समुदाय ने कृषि यज्ञ का पाठ बुद्ध से ले बाने बीज भूमिगर्भ में उनके स्वतः बपन और स्वतः अंकुरण पल्लवन एवं सन से ही सीखा है । यद्यपि मानव कृत् यज्ञों में स्वार्थ का सम्मिश्रण हो गया तथापि यज्ञों के ब्राह्म स्वर्ण में आज भी वैसी ही उदारता, वसी ही पर-हित कृता दृष्टिबोधर हो रही है ।

तत्पश्चात् ब्राह्मण ने यज्ञ को प्रजापति कहा है । यज्ञ द्वारा प्रजा का जन होता है । प्रजापति के भी कई रूप हैं । परमात्मा प्रजापति है । राजा कुलपति पति आत्मा प्राण आदि भी प्रजापति कहलाते हैं । सौर जगत् का प्रजापति है । इनका प्रजापतित्व यज्ञ में निहित है । ये यज्ञ करते हैं । इसी हेतु इन्हें पति कहा जाता है । सूर्य अपने लिये नहीं, अपने परिवार पृथ्वी मंगल बुधस्पति दि ग्रहों के लिये तप रहा है— यज्ञ कर रहा है । शरीर में प्राण का भी तप शरीरक अवयवों को स्वस्थ रखने के लिये है । कुलपति या आचार्य अपने शिष्यों लिये तपस्वर्षा करता है । गृहपति का परिश्रम उसकी सत्ति का अनुसृतान होता है और घर को सुरक्षित रखता है । राजा राज्यपति मंत्री आदि को भी राज्य हित में तपस्वरण करना चाहिये । उन्हें प्रजा-हित को सर्वोपान में रखना है, अपना राज्य भ्रष्ट हो जायगा ।

प्रजापति सूर्य के पारिवारिक अंग ग्रह कहलाते हैं । ये ग्रह हैं, बचन हैं । ये जन जितने ही दुष्ट होंगे पारिवारिक सुरता भी उतनी ही दुष्ट होगी । यह दुष्टता से आती है । मृति समवर्ती के शब्दों में यजुमि आप्यन्ते ब्रह्म (यजु० ११२८) यजुमप पद्धतिमें अथवा यज्ञों के द्वारा ब्रह्मों का आप्यायन होता है । सत्य पत्तेन यज्ञो यजुमि (यजु० २० १२) यजुमों से यज्ञ तथा यज्ञ से सत्य की साधना होती है । सत्य सत्तात्मक अथवा अस्तित्व परक है । अस्तित्व की साधना और सकलता यज्ञ ही अवलंबित है ।

जैसे सौर परिवार ग्रहों से बंधा है शरीर इन्द्रियों से राज्य शासनाधिकारियों जैसे ही मेर छत्रों से और कर्मकाण्डीय यज्ञ कल्पियों से बंधा है । यज्ञ के भेद अरि विहित हुए हैं वे उसके अवयव हैं अंग हैं । जैसे रथ को अस्त्र आग से बाँधे हैं, वैसे ही यज्ञ को ऋक और साम आगे बढ़ाते हैं । ऋक ज्ञान ~~...~~

या यज्ञ का प्रतीक है। ऋ० १० ११४ ६ में यज्ञ विनाय कबयो मनीषा ऋकसा  
माम्या प्ररपं वर्ययन्ति पदों द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है। इस मंत्र में  
आदित्यदेवों तथा यज्ञ के चासीस ग्रहों या अंगों की ओर भी संकेत किया गया है।

यज्ञों के भेद प्रभेद जब प्रचलित नहीं रहे। जब तो सामान्य प्रतिपत्ति पूर्वक  
वेदों के या केवल गायत्री के पारायण यज्ञ बस पड़े हैं अतः पुरातत्वीय यज्ञों की  
प्रत्यक्ष करना कठिन जान पड़ता है। यही बात उसके ग्रहों या अंगों पर भी चरितार्थ  
होती है। उपांगु-अन्तर्याम उक्थ प्रुब ऋतुग्रह ऐन्द्राग्न सावित्र पालीवत,  
हारियोन्नत अत्यन्निष्टोम अंशु अदाभय दधिग्रह षोडशी आदि ४० अंगों या ग्रहों  
का क्या रूप था इसे अवगत करना सहज नहीं है। एक समय याज्ञिक कर्मकाण्ड का  
यह रूप प्रयोग में आने के कारण बोधवन्धु था। जैन-बौद्धादि सम्प्रदायों ने इसे  
बामा पशुबापी पर अपने विमुख रूप में यह सोक-मंदसकारि था यह यज्ञ तथ्य  
की व्याख्या से स्पष्ट हो रहा है।

### सर्वभूत यज्ञ

माताओं की कोख से बड़े-बड़े मान पैदा होते हैं पर उस माता की कोख धम्म  
है जो ऐसे अमृत्यु ज्ञान को उत्पन्न करे जो माता की महनीय मायना को अपने जीवन  
में अवतरित करे तथा उसका साकार प्रतीक बने। मातृत्व में सर्वभूत यज्ञ की मायना  
प्रमुख रूप से क्रियाशील रहती है। सन्तति के निर्माण में पिता का अंश माता के अंश  
की अपेक्षा बहुत ही अल्प है। गर्भ में बच्चे का निर्माण माता के शारीरिक एवं मान  
सिद्ध अंशों से ही होता है। गर्भस्थ शिशु के सम्बर्द्धन एवं संरक्षण में माता मातों अपने  
आप को ही होम देती है। प्रसव के उपरान्त भी उसकी सर्व-भूत-मायना सन्तति  
के साथ संलग्न रहती है। पिता सांसारिक उत्सर्गों में अधिक कंसा रहता है अतः  
सन्तति की ईश-रेख प्रमुख रूप से माता के ही ऊपर रहती है।

सर्व भूत-यज्ञ का एक सुन्दर स्वकन पुरुष सूक्त में विस्तार देता है। यज्ञ-पुरुष  
वृष्टि की रचना में अपने सर्वस्व की आहुति दे रहा है जिससे एक ओर सामग्री उत्पन्न  
हो रही है दूसरी ओर उस सामग्री की आहुति देने वाली श्रैतन्य की बात प्राप्नुत्त  
हो रही है। एक विधा में उससे निकलती हुयी सत्तायें वृष्टिपोषण हो रही हैं तो  
दूसरी ओर पर्याप्तक प्राणवृद्धता तथा ज्ञान का स्रोत प्रकट हो रहा है। ब्रह्माण्ड और  
उसमें बास करने वाले जीव उसी सर्व-भूत यज्ञ पुरुष की देन हैं।

ध्मन्तोम्य तथा बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में पंचाग्नि विद्या का उल्लेख है।  
इस विद्या का उपज्ज रात्रा प्रबाहुण ये वेतवेतु तथा उसके पिता उद्दामक ऋषि को  
दिया था। सोतो गीतम ऋषि के बंध में उत्पन्न हुये थे। उद्दामक के पिता अरण्य के अतः  
उन्हें आरुषि भी कहा जाता है। पंचाग्नि विद्या में भी सर्व भूत-यज्ञ की मायना विद्य-  
मान है। यह पौनोक्त्य अन्तरिक्ष पृथ्वी पुरुष तथा स्त्री के रूप में प्रदर्शित की गई  
है। पौ अग्नि है और सूर्य समिधा के रूप में उस अग्नि में आहुत होकर प्रसीप्त हो

रहा है। इस प्रदीपम से जो प्रकाश निकलता है वह किरणों के रूप में दिखाई पड़ता है। दिन उसकी ज्वाला है। विशाल जंगल और उपनिवासों बिजलीयों हैं। इस सूक्ष्म सर्व-वृद्ध-यज्ञ में देव शब्द की आहुति देते हैं जिससे सोम राजा का जन्म होता है।

सूर्य को पुरुष-सूक्त में ब्राह्मण की संज्ञा प्रदान की है। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म की कान्ति। सूर्य मानों ब्रह्म की कान्ति है। सूक्त में पुरुष को महान् और आदि स्वरूप भी कहा गया है। ब्रह्म की ज्योति का आभास पाना है तो आदित्य को देखो। सूर्य का प्रकाश उसकी ज्योति या कान्ति ब्रह्म ज्योति का आभास दे सकते हैं। वेद तथा गीता दोनों में यह भी लिखा है कि यह सूर्य केवल उसकी सत्तक प्रस्तुत कर सकता है—ब्रह्म ज्योति की समता तो सहस्रों सूर्य एकत्र कर दिये जायें तब भी नहीं कर सकते। सरितायें अपने स्रोत का अनुमान ही तो कर सकती हैं। जो स्रोत अनाम है, उसे शरमहीन सरितायें कैसे बिना सकती है ?

पर यह सूर्य भी हमारे लिये बहुत महत्व रखता है। इसी के लिये प्रकाश, उत्ताप तथा प्राण से हम सब जीवित हैं। यह न होता तो यहाँ कुछ न होता। इसी की कान्ति से रक्ष या प्रभा ने समस्त ब्रह्माण्ड को सत्ता प्रदान की है। यह सर्ववृद्ध यज्ञ कर रहा है। तप रहा है। ऐसा तप रहा है। कि तप के अविरत इस भोग आदि की आकांक्षा भी कभी नहीं होती पर इसके तप का फल हम सब भोग रहें हैं हमें अन्न जल आदि की प्राप्ति इसी के द्वारा हो रही है। हम सब की स्वस्वता इसी के ऊपर अवलम्बित है। यह पुरोहित है — सबके, पुर. आये हित — रखा हुआ। पृथ्वी पन्न मंगल शुक्र बृहस्पति शनीश्वर आदि सभी ग्रह और इन ग्रहों में निवास करने वाले प्राणी अनुभव करते हैं कि सूर्य उनमें से सब के सामने निरन्तर उपस्थित रहता है। सब सूर्य को अपना समझते हैं और है भी वह सबका।

सूर्य सब का अग्रज है। अन्य सब ग्रह और जगत् में उसके पश्चात् उत्पन्न हुए हैं। ज्येष्ठ होने के साथ वह श्रेष्ठ भी है। आदु में तो सबसे बड़ा है ही। कुणों में भी सबसे अधिक है। ब्रह्म कान्ति जो उसको प्राप्त हुई है। इसी हेतु अपनी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के कारण वह अपने अनुजों को सब कुछ दे रहा है। अपने अन्न से लेकर सब तक वह तपस्या में सीन है अपने को जला रहा है, पर अपने परिवार को बिना रहा है और प्रलय पर्यन्त यही करता रहेगा।

ब्राह्मण स्व का बनी सब का अग्रज सूर्य मानव-समाज के अग्रज बाल-यानी ब्राह्मण को इसी आदर्श पर चलने की प्रेरणा देता है। आयों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में ब्रह्म तप ब्राह्मण के ही भाग में पड़ा है। अन्य वर्गों परियही है सांसारिक वैभव का संघर्ष करते हैं, पर ब्राह्मण अपरिग्रही है वह क्रोध को कुंभे हाथों सब को देने वाला है। मनु के अनुसार उसी का दिया हुआ सब खा रहे हैं। वह मुटा रहा है अन्य खिटा रहे हैं। सत्ता रखे हैं। ब्राह्मण का देवत्व इसी शान में, इसी सोम-सुख में,

इसी सर्वहुत यज्ञ की भावना में निहित है। विष्णु शक्तियों इसी से उनके बच में रहती हैं।

ब्राह्मण में ज्ञान का प्रकाशरूपो निवास करता ही है यज्ञा उससे भी अधिक रहती है। यज्ञा न हो तो प्रकाश का महत्त्व कम हो जाता है। यज्ञा ही उसे प्रकाश की आहुति के सिधे प्रेरित करती है। यज्ञा का समिपेय ही सोम का उत्पादक है। सोम उत्तर की विद्या के राजा है। उसकी उत्पत्ति उषस्यन ऊर्ध्व गमन की ओर से जाती है। सोम का सबन एक ओर ज्ञान की बर्पा करता है तो दूसरी ओर कर्म के सामक उपादानों की सृष्टि भी करता है। समाज को उसके द्वारा जीवन सामग्री भी प्राप्त होती है। ज्ञान के निधान प्रकाशस्वरूप देव स्वाहा से तथा कर्म के आधार पितर स्वभा से जन्मवित होते हैं। सर्वहुत भावना स्वाहा में ही है। स्व को सब ओर से आहुत कर देना। स्वभा में स्व को बारन किया जाता है बचाया जाता है। यह भी सत्य है कि स्वभा ही स्वाहा को पितर देवों को बढ़ाते हैं और स्वाहा देवशक्ति स्वभा पितृ शक्ति को बढ़ाती है। ब्राह्मण ज्ञान का प्रतीक है जो कर्म के प्रतीक क्षत्रिय जाति का संवर्धन करता है। ब्राह्मण का संवर्धन क्षत्रियत्व के द्वारा होता है।<sup>१</sup>

( याँच देवा वाच धु ये च देवान् स्वाहाभ्ये स्वचयान्ये मवन्ति ॥ )

धु — लोक में जो सर्वहुत यज्ञ हो रहा है वह अन्तरिक्ष पृथ्वी पुरुष और स्त्री के अन्तर भी हो रहा है। जो में यज्ञा की आहुति पड़ रही है जिससे सोम उत्पन्न होता है। अन्तरिक्ष में सोम की आहुति पड़ रही है जिससे वर्षा उत्पन्न होती है। पृथ्वी में वर्षा की आहुति पड़ रही है जिससे अन्न पैदा होता है। पुरुष के मुख में अन्न की आहुति पड़ रही है जिससे वीर्य की उत्पत्ति होती है और स्त्री के अन्तर वीर्य होना जाता है जिससे मनुष्य की उत्पत्ति होती है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी आहुति इस देवकुण्ड में दे दे और सृष्टि में प्रवर्तित यज्ञ चक्र को पूर्ण करे।

राजा प्रवाहम द्वारा उपविष्ट पंचाग्नि विद्या में यज्ञा ब्राह्मण का प्रतीक है सोम में समा नाम्नी शक्ति संवर्धित होने के कारण क्षत्रियत्व है। राजा का भाव है वर्षा वीर्य का प्रतीक है—सब ओर से जल एकट्ठा करके समाज के प्रत्येक बटक तक पहुँचा देना—वैसे ही जल से तामाव और समुद्र का वाष्प रूप में ऊँचा चले चल को वर्षा सब स्थानों में पहुँचा देती है। जल का वाष्प रूप में परिचयन वाष्प का तप्त स्नान में जाना फिर ठंडा होकर बरस पड़ना—यज्ञ का ही एक चक्र है। समाज में यही यज्ञ वीर्य को करना है। यज्ञ सूत्र का प्रतीक है। इसी चक्र या व्यवस्था से समाज वीर्यवान बनता है और मानव सन्तति तथा संस्कृति की सरिता जागे बढ़ती रहती है।

यस्य है मे मात और उन लोगों को उत्पन्न करने वाली माता की जोख जो सर्व हुत यज्ञ की भावना को अपने जीवन में प्रमुख स्थान देते हैं। प्राचीन ऋषि इसी

पदवि पर जीवन यापन करते थे । परिणामतः उनके अतुल्य व्याप्त आतावरण में सुख एवं शान्ति की वर्षा होती रहती थी । हम भी यदि सुख एवं शान्ति के आकांक्षी हैं, तो इसी प्रणाली को अपना कर सुखी और शान्ति सम्पन्न हो सकेंगे । चीना-सपटी, छूट-छोट सम्म जीवन के बिह्व नहीं हैं । ये दस्युओं की वृत्तियाँ हैं । हमें आर्य बनना है सम्मता अपनानी है संस्कृत होना है । यह कार्य सर्वहुत यज्ञ भावना से ही सम्पादित हो सकता है ।

सुख, शान्ति ज्योति, निर्भयता कल्याण की साधना इसी सर्वहुत साधना द्वारा साध्य है । मानवता के विकास और उदयान में इसी का सहयोग क्रियाशील रहता है । यही वांछनीय है यही सम्पादनीय है यही प्राप्तव्य है । इसी की इच्छा, इसी की साधना और इसी की प्राप्ति जीवन का शोभन कार्यक्रम और मन्त्र है ।



## २ । सस्कृति और सस्कार

क सस्कार अर्थ, प्रकृति एवं महत्व

यहां जो कुछ कूड़ा है बदमा है मलिन है कच्चा है स्ना है उसके कूड़ेपन मलिनता कच्चेपन को हटा कर यदि स्वच्छता सुपक्वता तथा सरसता का संचार कर दिया जाय तो निर्मलता तथा सौन्दर्य के साथ मन रंजनता भी उत्पन्न हो सकती है। गेहूँ आदि आग्य क डेर में से जब मिट्टी सरसों आदि के कण पूरक कर विभे जाते हैं तो वेहूँ मुख होकर स्वास्थ्यप्रव बन जाता है। घर-आयन में जो प्रतिदिन कूड़ा इकट्ठा होता रहता है वह भाँखों को तो बटकरवा ही है मन को भी दूषित करता है। झाड़ू लगा देने पर कूड़ा हट जाता है तो घर की स्वच्छता हो जाने से मन को भी प्रसन्नता हाती है और आँखें भी खुल अनुमन करती है। जब बदमा है तो उसे पीने को या उसमें स्नान करने को मन नहीं करता। वही जब जब स्वच्छ हो जाता है तो स्नान तथा पान के योग्य बन जाता है। जैसे जब में बीसे ही आयु में भी बरगी फल जाती है। प्रथम तो प्रकृति ही इस गवगी को हटाती रहती है और उसका संशोधन-कार्य सुदीर्घ बेच-काल-व्यापी होता है बूझते मनुष्य भी अपने सामर्थ्य के अनुकूल जब तथा वायु को अपने उपयोग के लिए मुख किया करता है। बड़े-बड़े नहरों में नहरों तामाबों तथा नदियों में पानी लाकर बड़े-बड़े इमि सरोवरों में इकट्ठा किया जाता है और विविध विधानों से स्वच्छ करके उसे नलों द्वारा घर-घर में पहुँचाया जाता है। इस क्रिया से मनुष्यों के स्वास्थ्य तथा आयु में पूरपिप्सा बृद्धि हुई है। पुरातन में जलवायु की अस्वच्छता के कारण जब व्याधियाँ फैलती थी तो आर्य बड़े बड़े हवन करके जलवायु के संशोधन द्वारा व्याधियों के कीटाणुओं को नष्ट किया करते थे। आपधि परिज्ञान भी उनका महाम् एवं सराहनीय था और संशोधन की विधियाँ भी अपूर्व थी। वर्तमान युग में पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से जो संशोधन प्रक्रिया तथा रोग निशान प्रचलित हुए हैं वे भी महत्वपूर्ण हैं।

संशोधन या परिमार्जन की क्रिया का ही सस्कार कहते हैं। इस क्रिया द्वारा वस्तु की शुद्धि हो जाती है उसकी उपयोगिता तथा सामित्य में भी वृद्धि हो जाती है। वह धीरे-धीरे नहीं मन का भी पोषण करने लगती है। कुम्भकार साधारण मिट्टी को मूँच कर षडे करने मुराही प्यापी नाँव मोरे आदि बना देता है

को मानव जीवन को सुखद बनाने में बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। जब उसी मिट्टी से वह मिनीने मूर्तियाँ आदि बनाता है और उनमें विविध प्रकार के रंग भर देता है, तो उनसे बच्चों का ही नहीं बड़े-बूढ़ों का भी मनोरंजन होता है। बड़ई साधारण सफ़ाई को गढ़-झीम कर सचिक्कण चौखट खट्वा सडूक पेटिका बेसन रई कुर्सी, मेज किबाड़ आसनारी आदि बना देता है। जीवन यात्रा के लिए ये सभी निमित्तियाँ सामग्री हैं। पर जब उसी सफ़ाई में स झरोखेदार बिजकारी काट दी जाती है मूर्तियाँ बनाई जाती हैं, तो उससे मन प्रसादन के साधन भी प्रस्तुत हो जाते हैं। जितनी कसायें हैं वे इसी प्रकार कच्चे भास को परिपक्व रूप प्रदान करती हैं जड़ में छबीलता का भाव उत्पन्न करती हैं कलाकार की मानसिकता मुक्ति होकर उनमें से झनकने लगती है उनका प्रारंभिक ब्रह्माण्ड दूर हो जाता है और उनमें चिह्ननापन आ जाता है। वह सब संस्कार का प्रभाव है। यह प्रभाव और भी आगे जाता है। प्रकृति इस प्रभाव से प्रकृति न रह कर सृष्टि बन जाती है। धरती पर कभी कुछ दाने मनुष्य को मिले जो उसकी मोक्ष-समस्या का समाधान करते थे। उन दानों को खाकर कृषि-कर्म द्वारा मनुष्य अनेक दाने पदा करने लगा कृषि-विज्ञान द्वारा दाने अधिक ही नहीं आकार में भी बड़े पैदा होने लगे और जहाँ वे पैदा नहीं हो सकते वहाँ व्यापारिक साधनों द्वारा पहुंचाये गये। फल और फल इसी धरती पर थे, पर जब माँसी के हाव लगे तो वे अपने उसी रूप में पूरपिशा अथिब विकसित हो उठे फल आकार में अधिक बड़े पैदा होने लगे प्राकृतिक खाद की अपेक्षा इधिम खाद खाकर वे स्वयं ही पुष्ट नहीं हुए मानवों को भी पुष्ट करने लगे। कपास पदा होता है, पर संस्कार द्वारा वह आगे बढ़े बनियाहन मोटी कृत्ता उत्तरीय कोट उष्णीय घुसाभा आदि में परिणत हो जाता है। ऊन मेड़ के खरीर से हट कर कम्बल आसन आदि का रूप ग्रहण कर लेती है। रेशम के कीड़े रेशम तैयार करते हैं पर उनसे बहुमूल्य वस्त्रों का निर्माण संस्कार द्वारा होता है।

। प्रकृति का प्रथम संस्कार तो प्रभु के द्वारा ही हुआ था। वे विभिन्न विभिन्न लोक-सौकान्तर, सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रादि की जयमयात्री हुई रचना अन्न-फल-फल-वायु-जल-अग्नि-वहस्वति-यक्षी-यक्षु-हृमि-नीट आदि की विरूपा सृष्टि उसी ने द्वारा आनिर्भूत हुई, पर मिट्टी से गृह परस्पर से वर्तन मूर्ति और अन्न सोहे स वस्त्र काँसा-फल-नीतल-ठाँका आदि से वर्तन और मूर्तियाँ रक्त और रक्त से बहुमूल्य आमृषण हीरे-जग-रत्न आदि का बड़ाऊ गहनों में परिभयन जस से निष्पुत और विष्पुत से आपबिक वस्त्रों तथा प्रलेपास्त्रों की निमिति जसयाज पनहुषी बिमान रोकेट रेबार दूरभीसक आदि का आनिर्भवि यह सब मनुष्य के मस्तिष्क की भाषा है, उसी की बुद्धि की उपज है उसी के द्वारा ज्ञाना हुआ संस्कार है। इस संस्कार के प्रभाव ने मनुष्यको शक्ति दी है मन को अजित किया है बुद्धि को उरसाह दिया है और उसे प्रमति के पथ पर अग्रसर किया है। क्या इस प्रकृति के संस्कार के साथ जीवन का संस्कार-



मही हो सकता ?

सृष्टि में पृथ्वी अन्न सूर्य आदि के साथ जीवन भी परिपक्व होता है । जीवन जीवों को जीविक रूप देता है । वही अगति में गति उत्पन्न करता है । प्रकृति की भांति यह भी विविध रूपों वाला है । वनस्पति से लेकर मनुष्य तक इसके बीरासी सात रूप बताये जाते हैं । मनुष्य की उन्नत बुद्धि ने अपने से अतिरिक्त जीवन-रूपों का भी संस्कार किया है । कृषि विज्ञान उद्योग-विज्ञान आदि के परिवर्तनों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं । एक घाने से अनेक घाने प्रकृति भी उत्पन्न करती है पर मनुष्य संस्कार द्वारा उन वर्णों को और भी अधिक सुस्पष्ट बना सकता है । फलों और फूलों की भी व्यवस्था में उसने अथुत पूर्ण विकास किया है । पशु-पक्षियों को पालतू बना कर संस्कारों द्वारा उसने अपने लिये उपयोगी बना लिया है । बलवान तथा हिंस से भी हिंस पशु उसके संस्कारों पर नाचते हैं । मानव के उन्नत जीवन में, विकसित मस्तिष्क ने इन अवनत और अपेक्षाकृत अविकसित मस्तिष्क वाले जीवन-रूपों पर अपने संस्कारों से महार प्रभाव डाला है । क्या इस उन्नत मस्तिष्क के लिये कोई प्रभावी संस्कार नहीं है ? जो अन्तों को विकसित कर सकता है, उत्तम प्रभावी पर डाल सकता है क्या उसके विकास के लिये परिमार्जन के लिये कोई साधन नहीं है ?

मानव सृष्टि में महान है खेप है । मानव-रचना से खेपतर रचना यहां अन्त नहीं है । मानव रचना में भी मस्तिष्क सर्व प्रधान है । संस्कार की बात उसी को सूझती है । पशु-पक्षी जागते भी नहीं संस्कार क्या है । क्या पौंसना अच्छा बना लेती है चीस बहुत दूर तक देख सकती है, हंस वर्षा और शरद के आगम को जान जाते है पर यह सब सहज ज्ञान है विकसित नहीं विकसित ज्ञान की परम्परा का ज्ञान तो और भी दूर है । मानव के पास सहज ज्ञान है विकसित ज्ञान है विकसित ज्ञान की परम्परा का ज्ञान है और उस ज्ञान में भी अग्रिम विकास की कड़ियों को जोड़ देने का ज्ञान-सामर्थ्य है । इस मानव का यदि संस्कार किया जाय, तो क्या वह ऊर्ध्व मानव अति मानव की कोटि में नहीं पहुँच सकता ? क्या उसके अन्दर निहित गुण बेबी अंत उभर कर बाहर नहीं आ सकता ? क्या पाबितता दिम्पता में परिणत नहीं हो सकती ? क्या मर्त्य जगूत नहीं बन सकता ? क्या मनुष्य देव और देवों में भी महा देव नहीं हो सकता ?

इतिहास कहता है कि संस्कारों के प्रभाव से मनुष्य उन्नत हो सकता है । ऋषि उपरचर्या द्वारा मनुष्य से देव बने थे । विश्वामित्र तप के प्रभाव से ही राजपि ने ब्रह्मर्षि बने थे । श्वेतशीप में भिन्न सिद्धांती ऋषियों के तप का वर्धन महामारत में आया है । इन्हें विषय असीक्तिक व्याति के दर्शन हुये थे । कठोपनिषद् में जो मानव, पिठर, संवर्ष तथा देव कोटियों का उल्लेख है वह विकास की परम्परा को

करता है। ऐतिरीय उपनिषद् में श्रोत्रिय तथा ब्रह्मसूत्र का मनुष्य मनुष्य मर्म वेदगन्धर्व पितृ आश्विनज वेद कर्मवेद देव इन्द्र बृहस्पति प्रजापति तथा इन्द्र के आनन्द की धेनी में क्रमशः पहुँचाया है वह भी उन्नयन के स्तरों को ही कट करता है।

जब बिनास छिड़ है उन्नयन निश्चित है, तो उसकी उपमन्त्रि के सिधे साधन उपान भी अवश्य होने चाहिये। आर्य जाति में संस्कारों की प्रतिष्ठा इन्हीं साधन उपानों के रूप में हुई है। साम्प्रतिक प्रगतिपुत्रता को वर्धमान करने में भी संस्कारों का प्रधानमोद्यमान है। संस्कृति और संस्कार दोनों एक दूसरे के समिकट हैं। अर्थ की दृष्टि से एक साम्य है दूसरा साधन। एक जीवन की पूर्णता की ओर निर्दिष्ट करता है दूसरा विधि-विधानों की ओर। संस्कारों का उद्देश्य है संस्कृत जीवन का निर्माण। संस्कृत जीवन का अर्थ है—उन्नत उन्नत विषय जीवन मानवता का परिष्करण देवी अतिमानुष विभूतियों का आवाहन, परम-उज्ज्वल से उज्ज्वल प्रयोजि स्वकय शक्ति का मानव-काया में अवतरण।

संस्कारों का बहुत आध्यात्मिक महत्व है वहाँ उनका सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। एक-एक व्यक्ति समाज का एक-एक अंग है। जैसे कई बटकों के व्यवस्थित एकत्रीकरण से व्यक्ति का निर्माण होता है वैसे ही संस्कृत व्यक्तियों के संघटन को निष्ठ समाज की संज्ञा प्राप्त होती है। अव्यवस्थित जन-समर्थ को भीड़ तो कह सकते हैं पर समाज का अविधान उसे नहीं बिया जा सकता। पशुओं की भी भीड़ होती है समाज नहीं। वैयाकरणों ने उसे समज कहा है। समाज और समज में संस्कारों का ही अन्तर है। समाज व्यवस्थित है समज नहीं भीड़ नहीं। यदि वे व्यवस्थित होते तो समज या भीड़ न कहे जाते।

व्यवस्थित समाज में संस्कार अपने उद्देश्यों के साथ प्रवर्तित रहते हैं पर कभी-कभी कासबक के बपेड़ों में पड़ कर समाज भी संस्कारों के उद्देश्यों को विस्मृत कर बैठता है। संस्कारों की सक्तीर पिठवी रहती है अन्त आधना विस्मृत हो जाती है। पर सक्तीर पिठवे रहना भी अच्छा है। इससे संस्कार बने तो रहेंगे। बने रहने पर अन्त आधना या उद्देश्य की ओर भी कभी न कभी दृष्टि जा सकती है। नष्ट हो जाने पर तो उद्देश्य भी सब के सिधे तिरोहित हो जायेंगे। आर्य जाति ने भीषण विनाशीय आक्रमणों के संघर्ष में भी अपने संस्कारों का परिपालन नहीं किया। दृढ़ रूप में ही सही हम उनसे बिपटे तो रहे। कासान्तर में महर्षि दयानन्द ने उद्यम से संस्कारों का महत्व भी हमारे समक्ष स्पष्ट हो सठा। हमारे संस्कार जीवित रहे और उनके साथ हम भी। संस्कार ही न रहते तो उनके उद्देश्य को हर्षगम करने की ओर कौन बढ़ता? अन्त मध्य को जीवित रखने के सिधे उसके स्वरूप को जीवित रखना भी आवश्यक है। सक्तीर के सक्तीर पर

बीबित तो है । कृत्तक पर कभी न कभी तो मौस षड़ ही आयमा । शरीर में निहित आत्मा कभी न कभी तो जामृत हो ही उठेगी । हाँ जल्दा मही है कि सत्य तथा सशक्त दोनों ही स्पष्ट हों । आत्मा तथा शरीर दोनों ही स्वस्थ हो, संस्कृति तथा समाज दोनों ही जागरूक एवं सवाक हों ।

उष्ण कोटि के व्यक्तित्व में संस्कारों के प्रति अविषम विश्वास रहता है । उसकी यह निष्ठा ही संस्कारों को समाज में सजीव तथा सुरक्षित रखती है । व्यक्ति एवं समाज की आकांक्षा आदर्श प्रियता जिस विद्या की ओर प्रवृत्ति करेगी उसी विद्या के संस्कार निमित्त होंगे । यदि हम भौतिकता प्रिय हैं कांचन एवं कामिनी में ही आसक्त हैं तो हमारे संस्कार वहीं तक सीमित रह कर विकास-पथ को अवरुद्ध कर देंगे और यदि हम कांचन तथा काम को साधन मात्र समझेंगे तथा उस साधन के द्वारा ऊपर के क्षेत्रों में विचरण करने के लिये उत्तम रहेंगे तो हमारे संस्कार भी उसी विद्या की ओर प्रयाण करने लगेंगे । आर्य जाति ने अर्ध तथा काम की अवहेलना नहीं की है पर उनको उचित से अधिक मूल्य भी नहीं दिया है । उन्हें उसने साम्य नहीं साधन समझा है । इनका सम्यक पालन करते हुये भी उसकी दृष्टि आत्मोत्थान की ओर रही है । जहाँ वे आत्मविकास में बाधक बने हैं वहीं इन्हें परित्याग्य कह कर शत्रुत्व व्यवहार्य बना दिया है । इसी कारण हमारी संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति कहलाती है । भौतिकतावादियों की आकांक्षाओं एवं आदर्शों को न हम आदर्श समझते हैं और न उन्हें संस्कृति के अन्तर्गत स्थान ही देते हैं ।

आदर्श वह है जो सबके लिये प्राप्त्युक्त हो । भौतिक आदर्श ऐसा नहीं है । आध्यात्मिक आदर्श सब की साक्षी सम्पत्ति है । उसी की प्राप्ति के लिये प्राणी प्रयत्न कर रहे हैं । भौतिकतावादियों ने साम्य की भोपणा करके या परिवार पद्धति का आदर्श खड़ा करके वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न किया या पर वे अपने इस आदर्शन में सफल न हो सके । आत्मोपलब्धि ही एक ऐसा आदर्श है जिसकी जाने अनजाने सभी आकांक्षा करते हैं । आत्मा वा अरे इष्टम् 'ओतम् उपसिद्धम्' — यह भोपणा आत्मा की ही आवश्यकता पुकार है । आत्म प्राप्ति ही आत्मोपलब्धि है जामृत की प्राप्ति है । इसी को आदर्श मान कर जो प्रयत्न किये जायेंगे वे सत् प्रयत्न होंगे । अम्य प्राप्तियों के साधन एक दूसरे से टकरावेंगे मनोमालिन्त्य उत्पन्न करेंगे हिंसा-ईर्ष्या द्वेष के बातावरण को उत्पन्न करेंगे मिथ्या दम्भ-अभिमान क्रोध के जनक बनेंगे । अतः अम्य में परित्याग्य होंगे । अध्यात्म का आदर्श ही ऐसा है जिसकी ओर बिना टकरावे सभी चल सकते हैं । यही सबके स्वार्थ सबके हित पाठ-प्रतिपाठ-बिहीन बातावरण में आये बैठते हैं । अध्यात्मचन ऐसा है जो जिसकी प्राप्ति हो गया वहीं उसे दूसरों को भी देना चाहता है । दूसरों को भी उन्नत बनने की प्रेरणा देता है । भौतिक धन सबके पास नहीं पहुँच सकता । अध्यात्मधन सब के पास है केवल भौतिकता के आध

रम को हटाने की आवश्यकता है। इस धन को धर्मोक्त धन कहा गया है। अन्य रत्न हैं, तो यह रत्न धातुमय है हिरण्य का सोत है परम धन है। जिसे यह प्राप्त हो गया, वही धर्म्य है। तो फिर मानव धर्म्य वर्णों की ओर क्यों बसे? धन के धन, सम्पत्ति के सम्पत्ति बसु के बसुपति की ओर ही क्यों न प्रमाण करे? जिसके प्राप्त कर लेने से सब कष्ट प्राप्त हो जाता है, वही प्राप्तव्य है, वही आदर्श है।

संस्कार इसी आदर्श के मार्ग पर मानव को अग्रसर करने वाले हैं। वे हमें शिक्षित, संस्कृत, अनुशासित एवं संयमी बनाते हैं। उष्ण, शमता, व्यसंयम, अतिशयता मानव को आरमभय से विचलित करने वाले दुर्गुण हैं। नीतिकलावादी भी इनसे बचना चाहते हैं पर उनका पय ही ऐसा है कि वे चाहते हुए भी इनसे बच नहीं पाते। व्यसंयम से आरम अतिशय होती है। संयम और नियम ही आरमशक्ति के प्रतिष्ठापक हैं। संस्कारी व्यक्ति स्वभाव से ही संयमी होता है।

संस्कारों से व्यक्ति का अन्तस्त्व ही नहीं सामाजिक वातावरण भी शुद्ध होता है। संस्कृत जीवन की पवित्रता में वह सौरभ है जो सीमामों का अतिक्रमण करता हुआ सबके पास पहुँचता है और सबको सौरभ-सम्पन्न एवं पवित्र बनाता है। सन मर के लिये ही सही पर उससे सबको पोषण प्राप्त होता है। सृष्टि प्राप्त होती है, शक्ति मिलती है। वहाँ नीतिक बल ईश्वरी का कारण है वहाँ सांस्कृतिक सम्पत्ति सबका आभ्यासन करती है। नीतिक धन पर बसु, जोर, मुठारे बाहु अपनी मृध दृष्टि बनाते हैं और अपने कुटुम्बों से दूसरे की शक्ति एवं स्वतंत्रता में बाधा डालते हैं। आभ्यासनिक धन का द्वार सबके लिये खुला है। जो इसे प्राप्त करना चाहे प्राप्त कर सकता है। यह तिजोरियों में बन्द नहीं है। प्राप्त करने वाला तिजोरियों के कारण मार में बन्द है। उसे मुक्त होकर इसकी प्राप्ति करनी है। यह तो सब के लिये उन्मुक्त है ही।

हमारे संस्कार इसी हेतु यज्ञमाधना पर अवलम्बित हैं। पूजा संगतिकरण और ध्यान उनकी प्रमुख विशेषता है। कोरे मोनवादी इन विशेषताओं से वंचित रहते हैं। त्यागपूर्वक भोग भोगने वाले ही इस पथ के पथिक बनते हैं। बर्ब और काम पर यदि धर्म का अंकुश न रहे तो मात्स्यन्याय या सपिथीन्याय व्याप्त होकर समाज का विघ्नस्त कर डालें। यज्ञमाधना पर आधृत संस्कृति ही सामाजिक सम्पत्ति का स्थापन तथा संरक्षण कर सकती है।

आर्य जाति ने मानव के आभ्यासनिक निर्माण के लिये जिन संस्कारों की कल्पना की उननी आधार जिला अतीव सुवृद्ध तथा गहरी है। संस्कार जन्म के पश्चात् नहीं उसके बहुत पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। सृष्टि के मूल में जिन ऋतु एवं सरय प्राय एवं रवि सोम एवं अग्नि नाम के तत्त्वों का सहयोग है वे ही द्विविध तत्त्व मानवजन्म के मूल में भी क्रियाशील रहते हैं। इनका नाम भीर्य और रज है। भीर्य और रज जितने ही शुद्ध होंगे संवर्ति भी उतनी ही शुद्ध होगी। भीर्य और रज की शुद्धता स्वयं संस्कारों पर अवलम्बित है। संस्कारी माता-पिता के विशुद्ध भीर्य एवं

रज मे संस्कृत गन्तान का जन्म हुआ है। इन सभ्य को हमारे पूर्वज अभीमानि अनुभव कर चुके थे। अज गरजाग का प्रारम्भ गर्भाधान मे ही हुआ है। मूल को सीखने मे शास्त्राग्न कुल-पुत्र सभी आहार प्राप्त कर ली है और इसे भरे बने रहते हैं। गर्भाधान संस्कार की समीचीनता भी आगामी जीवन के सभी अंगों को संस्कृत रूप देने में समर्थ है।

गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या में अंतर है। आश्विनपुनर्वास में विवाह मे प्रारंभ करके अश्विपुनर्वास पर्यन्त ग्यारह संस्कारों के नाम आते हैं जिनमें निष्कर्म कर्मवेध वेदारम्भ बानप्रस्थ तथा संन्यास संस्कार परिगणित नहीं हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र में छेरह संस्कार उल्लिखित हैं जिनमे कर्मवेध वेदारम्भ बानप्रस्थ तथा संन्यास संस्कारों के नाम नहीं आते। एक महीन कालांतर संस्कार का उल्लेख अवश्य है। बीबामन गृह्यसूत्र में भी छेरह संस्कारों का वर्णन है जिनमें पितृवेध नया है तथा वेदारम्भ बानप्रस्थ संन्यास और अश्विपुनर्वास का उल्लेख है। अन्य गृह्यसूत्रों के भी संस्कारों के नाम तथा संख्या समान नहीं हैं। बौधायन गृह्यसूत्र में यह संख्या १८ है। पीठम धर्म सूत्र नामी संस्कारों के नाम सेता है परन्तु इनमें चार बर बर पंचमहायज्ञ सात पाकयज्ञ सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञ संस्कारों के भी नाम परिगणित हैं। मनुस्मृति में छेरह संस्कार दिये हैं जिनमें कर्मवेध बानप्रस्थ तथा संन्यास संस्कार नहीं हैं। वेदारम्भ के स्थान पर केचान्त नाम आता है। महर्षि द्वापतम्य ने संस्कार विधि में सोलह संस्कारों की विधि दी है। इन संस्कारों में बानप्रस्थ तथा संन्यास छूट तथा वैश्यो के लिए विहित नहीं समझे जाते। शनिय के लिए संन्यास विहित नहीं है। अकेला ब्राह्मण ही उसका अधिकारी है। प्रथमजा<sup>१</sup> के ब्राह्मणत्व की ओर तीव्र निबन्धन म हमने इस माध्यता के कारणों पर विचार किया है।

### सं पौंड्रस संस्कार और सांस्कृतिक विकास क्रम

१ गर्भाधान—हम तब तक चुके हैं कि संस्कारों का मूल या बीजकर्म गर्भाधान से ही प्रारंभ हो जाता है। यदि माता और पिता संस्कृत हैं तो संतति भी निश्चित रूप से संस्कारोन्मुख होगी। विवाह का एक मुख्य लक्ष्य प्रसन्न सद्य प्रजातन्त्र को आगे बढ़ाना है। यह तन्त्र निश्चित म हो, इसी हेतु हमारे पूर्वजों ने विवाह-संस्कार की प्रतिष्ठा की थी। इस तन्त्र के रूप में माता पूर्वज ही हमारे जीवित रहते हैं। जब तक किसी कूल में गन्तान का प्रवाह जाता जाता है जब तक उस कूल का मूल पुरुष जीवित है। जीवन संघर्ष में यद्यपि मृत्यु ही विजयिनी बनती है। सभी प्राणी अन्त में काम कर्मनिष्ठ हो जाते हैं परन्तु देव ने संतति का जो विधान प्रस्तुत किया है उसमें जीवन पराजित होकर भी विजयी बन जाता है। जीवन के जो अंग जीवन में निहित रहते हैं उनमे आनन्दिक अंग भी विद्यमान रहते हैं। आनन्द

कारों ने बीर्य को बीज माना है और स्त्री के रज बबबा खोणित को क्षेम । संतति का प्रसव एक नहीं, दोनों के सम्मिलन से होता है । सृष्टि के मूल में भी ये दोनों तत्त्व श्रुत और सत्य के रूप में विद्यमान रहते हैं । सृष्टि का विकास ही इन्हीं दो तत्त्वों का फीड़ा-क्षेत्र है । संस्कार की आवश्यकता सर्वत्र है । एक आचार्य के शब्दों में सन्तान का निर्माण उसके जन्म से बीस वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो जाता है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि जिन बच्चों को भविष्य में माता पिता बनना है वे प्रारम्भ से ही अपने को संस्कारी बनावें ।

श्रुति भगवती कहती है—

अमा बंपात् सम्भवति हृदया बधि जायते

आत्मा नै पुत्र नामासि सजीव शरणं शतम् ।

पुत्र माँ के अंग अय से पैदा होता है । वह हृदय में उत्पन्न होता है । पुत्र और क्या है ? अपना ही प्रतिरूप है । आत्मा ही है । वह बहुत दिनों तक जीवित रहे । शतायु ही नहीं सहस्रायु बने ।

संतति के उत्पादन में माता का प्राधान्य है या पिता का ? इस विषय में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं । एक विद्वान् के मतानुसार सन्तान के लिए माँ अपने पति को साधन के रूप में प्रयुक्त करती है । पिता क्षेत्र में बीज दास कर जलम हो जाता है । गर्भ का पालन-पोषण तो माता ही करती है और उत्पत्ति के अनन्तर दो-दो साल तक दम्बा उसी की गोद में खेलता औरिया सेता और स्तन-पान द्वारा सबडित होता है । ऐसी अवस्था में माता का सुसंस्कृत होना अनिवार्य हो जाता है । सतान कल्याण-नय पर तभी अवसर होगी जब उसे सु संस्कृत माता का दुग्ध पीने को मिलेगा । इतिहास ने ऐसे उदाहरण सुरक्षित रखे हैं जिनमें पिता राक्षस हैं परन्तु माता के सतीत्व और भक्ति-प्रवण अस्तित्व ने सन्तान को सत्-मृक्ष्य के रूप में जन्म दिया है । हिरण्यकशिपु की सन्तान प्रह्लाद के रूप में जात्र भी पूज्य एवं सम्मानास्पद बनी हुई है ।

माता का स्थान प्रमुख है इसमें शन्देह नहीं परन्तु पिता के शुक को भी मज्जितनीय नहीं समझा जा सकता । शुक में पिता का पूर्व रूप उतर आता है । सुयुक्त के अनुसार शुक की परिणति जल के उपरान्त आठवें स्थान पर है । अन्न बबबा आहार की शुद्धि सगी को गाम्य है । सत्व की शुद्धता आहार-शुद्धि पर ही अवलम्बित है । यह आहार किस प्रकार शुद्ध होता है ? आहार भी तीन प्रकार के हैं—सात्विक, राजस एवं तामस । जिस प्रकार के आहार का सेवन किया जायगा शुक उसी रूप का बनेगा । मानव स्वभाव की विभिन्नता शुक के विभेदों का ही परिणाम है । यदि हम संस्कृत सन्तान चाहते हैं तो माता के खोणित की सात्विकता के साथ पिता के शुक की सात्विकता को भी साथ लेना पड़ेगा । अपवाय सभी निमर्षों के होते हैं क्योंकि विधि के विधान की समझना असम्भव है । प्रह्लाद आदि का जन्म इन्हीं अपवायों के

अन्तर्मत स्वीकार्य होना चाहिए। कोई नहीं जानता कि यज्ञाग्न के समय प्रह्लाद का पिता किस मानसिक स्थिति में था। हम ब्रह्म को इसलिए भी प्रशंसता रहे हैं कि मानव का पूरा आकार उसी में सन्निहित रहता है। अतः माता की रज जो क्षेत्र है और पिता का ब्रह्म जो बीज है, सृष्टि की उत्पत्ति में सम रूप से प्रधान माने जाने चाहिए। बीज चाहे ब्रिजना अथवा हो अनुर्ध्व क्षेत्र में पड़ कर फलप्रसू नहीं होमा। इसी प्रकार क्षेत्र अथवा हो पर बीज निरम्मा है तो भी शुष्क हाथ नहीं भरेमा। क्षेत्र भी उर्वर हो और बीज भी अथवा हो तभी अच्छी फल उग सकेगी।

वर्ष शास्त्र में खीर आयुर्वेद में भी क्षेत्र और बीज दोनों की प्रशस्तता स्वीकार की गयी है। आयुर्वेद आध्यात्मिक स्वास्थ्य को लेकर बना है। वर्षशास्त्र का मुख्य सत्य सदाचार गुडाचार अथवा आन्तरिक पवित्रता का सम्पादन है। दोनों ही दृष्टियों से संस्कार की अपेक्षा है और वैसे हम भिन्न ब्रह्म हैं संस्कार आधार तथा निवार दोनों में ही विद्यमान होना चाहिए। अन्न की शुद्धि मन पर प्रभाव डालती है, पर कभी-कभी मन की चेतना इतनी प्रबल होती है कि वह अन्न पर भी हावी हो जाती है। फिर भी अन्न-शुद्धि का अनिवार्य महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में मन का निर्माण अन्न से ही माना गया है।

सुमुत्त ने यज्ञाग्न के लिए आयु भी निश्चित की है। उसके अनुसार पुरुष पञ्चीश वर्ष से कम आयु का न हो और स्त्री की आयु १६ वर्ष से कम न हो। हमारी सम्मति में आयु का यह परिणाम देव विशेष को सक्षम में रखकर निश्चित किया गया है। देव की जलवायु के आधार पर ही आयु का निर्णय होता चाहिये। सामान्यतः अंशों की परिपक्वता के लिए सुमुत्त का प्रभाव मान्य हो सकता है। ब्रह्म वर्ष का उत्सव करते हुए हमारे ऋषियों ने बसु ख और आदित्य नाम के ब्रह्मचारियों का वर्णन किया है। बसु नाम का ब्रह्मचारी २१ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में निवास करता है। ख संज्ञक ब्रह्मचारी ३६ या ४ वर्ष की आयु तक रहता है और आदित्य ब्रह्मचारी को ४८ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में रहना पड़ता है। स्त्री के लिए यह आयु स्वीकार नहीं की गई क्योंकि वह १६ वर्ष के अन्तर ही प्रसव-सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाती है। पुरुष यदि ४ वर्ष का ब्रह्मचारी है तो बसु की आयु २० वर्ष की होनी चाहिये और यदि पुरुष ४८ वर्ष का है तो स्त्री की आयु २४ वर्ष की हो। १६ वर्ष से कम आयु की स्त्री और २१ वर्ष से कम आयु का पुरुष यदि सन्तानोत्पत्ति करेंगे तो सुभृत् के अनुसार गर्भ वृद्धि अथवा उत्तर में ही गट्ट हो जायगा। यदि उत्पन्न हुआ तो चिरजीवी नहीं होगा और यदि जीवित भी रहा तो दुर्बलेश्वर रहेगा।

“अथ योऽथ वर्णायाम प्राप्त पञ्चविंशतिम्।

यद्यप्ये पुमान् गर्भं वृद्धिस्तु सविपद्यते।

जातो वापि चिरंजीवोऽजीवेद्वा दुर्बलेश्वरः”

तस्मादत्यन्तं ज्ञानायाम् यमोपामं न कारयेत् ॥ (सुमुत्त १०-२,१)

गर्भाधान के लिए ऋषियों ने कृष्ण निश्चित नियमों के पालन का आदेश दिया

है। मनु के अनुसार पुरुष अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री की ओर पत्नी भाव से दृष्टि न डाले। अपनी स्त्री के साथ ही ऋतु-काल में ही समागम करे। जैसे पुरुष को स्त्री-व्रत होना चाहिए, वैसे ही स्त्री को भी पतिव्रता होना चाहिए। ऋतु-काल के सिरे भी निश्चित नियम हैं। स्त्री के रजस्वला होने से चार दिन तक रति कर्म वर्जित है।

“अथ गर्मागारं स्त्रियः पुण्य कत्याश्चतुर हा बुध्यं स्नात्वा  
विष्वायास्तस्मिन्नेव दिवा 'आदिर्यं यमं जिति ।'

इसी प्रकार पौर्णमासी, अमावस्या तथा अष्टमी तिथियाँ भी वर्जित हैं। रजोवर्जन के उपरान्त ११ वीं और १३ वीं रात्रि भी निवृत्त मानी गयी है। पुत्र-कामना और कन्या-कामना के लिए भी विभिन्न तिथियों में ही समागम वांछनीय समझा गया है। युग-रात्रियों में अर्वात् छठवीं, आठवीं दसवीं आदि रात्रियाँ पुत्रोत्पत्ति के लिए और अयुष्मा-अर्वात् पाँचवीं, नवीं पन्द्रहवीं आदि रात्रियाँ कन्या उत्पत्ति के लिए विहित समझी गयी। परन्तु नियम की इस कठोरता को यह कह कर सिध्ति भी कर दिया गया है कि यदि पुरुष के बीर्य का आधिक्य है तो पुत्र होगा और स्त्री के आर्द्रता का आधिक्य है तो कन्या होगी। यदि दोनों समान हैं तो पुत्र नपुंसक और कन्या बाध्या होगी। यथा-

पुमान् पु सोऽधिके शुभे स्त्री नवत्यधिके स्त्रियः ।

समे पुमान् पु स्त्रियो वा क्षीणेऽप्येव विषयः ॥ (मनु० ३/३)

गर्मागम के समय जो यज्ञ किया जाता है, उसमें पठित मन्त्र भी ब्राह्मण-संस्कार के अभिष्यञ्जक हैं। वैसे सिद्ध भूके हैं संतति के संस्कार के सिरे स्त्री का संस्कृत होना परमावश्यक है। पुरुष में भी संस्कृति अपेक्षित है। परन्तु यदि उसमें कुछ विकृति भी आ जाती है तो वह उसकी अनर्थकर नहीं होती बितनी नारी की विकृति होती है। विकृति के परिशोधन के सिरे प्रायश्चित्त किया जाता है। इस प्रायश्चित्त में आग्नेय तप की प्रधानता रहती है। अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर धातुओं के भस्मों को मष्ट कर बेती है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त की आग्नेयता मानव विकारों को दूर करने वाली है। अग्नि को प्रायश्चित्त कहा गया है। वह देवताओं की भी प्रायश्चित्त है। विषयता में जाने जासे विकार आग्नेयता की क्वासा में भस्म हो जाते हैं। किसी याचना अथवा वर प्राप्ति की कामना करने वाला ब्राह्मण अपने तथा अपनी स्त्री के विकारों को दूर करने के लिये अग्नि की ही शरण लेता है। अग्नि के अतिरिक्त वायु को भी संशोधक कहा गया है। वायु का एक नाम ही पवमान है। अपनी यति में वह कूड़े-करकट को दूर करती हुई तथा मलिन जन्तुओं एवं कीटों को मचाती हुई वायु संज्ञक को पवित्रता प्रदान करती है। चन्द्र भी इसी कोटि में रखा गया है। 'चवी' आह्लादे से बना चन्द्र तन्म आह्लाद का द्योतक है। आह्लाद की अवस्था में मानव परम सार्वभौम रूप धारण कर लेता है। प्रसन्न



मानस में उबारता निवास करती है। उबारता या महनीयता अतीव पवित्र वस्तु है। प्रसन्न व्यक्ति के पास पाप फटने में भी नहीं पाता। सूर्य की पावकता तो प्रसिद्ध ही है। पृथिवी पर फैली हुई ग आने कितनी गन्धभी सूर्य की किरणों द्वारा अनवरत नष्ट होती रहती है। अतः पवित्रता के इन्हीं चार कर्तों से प्रार्थना की जाती है। पति साधना करता है कि पवित्र कारक शक्तियों! मैं तुम्हारे समीप आता हूँ। तुम कृपा करके इस स्त्री के शरीर में जो भी पाप की ओर आने वाली प्रवृत्ति हो, पाप का सक्रम या प्रवृत्ति हो अथवा शरीर में पापीयसी सक्रम अथवा सम्प्रदाय हो उसे तुम दूर कर दो। मन्त्रों में आगे तीन प्रार्थनाएँ और हैं। स्त्री का शरीर पवित्र हो गया पर यदि वह इस शरीर द्वारा पति की हित-साधना नहीं करती पति की हितक या मारक बनती है। तब भी उसमें असंस्कृति वा अज्ञ क्रियाशील रहता ही है। अतः देवों से प्रार्थना की गई है कि ये स्त्री के पतिव्रती रूप को भी नष्ट कर दें। दूसरे शब्दों में शरीर की पवित्रता के साथ स्त्री पति परायणा भी हो।

पवित्र शरीर वाली तथा पति-परायणा स्त्री यदि पुत्रोत्पत्ति द्वारा पति के बंध को आगे नहीं बढ़ाती तो उसके अन्तर किसी दोष का ही समिधान है। ऐसा समझना चाहिये। गारी पुत्रवती हो यह संस्कृति को प्रविष्ट की निधि बनाने के लिये आवश्यक है। प्रजातन्त्रु भा व्यक्तीयों का आदेश इसीलिये दिया गया है। चौथी प्रार्थना में स्त्री के अपसम्पन्न (कर्म) को नष्ट करने का उद्देश्य है। अपसम्पन्न का अर्थ है कामता वैपरीत्य अथवा उल्टापन। अपसम्पन्न का एक अर्थ कुरित कर्म की ओर प्रेरणा भी हो सकता है। पवित्र पतिपरायणा तथा पुत्रवती स्त्री भी कभी कभी कुसाचारों के प्रति कामता प्रकट करने लगती है। संयोगवश भी वह विषयामिनी बन जाती है। उसकी यह अपसम्पन्नता दूर होनी चाहिये। यज्ञ-कर्म में इसीलिए उसे पति की सहपत्निगी बनना चाहिए। वह कामा है परन्तु साथ ही सुवर्तिता भी है। वह काम्या है पर साथ ही वैराग्य-साधिका भी है। वह सुन्दर है पर साथ ही विवस्वरूप भी है। इन चारों गुणों का आधान गारी को ही नहीं समस्त कृत्तु जाति देश एवं विश्व को पवित्र करने वाला है। संस्कृति संकुचित नहीं होती। वह विश्ववारा है विश्व भर के लिये बरणीय है।

आने के मन्त्रों में अग्नि के तीन विशेषण प्रथमान पावक और मुक्ति देकर आदित्य का नाम लिखा गया है। ये चार लक्ष्य भी संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले हैं। संस्कृति आदित्य अग्नि की सन्तान अथवा व्यक्तीय है। वह स्वयं पवित्र है और दूसरों को पवित्र करने वाली है। उसके पवित्र रूप में ही युक्तिवा अर्चान् प्रदीप्ति भी सम्प्रहित है। प्रदीप्ति में प्रसन्नियुता है। अखण्डता में इन सबकी परिणति होती है। संस्कृति व्यक्ति इसीलिये खण्ड नहीं अल्प नहीं भूमा का उपासक होता है। उसकी दृष्टि संकीर्ण नहीं व्यापक होती है। गर्माधान संस्कार

संवत्सि का संस्कृति को इसी अलङ्कारता की ओर से जाने वाला है ।

गर्भाधान के गर्भों में गर्भ को बारण करने तथा सुरक्षित रखने की भी प्रार्थना की गयी है । संवत्सि भी महीने गर्भ में रह कर बसबें महीने में उत्पन्न होती है । इस तथ्य का भी वर्णन है । यथा—

हिरण्ययी, मरपीयं निर्मग्नतो भविष्या ।

सं ते गर्भं हवामहे वशमे मासि सुतये ॥

कहीं-कहीं सिन्धु का गर्भ में बस मास तक रहने का भी उल्लेख है 'दशमास्य' गर्भे, दशमासान्दसयान्' आदि ।

गर्भ में स्त्री की कामनायें जुम होनी चाहिये । दूधित बिचारों एवं भावनाओं का प्रभाव गर्भस्थ बच्चे के सिये हानिकारक है । कुतिल के गर्भों में "यत्ते सुसीमे हृदयंकिञ्चि बन्धमसि भित्तम् वैबाहं उन्मां तद्विद्यात् ।" प्रत्येक माँ की आकांक्षा होती है कि उसका पुत्र बन्धमा के समान दिव्य दमक से परिपूर्ण सुन्दर, एक बाह्याकारका हो । माँ की यह इच्छा भावना काम पान पर तो अवलम्बित है ही उसके अन्तर्गत से भी सीधा सम्बन्ध रखती है । जैसे पृथिवी प्राणियों को बारण करती है वनस्पतियों परबतों बिरियों तथा जंगम जगत को आभय देती है इसी प्रकार, गर्भ में बच्चे का बारण, पोषण एवं पोषण होना चाहिये । चारों ओर का वायु-मण्डल तथा सीनों प्रकार की ध्योतियाँ गर्भस्थ सिन्धु की रक्षा करें । सूर्य की शोक से बाध अन्तरिक्ष से और अग्नि पृथिवी से निकल कर गर्भ की रक्षा करें । ऐसी प्रार्थना भी वेद मन्त्रों में की गयी है । दिव्य शक्तियाँ को अपनी अभ्यास गति द्वारा सभी मागों से परिचित हैं गर्भ की मृदुता को दूर करें । प्रजापति इस प्रजा का पोषण करें । सर्व-व्यापक प्रभु योनि को सुदृढ़ करें । सुन्दर कर्णों का निर्माता स्वप्ता रूप भगवान् इसे सौन्दर्य एवं साहित्य प्रदान करें और आता इस गर्भ को सम्हाले । ऐसे कथन गर्भ की मृदुता के अभिव्यञ्जक हैं ।

यदि किसी स्त्री के कन्यायें उत्पन्न होती हों पुत्र का जन्म न होता हो तो वेद ने उसके लिये भी उपाय बताया है और आयुर्वेद उसका सविस्तार उल्लेख करता है । यदि स्त्री उचित बाह्य-विहार से रही तो सन्तान बुद्धिमान गीरोध तथा मुम मुम कर्म स्वभाव वाली होगी । गर्भाधान संस्कार का एक सामाजिक उद्देश्य था और एक सांस्कृतिक । सामाजिकता के लिये आवश्यक था कि मानव का वंश आगे चलता रहे । यदि संवत्सि ही उत्पन्न न होती तो कुल व समाज का सन्तान ( विस्तार ) कैसे होता ? सांस्कृतिक विकास के लिये आवश्यक है कि समाज में जिस सन्तान की अभिवृद्धि हुई है, वह किन संस्कारों को लेकर हुई है । यदि संस्कार कुछ और पवित्र है तो समाज भी कुछ और पवित्र होगा । साथ ही वैयक्तिक विकास के लिये भी पावन भूमिका प्रस्तुत हो आयी । गर्भाधान संस्कार में इसीलिये विधियाँ तथा सहवास के अग्य नियम निश्चित किये गये हैं । सन्तति संस्कृत हो धार्मिक मानों से ओतप्रोत हो तथा सदा बार-बार हो ऐसा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य इस संस्कार के

मोक्षति में पितृव्य से उत्पन्न होने का भाव भी विद्यमान रहता था। इस ऋग के सम्बन्ध में सभी भाषाएँ एक मत नहीं हैं। किसी-किसी के मत में पुत्रोत्पत्ति को आवश्यक नहीं समझा गया है। शास्त्रों में ऐसा नियम भी है कि पुरुष चाहे तो गृहस्थी में न जाकर सीधे सम्प्राप्त आश्रम में प्रवेश कर सकता है पर यह हमारी सम्प्रति में नियम नहीं अपनाया है।

संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य भूमा है जो अस्पृष्टता का विपरीत भाव है। अस्पृष्टता या संकीर्णता से निकल कर विज्ञान बनना निश्चित ब्रह्माण्ड को अपना सम्पन्न ही भूमा की अवस्था है। संकीर्णता बन्धन-कारक है। सुख भूमा में ही है। भूमा का एक सुदृढ़ आधार गृहस्थाश्रम है जहाँ कहीं का पुरुष और कहीं की स्त्री दोनों मिल कर शाश्वत भाव के बुद्धिमान में आवृत्त हो जाते हैं। वो मिल कर एक हो जाते हैं। एतानोत्पत्ति के साथ भूमा का यह आधार और भी अधिक सुदृढ़ होता है। हृष्य की विद्यालता बढ़ती जाती है और अपने अंजन में एक नहीं अनेक को समेट लेती है।

## ३ पुंसवन

यह संस्कार गर्भस्थिति का ज्ञान होने के पश्चात् दूसरे या तीसरे महीने में किया जाता है। इसका प्रमुख लक्ष्य गर्भ को पोषण और सामर्थ्य भावि से संयुक्त करना है। इसका एक अर्थ पुत्री के स्थान पर पुत्रोत्पत्ति भी है। मन्त्र ब्राह्मण में मित्र और बरुन अश्विन अग्नि और वायु को पुमान् कहा गया है। यही पुमान् स्त्री के गर्भ में है। अग्नि इन्द्र बृहस्पति पुमान् हैं। हे स्त्री। तू भी पुमान् पुत्र को प्राप्त कर और उसके पश्चात् तू पुत्रवती बन। अथर्व का निम्नांकित मंत्र पुमान् संस्तुति की उत्पत्ति का उपाय बताता है। यथा—

अग्नीमन्त्रात् आकम्पस्तत्र पुंसवर्नं कृतम् ।

तस्मै पुत्रस्य मेवर्नं तत्स्त्रीणां वरामसि ॥

पीपल के पेड़ पर सभी का वृक्ष उत्पन्न हो। उसका सेवन जानुर्वर की मित्रि के अनुसार यदि किया जाय तो गर्भ में अवश्य ही पुत्र की स्थिति होगी। मंत्र ब्राह्मण १/१/१० के अनुसार, अग्नि देव देवताओं में प्रथम है। निम्नांकित मंत्र में भी इसी लक्ष्य का उल्लेख हुआ है। यथा—

पात्री सीः पिता पृथ्वी माता समुद्रो मूर्धं बीरवां अमृषः ।

तास्त्वा पुत्र विधाय द्विती प्रावन्त्योवचः ॥ अथर्व ३/२३/६)

जिन जनस्पतियों का पिता थी सोम है, माता पृथ्वी सोम है और जिनका सून समुद्र है वे द्विती औपविद्या पुत्र की प्राप्ति में तैरी रक्षा करें। समुद्र अध्याय ३८ सूत्र स्थान के अनुसार मुलक्ष्मणा बट-बटा सहदेवी इन सबको पत्सवती यो के रूप के साथ घोट कर इसकी कुछ बूँदें पृथिवी स्त्री के बाहिने नासिका छिद्र में छोड़ देना चाहिये। स्त्री को चाहिये कि इन बूँदों को पी जाय चूककर बाहर न छेंके। नासिका छिद्रों का घटीर के अन्तर की नसों के साथ सम्बन्ध है जिनमें रक्त प्रवाहित होता है। चाहिये कि ये निकलती हुई वायु में उष्णता तथा वायुरात्र वाष्पी वायु में सैत्य की

प्रधानता मानी गयी है। ऊष्मा पुन्यत्व प्रदान है। अठ सुधृत ने वषा का जो विधान किया है, वह विज्ञान-सम्मत है। गर्मत्व बच्चे के जीवन में ऊष्मा-अग्न्य उत्साह भरा रहे। यही भाव इससे ध्वनित हो रहा है। सभी बृत्त में भी अग्न का निवास माना गया है। पीपल के पेड़ के ऊपर उषा हुमा जेम्हुर (शमी) और भी अधिक अग्न-सम्पन्न होगा। मान्यता पुरुषत्व, बाचक है, अतः सभी बासी ओषधि भी मुक्तिसमय जान पड़ती है।

ये ओषधियाँ इस स्त्री के सिने सन्तति को मृत्युपाश से मुक्त करें और ब्रह्म राजा भी तदनुकूल समर्पण करें जिससे यह स्त्री पुत्र सम्प्राप्ती पाप से बची रहे, स्वयं न करे। अर्चनं ३/ २३ में निम्नांकित मन्त्र आता है—

ॐ आते यमो योधिमेतु पुमान्बाण इयेनुविम् ।

या बीरो जायताम् पुत्रस्तोदय मास्थः ॥ ९ ॥

जैसे बाण तर्कस में जाता है, इसी प्रकार यह पुमान् यम स्त्री की योनि में प्रतिष्ठित हो और इस महीने का भीर पुत्र उत्पन्न हो।

अर्चनं वेद के इसी सूक्त में यह भी कहा गया है कि हे स्त्री ! तू पुमान् पुत्र को जन्म दे और उसके पश्चात् भी तुझे पुत्रप्राप्त्य मुक्त प्राप्त हो। तू जात और अनिष्ट भाव (अविष्ट में उत्पन्न होने वाले) पुत्रों की माता हो।

सम्पूर्ण संस्कार का उद्देश्य गर्मत्व बच्चे के अन्तर उत्साह, बीरता तथा पौष्ट्य के मार्गों का सन्निवेश करना है। इससे वास्तव संस्कारी पैदा होगा। ओषधियों का प्रयोग गर्म में पवित्रता का संचार करेगा और मन्त्रोच्चारण मन को निर्मलता प्रदान करेगा। निम्नांकित मन्त्र भी इस विषय में ध्यान देने योग्य है।

सुपर्णोऽसि यस्मान्निस्त्रिंशु वृत्तं धियो पायत्रं यजुर्बृहजन्तरे ।

यस्यो स्तोम आत्मा क्ष्मास्त्वक्ष्वाणि यक्षु क्षयि नाम ॥

साम ते तनु र्नामवेष्ट्य यज्ञायतिथं पुच्छं विष्ट्या सक्ता ।

सुपर्णोऽसि यस्मान्निस्त्रिंशु वृत्तं त्वं पत ॥ "१ ॥ य० अ० १२/स० ४ ॥

पति अपनी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ रख कर कहता है कि हे सुपर्ण ! तू सुन्दर पंखों वाला है। ज्ञान और कर्म अथवा प्राण और अपान के पक्षों द्वारा तू उड़ता है। तू यक्षमान है, गम्भीर एवं गौरववासी है। तेरा धिर त्रिवृत् है। यक्ष मायक है। तेरे दोनों पंख बृहत् और रयस्तर नाम के साम हैं। आत्मा स्तोम है। अंग क्ष्मा है और नाम यजु है। इस प्रकार तेरा समग्र शरीर सामों से ओतप्रोत है। तू यक्षमान सुपर्ण के रूप में विष्टता का आवाहन कर और स्वर्ग के योग्य बन।

महर्षि दयानन्द ने गिलोय (गुरुज) ब्राह्मी और सोंठ को बूच के साथ सेवन करने का विधान सिखा है। पशुधनी को अधिक शयन तथा अधिक भाषण नहीं करना चाहिये। अधिक खारे-खट्टे तीखे कद्दुए, रेचक आदि पदार्थों से

चाहिये। क्रोध द्वेष, सोभाषि शोषों का परित्याग करके गर्मिणी स्त्री को अपना चित्त सर्वत्र प्रसन्न रखना चाहिये। इससे सम्मान के सीमन्त एवं स्वात्म्य दोनों पर प्रभाव पड़ेगा।

### ३ सीमन्तोन्नयन

सीमन्त का अर्थ है 'मांस'। भारतीय महिलायें नासिकाग्र की छीज में तिर के बालों के बीच-बीच मांस निकालती हैं और उसमें सिन्दूर भरती हैं। यह सीमाय का चिह्न समझा जाता है। केत-प्रसाधन में बूझा-जन्मन तो प्राचीनकाल में कई प्रकार से होता था परन्तु मांस भरने का स्थान यही था। वैष्णव भक्त इसी प्रकार सप्ताह के मध्य में भी लगाते हैं। सिद्धों के मांस पर भी का चिह्न प्राकृतिक होता है और छवि सप्ताह के अन्तर से बाहर तक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। त्रिभ के तीसरे नेत्र की ज्योति का भी यही स्थान है। सिद्ध ने अपने इस नेत्र द्वारा काम को भस्म किया था परन्तु स्थिरा मांस में सिन्दूर भर कर अपने कामरूप पति की आवृण्व वृद्धि की कामना करती है। काम्योचित भाषा में सिन्दूर भरी हुई मांस उस प्रदीप्त ज्योति के समान है अथवा ऐसा भास बँवार है जिसको देखते ही कामियों की कदृष्टि भस्म हो जाती है। पतिव्रताओं का यह भूषण है।

सीमन्तोन्नयन का अर्थ है सीमाय का उत्तयन। पुंसवन के उपरान्त यह संस्कार सीमाय के उत्कर्ष का ही घटक है। गारी मनु के शब्दों में पूजनीय है। वेद विवाहित पत्नी को सम्मानी का अभिमान देता है जिसका अर्थ है सम्पन्न रूप से चमकने वाली। गर्भ धारण करके वह और भी अधिक सम्मानास्पद बन जाती है और पुत्र प्रसव के क्षण तो उसकी मर्यादा बहुत अधिक बढ़ जाती है। पुंसवन में जिस पोख और ओष का आधान गर्भ में किया गया था सीमन्तोन्नयन में उसे और भी अधिक बल मिलता है। आश्वत्थामन गृह्यसूत्र के अनुसार गर्भ के चौथे मांस में जब जन्मा पुण्य नष्टन से युक्त हो और पक्ष भी आपूर्यमाण हो अर्थात् जिसमें कोई रिक्त स्थिति न हो यह संस्कार होना चाहिये। पारस्कर तथा कुछ अन्य गृह्यसूत्रों के अनुसार यह छठवें महीने में होना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने स्वरचित 'संस्कार विधि' में पति द्वारा पत्नी के केशों में सुगन्धित तेल डालने का और केशों को संभारने का विधान लिखा है। केत-प्रसाधन के लिये उन्होंने उदुम्बर अथवा अजुम वृक्ष की लताका कृता की मूड़ लीवी अथवा स्याही पक्ष के काँटे से पत्नी के केशों को स्वच्छ करने का विधान लिखा है। आश्वत्थामन गृह्य सूत्र में भी ऐसा ही विधान है।

पु संवन और सीमन्तोन्नयन दोनों ही प्रात्रापत्य संस्कार हैं। प्रात्रापति को पाठा भी कहते हैं। श्रद्धेय की निर्माकित श्रद्धाओं में प्रार्थना की गई है—

भक्ता प्रवत्तामृत राय ईसे जाने ४ विधर्ष भुवन जगान ।

वाता कप्यी रनि मियामि चट्टेबाभाऽऽहृष्यं द्युत वज्रु होत ॥ २ ॥

पास्ते राके सुमतायः सुपेसतो या निर्बबाधि बागुवे वसूनि ।

तामिर्नो जस सुमता उपायहि सहस्रपोथं सुमयेराभा ॥

—अङ्गु० मंत्र २, सू० ३२, मं० १ ।

वाता प्रजापति प्रजाओं को बन देने वाला है। समग्र संपत्ति का वही तो एकमात्र स्वामी है। उसी ने निश्चित मुन को उत्पन्न किया है। वह समस्त प्रजा को टकटकी सया कर देख रहा है। हमें उसी वाता के सिधे अपनी बृहमयी स्नेहमयी हृष्य बड़ानी चाहिये। धूमिया, सुन्दर स्तुतियों की भाजन है। वह सुमया है। वह हमारी प्रार्थना को सुने और इस गर्भवती स्त्री को धीर सन्तान प्रदान करे। हे धूमिये ! तेरा जो सुन्दर रूप है और जिसके द्वारा तू धानी को बसुओं, वासक शक्तियों का वान देती है। उन्हीं शक्तियों के साथ तू मन्त्र प्रसन्न होकर यहाँ आ जाओ और हे धूमिये ! इस गर्भवस्थ सिधु को सहस्रों पोषक शक्तियों से संयुक्त कर दो। कुछ मंत्रों में ऐसी प्राचना जारी है कि यह वर्म अनिष्ट को प्राप्त न हो,। सुपुत्र के रूप में इसका नाभिर्भाव हो। पुत्र कामना वाली इस स्त्री का गर्भ, पुत्र रूप में ही उत्पन्न हो। जैसे यह महती पृथ्वी ऊपर को फैली हुई वर्म धारण करती है, वैसे ही यह स्त्री वसुओं महीने में उत्पन्न होने वाले पुत्र को धारण करे। सिधु का सम्पन्न भी वर्म के साथ है। उनका रूप श्रेष्ठ माना गया है। वे अपने इस रूप के साथ इस गर्भवती नारी में पुमान् सन्तति को धारण करें।

वर्म के विनों में आयुर्वेद के अनुसार पाँचवें महीने में मन का निर्माण होने लगता है। सिधु की मानसिक शक्ति के उत्पन्न के लिए भी यह संस्कार अपेक्षित है। बौद्ध बर्षाद् पविणी स्त्री की इच्छाओं की पूर्ति करना भी इस संस्कार के साथ संयुक्त है। पविणी के प्रिय अभीष्ट की पूर्ति से वही उसके मन पर सुख प्रभाव पड़ता है, वहाँ सिधु की मानसिक निमित्त पर भी अपेक्षित प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार—

बौद्धस्या प्रशानेन वर्मो दीपयन्ता पुनात् ।

वैष्णवं निवर्तं वा श्रियं तस्माद् कार्यं प्रिय किमयः ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति ३/८९

स्त्री का प्रिय अभिप्रेत इस अवस्था में पूर्ण होना ही चाहिए। नहीं तो मन पर दूषित प्रभाव पड़ेगा और परिणामतः वर्म भी दूषित तथा विकृत बनेगा। मन तो निर्बल होया ही। सम्भव है, वर्म क्षीण भी हो जाय।

पति को वर्म के छठवें मास के पश्चात् मेषुन आविष्ट विरत रहना चाहिए। उसे नवीन निर्माण आदि के ऐसे कार्य भी नहीं करने चाहिए जो पविणी की देख बान से उसे पराङ्मुख कर दें। स्त्री को भी धर्म के कार्यों से बचना चाहिए। गोवृत्ति के समय भोजन करना, नृत्य के गीते सोना, पहाड़ भ्रमण उच्चावचों पर चढ़ना

रामि-जागरण रक्त तथा भारी बीजग समी उसके मिये इस बला में बर्जित माने गये हैं । सुन्दर सुरमित मासामों का बारण पवित्र बस्त्रों का परिधान, मनोमुक्त बचावों का भक्षण भयसकारी दुष्टों का दहन उसके मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हितप्रद हैं । सीमन्तोन्नयन संस्कार में पठित निम्नांकित मन्त्र भी संस्कार की महत्ता अभिव्यक्ति करते हैं ।

ॐ० अयमुर्वाचतो बृह ऊर्ध्वान ऊर्ध्वान ऊर्ध्वान ऊर्ध्वान ।

मर्च वनस्पते नुत्वा नुत्वा ध्रुवतां रविः ॥१॥

ॐ० वेनाविते सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सीममाय ।

तेनाह मर्च सीमानं नयामि प्रजानस्य वरवर्धितं कृषीमि ॥२॥

—मन्त्र ब्राह्मण ब्रा० १॥३॥ २॥

हे स्त्री ! तू अर्धस्त्री बृद्ध के समान ऊर्ध्वस्त्री कीर फलवती हो । जैसे वनस्पति के पत्ते फलरूपी सम्पदा से समृद्ध होते हैं उसी प्रकार तू संततिरूपी सम्पदा से भोत प्रोत हो । जैसे प्रजापति अदिति के सीमन्त को सीमाम्य प्रदान करता है उसी प्रकार मैं तेरे सीमाम्य का उन्नयन करता हूँ । तेरी प्रजा बृद्धानस्या तक मुझी और समृद्ध जीवन व्यतीत करे । इस अवसर पर बिचड़ी में पुष्पम बृद्ध दास कर गमिनी को बिसाने का भी विधान है । समीप बैठी हुई बृद्ध स्त्रियाँ गमिनी को बासीबाँव देती हुई कहती हैं—

ॐ० वीर सुस्त्र्यं भव, जीव सुस्त्र्यं भव, जीव पत्नी त्वं भव ॥

हे मांगस्त्र्यमयी महिला ! तू वीर पुत्र पैदा करने वाली वन जीवन से समृद्ध सन्तान वाली वन और जीवन की रक्षा करने वाली वन ।

जब तक जिन तीन संस्कारों का वर्णन हुआ है वे उत्पन्न होने वाले वत्स की शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता के सम्पादन के लिए, उसे संस्कारी बनाने के लिए तथा संस्कृति निष्ठ रूप में उत्पन्न होने के लिए अत्यन्त कामकाजी है । वत्स-प्रसव के पूर्व की यह पुष्ट भूमि जिस वैदिक संस्कृति में विद्यमान हो वह निस्सन्देह अतीव सम्पन्नोक्ति की संस्कृति है । वेद इसीलिए इस संस्कृति को विश्व बारा कहता है । यह विश्व भर के लिए बरणीय है । यदि मानव के निर्माण में इस प्रकार के संस्कार सक्रिय रहे तो विश्व में शांति का वातावरण उत्पन्न हो सकता है । हम पक्ष-पक्ष में जिस अशांति कसह बीर्मनस्य तथा क्लेशकारिणी परिस्थितियों का अनुभव करते हैं वे ऐसे संस्कारों से निराकृत हो सकती हैं । भयसमय जीवन का बन्धुत्व इसी विश्ववारा संस्कृति द्वारा सम्भव है ।

#### ४ छातकर्म

अभ्यक्त जब व्यक्त होता है गुप्त जब प्रकट होता है रहस्य जब खुल जाता है तो मन को कितना आनन्द प्राप्त होता है । इसी प्रकार प्रसव के पश्चात् गर्भस्थ शिशु जब बाहर आता है तो माता पिता के आनन्द की सीमा नहीं रहती । माता को जो

प्रसव का दृष्ट सहन करना पड़ता है वह शिशु-दर्शन से सबका सब समाप्त हो जाता है। पिता भी आत्मावृत्ति होता है और धर्म शास्त्र के सेखानुक्रम पुत्र के मुख को देख कर पितृभक्त से मुक्त हो जाता है।

पूर्व वर्णित संस्कारों में पुमान् पुत्र के प्रसव की जो प्रार्थनायें तथा अभिषापायें व्यक्त हुई हैं, वे सम्भवतः इसी आधार पर अवलम्बित हैं। पुमान् सति पुत्र नामक मरक से ज्ञान भी करती है। अपुत्री मरकगामी होता है इसका एक सहज कारण यही जान पड़ता है कि पुत्र के जन्म में उसके पूर्वजों का बल सुप्त हो रहा है जो अपने बंध का विस्तार न कर सके, उसमें आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से कोई न कोई शारीरिक मूलता है। गृहस्थाश्रम बल विस्तार का मुख्य आधार है। पुत्र का होना ठो कल्याणकारक है ही पर यदि पुत्री भी उत्पन्न हो तब भी बंध वृद्धि की कामना संभव हो सकती है। शास्त्र की आज्ञा है कि पिता अपनी पुत्री के पुत्र की स्वर्ण विस्तार का आधार बना सकता है। शास्त्र में पुत्र गोपारि के जन्म में भीहिम को नाना के आश करने का विधान पाया जाता है। गोव से सने पर तो नाना की सम्पत्ति पर उसका स्वामित्व हो ही जाता है। जैसे भी ग्राम सभी स्मृति कार्यों में नाना की सम्पत्ति पर भीहिम के अधिकार को स्वीकार किया है। अतः पुत्र के रूप में सर्वाधिक और पुत्री के रूप में अर्थात् पितृभक्त के भुक्ति की समस्या का समाधान है।

जात-कर्म के समय प्रसूता माता के समीप अनुमती सीमावर्ती मुबती तथा बूढ़ा स्त्रियाँ रहनी चाहिए, जिससे प्रसव में मोति के शिशु के बाहर जाने में किसी प्रकार का प्रभाव न पड़े असावधानी न हो। सूतिका-गृह स्वच्छ परन्तु एकान्त में हो। आवश्यक सामग्री जिसका प्रसव के समय उपयोग होता है पहिले से ही उपस्थित रहनी चाहिए। बाण भट्ट ने कादम्बरी में प्रसूतिका गृह के आवश्यक उपकरणों का और प्रसव-काल का जो सर्वांग एक सचित्र दृश्य उपस्थित किया है, वह किसी प्रत्यक्ष दर्शी नज्वा मुक्तमोमी की नज़रों से ही निस्तुत हो सकता है।

प्रसव होने के समय "सौध्यान्ती भद्रमिहभ्युजति ॥" वा० का० १/४० १६।

पारस्कर के इस वचन के अनुसार गर्जनी के शरीर पर जल छिड़का जाता है।

निम्नांकित मन्त्र द्वारा प्रभु से प्रार्थना की जाती है

ॐ एतत्तु वरा मास्यो यमो जरायुषा सह ।

यथायं वापुरेजति यथा समुद्र एवति ।

एवार्थ वरायाम्यो अयुज्जरायुषा सह ॥ य० अ० ८-मं० २४

हे प्रभो ! जरायु के साथ वरा महीने तक यम में रहने वाला यह बालक बाहर जाने जैसे वायु और समुद्र अपनी अभिव्यक्ति करते हैं जैसे ही यह शिशु यम में बाहर आकर अभिव्यक्त हो। पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर यही बालक के शरीर से जरायु को पृथक् करके मुख, नासिका, कान, आँख आदि के रस को दूर करके



वस्त्र से पोंछ कर नार छेदन करे। यह नार नाभिसे जुड़ा रहता है। नार काट कर बालक को उष्ण जल से स्नान कराना चाहिये। फिर अग्निहोत्र की आवश्यक विधि करके प्रभु का ध्यान करना चाहिये। उत्पत्त्यात् भी और मधु दोनों को मिला स्वर्ण की क्षमाका से बच्चे की जिह्वा पर रख कर ॐ मदार मित्र के उसके चाहिये कान में 'वेदोऽसि' ऐसा मन्त्र सुनाना चाहिये और वृत् तथा मधु को थोड़ा-थोड़ा बच्चे को चटाना चाहिये। वृत् मधु और स्वर्ण तीनों का माहात्म्य आयुर्वेद में वर्णित हुआ है। वृत् ठेक एवं आयु देने वाला है। मधु पोषण करी है और सुवर्ण मृगतन्त्रों को दूर करने वाला तथा समृद्धि का जनक है। तीनों ही राष्ट्रिय के नायक तथा अभाव की पूर्ति करने वाले हैं। तीनों का सेवन शोभा एवं श्री की अभिवृद्धि करने वाला है। स्वर्ण-क्षमाका से सात बार वृत् मधु चटा कर वाक्म और जी को संशोधित करके पानी के साथ पीस कर और वस्त्र से छान कर एक पात्र में रख लें और उसे अपने अंगुष्ठ तथा अनामिका से थोड़ा सा लेकर एक बिन्दु बासक के मुख में छोड़ दें। ऐसा गोमिनीय मूहसूत्र का मंत्र है। वाक्म और जी भी सात्विक भस्म में परिणत हैं और आयुष्यवर्धक हैं। इन्हें बाष्प भस्म आयु और मृत्यु कहा गया है।

बासक मेवावी हो पुष्ट हो और शरीर से बूढ़ हो इस भाव के बोधक कई मन्त्र इस संस्कार में पढ़ जाते हैं। यथा—

मेवां से मित्रा बरणी मेवामग्निर्ब्रह्मातु-ते ।

मेवांते अग्निमी मेवा वषतां पुष्करजनी ॥१॥ मं० चर० १/५/९॥

ॐ मेवांते मेवा सविता मेवा मेवा सरस्वती ।

मेवांते अग्निमी मेवा-वाक्मतां पुष्करजनी ॥१॥ पार० १-१६

मित्र और वरुण तुझे मेवा हैं। अग्नि तेरे अन्तर मेवा को बारण करे। दोनों अग्निव तुझे मेवा हैं। मेरुद देव तथा सरस्वती तुझे मेवावी बनावें।

व्याहृतियों को लेकर शिशु से कहा जाता कि मैं तेरे अन्तर से मुख तथा स्वर्ण को बारण करता हूँ। इन तीन व्याहृतियों द्वारा बच्चे की प्राणवती सदा चैतन्य भक्त-करण तथा आनन्दमय कोष को स्वस्व बनाने की भावना है। पोषण के सम्बन्ध में निर्मांकित मंत्र द्रष्टव्य है—

ॐ इन्द्र ओष्ठाणि द्रविणाणि वेहि धित्सि वज्रस्य सुमन्त्रस्य भस्म ।

पोषं रधीर्वागीर्यं तन्मूनी स्वाध्वमानं वाक्मःशुक्लित्वमहन्नाम् ॥-॥१॥ ऋ० मं २॥

परमेश्वर्यं सम्पन्न अववाग्म इह बच्चे को ओष्ठ जन हैं चेतना हैं और सीमर्य प्रदान करें। जन इसके शरीर की पुष्टि करे उसे गीरोम करे और मनुमयी वाणी के साथ सुख-सम्पन्न विन विस्ताराने।

आयुष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जैसे अग्नि आयुष्मान है वनस्पति सोम और ओषधियां वायुष्मान हैं, ब्रह्मदेव ऋषि पितर, यज्ञ और समुद्र आयुष्मान हैं, उसी प्रकार यह शिशु भी आयुष्मान हो। ओषधिविद्या सम्पन्न ब्राह्मण तथा अन्य क्षत्रियों अपने-अपने ऋतों के द्वारा शुभा नाम्नी शक्तियों के द्वारा दक्षिणाओं के द्वारा तथा अर्णव त्यागमयी वाराओं के द्वारा इस बच्चे को आयु प्रदान करें।

ध्यायुषं जमदग्नेःकश्यपस्य ध्यायुषम् ।

यदेवेमु ध्यायुषं तप्तो अस्तु ध्यायुषम् ॥१॥ यजु० अ० ३ । म १२ ॥

जमदग्नि कश्यप तथा दिव्य शक्तियों त्रिमुनी आयुष्य जाती है। वही ही त्रिगुनी आयु इस ब्रह्मे को प्राप्त हो। जमदग्नि आग्नेय शक्ति पर विजय प्राप्त करता है। कश्यप परमेश्वर हैं दृष्टा हैं। अपनी विशिष्टताओं के कारण ये सभी अधिक आयु प्राप्त करते हैं। मानव की सामान्य आयु सी वर्ष की है यह बस सामान्य आयु से अधिक आयु होये। ऐसी कामना इन मन्त्रों में प्रकट की गयी है।

निम्नांकित मन्त्र में शारीरिक बृद्धता प्राप्त करने की प्रार्थना है—

ॐ अदमामक परसुमेव हिरण्यमस्तुत मम । वेद्यो वै पुत्र नामासि स जीव तरव  
स्तम् ॥३॥ मं० आ० १३/१८ ॥

अरमा अर्थात् पत्थर इतना मुझ होता है कि वह जिस पर गिरे उसको तोड़ दे और उस पर जो गिरे वह भी टूट जाय। पत्थर पर कोई आँख नहीं आती। ब्रह्मे का शरीर इसी पत्थर के समान मुझ बने। परबु तीव्र होता है। वह भी जिस पर गिरता है, उसे काट देता है और जो उस पर गिरता है वह भी कट जाता है। अरमा और परबु दोनों की विशेषताएँ इस ब्रह्मे के अन्दर प्रविष्ट हैं। इन दोनों के साथ यह अस्तुत हिरण्य भी बने। हिरण्य का अर्थ ज्योति है। यह ब्रह्मा किसी से न रहने वाली शारीरिक जाया तथा मानसिक प्रकाश से सम्पन्न हो। इसका मस्तिष्क भी उज्ज्वल हो और शरीर भी सुझ हो। अपने सर्वांग में यह प्रवीण हो उठे।

माता ब्रह्मे को जन्म देती है। इसलिये उसे इडा और मैत्रावरुनी नाम दिये गये हैं। इडा बुद्धि है और सबको धारण करने वाली पृथिवी का नाम भी इडा है। मित्र प्रेम देता है तो अरुण सूर्य का चारक है। इन गुणों से सम्पन्न सभी वीरवती बनकर वीर पुत्रों को जन्म देती रहे। इस प्रकार के कथन सभी के मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाले हैं। मन प्रसन्न है तो स्तनों में भरा हुआ दुग्ध भी आयुष्य-वर्षक का मन को जाह्न धारित करने वाला बनेगा। यह दुग्ध भयोन्न है अर्थात् सुख उत्पन्न करने वाला है। रत्नमा और वसुधित है अर्थात् ब्रह्मे को ऐश्वर्य की ओर से देने वाला है जिससे वीर्य की पुष्टि होती है। सरस्वती देवी उसे इस ब्रह्मे के अन्दर धारण करें। इस प्रकार की भावनाओं से भावित करके मैं अपना पूरा ब्रह्मे को पिलाती है।

ब्रह्मा कोमल होता है। शरीर से भी और मन से भी। उसके ऊपर वायु मंडल के प्रभाव अतीव तीव्रता से पड़ते हैं। इन्हें दूर करने के लिये भी मन्त्र पाठ होता है तथा ओपधियों का उपचार भी। सुष्ठमकं शौचिकेयतसूक्ष्म भसिम्मसूच शोभास कुम्भी सत्रु पात्रपाथि भूमणि वन्तमुक्ष सर्पपावन भादि अनिष्कारी रोमों तथा कीटाणुओं को मगाने के लिये सूतिका गृह के बाहर निरन्तर अग्नि प्रज्वलित रहती है और उस पर नुकीली गिरी हुई गन्धक, सरसों, अजवाइन की जाहुटियाँ

देते रहते हैं और जग में भरा पत्र-कगल भी सुतिता मृदु के बाहर रगा जाता है । संस्कार में पठित निम्नांकित मंत्र भी जीवन प्रणामा है ।

इवं जीवेम्यः वरिधिं वषामि मया नु गावपरो अर्धमेतत् ।

शतं जीवन्तः शारवः पुत्रधीरितरो मृत्युं वषतां वर्धतेन ॥२॥

—अपर्व का १२/प्र० २॥ मं० २३॥

जीवों के लिये प्रभु ने शी बर्ष की परिधि निश्चित कर दी है इसके पूर्व किसी को भी खरीर स्थाप नहीं करना चाहिये । हमारे अन्दर इतनी शक्ति दणित हो कि यदि मृत्यु इस अवधि से पूर्व ही आ जावे तो हम उसे पर्वत के नीचे दबा दें ।

## ५. नामकरण

कतिपय आचार्य सृष्टि की रचना शब्द के साथ स्वीकार करते हैं । रचना में एक और सोंकों, अर्थों और विविध प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व प्रत्यक्ष होता है, साथ ही उनके नाम भी जतते हैं । शब्द और शब्द के द्वारा ध्वनित अर्थ अपना पदार्थ का सह-अस्तित्व बुद्धिगम्य है । शब्द अर्थ में अभिव्यक्ति पाता है और अर्थ शब्द द्वारा ध्वनित होता है । रचना के आरम्भ में शब्द और अर्थ दोनों शक्ति और अक्षिप्तान की भाँति एक घुसरे में युग्मित थे । प्राकृतिक रचना के सम्बन्ध में यह स्वीकृत सरय ही है । मानव रचना अथवा मानव की कृति परबर्ती युगों की है । परन्तु मानव ने भी अपनी कृतियों को जिन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है अथवा उन्हें जो नाम दिये हैं वे किसी न किसी आचार पर अवलम्बित हैं । प्राकृतिक रचनाओं के नाम उनके गुणों के आचार पर हैं । जैसे प्रचनात् पुष्पी । पुष्पी का नाम पुष्पी उसके फँसाव के कारण है । इसी प्रकार घी का नाम उसकी शीति श्योति अथवा प्रकाश के कारण है । जल का अर्थ आह माव देने वाला है । सूर्य का अर्थ प्रेरक है । मानव ने भी अपनी कृतियों का उनके गुणों अथवा विशेषताओं के कारण नामकरण किया ।

बालक जन्म लेकर ससार में आ गया । उसकी एक सत्ता है । समाज में वह भी एक इकाई के रूप में उपस्थित है । उसे भी एक नाम मिलना चाहिये । यह नाम उसे किस आचार पर दिया जाय । हमारे पूर्वजों ने इन आचारों की खोज की थी । नाम करण संस्कार में ये आचार वर्तमान हैं । शिशु के जन्म के समय सौर जपठ की दृष्टि से कौन वह किस स्थान पर है कौन सा मलय अपनी पति में उस स्थान पर आ चुका है । वह किस राशि में स्थित है कौन सी तिथि है कौन सा मास है कौन सा पक्ष है और कौन सा जयन्त है इन सब बातों का ध्यान सन्तानोत्पत्ति के समय किया जाता है । इन्हीं के साथ शब्द के अंगीभूत अक्षरों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है । किस मलय और राशि के साथ किन अक्षरों का सम्बन्ध है इसका गम्भीर रसंग हमारे पूर्वजों ने किया था । एक एक अक्षर के साथ कोई न कोई दिव्य शक्ति संलग्न है । तिथि और मलयों के साथ भी देवताओं का सम्बन्ध है । वेद में वहाँ वहाँ देवताओं

की स्तुतियाँ हैं, वहाँ अपने धर्मों के कारण वे आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक चीजों धर्मों के विविध पदार्थों का घीतन करती हैं। यद्यपि दयानन्द ने अपनी संस्कार विधि में तिथियों तथा मन्त्रों से सम्बन्धित पदार्थों के नाम दिये हैं।

ऐतरेय उपनिषद् में जैसे पुरुष के शरीर के विविध अंगों में विविध देवताओं को स्थापित किया गया है वैसे सृष्टि के सभी पदार्थ सूक्ष्माधिक मात्रा में दिव्य शक्तियों के केन्द्र हैं। जल केवल जल नहीं है, वायु केवल वायु नहीं है अग्नि केवल अग्नि नहीं है। इनमें से प्रत्येक की सत्ता किसी न किसी दिव्य शक्ति से सम्बन्धित है। यह देवभाव यद्यपि बहुत्व का सूचक है, पर दार्शनिक दृष्टि ने इस बहुत्व का एकरूप में पर्यवसान भी किया है। यह एकरूप मूल ओत की ओर इंगित करता है। परन्तु सृष्टि रूपी पक्ष एकरूप नहीं बहुत्व की अपेक्षा रखती है। यहाँ बहुत्व है यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। अतः इस बहुत्व के साथ नामों का बहुत्व भी स्वाभाविक है।

सृष्टि पल-पल में नवीन रूप धारण करती है। प्राचीन व्यतीत होता जाता है और नवीन का आधिर्भाव होता जाता है। इस निरन्तर नूतन सृष्टि के साम नवीन २ इकाइयाँ अस्तित्व में आती हैं और उनका नामकरण भी करना पड़ता है। यह नाम कभी तो प्राचीन नामों का ही स्मरण कराते हैं और कभी अपनी नवीनता भी प्रदर्शित करते हैं। जब कोई नवीन सम्प्रदाय उठ खड़ा होता है तो वह अपनी विशिष्टता स्थापित करने के लिये नवीन सुन्दर अतीत काल की किसी निधि को अपने अम्बल में समेटता है और कभी उसके प्रति अपने विरोध को अभिव्यक्ति देता है। किसी पद शक्ति जाति का यदि पूर्व-काल स्वर्ण युग रहा है तो वह उसी से प्रेरणा पाकर अपने अवकट पक्ष को उत्प्रेक्षित करती है और प्रगति के मार्ग पर आकुङ्क्षित होती है। यदि उसका घुवकाल प्रेरणा प्रद नहीं है, तो अपने बुद्धि बीमब से वह किसी अमिनत्र मार्ग की खोज करती है और आगे बढ़ जाती है। कार्य जाति का अतीत स्वर्णिम अतीत है वहाँ प्रचुर भावनों की राशि सन्निहित है। हमारे नामकरण संस्कार पर भी उसकी छाया पग-पग पर अनुमूत होती है।

आश्वलायन गृहसूत्र के अनुसार शालक का नामकरण जन्म से पस दिन छोड़ कर म्यारहवें १०१ वें अथवा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो करना चाहिये और दो अक्षर या चार अक्षरों का नाम रखना चाहिये। जिसको प्रतिष्ठा की कामना हो वह दो अक्षर का नाम रखे और जिस बच्चा वर्षसु की कामना है वह चार अक्षर का नाम रखे। शालक का नाम भी या चार अक्षरों का हो और शालिकाओं का नाम तीन या पाँच अक्षरों का हो। अक्षरों में भी योग अक्षर तथा अग्रस्थ वर्णों को प्रधानता देनी चाहिये। अग्रस्थ वर्णों में य र ल व ये चार वर्ण आते हैं और योग अक्षरों में प्रत्येक वर्ण के तीसरे चौथे तथा पाँचवें अक्षर आते हैं। पुरुषों के नाम कृत्स्न तथा अन्त में ह्रस्व स्वर आने और स्त्रियों के नाम उद्धिताग्र तथा अन्त में दीर्घ स्वर आने होने चाहिये। अन्त अर्थात् मन्त्र वृत्त नहीं, परन्तु पक्षी अहि प्रेय (पासी आदि) तथा पर्यंकर

नाम निषिद्ध है। ये नाम वासक वासिका में से निचोरे के भी नहीं होने चाहिये। व्यवहार में नाम का ही प्राधान्य है और नाम में बदलाव सभ्य, यह सोचोक्ति भी प्रख्यात है। अतः मानव अपना नाम रखने के लिये प्राणपण से जुट जाता है। इसी हेतु नाम ऐसा रखना चाहिये जो शुभ सूचक हो किसी आदर्श का द्योतक हो तथा कीर्ति एवं प्रतिष्ठा की ओर से जाने वाला हो।

प्रत्येक कुल की एक परम्परा होती है उस परम्परा की रक्षा करने के लिये भी नाम का चुनाव किया जाता है। कभी कभी कुल देवता के नाम पर भी नाम रखा जाता है। किसी प्रख्यात सन्त महारमा अथवा और पुरुष के नाम पर भी माता पिता अपने शिशु का नाम रख लेते हैं। नाम में शौकिक भावना के साथ आध्यात्मिक भावना भी समी रहती है। जीवन की सफलता अथवा समाज में गौरवशाली पद प्राप्त करना दोनों ही नामकरण की पृष्ठ-भूमि में क्रियाशील रहते हैं। प्राचीन नामों के साथ कहीं कहीं माता का नाम भी वृष्टिगोचर होता है, यथा उत्पत्तिकाम आबाल और कहीं कहीं पिता का नाम भी साथ में आया है जैसे बसेठ केतु जीहामकि। पिता के नाम का साथ चर्म महापुष्टिम तथा गुर्जर प्रवेसीय नामों के साथ अभी तक चला आता है।

नामकरण के साथ अच्छा समाज का एक बटक बन जाता है। समाज में उसकी तथा उसके कुल की क्या स्थिति है, यह भी हमारी वर्ण व्यवस्था के आधार पर नाम से ही प्रकट हो जाती है। मनु के शब्दों में—

महामर्त्य ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य वसाम्भितम् ।

वैश्यस्य वन समुक्त ब्राह्मणस्य तु जुगुप्सितम् । मनु० स्मृ० २/ ११/

ब्राह्मण का नाम माहू गन्ध का द्योतक हो क्षत्रिय का नाम वसपरक हो वैश्य का नाम वन समुक्त हो और ब्रूह का नाम जुगुप्सित तथा हीन भावना का द्योतक हो। ब्राह्मण के नाम के साथ चर्म क्षत्रिय के नाम के साथ चर्म वैश्य के नाम के साथ गुप्त और ब्रूह के नाम के साथ वास वरु प्रवस्त माने गये। यह तथ्य संकेत करता है कि जन्म परक वर्ण व्यवस्था की अर्द्धे इस देश में बहुत गहरी जमीं थी। जहाँ तक रज-वीर्य की प्रमाणता का प्रश्न है वह विज्ञान सम्मत है परन्तु कब किस व्यक्ति के अन्दर किस प्रकार की मानसिक स्थिति होती है इसका निर्णय करना कठिन है। सामान्यतः ब्राह्मणी माता के गर्भ से ब्राह्मण सन्तान ही उत्पन्न होनी चाहिये पर लोक में इसके अनेक अपवाद दिखाई दिये हैं। अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। बहिष्कृत व्यास भरद्वाज आदि के ऐतिहासिक आख्यान भी यही सिद्ध करते हैं। अतः यद्यपि दयानन्द ने इस युग में वर्ण व्यवस्था को शुभ चर्म एवं स्वभाव की आधार भूमि प्रदान की। कुछ ऐसा ही व्यक्तिगत महा भारत काम में दिगाई दिया होगा अभी तो व्यास ने मिला है कि जिस व्यक्ति में जिस वर्ण के गुण दिखाई दें उसे उसी वर्ण का मान देना चाहिये।

नामकरण सांस्कृतिक दृष्टि से जिन सिद्धांतों पर आधारित है, उनकी उपयुक्तता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता । पीछे जिन बच्चों का उत्सेह नामकरण के चुनाव के साथ किया गया है उनसे वहाँ उच्चारण की सुकरता अभिव्यक्त होती है, वहाँ सीस एवं सौजन्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होता है । नामकरणसंस्कार में जो धार्मिक भावना संसृजित है वह भी व्यक्ति को अज्ञानमुक्ता तथा निष्ठावान बनाने के लिये उचित है । सुतिका गृह्य उपविश माना जाता है । वत नामकरण संस्कार से पूर्व उसकी पुताई आदि की जाती है । मां तथा शिशु दोनों स्नान करते हैं । अग्निहोत्र का विधान प्रत्येक संस्कार का अनिवार्य अंग है । वह भी गृह्य के संशोधन में सहायक है । हवन की साधारण विधि के उपरान्त मां बच्चे को लेकर हवन की बेसी पर उपस्थित होती है और पति कं वाहिनी और सड़ी होकर बच्चे को फिर उत्तर दिशा की ओर करके उसे पति के हाथों में दे देती है फिर पति के पीछे से आकर उसके बाम भाग में सड़ी हो जाती है और पति उसी प्रकार उस बच्चे को उसकी गोद में दे देता है । त्रिभि एवं मन्त्र और उनके देवताओं के नाम से आहुतियाँ दी जाती हैं । पिता बच्चे की नासिका से निःसृत हुई स्वास प्रस्वास को हाथ रस कर स्पर्श करता है और कहता है—

कोऽसि कस्तमोऽसि कस्यासि को नामासि ।

यस्य ते नामा भग्माहि यं स्या सोमेनासी तुषाम् ।

धूम्रं च स्व सुप्रजा प्रजाभिः स्याम कवीरो चोर सुपोषा पोषः ॥

“यजु० म० ७/म० २३ ॥

हे बन्धु ! तू कौन है कौन सा है किसका है । किस नाम वाला है । जिस तेरे नाम को हम समझते हैं और जिस तुझको सोम के द्वारा तृप्त करते हैं सत्सिद्धान्त मान्यकर प्रभु हमें प्रजाओं के साथ सुन्दर प्रजा वाला बनावें । बीरों के द्वारा धूम्र बीरों वाला बनावें और पोषण शक्तियों के साथ सुन्दरता पूर्वक पृष्ट करें ।

अमर की प्रज्ञा आये है उसका उत्तर उन्हीं के शब्दों में निहित है । क वहाँ प्रज्ञा वाचक है कहाँ मानस वाचक भी है और उससे प्रजापति का कार्य भी निःसृत है । उत्तर है बच्चा मानस का है । मानस मयी सत्ताओं में वह अन्यतम है । वह आत्मिक प्रजापति का है । उसका नाम आत्मन् ही है । सोम द्वारा जिस तृप्ति का विधान किया गया है, वह तृप्ति पञ्चमान सोम की अनन्त पात्राओं में विद्यमान है । सूर्य की रश्मियों में सोम की आरसे उपस्थित है और हमारे वायु मंडल का तृप्ति प्रधान कर रही है । सूर्य कृष्ण में जो ऊर्ध्व लोको के सोम की आहुतियाँ पड़ती हैं वे सूर्य-किरणों द्वारा ओषधियों बनस्पतियों आदि में सोम का आपान करती हैं । गाय के दुग्ध तथा जूत में सोम की यह मात्रा अधिक रहती है और पाठा के स्तम्भ में भी सोम प्रचुर का से उपस्थित रहता है । बच्चे की तृप्ति का यह पूर्व पावन है ।

अन्तमें बच्चे इस प्रकार को आशीर्वाद दिया जाता है। बस माँ का यह सब तुझे दिन दिखाने दिन तुझे रात्रि को दे दे। रात्रि तुझे महोरात्र की ओर से आये। महोरात्र तुझे पक्षों के लिए और पक्ष तुझे भासों के लिए, मास तुझे ऋतुओं के लिए और ऋतुमें तुझे संवत्सर के लिये और एक एक संवत्सर तुझे ब्रह्मस्था तक की आयु भोगने के लिए प्रदान करे। तु आयुष्मान् वर्षवीथ सेवस्वी और श्रीमान् हो।

नामकरण संस्कार इस प्रकार बच्चे के सामाजिक महत्त्व को प्रकट करता है। उसका नाम सर्वपुत्रों का शोचक होने के कारण उसे संस्कार अथवा संस्कृति की ओर से आता है। जब हम बच्चे को नाम लेकर बुलाते हैं तो मानो उसका अन्तःकरण बाह्यरूप में उसनाम के साथ सगा जसा आता है। बच्चे को इन्हीं दो का संस्कार करता है। इन्हीं का परिपोषण उसे उत्कर्ष—पक्ष का पक्षिक तथा उत्तमयवनशील बनावेगा।

## ६ निष्क्रमण

निष्क्रमण संस्कार का अर्थ है बच्चे को घर के वायु मंडल से निकाल कर बाहर के वायु मंडल में ले जाना। यह सर्वविधित है कि घर के वायु से बाहर स्वच्छ मंदानों का वायु शुद्ध होता है। घर के वायु मंडल को शुद्ध करने के लिये अग्निहोत्र अधिक सहायक है। बाहर भगवान के विधान में निरन्तर अग्निहोत्र चलता रहता है। वायु, अग्नि विद्युत सूर्य चन्द्र आदि संशोषक हैं। घर से बाहर निकलिये मानवकृष्ट मूत्र—मूरीय के रूप में यम्यगी पम—पग पर दृष्टि पोषण होनी। एक बंटे के पश्चात् अथवा कुछ अधिक समय के उपरान्त वह यम्यगी सूर्य की रश्मियों के पड़ने से समाप्त हो जाती है। सूर्य की रश्मियों में प्राणमयी धाराओं के साथ बाह्य अथवा शोषक बल भी विद्यमान है। विद्युत की तड़तड़ाहट न जाने कितने कीटों को विनष्ट कर देती है। वायु के सामान्य रूप में तो संशोषकता है ही उसके प्रसंजन रूप में और भी अधिक है। आधी का वेग महीनों के संचित कूड़े—करकट को अपने साथ उड़ा ले जाता है। जम्ह की सौम्य किरणें प्रदूषित समुद्र को भी उद्बेधित कर देती हैं। जल-प्लावन भी उस समय संशोषक रूप धारण कर लेता है। अतः बच्चे को बाहर के वायु मंडल में भ्रमण कराने का एक अर्थ हुआ, उसे गृह की अपेक्षा अधिक स्वच्छ वायु मंडल में ले जाना। इसका एक अन्य अर्थ भी है। विधान के अनुसार पारस्कर मुह्यसूत्र वासक के जन्म से तीसरे भुक्त पक्ष की तृतीया के दिन रात्रि में बालक को जम्ह बर्धन कराने की आज्ञा देता है।<sup>१</sup> आश्वसायन मुह्यसूत्र के अनुसार बीजे महीने में जिस तिथि में वासक का जन्म हुआ हो उस दिन 'तच्छशु' इस भग्न का पाठ करते हुए बालक को सूर्य का दर्शन

करना चाहिए ।<sup>२</sup>

इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि बच्चे को एक परिवार से हटा कर विद्यालय बाल्याश्रम की परिवार के सम्पर्क में लाया जाय । सूर्य और चन्द्र सौर परिवार के दो प्रमुख अंग हैं । हमारी पृथ्वी के लिए उनका विशेष महत्व है । दिन रात और ऋतुओं का क्रम इन्हीं पर अवलम्बित है । मानव शरीर के लिये दोनों स्वास्थ्य-वर्धक हैं । संकुचित सीमा से निकल कर विशाल क्षेत्र में प्रवेश करना उन और मन दोनों के लिये हितकर है । बच्चे की शीर्षायुष्य पर भी इसका विशेष प्रभाव पड़ता है । विद्यालय में निम्नांकित अंग पढ़े जाते हैं ।

ॐ० अह०गा इह०वात्सल्यं वसि० हृदयवर्धनं आत्मसे ।

अस्मा ही पुत्र नामासि सखीव शरव० शतम् ॥ १ ॥

ॐ० प्रजापतेन्दुा हि० कारेणा बलिभ्यामि सहस्रा पुपाश्री जीवशरव० शतम् ॥ २ ॥

गर्वा त्वा हि०कारेणाबलिभ्यामि । सहस्रापुपाश्री जीव शरव० शतम् ॥ ३ ॥

—पार० का० १/क० १८ ॥

पिता इन मन्त्रों से पुत्र के चिर का स्पर्श करता है और कहता है पुत्र । तू मेरे अंग अंग से उत्पन्न हुआ है तू मेरे हृदय का टुकड़ा है । तू मेरी ही आत्मा है । ऐसा तू सी वर्ष तक जीवन धारण कर । प्रजापति के हिकार से मैं तेरे शिर को सूँघता हूँ । तू १०० नहीं सहस्रो वर्षों तक जीवित रह । मैं गीर्वा के हिकार से तेरे शिर को मूँघता हूँ । तू बीर्वा जी बी वन । माग के मन्त्रों से भी जो बच्चे के हस्त्रिष पचा वाम कान में बसे जाते हैं इसी भाव को अभिव्यक्त किया गया है । अन्त में जब बाबक को बायीबाँव दिया जाता है, तब भी त्वम् 'जीव शरव० शतम् वर्द्धमान शब्दों का ही प्रयोग होता है ।

इस प्रकार यह संस्कार सांस्कृतिक दृष्टि से बच्चे को पवित्र वायु मंडल का सेवन कराता है और उसे शीर्षायुष्य तक पवित्र रहने की प्रेरणा देता है । संकीर्णता से विद्यालया की ओर उन्मुख होना संस्कृत-जीवन की प्रमुख विशेषता है ।

### ७ अन्न प्राशन

विगत संस्कार में जिस बाल्य वायुमंडल का उल्लेख हुआ है, उसमें वायु के साथ अन्न और जल भी सम्मिश्रित हैं । तीनों ही जीवन के लिये आवश्यक उपादान हैं । प्रारम्भ में बच्चा माँ के दुग्ध पर अवलम्बित रहता है पर वह दुग्ध भी माता के अन्न सेवन की ही वस्तु है । यह दैन्य-संयोग है कि यह दुग्ध माता के स्तनों में उबने लगे नहीं किन्तु बच्चे की उत्पत्ति के समय ही उत्पन्न होता है और कुछ दिनों तक स्थिर रहता है । इस दूध के साथ माँ का हृदय सगा हुआ है । मायुद्ध के आचार्यों

१ अतुषं मासि निष्कलमिका दूर्यमु शीलयति सखसुरिति ।

मातृवत्पापन



का मत है कि माता को कुछ समय तक ही बच्चे को दूध पिलाना चाहिये । जब बच्चे के दाँत निकल जायें तो उसे दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिये । इससे माता की शक्ति में दुग्ध-नष्टन से जो न्यूनता आती है वह दूर हो जायगी । माता के दूध का स्वाद बाहर के वायु मंडल की सामग्री ही से शक्ती है । इस सामग्री में जैसा मिश्रण है वह अन्न-जल और वायु की प्रधानता है । इन तीनों के मूल में भी तेज है । तेज का प्रतीक सूर्य है । सूर्य के अभाब में मानव की प्राण शक्ति प्रियमाण हो जाती है ।

शरीर की सत्ता में मन प्राण और वाणी तीन ही प्रमुख हैं । इनमें मन अन्न से बनता है प्राण अन्न से बनता है और वाणी तेज से बनती है । उसे दूध के बिना तो पर उसके सूक्ष्म अन्न मन्त्रण के रूप में ऊपर आ जाते हैं बैसे ही अन्न-जल और तेज के मन्त्रण का परिणाम उनक सूक्ष्म अन्न मन प्राण और वाणी के रूप में प्रकट होता है ।

जिस अन्न का हम सेवन करते हैं उसका सूक्ष्म भाग मन के रूप में बाहर निकल जाता है । उसका जो सूक्ष्म भाग है उससे मांस बनता है और जो सूक्ष्मतम भाग है उससे मन बनता है । इसी प्रकार जो अन्न हम पीते हैं उसका सूक्ष्म भाग मूत्र के रूप में बाहर निकल जाता है तथा सूक्ष्म भाग रक्त बनता है और सबसे सूक्ष्म भाग प्राण बनता है । उष्णता उत्पन्न करने वाले जिस तैलक पदार्थ का हम सेवन करते हैं उसका सूक्ष्म भाग हृद्दी बनता है जीव का भाग मज्जा बनता है और अन्तिम सूक्ष्म भाग से वाणी बनती है । छात्रोप्य उपनिषद् में उद्गातक अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुये जीवन के इन्हीं तीन उपादानों पर बल देता है । अन्न से मन कैसे बनता है इसे समझाने के लिये उसने श्वेतकेतु को १५ दिन उपवास रखने की आज्ञा दी । श्वेत केतु ने अन्न छोड़ दिया परन्तु बल पीठा रहा । पन्द्रह दिन बाद जब पिता ने उसे बेह-पाठ करने के लिये कहा तो निर्बलता के कारण वह पाठ करने में असमर्थ रहा । पिता ने उसे कुछ खाने के लिये आज्ञा दी । अन्न-सेवन से मानसिक निर्बलता दूर हुई और वह बेह पाठ करने में समर्थ हुआ । यह कहानी सिद्ध करती है कि मानसिक शक्ति अन्न पर अवलम्बित है । जीवन अन्न से स्थिर रह सकता है पर मन अन्न के अभाव में अशक्त हो जाता है । वाणी भी एक अशुभुत शक्ति है । इसके बिना सामाजिक व्यवहार नहीं चल सकता । वाणी के द्वारा ही मैं अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता हूँ । वाणी की विकसित शक्ति सेवों और धर्मों के रूप में ग जाने कब से मानवता की ज्ञान दिशि के रूप में सुरक्षित है । यह हम सबका पथ प्रदर्शन करती है । वाणी के इस प्रयोग द्वारा मैं आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के व्यास ऋषि से वार्त्तालाप कर सकता हूँ । उनसे भी और पूर्व के मुनियों की जिज्ञाओं को उपसम्भ करके अपना जीवन सुचारु सकता हूँ । इस प्रकार जीवन के ये तीनों ही अंगिचार्य उत्पन्न बाह्य वायु मंडल

से उपसम्पन्न होते हैं। यदि हम अन्न का विस्तृत अर्थों में प्रयोग करें तो यह समस्त सामग्री अन्न का ही रूप जान पड़ेगी। अन्न प्राप्त करने के बाद अन्न के ये तीनों ही रूप विद्यमान हैं। आत्मलाभन गृह्यसूत्र ने अनुसार—

घृष्टे माम्भक्षप्रारामम् ॥ १ ॥

घृतोर्वनः तेजस्वाम ॥ २ ॥

हवि मधु घृत मिधितमस्य प्राण मेत् ॥ ३ ॥

घृष्टे महीने में अन्नप्राशन करना चाहिये। जिनको अपना बालक तेजस्वी बनाना है, उन्हें इस अवसर पर बच्चे को घृतयुक्त भात खिलाना चाहिये। किसी किसी के मत में भात के साथ दही सहव और भी तीनों मिले रहने चाहिये। अग्निहोत्र की सामान्य विधि करके भात की आहुतियाँ मग्न पड़ कर बी जाती हैं जिनमें निम्नांकित मग्न संस्कार की महत्ता के सातक हैं।

देवी वाचं मन्त्रं यस्तु देवास्ता विप्रं कृपां पतन्ती ब्रह्मन्ति ।

सा नो मन्त्रेयं गृह्यं ब्रुहाना घेतुर्वागस्मानुप सुष्ठु तनु स्वाहा

इदं वाचे इवप्रमम ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८/सू० १०० ॥

वाचोऽग्नौ अन्नं प्रयुवाति वामं वाचो देवां ऋतुमिक्षस्य पाति ।

वाचो हि मा सर्वं नीरं जगाम विप्रया आता वाचपतिर्बर्षेयं स्वाहा ।

इदं वाचे वाजाम् । इवप्रमम ॥ २ ॥ य० अ० १८ अ० ३६

देवी ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया। उसी का विविध रूपों वाले पशु अर्थात् जीव होसके हैं। यह वाणी वेद है आनन्दमयी है। इसी से अन्न-जल का रोहन किया जाता है। निकटता से स्तुति की गयी यह वेदुन्ना वाणी हमें प्राप्त हो।

वाच अर्थात् अन्न आज हमें दान की प्रेरणा करता है। वही देवी को ऋतुओं के द्वारा समर्थ बनाता है। वही हमें नीर पुन देता है। मैं भी इस वाच का धनी बन कर समस्त विश्वार्थों में विजय प्राप्त करूँ। आगे के मन्त्रों में कहा गया है कि मैं प्राण के द्वारा अन्न का भक्षण करता हूँ। मैं अपान के द्वारा गंध को ग्रहण करता हूँ। मैं मधु के द्वारा रूप की उपसम्पन्न करता हूँ। मैं धोष के द्वारा यज्ञ को प्राप्त करता हूँ। अन्न गन्ध रूप और यज्ञ जीवन में प्राप्तव्य पदार्थ हैं। यज्ञा अन्न के द्वारा वसवान बने। यज्ञ से आह भविष्य मम वासा बने। रूप के द्वारा मुन्दरता और यज्ञ के द्वारा समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करे। संस्कृति के विकास में इन सभी का योगदान अपेक्षित है। बच्चे को भात खिलाते समय निम्नांकित मग्न पढ़ा जाता है—

अं अन्नपतेऽन्नस्य नो देहानमीत्य शुष्मिन् ।

अ प्र वातारं तारिय ऊर्ध्वं नो वेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

॥ १ ॥ य० अ० ११ म० ५३ ॥

हे अन्नपते ! हमें ऐसा अन्न दो जो गीरोगता सेने वासा और

मनाने वाला हो। अन्न के प्रवाता को आग गार करें और त्रिपद तथा चतुष्पद सभी को पत दें। अन्न में वातघ्न को आगीर्वाह देते हुये कहा जाता है कि हे वायव ! तुम अन्न के स्वामी, अन्न का मक्षण करने वाले और यही आयु वाले बनो।

## ८. बूढ़ा कर्म

बच्चा गर्भ से जिस रूप में बाहर आता है परिवार और समाज उसे बाह्य परिवेश देकर उसी रूप में नहीं रहने देता। बच्चे के प्राकृतिक रूप को समाज सामरिक रूप देना चाहता है। प्रत्येक सामग्य समाज का एक घटक है और उसे बहुत कुछ सामाजिक मर्यादाओं में बंध कर रहना पड़ता है। सम्य समाज ही नहीं अर्थ सम्य एवं असम्य समाज में भी प्राणी अपने प्राकृतिक रूप में नहीं रहता। उसे अपने मुख्य अंग तो आच्छादित करने ही पड़ते हैं। आच्छादन के साधन भले ही निम्नकोटि के हों पर सामाजिकता के भाव की भांग है कि प्राणी सामाजिक घटक के रूप में समाज के साथ मिला कर जमे।

बच्चे के प्राकृतिक रूप में एक बात और भी है जो शारीरिक बलों से सम्बन्ध रखती है। प्राण शक्ति के बल से बच्चा बढ़ता है। उसके अंग-अंग में वृद्धि होती है और इन अंगों में कुछ ऐसे भी भाग हैं जिनकी वृद्धि को प्राकृतिक रूप में रहने देना अनावश्यक साथ ही हानिकारक भी है। इनमें नख और केस ऐसे ही दो भाग हैं। नख का अर्थ है न ख जर्वात् नहीं है जो इन्द्रिय। इन्द्रिय को काटा जाय तो व्यक्ति को कष्ट का अनुभव होता है परन्तु जो इन्द्रिय नहीं है इन्द्रिय से व्यतिरिक्त है उसके काटने जवबा दूर करने में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। केस भी खरीर का इसी प्रकार का भाग है। केसों के कट जाने पर भी मानव को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। बढ़े हुये नाखून और बढ़े हुये केस स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक हैं। नखों में स्वत विप है। यदि उनमें मस भर गया तो वे और भी अधिक अनिष्ट कर सकते हैं। केस भी विपाक है। मोहन में पड़े हुए केस को प्रथम तो जिह्वा ही चहम नहीं कर पाती। यदि कहीं गले तक पहुँच गया तो वह भी उसे निकास बाहर करना चाहता है और यदि आमाशय में पहुँच गया तो अनेक रोगों का कारण बन सकता है। केस अपने बढ़े हुये रूप में मस तथा कीटकों को भी जन्म देने वाले हैं जो शारीरिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अत सभी दृष्टियों से केसों को उनके प्राकृतिक रूप में रहने देना अनिष्टकारक है। संस्कारों में बूढ़ा कर्म जोस कर्म यववा मुख्यत इरीतिप विहित समझा गया है।

यह तो वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से संस्कार का स्वस्थकर तथा सौम्य यशस्व पक्ष हुआ जिसकी उपादेयता स्वत सिद्ध है। सम्मता एवं संस्कृति की दृष्टि से उसका एक अन्य पक्ष भी है। यह पक्ष है शारीरिक वृद्धि के साथ उसका परि

मार्जन प्राथमिक अवस्था के परिस्थान द्वारा संस्कृति की ओर विकास की ओर प्रगति करना। मुंडन पून एवं पुत्री दोनों का होता है। स्त्रियाँ अपने बाल बढ़ाती रहती हैं पर पुरुष उन्हें कटवाता रहता है। स्त्रियों को बाल बढ़ाने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। स्त्रियों की भांति जो पुरुष बालों को नहीं कटवाते उन्हें भी मम तथा कीटाणुओं से बचने के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है। हमारे यहाँ मुंडन मानक के सिव्य केशों को बढ़ाये रहते हैं। हेमन्त को छोड़ कर अन्य सभी ऋतुओं में वे केश उन्हें कट्टे देते हैं। नापित के बगल में भी बेश बढ़ जाते हैं और कट्टे देते हैं। सेना में सैनिक सौर कर्म स्वयं कर लेते हैं पर कभी-कभी नापित की आवश्यकता उन्हें भी पड़ जाती है। वनों में निवास करने वाले प्राचीन ऋषियों के सामने भी और कर्म की समस्या रही होगी। अतः जैसे-जैसे सम्प्रदाय विकसित होती गयी, नापित का कर्म भी सामान्य बनता गया। मुंडन संस्कार में जो सांस्कृतिक दृष्टि है, उसका भी अपना महत्व है। आये सम्प्रदाय में शिक्षा एवं धर्म (यज्ञोपवीत) दोनों सांस्कृतिक महत्व रखते हैं। यज्ञोपवीत पर आये सिखा जायगा। शिक्षा के सम्बन्ध में इतना ही बलव्य है कि वह मुंडन के समय जबकि द्वितीय बार के मुंडन के अवसर पर जिस स्थान पर रखी जाती है वह आयुर्वेद के अनुसार समस्त शिराओं का सन्धि स्थान है। वही रोमों का जागृत है। ऐतरेय उपनिषद् ने इसी स्थान को विदुषि नाम का द्वार कहा है। आत्मा इसी द्वार से शरीर में प्रविष्ट होती है और मोक्ष के समय इसी को विदीर्ण करके शरीर से निकलती है। यह स्थान मर्म स्थान समझा जाता है जिस पर चातक जापात जगते ही मृत्यु हो जाती है। इसी का एक नाम ब्रह्म रज्जु भी है। मुक्ति सांस्कृतिक विकास का चरम बिन्दु है। अतः मुंडन और मुंडन के समय शिक्षा का कारण हमें संस्कृति के इस विकास की सूचना देने वाला है। जो प्रयास स्वयं की ओर संकेत करे, वह निस्संदेह स्थापनीय एवं चरणीय है।

सुमुत्त तथा चरक के अनुसार केश-कर्तन कोमादायक आयुर्व्यकर तथा उत्साह वर्धक है। यथा—

(१) पापीपल्लवमं केशं गच्छ रोमापमात्रं नम् ।

हर्षं साधय लीलाय्य करधुस्तह्म वर्धनम् ॥

( चिकित्सा स्थान ) २४/७२

(२) पीटितं वृद्धमा युयं पुत्रि कर्ण विराजयन् ।

केशधमम् गच्छादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम् ॥

सुमुत्त के अनुसार केशों गच्छों तथा रोमों के झुकीकरण से जबकि अपमार्जन से प्रसभता स्फूर्ति सुन्दरता तथा उत्साह की वृद्धि होती है। इससे पापों का क्षमन भी होता है। चरक के अनुसार भी फिर तथा बाड़ी के बालों और गच्छों के काटने से शक्ति स्वास्थ्य पाकिष्म तथा सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। बिधि में पठित निम्न सिद्धि मन्त्र भी इस मत का समर्थन करता है—

—ॐ येन भूवदन् राम्यं ज्योत्स्नं च पश्यति सूर्यम् ।  
तेन ते आयुषे वषामि शुद्धसौभाग्यं स्वस्तये ॥

आ० गु० सू० १/१०/१९ ।

जिस साधन ने द्वारा तु बार-बार राशि की ज्योति चन्द्रमा को तथा दिन की ज्योति सूर्य को देखता है उसी के द्वारा मैं आयु-यश तथा कल्याण के लिये इत केन वपन स्वी कर्म को करता हू । इसी प्रकार जाने की बिधि में भी जीवन और शीर्षा मुख्य की बात कही गई है । यजुर्वेद का निम्नांकित मंत्र भी इसी उद्देश्य का समर्पण करता है—

ॐ निवर्त्तयाम्या युवेष्ठा धाय, प्रजननाय ।  
रायस्पोषाय तु प्रजास्त्राय सुधीर्याय ॥

(य० अ० ३/म० ६१)

केस कर्तन के द्वारा आयु अन्न भक्षण की शक्ति प्रजनन शक्ति पुष्टि सन्तति तथा पराक्रम की वृद्धि होती है । दीर्घायुष्य तथा वर्त्तन-शक्ति की उपलब्धि अथर्व० ६/६८ म भी वर्णित है ।

ब्रूह्मकर्म संस्कार शास्त्र के जन्म से तीसरे वर्ष अथवा एक वर्ष में ही सूर्य के सप्तसमग होने पर शुक्लपक्ष में करना चाहिये । बिधि में केस काटने के समय कुत्तों का भी उपयोग होता है । कुछ अपने यहाँ पशुन माने गये हैं । बिधि में केस कर्तन का कार्य सर्व प्रथम पिता करता है । उसके पश्चात् वह नापित से कहता है कि वह सावधानी से कुत्तों को बाटे । अथर्व ६/६८ के अनुसार सविता ने छूरे से राजा सोम और वरुण का केस-कर्तन किया था । विद्वान् (योग्य) नापित भी यही कर्म करता है । यदि नापित अनाड़ी हुआ और केस-कर्तन के समय प्रसाव कर गया तो महती निपत्ति पड़ती हो सकती है । कल अथवा धर्मके साथ सभी वृक्ष के पत्तों भी इस संस्कार में रखने पड़ते हैं । कटे हुए कुत्तों को बर्म और सभी वृक्ष के पत्तों के साथ धोकर से उठा कर सरावा में अथवा आट की बनी हुई सोई में रखते बाते हैं और उसे या तो गाऊ में गाड़ देते हैं अथवा नदी या तालाब में बहा देते हैं । केस काटने के समय अन्नवस्ति कश्यप तथा देवों की श्रियायुष का स्मरण किया जाता है और अपने के लिये भी उस श्रियायुष प्राप्ति की कामना की जाती है । अन्त में अपने को आशीर्वाद दिया जाता है कि वह सौ वर्ष तक बढ़ता हुआ जीवन वारण करे ।

## ८ कर्ण-वेध—

कर्णवेध संस्कार का सम्बन्ध मुख्यरूप से आयुर्वेद के साथ है । कर्ण का छेदन और उनमें बासी का पहनना अथवा अन्य आभूषण का धारण करना आयुर्वेद के मतानुसार अष्टकोष अथवा अष्ट बुद्धि को रोकता है । रक्षा और शोभा दोनों ही इस संस्कार के मूल में कार्य करते हैं । रोग से रक्षा और आभूषण धारण करने से शोभा सम्पन्न होती है । सुपुत्र चिकित्सा स्थान १६ २१ के अनुसार—

शब्द०ओपरि च कर्णस्ति द्यवत्वा यत्नेन सेवनीम् ।

यस्या साहा शिरां विष्ये ह्यत्र बुद्धि निवृत्तये ॥

अत्र-बुद्धि को रोखने के लिये शंस के ऊपर कर्ण के नीचे भाग में शिरा का वेपन करना चाहिये । सुयुत के मूत्र स्थान अध्याय १६१ में एक विधान सम्मत् वर्णन आया है जिससे सूचित होता है कि कान की खीर के कुछ मित्र सूर्य के प्रकाश में स्पष्ट दिखाई देते हैं । इन्हीं छिद्रों से कर्णवेप के समय सूचिका पार होनी चाहिए ।

कर्ण-वेप का समय क्या है इस विषय में आचार्यों के मत एक समान नहीं हैं । आर्यभट्टाचार्य के अनुसार यह समय जन्म से तीसरा अथवा १ वां वर्ष है । अन्य आचार्य यह समय जन्म से १० वें या १२ वें दिन निर्धारित करते हैं । कुछ ऐसा भी कहते हैं कि यह संस्कार जन्म से छठे सातवें आठवें अथवा बारहवें महीने में सम्पन्न किया जाय । शैतवाकस्था में जब बच्चा माँ का दूध पी रहा है शरीर के सभी अवयव कोमल होते हैं । अतः कर्ण-वेपन के समय बच्चे को विशेष काट नहीं होता । परन्तु जहाँ तक रोम निवारण का सम्बन्ध है यह संस्कार तीसरे अथवा पाँचवें वर्ष में ही किया जाय तो उत्तम है, क्योंकि उस समय तक शिराएँ सबल हो जाती हैं और उनके छेदन का प्रभाव अन्तर्धियों पर विशेषकर से पड़ सकता है । कोमल अवस्था में ऐसा होना समझ नहीं है । महर्षि दयानन्द ने कर्ण छेदन का कार्य बँस को सौंपा है जो शरीर वास्तव का पवित्र होता है । अन्य आचार्य इस कार्य का भार स्वर्णकार पर डालते हैं । सूचिका के सम्बन्ध में भी तीन मत हैं । किसी किसी के मत में यह सूचिका स्वर्ण की चाहिये और किसी किसी के मत में यह चाँदी अथवा सोने की हो । सम्भव है यह सूचिकाएँ वर्ष भर अथवा आधिक अवस्था पर अवसन्धित हों । शतकुम्भमयी सूची छेदन के लिये खोभन समझी गयी है । विधान के अनुसार बालक का सर्व प्रथम दाहिना कान और बाँवला का बायाँ कान छेदा जाता है । बालिकाओं की नाक भी छेदी जाती है जिसमें आयुर्वेद तथा सोम्यंशास्त्र दोनों कार्य करते हैं ।

मन्त्रों का विनियोग प्रत्येक विधान में पाया जाता है । बालक का जब दाहिना कान छेदा जाता है तब 'मन्त्र कर्णेभि मनुष्याम देवा आदि मंत्र पढ़ा जाता है और बायें कान के छेदन के समय 'वक्ष्यन्ती देवागनी' आदि मंत्र का पाठ होता है । बच्चा काट को अनुभव न करे कर्ण छेदन की पीड़ा की ओर उसका ध्यान न जाने पावे इसके लिये उसे माता की गोद में बिठा दिया जाता है और कुछ बिसीने तथा मिठाईयाँ उसके आगे रख दी जाती हैं ।

यद्यपि यह संस्कार प्रमुखतः राय निवृत्ति तथा सोमाधान से सम्बन्ध रखता है तथापि व्यक्तिज के विकास में जिन स्थूलताओं के निराकरण की बात हम पूर्व लिख चुके हैं उससे सांस्कृतिक विकास के लिये भी यह संस्कार उपयोगी सिद्ध हो सकता है ।

'मन्त्र कर्णेभि-मनुष्याम' आदि मन्त्र से एक सूचना और प्राप्त होती है । यह

है कर्त्तव्य कर्म के साथ अक्षरारम्भ करना । जिस मन्त्र का कानों द्वारा समझ हो वह मन्त्र सत्य या ध्वनि के रूप में है । जो सुना जाता है वह वाक्यान्त में अपनी विशिष्ट तरंगों से समृद्ध रहता है । इन तरंगों का ज्ञान प्राप्त करना और तदनुकूल ध्वनि को एक रूप देना मानव विज्ञान की एक ओष्ठ उपलब्धि है । वर्य है वे आचार्य जिन्होंने ध्वनियों के रूपों का निर्माण किया । इस निर्माण में हमारे मुख की आकृति भी जो ध्वनि उच्चारण के समय बनती है सहायक सिद्ध हुई होगी । अब ध्वनि के उच्चारण में कंठ जिस स्थिति में होता है वह उस स्थिति से भिन्न है जो वर्य ध्वनियों के उच्चारण में रहती है । सिपि की निर्मिति में आकासीय तरंगों तथा कंठ आदि की स्थितियों से पूरा ज्ञान उठाया गया है । सिपि में निःसन्देह विकास हुआ है । बाह्यी सिपि देवनागरी सिपि तक आते आते बहुत कुछ सुसम्बद्ध एवं समर्पक हो चुकी है । परन्तु यह कार्य सम्मता के निवर्तक तथा सौन्दर्य शास्त्र के अविच्छेदक तत्त्वों से सम्बन्धित है । वर्तमान सिपियों का ज्ञाता प्राचीन सिपियों को पढ़ने में जिस असमर्थता का अनुभव करता है वह सम्भवतः इसी सिपे कि वे सिपियों विकास के विभिन्न स्तरों से निकल कर आज एकदम अपरिचित हो गयी हैं । मेसोपोटामिया में ईसा से १३६० वर्ष पूर्व की सिपि में इन्द्र वर्य और नासत्य जैसे वैदिक देवों का उल्लेख है वह कठिनाई से पढ़ी जा सकी । सिन्धु की घाटी में जो खुदाई हुई है उसमें प्राप्त सिपि अभी तक अपने विशुद्ध रूप में नहीं पढ़ी जा सकी । सम्भव है, सिपि को सौन्दर्य प्रदान करने में निम्न निम्न जातियों ने निम्न निम्न उपादानों का आश्रय लिया हो । इस समय भी पंजाबी बंगाली तथा पूर्वी सिपियों देवनागरी सिपि से समता रखते हुये भी बहुत कुछ निम्न अक्षरारम्भ की क्रिया सर्व प्रथम उस समय अनुभूत हुई होगी जब स्मृति ने साहित्य की विपुलता को कंठस्थ रखने में बुराह्मता का सामना किया होगा । ज्ञान तो साहित्य का भंडार इतना विद्यालय है कि उसे समग्ररूप में कंठस्थ रखना एकान्त असम्भव है ।

अक्षरारम्भ का संस्कार इसी आचार पर परवर्ती काल का संस्कार जान पड़ता है । पोट्टर संस्कारों में आज भी उसकी गजना नहीं होती परन्तु है यह संस्कार आवश्यक । इससे बालक ज्ञान की उस निधि में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है जिसे लिपिबद्धरूप में मानव ने सुरक्षित रखा है । इस संस्कार की उपयोगिता को देखते हुये और ज्ञान का ध्यान रखते हुये वर्न वेध संस्कार के साथ ही यह संस्कार किया जाता है । पाँचवें वर्ष में बालक की समझ तथा ग्रहण शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि वह ज्ञान-विज्ञान की निरक्षित शाखाओं के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो सके । कठिन आचार्यों ने इस संस्कार को ज्ञान के सातवें वर्ष में भी विहित समझा है । यज्ञोपवीत से पूर्व ही यह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिये ऐसा भी कई आचार्यों का मत है । आवश्यक तो निम्न शिक्षा का प्रारम्भ बालक के तीसरे वर्ष से ही हो जाना है । विविध आचार्यों ने चौथे वर्ष (मुष्टन) के

उपराग्य ही इस संस्कार को करने का विधान लिखा है। मन्त्रभूति ने वास्मीकि माध्यम में सब कुछ के जीवन कर्म की निबृत्ति पर ही वेदवर्षी को छोड़ कर अन्य विद्याओं के सिखाने का उल्लेख किया है। वेद का पठन-पाठन उपनयन के पश्चात् ही प्रारम्भ होना चाहिये। ऐसा ग्राम-सभी आचार्यों का मत है।

## १० उपनयन

विमत पृष्ठों में विम संस्कारों का वर्णन किया गया है

वे अप्रत्यक्ष रूप में मानव के सांस्कृतिक विकास में योग देने वाले हैं। उपनयन संस्कार उस प्रकार का नहीं है। यह प्रत्यक्षरूप से मानव को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कर देता है।

उपनयन का अर्थ है उप बर्णात् समीप नयन अर्थात् ले जाना। किसके समीप? उसके समीप जिसे छोड़कर जीवात्मा ने अपने चारों ओर प्राकृतिक आवश्यकताओं की सन्निगता प्राप्त की है। एक से हटना है और दूसरे के समीप पहुँचना है। सांस्कृतिक ज्योति की यही उत्कृष्टतम लिखा है।

अग्नेय के निर्माकित मंत्र में प्रभु से प्रार्थना की गयी है —

परि पूषा परस्तात् हृतं बभानु बक्षिषम् पुनर्गो न्यधमावतु ।

पुष्टि प्रदाता परम प्रभु! आपसे मैं बहुत दूर हो गया हूँ और दूर होकर कष्ट-श्लेष के जाल में फँसा हुआ निराश्रय यातना का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा अपना यहाँ कोई भी नहीं है। मेरे लो एकमात्र तुम्हीं हो और तुम्हारी ममता से ही मैं बचिष्ठ हूँ। प्रभो! कृपा करो अपने बगदायक बक्षिष हस्त को मेरे धिर के ऊपर रख दो जिसकी छत्र-छाया में आस्थासग की श्वास लेता हुआ मैं अपने लोभे लोभे को पुन प्राप्त कर सकूँ।

उपनयन इसी अपने के पास अपने को ले जाना है। जीवात्मा उसके समीप कैसे पहुँचेगा? जिसे पुनरावर्तन का ज्ञान नहीं है पीछे सीटने के मार्ग से परिचय नहीं है, वह कैसे अपने के समीप पहुँच सकेगा। वेद कहता है, इसके लिये प्रथम आचार्य के समीप पहुँचना चाहिए। आचार्य कौन है? महर्षि दयानन्द के शब्दों में आचार्य उसको कहते हैं जो सगोपांग देवों के सत्त्व-अर्थ-सम्बन्धी क्रिया का जानने द्वारा स्रज-जपट रहित अति प्रेम से सबको विद्या का दाता परोपकारी सग मन और सग से सबका सुख बढ़ाने में उत्तर, महाशय पक्षपात किसी का न करे और सर्वोपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मिणा, जितेन्द्रिय होवे।

निर्माकित इसीकी से भी आचार्य के पुत्रों पर प्रकाश पड़ता है —

- १ वेदेक मिष्टं अर्थं कृत्वा नीलं श्रीधिरं सुविष्णु ।  
स्व शास्त्रायामनामस्य विप्रं कर्तारं भीषितम् ॥
- २ सत्यवाक्यं कृतिमान् वस सर्वभूतधया परः ।  
आस्तिको वेद निरतः सुविद्याचार्य उच्यते ॥  
वेदान्तधनं सम्पन्नो कृतिमान् विजितेन्द्रियः ।



है कर्मवैध कर्म के साथ अक्षरारम्भ करना। जिस मन्त्र का कानों द्वारा ध्वनि हो, वह मन्त्र शब्द या ध्वनि के रूप में है। जो सुना जाता है वह आकाश में अपनी निशिष्ट तरंगों से संयुक्त रहता है। इन तरंगों का ज्ञान प्राप्त करना और तन्मूक ध्वनि को एक रूप देना मानव विज्ञान की एक भेद्य उपसम्पत्ति है। धर्म्य है वे आचार्य जिन्होंने ध्वनियों के रूपों का निर्माण किया। इस निर्माण में हमारे मुख की आकृति भी जो ध्वनि उच्चारण के समय बनती है सहायक सिद्ध हुई होगी। जो ध्वनि के उच्चारण में कंठ जिस स्थिति में होता है वह उस स्थिति से निम्न है जो अन्य ध्वनियों के उच्चारण में रहती है। सिपि की निमित्ति में आकाशीय तरंगों तथा कंठ आदि की स्थितियों से पुरा साधन चढाया गया है। सिपि में निःसन्देह विकास हुआ है। बाह्य सिपि बेबनागरी सिपि तक आते आते बहुत कुछ सुसज्जित एवं समर्पित हो चुकी है। परन्तु यह कार्य सम्पत्ति के निर्वर्तक तथा सौन्दर्य शास्त्र के अभिव्यञ्जक तत्त्वों से सम्बन्धित है। वर्तमान सिपियों का ज्ञान प्राचीन सिपियों को पढ़ने में जिस असमर्थता का अनुभव करता है वह सम्भवतः इसी लिये कि वे सिपियाँ विकास के विभिन्न स्तरों से निकल कर आज एकदम अपरिचित हो गई हैं। मेसोपोटामिया में ईसा से १३६० वर्ष पूर्व की जिस सिपि में इन्द्र, ब्रह्म और नासत्य जैसे वैदिक देवों का उल्लेख है वह कठिनाई से पढ़ी जा सकी। सिन्धु की घाटी में जो खुदाई हुई है उसमें प्राप्त सिपि अभी तक अपने विस्तृत रूप में नहीं पढ़ी जा सकी। सम्भव है, सिपि को सौन्दर्य प्रदान करने में निम्न निम्न आदिमों ने निम्न निम्न उपादानों का आश्रय लिया हो। इस समय भी पंजाबी बंगाली तथा पूर्वी सिपियाँ बेबनागरी सिपि से समता रखते हुये भी बहुत कुछ निम्न अक्षरोंकन की क्रिया सर्व प्रथम उस समय अनुमोदित हुई होगी जब स्मृति ने साहित्य की विपुलता को कंठस्थ रखने में बुराहता का सामना किया होगा। ज्ञान तो साहित्य का मंदार इतना विज्ञान है कि उसे समग्ररूप में कंठस्थ रखना एकान्त असम्भव है।

अक्षरारम्भ का संस्कार इसी आचार पर परवर्ती काल का संस्कार जान पड़ता है। पोद्म संस्कारों में आज भी उसकी गवना नहीं होती परन्तु है प्रह संस्कार आवश्यक। इससे बालक ज्ञान की उस निधि में प्रवेश करने के योग्य बन जाता है जिसे लिपिकारूप में मानव ने सुरक्षित रखा है। इस संस्कार की उपयोगिता को देखते हुये और आयु का ध्यान रखते हुये कर्म वेध संस्कार के साथ ही यह संस्कार किया जाता है। पाँचवें वर्ष में बालक की समझ तथा ग्रहण शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि वह ज्ञान विज्ञान की विकसित शाखाओं के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो सके। कतिपय आचार्यों ने इस संस्कार को आयु के सातवें वर्ष में भी विहित समझा है। यज्ञोपवीत से पूर्व ही यह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिये ऐसा भी कई आचार्यों का मत है। आश्विन तो विष्णु शिक्षा का प्रारम्भ बालक के तीसरे वर्ष से ही हो जाता है। कतिपय आचार्यों ने चोल कर्म (मुग्धन) के

उपनयन ही इस संस्कार को करने का विधान सिखा है। भवसूति ने वात्सीकि माधम में सब-मूल के बीस कर्म की निवृत्ति पर ही वेदवर्षी को छोड़ कर अन्य विद्याओं के सिखाने का उल्लेख किया है। वेद का पठन-पाठन उपनयन के पश्चात् ही प्रारम्भ होता चाहिये। ऐसा प्रायः सभी आचार्यों का मत है।

## १० उपनयन

विमत पृष्ठों में जिन संस्कारों का वर्णन किया गया है

वे अप्रत्यक्ष रूप में मानव के सांस्कृतिक विकास में योग देने वाले हैं। उपनयन संस्कार उस प्रकार का नहीं है। यह प्रत्यक्षरूप से मानव को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कर देता है।

उपनयन का अर्थ है उप अर्थात् समीप गमन अर्थात् से जाना। किसके समीप? उसके समीप जिसे छोड़कर जीवात्मा ने अपने चारों ओर प्राकृतिक बाबरणों की सनीरता प्राप्त की है। एक से हटना है और दूसरे के समीप पहुँचना है। सांस्कृतिक ज्योति की यही ऊर्ध्वतम विद्या है।

अग्नेय के निम्नांकित मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गयी है —

परि पूषा परस्तात् हस्तं वपातु बक्षिणम् पुत्रं नो नष्टमास्तु ।

पुष्टि प्रदाता परम प्रभु। आपसे मैं बहुत दूर हो गया हूँ और दूर होकर कष्ट-श्लेश के आस में कंसा हुआ निवारक याचना का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा अपना यहां कोई भी नहीं है। मेरे जो एकमात्र पुत्र ही हो और तुम्हारी ममता ही ही मैं बंशित हूँ। प्रभो! कृपा करो अपने वरदायक बक्षिण हस्त को मेरे तिर के ऊपर रख दो जिसकी छात्र-छाया में आस्थासन की स्थापना होता हुआ मैं अपने खोये हुए को पुनः प्राप्त कर सकूँ।

उपनयन इसी अपने के पास अपने को ले जाना है। जीवात्मा उसके समीप कैसे पहुँचेगा? जिसे पुनरावर्तन का ज्ञान नहीं है, पीछे लौटने के मार्ग से परिचय नहीं है वह कैसे अपने के समीप पहुँच सकेगा। वेद कहता है इसके लिये प्रथम आचार्य के समीप पहुँचना चाहिए। आचार्य कौन है? महर्षि इमानन्द के शब्दों में आचार्य उसको कहते हैं जो सांगोपांग वेदों के शब्द-अर्थ-सम्बन्धी क्रिया का जालने द्वारा छस-कपट रहित अति प्रेम से सबको विद्या का दाता परोपकारी, तन, मन और मन से सबका सुख बढ़ाने में उत्तर महाशय पलपाव किसी का न करे और उपोपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होने।

निम्नांकित श्लोकों से भी आचार्य के गुणों पर प्रकाश पड़ता है —

- १ वेदैक निष्ठं वर्मत्रं कृतीन् औचित्यं मुनिम् ।  
एव साक्षात्मानासर्वं विप्रं कर्तारं नीक्षितम् ॥
- २ उत्पन्नकृतिमान् वसः सर्वभूतदया परः ।  
आसितको वेद निरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥  
बेदाभ्यस्त सत्त्वज्ञो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः ।

इन इंसानों में जगज्जगत् उन्हीं गुणों का वर्णन है जिनकी ओर महर्षि व्यासदेव ने संकेत किया है । आचार्य को वेद में लिखायात धर्मज्ञ' कुमीन और पवित्र होना ही चाहिये । जो सत्यवादी है वृत्ति-सम्पन्न वह आस्तिक और धर्मभूतों पर ब्याप्य रहने वाला है जो चरित्र-सम्पन्न उत्साही तथा विवेकशाली है वही सांस्कृतिक विकास का प्रतीक है । उसी के चरित्रों में बैठकर, उसी के ज्ञान गर्भ में प्रविष्ट होकर, उसी के आचार-मन को ग्रहण करके शिष्य सस्कृत बन सकता है और जीवन के अन्तिम समय की उपलब्धि कर सकता है । अपने सोये हुये को प्रोत्साहित कर दे, विमुक्त से संयुक्त कर दे जीवनार्हों की सिद्धि कर दे वह आचार्य बन्धु है और वह शिष्य भी बन्धु है जिसे ऐसा आचार्य प्राप्त हो सके ।

वर्षावेद के निम्नांकित मन्त्र भी आचार्य और उसके ब्रह्मचारी शिष्य के कर्तव्यों की ओर निर्देश करते हैं ।

१ आचार्यं वपनय मामो ब्रह्मचारिणं कृपुते धर्ममन्त्रां राजिस्तितुडवरे विमर्ति तं ज्ञातं ब्रूत ममि संयन्ति देवाः ॥

२ इयं समित्पुत्रिणी सीद्वितीयोत्तमरिक्तं समिधापुत्राति ।

ब्रह्मचारी समिधा मेतलया अमेव लोकां स्तपसा विपति ॥

-अथर्व ११/२/१,२

आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप रख कर जिस व्रत से वीक्षित करता है वह मानों शिष्य का गर्भ में निवास करना है । मात्र में तीन रात्रियों का उत्सेह है । ब्रह्मचारी तीन रात्रियों तक आचार्य के उबर में रहता है । उबर या धर्म में तीन रात्रि पर्यन्त रहने का सामान्य नहीं विशेष अर्थ है । तीन रात्रियाँ तीन समिधायें प्राण अपान और व्यान वायी मन और हृदय भी मेधा और प्रज्ञा ऋक् यजु और साम ज्ञान कर्म उपासना अथवा भूर्भुव स्व का त्रिक ऋ की तीन माताओं का ही व्याख्यात रूप है । ब्रह्मचारी को इसी त्रिक से निकल कर अपनी यात्रा पूरी करनी है । तीन रात्रियों तक धर्म में रह कर, ज्ञान कर्म और भक्ति की धारा में स्नात होकर जब वह स्नातक के रूप में बाहर आता है तब देवता भी उसे इस उत्तराध हुये नवीन रूप में देखने के लिये एकत्र हो जाते हैं । जब ब्रह्मचारी इन समिधाओं को अग्नि में होम कर ब्रह्मधर्म के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके बृद्ध सकस्य में समर्पित होता है पुत्रिणी अन्तरिक्ष तथा सी लोका को भी समिधाओं का रूप दे देता है अर्थात् अपने पवित्र मानसिक तथा बौद्धिक सब को समिधाओं के रूप में प्रदीप्त कर देता है, तब वह प्रदीप्ति से कटिबद्धता अथवा सन्नद्धता से अपने धर्म अथवा कर्तव्य शक्ति से और अपने तप से वह तीनों लोकों को तृप्त कर देता है । उसका शरीर स्वस्थ होता है, उसका मन उत्साही होता है और उसकी प्रज्ञा ज्योतिष्मती होती है । अपने इसी साधन-सम्पन्न द्वारा वह बाहर के भी इनसे सम्बन्ध तीनों लोकों को तृप्त करता है । उसका संयम उसका ज्ञान और उसका आचार, उसकी उत्तम वाणी,

पवित्र आत्मा और शुद्ध हृदय प्राणी मान के लिये हितकारी सिद्ध होते हैं। जिस आचार्य के समीप रह कर उसने इस प्रकाश को उपलब्ध किया है वह स्वयं समीप तथा प्रकाशवान होता है।

उपनयन आचार्य के समीप रहने और ब्रह्मचर्य में प्रवेश करने का ही नाम है जिससे कुछ जक्ति उसे परम गुरु परमात्मा का स्मरण करावे। व्रत यम नियम और वेदाध्ययन उसमें दिव्यता का संभार करें और वह देवताओं के लिये पर्सनीय बन सके। आचार्यों ने इस संस्कार में द्वितीय जन्म का भी रूप देखा है। प्रथम जन्म माता पिता से है। इस द्वितीय जन्म में मायत्री माता है और आचार्य पिता है। जन्म ने जिस गर्भ का उत्प्रेषण किया है वह आचार्य के समीप ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने का समय है। मनु ने इसे मौजीवन्धन भी सिखा है। व्रतबन्ध भी इसका एक नाम है। व्रती और ब्रह्मचारी बन कर ही मानव अपनी सध्य की सिद्धि करता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार—

उपनीय युः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।

वेद मम्या प देवेभ्यं सौवा चाराश्च शिष्ययेत् ॥

या०स्मृ०/१ १३ ।

कुछ शिष्य को महा व्याहृतियों के साथ वेद का अभ्यापन कराता है तथा पवित्रता और सदाचार को उसके जीवन का अंग बना देता है। प्रायः सभी आचार्यों ने इस संस्कार की महत्ता को स्वीकार किया है। संस्कृत व्यक्ति अपने ऐहिक एवं सामुदायिक जीवन को पवित्र बनाता है तथा ऋषियों और देवों का साभिप्य प्राप्त करता है। इस प्रकार उपनयन संस्कार प्रत्यक्षतः जीवन की संस्कृति से सम्बद्ध है। जीवन को कठोर अनुशासन में रखना बुद्धतापूर्वक समय की प्राप्ति में बूटना और पुरातन अभिमान जीवन के स्थान पर नवीन आध्यात्मिक जीवन की ज्योति जगाना इस संस्कार की सांस्कृतिक विभूति का निर्वर्तनमान है।

समाज में सभी व्यक्ति एक ही स्तर के नहीं हैं। कोई मन्द बुद्धि है तो कोई प्रखर-बुद्धि-सम्पन्न है। किसी को व्यापारिक गणित में बसता है तो कोई वीर-सन्तान में संलग्न है। हमारे ऋषियों ने इसी प्रकार की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण समाज को चार भागों में विभाजित किया है। मन्द बुद्धि वाला किसी बुद्धिमान के संकेत से शारीरिक श्रम कर सकता है। उसमें स्वतः सोचने और विचारने की शक्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्ति पवित्रता से भी कोई विशेष लगाव नहीं रखते। इन्हें मूढ़ कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति नयी सांस्कृतिक विकास के द्वार में भी प्रवेश करने के अक्षम होते हैं। परन्तु हमें भी जो अपने विशिष्ट शारीरिक कार्य में कौशल प्राप्त करने के लिये बड़ा सा भी चिन्तन और मनन करते हैं वे विकास की रेहड़ी पर पग रख सकते हैं। अथ मूढ़ वर्ग के कठिपय भ्रमजीवी विभागों को संस्कार-संपन्न किया जाता है। व्यापार में बुद्धि की आवश्यकता रहती है। जनोपार्जन में धन के

सदुपयोग की ओर भी ध्यान जाता है। उद्योग धर्मों के साथ बाग सगबाना कृषि बाटिका का निर्माण कराना आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे समाज को लाभ पहुँचता है। अतः यह वर्ग भी सांस्कृतिक विकास के पथ पर पूर्व से ही चलता आया है और संस्कार तथा दीक्षा का अधिकारी है।

दीन-समाज में मन के साथ हृदय का भी योग रहता है और संस्कृति के उच्च स्तर की अभिव्यक्ति करता है। इनसे भी ऊपर वह बुद्धिजीवी वर्ग है जो चिन्तन के ऊर्ध्व स्तरों में विचरण करता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष से प्रेम करता है और इसी हेतु सांसारिक आसक्ति से पराङ्मुख रहता है। ये दोनों ही वर्ग सांस्कृतिक भवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। संस्कार और दीक्षा आभूषण में इनके सिमे बिदेय। सहायक सिद्ध होते हैं। इस भीमांसा को ध्यान में रखा जाय तो हमारे पूर्वजों ने शूद्र व्यतिरिक्त व्यक्तियों को जो द्विज की संज्ञा दी है, वह शार्ङ्ग सिद्ध हो जाती है। उपनयन का अधिकारी द्विज को ही माना गया है। व्यक्ति की द्विज संज्ञा भी उपनयन के साथ ही प्रारम्भ होती है। माता-पिता से जन्म लेकर भी जब तक कोई व्यक्ति सननीत नहीं हो जाता तब तक उसे द्विज की संज्ञा नहीं दी जाती।

बुद्धि के विभिन्न स्तरों के कारण उपनयन का समय भी भिन्न भिन्न है। गृह्यसूत्र कार्यों में ब्राह्मण के बालक का अष्टम वर्ष की आयु में और वसन्त ऋतु में—खनिज बालक के लिये नवम से ११ वें वर्ष में तथा व्रीह्यऋतु में और वैश्य के बालक का बाह्य ११ वें वर्ष में तथा शरद ऋतु में यज्ञोपवीत करना सिद्धा है। परिस्थितियों को देखते हुये इस अवधि को बढ़ा भी दिया है और सिद्धा है कि ब्राह्मण बालक का सोलह वर्ष तक खनिज बालक का २२ वर्ष तक और वैश्य के बालक का २४ वर्ष की आयु तक यज्ञोपवीत हो जाना चाहिये। इसके उपरान्त विकास का अवसर कम है और इस बात की सम्भावना है कि संस्कृति के जिस स्तर तक वे पहुँच चुके हैं वहाँसे पठित हो जायें। भगु ने नियत अवधि में भी कुछ परिवर्तन किया है और सिद्धा है—

ब्रह्म वर्चस्व का सत्य कार्य विप्रस्य पंचमे ।

राज्ञो वताचिनः पष्ठे वीश्यस्ये ह्वाग्निमोऽष्टमे ॥१॥

ब्रह्म वर्चस्व की कामना वाले ब्राह्मण बालक का पाँचवें वर्ष में बलवान होने की इच्छा रखने वाले खनिज बालक का छठे वर्ष में और अनीतिक समुद्रि की कामना वाले वैश्य बालक का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत कर देना चाहिये। यदि माता और पिता ने ब्राह्मणपूर्वक संस्कृत जीवन व्यतीत किया है तो इनके बालक भी भगुप्रोक्त आयु में ही वीक्षित होकर श्रेष्ठ बुद्धि श्रेष्ठ बल और श्रेष्ठ वन के बनी वन सकते हैं। अतएव ब्राह्मणकार ने समयके सम्मान में छूट दे दी है और सिद्धा है कि यज्ञोपवीत सभी ऋतुओं में हो सकता है। ऐसा कुछ आचार्यों का मत है।

जिस विम बालक का यज्ञोपवीत करना है, उससे तीन दिन पहले एक दिन पूर्व बालक को ब्रत रखना चाहिए। इस व्रत में ब्राह्मण का बालक पयोव्रती हो अर्थात् दुग्ध पीकर रहे अघ्रादि का सेवन न करे। खनिज का बालक यथायुव्रती हो अर्थात्

और के बगिये में कुछ भिन्न कर गये। बैरव का चानक आगिजा यही हो बर्बाद भी चण्ड का सेवन करके रहे। यही चण्ड में एक भाग दूध और चार भाग दही रहता है तथा उसमें यथायोग्य चर्करा और केसर डाली जाती है।

उपनयन के दिन पूर्व मैदानाचार्य आचार्य के समीप जाता है। उस दिन धीरे धीरे कर कर स्नान कर सेवा है और उत्तम वस्त्र पहन कर तथा मिष्ठान्न भोजन करके यज्ञ वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठता है। आचार्य से कहता है 'मैं ब्रह्मचर्य के लिए आपके पास आया हूँ। आप क्या करें जिससे मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचार्य उत्तर में कहता है 'बृहस्पति ने जिस कन में इन्द्र को अमृत चरन पहनाये थे उसी प्रकार मैं तुमो दीर्घायु वल और वर्षस्व के लिए वस्त्र पहनाता हूँ। ऐसा वस्त्र कर आचार्य यज्ञोपवीत हाथ में लेकर निम्नांकित मन्त्र पढ़ता है—

“ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापते र्यस्तहर्षं पुरस्तात् ।

आयुष्यं मयं प्रतिमुञ्च शुभं यज्ञोपवीतं वलं मस्तु तेजः ॥१॥

यज्ञोपवीतं ममि यज्ञस्य तथा यज्ञोपवीतेनो यनहृष्टानि ॥२॥

॥ पार० का० २ ॥

यह यज्ञोपवीत परम पवित्र है और प्रजापति के सम्मुख तुम्हें सहज भाव से पहुँचाने जाता है। यह आयुष्य-प्रदायक है, आगे बढ़ाने जाता है। शुभ है। तुम इसे धारण करो। यह तुम्हें वल और तेज प्रदान करे। तुम आज यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञ के योग्य बन गये हो। इस यज्ञोपवीत से मैं तुम्हें यज्ञोपवीती बनाता हूँ, यज्ञ कर्म में आवद्ध करता हूँ।

जो व्यक्ति यज्ञ के लिए समर्पित हो गया, उसी का जीवन जीवन है। माता पिता से जो बन्ध होता है, उसका होना न होना इस जीवन के सामने नग्न है—

अजातो ह वै तावत् पुरुषो वायव्यव्रते ॥ “शत० पा० २/३/४

यज्ञ के लिये वीरित हो जाता यज्ञोपवीती होना है अर्थात् वास्तविक जीवन में प्रवेश पाना है। देव कर्म में द्विज उपवीती होता है अर्थात् यज्ञोपवीत को बायें स्कन्ध के ऊपर कंठ के पास से निकाल कर बाहिने हाथ के नीचे कटि तक धारण करता है। पितृ कर्म में द्विज प्राचीनावीती होता है, जिसमें यज्ञोपवीत का यह कम उभट जाता है अर्थात् बाहिने स्कन्ध से बायें हस्त के नीचे कटि पर्यन्त यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। अग्नीष के समय यज्ञोपवीत नाम में सटका लिया जाता है जबका उसे दोहरा करके घीवा में सटका सेते हैं। इस अवस्था को निवीती कहा जाता है।

उपनयन संस्कार में आचार्य आत्मक का नाम पूछ कर उसकी बगिय हस्ता-यति को कुछ वल से भरता है। फिर अपनी हस्तायति वल से भर कर उस वल को

बासक की अंजलि में छोड़ देता है और बासक की हस्तांजलि को अंगुष्ठ सहित पकड़ कर निम्नांकित मन्त्र पढ़ता है —

देवस्य त्वा सविता प्रसवेऽविबन्धी बभ्रुम्यां पुष्पो हस्ताम्यां

हस्तं पुह्वाम्य सौ ॥१॥ म० अ० २५० २६ ॥

असौ के स्थान पर बासक का नाम सम्बोधन में लेकर हस्तांजलि के जल को नीचे पात्र में छोड़ा जाता है। इसी प्रकार तीन बार, जल छुड़वाया जाता है।

मंत्र के अनुसार आचार्य बासक के हाथ को पकड़ता है और अपने को सविता तथा अग्नि के रूप में उपस्थित करता है। इसका भाव यह है कि जैसे सविता प्रकाश प्रद है, प्रेरक है उसी प्रकार मैं भी बासक को प्रेरणा तथा प्रकाश देता रहूँगा। आचार्य का ज्ञान तथा आचरण दोनों ही ऐसे हों जिनसे बासक सदाचार की प्रेरणा प्राप्त करे और ज्ञान के कोप को अपने मस्तिष्क में भरे। आचार्य को अग्नि का भी रूप दिया जाता है। अग्नि में भी वही उत्पन्न है जो सविता में है। बासक को सूर्य का वर्णन भी कराया जाता है और कहा जाता है 'हे देव सविता ! यह बासक ठेरा ही बड़ा भारी है। तू इसकी रक्षा कर। बासक को सूर्य के वर का अनुसरण करने की आज्ञा दी जाती है। सूर्य परम देव की आज्ञा का निरन्तर बिना किसी आपत्ति के पालन करता रहता है। वह इस कस्मान् पत्र पर सृष्टि के प्रारम्भ से बस रहा है। ब्रह्मचारी को भी इस कस्मान् पत्र का पक्षि बनना चाहिये।

आचार्य और ब्रह्मचारी दोनों के हृदय चित्त मन और बानी एक समान हों। बृहस्पति अर्थात् ज्ञान और बानी के स्वामी प्रभु ने दोनों को इसीनिमित्त निमुक्त किया है। हमारी प्राचीन परम्परा आचार्य को बहुत ऊँचा भासन देती है। आचार्य का हृदय शुद्ध होता है। उसका चित्त धुम धस्कारों से ओढ प्रोढ रहता है। उसका मन तब सकल्पमय होता है और बानी सुनूत एवं मधुर होती है। ब्रह्मचारी को भी यह सम्पदा प्राप्त करनी है। उसका बाह्य एवं आन्तरिक विकास इसी पद्धति पर चलने से होना। ब्रह्मचारी के सामने प्राण प्रजापति देव सविता जस ओषधि सावापूत्रिणी विश्वेदेव तथा समस्त प्राणि जर्म समुपस्थित हैं। वे ब्रह्मचारी के लिये हैं और ब्रह्मचारी उनके लिये हैं। बाह्य बाध मरम में जो कृष्ट है उसके साथ उसे तारतम्य स्थापित करना है, क्योंकि वह इनका सूक्ष्म रूप अपने साथ लिये हुये है। इसका संस्कार मानों उसी का संस्कार है। इसकी उपस्थिति नामों ब्रह्मचारी की आत्मीयता है। इसी की सन्निधि कति उस परास्पर शक्ति के साथ एक करेगी।

उपनयन की विधि समाप्त होने पर ब्रह्मचारी को तीन दिन तक संयम का जीवन म्पटी करना पड़ता है। वह भूमि पर शयन करता है, शार रहित भोजन करता है मोक्ष और मद्य से पूवक रहता है। दिन का शयन उसके लिये मर्जित है। यह उपनयन के पश्चात् तब प्रकार से सरस्वती माता के गर्भ में प्रवेश करने की तैयारी

है जो संस्कार की उस दिशा की ओर संकेत करती है, जिसमें आध्यात्मिक संस्कृति का आलोक विकीर्ण हो रहा है ।

## ११ वेदारम्भ

उपनयन का मुख्य प्रयोजन है ब्रह्मचारी को आचार्य के पास से जाना अपना परम गुरु प्रभु की समीपता प्राप्त कराना । इसके लिये पूर्ण काल में मुगम साधन था । वेद का अध्ययन करना, जो आचार्य के समीप रह कर ही किया जा सकता था । हमारे पूर्वजों ने वेद को स्वतः प्रमाण माना है । उनकी दृष्टि में वेद प्रभु की वाणी है, वर्म का मूल है और मानव को ज्ञान, धर्म एवं भक्ति की विद्या देकर आरम्भ करने वाला है । मनु न वेद को पितृ वेद और मनुष्यों का सनातन वस्तु कहा है । जो द्विवेद को छोड़कर अग्न्यश्व यम करता है वह द्विवेद कहलाने का अधिकारी नहीं है । वेद वह शास्त्र है जो द्विवेद के कर्तव्य कर्मों का विधान करता है । इसे छोड़ कर जो स्वेच्छा से कर्मनिरत होता है, उसे सङ्गति प्राप्त नहीं हो सकती । अतः उपनयन के साथ ही वेद का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था ।

जैसा हम पूर्व संकेत कर चुके हैं ऋक् भू है यजु मूष है और साम स्व है । पृथिवी स्थानीय अग्नि भूय स्थानीय वायु और स्व स्थानीय सूर्य है । वेदारम्भ के समय इन्हीं देवों को आहुतियाँ दी जाती हैं । अथर्ववेद को सुवेद सोम वेद अथवा अग्न्यात्म वेद कहा जाता है । इसके लिये सोम वेद के नाम पर चन्द्र को आहुति दी जाती है जो आध्यात्मिक प्रवेश की मूर्धिका का सूचक है ।

प्रारम्भ में वेद का अध्ययन अथर्व द्वारा ही सम्पन्न होता था । वेदांग उपवेद तथा ब्राह्मण श्रुत परवर्तीकाल की उत्पत्ति है । साक्षात् कृतधर्मी ऋषियों ने वेद रहस्य के समझने में असमर्थ व्यक्तियों के लिये इनका निर्माण किया है । अतः अध्ययन के क्रम में यह भी सम्मिलित हो गये ।

उपनयन में ब्रह्मचारी को इस वेद निधि, यज्ञ अथवा वेद के रसक बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है । वह बृहस्पति वेदस् अग्निदेव के लिये हाथ में अग्निबा लेकर बड़ा होता है और उससे मेधा तथा सांस्कृतिक वर्धन को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है । प्रकाश स्वयं प्रभु उसे वायु से वर्धन दे और जो कुछ उसके अन्दर स्थित है उसे पूर्ण करे । सबका प्रेरक प्रभु सविता उसे मेधावी बनावे । रस वती सरस्वती देवी उसे वारणावती बुद्धि प्रदान करे । हिरण्य वर्म करी कमल से उत्पन्न अश्विनदेव अथवा धावा पृथिवी उसे मेधा से ओतप्रोत करे । उसकी वाणी, श्राव, वस्तु और यज्ञ तथा वस पुष्ट हों ।

वेद का प्रारम्भ गायत्री मंत्र के उपवेद के साथ प्रारम्भ होता है । गायत्री मंत्र का वेदमयी का सार कहा जाता है । ओषध मूल मन्त्र है । उसकी तीन भाषाओं अथवा मूर्तियों व्याहुतियों भू, भूय, स्व में विकसित हुई है और इन्हीं तीनों की परिणति गायत्री के तीन चरणों में हुई है । गायत्री के तीन चरण ही मानों ऋक् यजु तथा साम के प्रतीक हैं । बालक आचार्य के सामने वेदी की उत्तर दिशा में बूटने के वस





कट्टे सीधे करीबे रेचक आदि द्रव्यों का सेवन न करना, बिछा ग्रहण में मित्य यत्न सीम होना सुसीम मित्रभापी एवं सम्य बनना और आचार्य का प्रिय आचरण करने रहना आदि सत्कर्म सम्मिश्रित हैं ।

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी यत्न कुण्ड की प्रवसिणा करता है और भाता पिता, मामा मौसी आदि से मित्रा मांमता है । मित्रा मांगने में भी वर्णानुसार ब्राह्मण का बालक कहता है —

भवान् वा भवती मित्राम् ब्रूयात् । अग्निं वा बालकं कहता है —

मित्रां भवान् वा भवती ब्रूयात् ' और वैश्य वा बालकं कहता है ' मित्रां ब्रूयात् भवान् वा भवती ' । इसके पश्चात् अग्नि कुण्ड में गायत्री आदि मंत्रों से आहुतियों की जाती हैं । अन्त में बालक आचार्य का अभिनन्दन करता है और आचार्य उसे सुजीर्ण कहता है ।

इस प्रकार उपनयन के साथ सांस्कृतिक जीवन में जिस प्रत्यक्ष प्रवेश का प्रारम्भ हुआ था वह बेहारम्भ में अपने मूल को सुदृढ़ करता है और बिम्ब बाप वैदिक संस्कृति को अपमाने में सहायक होता है ।

## १२ समावर्तन

उपनयन और बेहारम्भ दोनों तप साधन के संस्कार हैं । एक में ब्रह्मचर्य की साधना है तो दूसरे में ज्ञान की । जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर लिया वह समावर्तन के समय व्रत स्नातक कहलाता है । जिसने वेद पढ़ लिया, वह बिद्या स्नातक की उपाधि प्राप्त करता है और जिसने दोनों की योग्यता प्राप्त कर ली वह बिद्या-व्रत-स्नातक के नाम से पुकारा जाता है । सामान्यतः समावर्तन के समय ब्रह्मचर्य तथा वेद दोनों की समाप्ति समझी जाती है । स्नातक कस्मान के साथ इसके उद्बोध का अधिकारी हो जाता है । ब्रह्मचर्य अवस्था में वह आचार्य कुल में रखा है और तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करता रहा है । इस तप से जो तेज उसे प्राप्त हुआ है वह उसके रोम रोम से अंग अंग से अभिव्यक्त हो रहा है । अश्वमेध के नीचे सिधे मंत्र में इसका विनाश वर्णन उपलब्ध होता है—

तानि कण्ड्वं ब्रह्मचारी सत्तिलस्य पृच्छे तपोऽतिष्ठतस्य मातः समुद्रे ।

समातो बभूवः पिपला पुषिष्यां बहु रोचते ॥

—अथर्व० का० ११ प्रपा० २४ म० १६ म० ३६ ॥

जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान भग्नीर तथा खेच्छ ब्रह्मचर्य के व्रत में प्रतिष्ठित होकर तपश्चर्या पूर्णक वेद का स्वाध्याय, भीर्य निग्रह तथा आचार्य के प्रिय आचरण आदेश-मासन आदि कार्यों को पूरा करता हुआ पूर्ण बिद्या से युक्त होता है और सुन्दर चर्य-धीप्ति से युक्त होकर अपने पुन कर्म और स्वभाव से इस धराधाम पर प्रकाशित होता है वह समर्थ ब्रह्मचारी है और समाज के लिये अतीव हितकारी है ।

समावर्तन के दिन ईश्वरोपासना स्वस्ति वाचन और शान्तिकरण के द्वारा एनाम चित होकर यज्ञ का विधान पूर्ण किया जाता है। इस समय आठ बड़े वेदी के उत्तर भाग में कुछ जल से भर कर रखे जाते हैं। इन्हीं बर्तनों के जल से ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता है। प्रथम एक बर्तन से फिर दूसरे बर्तन से, फिर तीस बर्तनों से और चौथी बार बचे हुए तीस बर्तनों के जल से स्नान किया जाता है। स्नान विधि का प्रभाव मित्राक्षि संज्ञ में स्पष्ट किया गया है —

ओ३म् ये अप्स्वत्तरामयः प्रविष्टाः ।

गोह्यग्न्यग्नोह्यो मयूषो ममोहास्वत्तो ।

विष्वक्स्तन् नुषु रित्रियहातान्

विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि

—पार० का० २/४ १ ॥

अभी तक ब्रह्मचारी उपर्युक्त की अग्नि में जलता रहा है। अब उसे समाज जीवनता की ओर ला रहा है। अग्नि सूर्य में भी है परन्तु वह जल के अन्दर भी प्रविष्ट है। सौराग्नि जलाती है परन्तु अर्वाग्नि नुष्ट तथा गुप्त रह कर अपनी किरणों से शरीर को भीरोम बनाती है। ब्रह्मचारी की इन्द्रियाँ अब तक निग्रहीत रही हैं। आज समावर्तन के समय ब्रह्मचारी इन मारक तथा शोकक तत्वों को छोड़ रहा है और छिपी हुई जमीन अग्नि उसे जल स्नान द्वारा शोक कल्याण के सिधे, अनहित घातक पद्धतियों में भाग लेने के सिधे उद्यत कर रही है। इसके सिधे उसे समस्त मौकिक श्रु गार प्रसाधनों से समुक्त होगा है। उप और तेज के अर्जन के स्नान पर उसे अपनी अविष्ट सम्पदा सामाजिक हित में व्यक्त करनी है। ग्रहण और त्याग अर्जन और व्यय सम्भूति और विनाश दोनों कार्य संस्कृति में साध साध चलते हैं और जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाते हैं। स्नातक इसी विषय पत्र का पत्रिक है। आचार्य कुल से विद्या और घट का जल लेकर अब वह अपने पितृ कुल की ओर लौट रहा है जहाँ इनके प्रयोग का उसे पूर्ण अवसर मिलेगा।

आचार्य कुल से समावर्तन करने का केवल उन्हीं ब्रह्मचारियों को अधिकार था जो गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के योग्य होते थे। जो स्वेच्छा से अपना आयुर्वेद की दृष्टि से गृहस्थ में प्रवेश करना नहीं चाहते थे वे जीवन पर्यन्त आचार्य कुल में ही निवास करते थे। स्वेच्छा से गृहस्थ का परिव्राम करने वाले वैदिक ब्रह्मचारी कहलाते थे। आयुर्वेद की दृष्टि से अपने बूढ़े होने लगे, मरुसक आदि रोषियों के सिधे वैवाहिक जीवन व्यतीत करना उचित ही नहीं था।

समावर्तन के समय आचार्य कम हो झूटा ही है उसके साथ मेखला दण्ड जटा साम गद्यादि भी छोड़ने पड़ते हैं। स्नातक गृहस्थ की सफाई से दण्ड धारण करता है। मुसंधित द्रव्यों को शरीर पर मथता है। पीताम्बर धारण करता है। श्रेष्ठ वस्त्र, उपवस्त्र, माया तथा अर्धशर धारण करता है। अंत में अर्जन समाता

है। स्वर्ण में भुज देवता है। स्रज धारण करता है। उपानह अर्थात् जुते पहनता है तथा बांस का पंख हाथ में लेता है।

आचार्य कृम से बिदा लेने पर उसे आचार्य को दक्षिणा भी देनी पड़ती है। जिस युव ने इतने बिनो तक अपने पास रख कर ब्रह्मचारी का जो सामन-पालन तथा शिक्षण किया है उसे संस्तुत शिष्ट और सोक व्यवहार के योग्य बनाया है उस आचार्य को ब्रह्मचारी दे ही क्या सकता है। पृथ्वी पर ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसे देकर वह युव से प्रभू हो सके। फिर भी स्नातक कुछ न कुछ देता ही था। कुछ न हो तो दक्षिणा की प्रतीकरूप सौंप तो हैं ही। इसका शास्त्रिय यह नहीं है कि आचार्य सोमवय स्नातक से कुछ न कुछ लेता ही था। वह तो इतना उबार होता था कि ब्रह्मचारी के सद्गुण-सम्पन्न जीवन से ही संस्तुष्ट हो जाता था। आचार्य और स्नातक दोनों का संबंध स्नेह और भ्रष्टा का सम्बन्ध था। यह ऐसा सम्बन्ध था कि जिसे वैमन-विज्ञाओं के अम्बार भी तोड़ नहीं सकते। आत्मा का आत्मा से यह सम्बन्ध स्नातक को तो ऊंचा उठाता ही था आचार्य को भी विकास के ऊर्ध्वतम शिखर पर प्रतिष्ठित कर देता था।

समावर्तन संस्कार आज नम का दीक्षास्त तथा उपाधि-विस्तरण समारोह है। इस समय तैत्तिरीय उपनिषद् से निम्नांकित वाक्य पढ़ कर स्नातक से जो प्रतिज्ञा कपाई जाती है, वह भी ध्यान देने योग्य है। आचार्य कहता है—

“ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च । सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च । तपश्च स्वाध्याय । इन्द्रश्च स्वाध्याय । समश्च स्वाध्याय । अमरश्च स्वाध्याय । अग्नि होत्रं च स्वाध्याय । सत्यमिति सत्य ब्रह्मराशीतरः । तप इति तपो नित्यं नीवसितिष्ठिः । स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद् यस्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥

॥३॥ तैत्तिरी० प्रपा० ७ । अनु० ९ ॥

हे स्नातक ! तू ऋत को नैतिक नियम को अपने अन्तर धारण कर । वेद का स्वाध्याय और अध्यापन तत्परता से करता रह । तू सत्य अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था और नियमों का पालन कर । साथ ही स्वाध्यायशील बन और दूसरों को भी बना । तप दम और काम तेरे स्वाध्याय और प्रवचन के साथ निरन्तर घेरे छावी रहें । अग्नि विज्ञा तुझे पार्थिव अन्तरिक्षीय तथा धी-स्वान्तीय अग्नि विद्युत् और सूर्य का स्मरण कराती रहे । अग्निहोत्र तेरे घर में निरन्तर होता रहे । रशीतर के पुत्र सत्य ब्रह्म ने सत्य को इन सब में गुर्धन्य स्वाध्याय किया है । पुराणिष्ठ के पुत्र तपोनित्य के मठ में तप ही सब कुछ है और भुद्वयस के पुत्र नाक की वृष्टि में स्वाध्याय और प्रवचन ही सत्य और उपकार है । इस तप को तू अपने जीवन का अंग बना । ऋत तप है सत्य तप है, द्युत अर्थात् वेद-शास्त्रादि का पठन तप है । नास्त रहना और अधर्माचरण में अपने को न जाने देना दम अर्थात् इन्द्रियों को वृष्टाचार से रोकना जोम के परि त्याग पूर्वक विद्यादि शुभ गुणों का ध्यान करना, यज्ञ करना यह सब भी तपका है ।

विद्वानों का उत्सव भित्तों की के बिनाग को हृदयवम करना, प्राप्तायाम मोयाम्यास तथा प्रभु की उपासना करना सब तप के हैं विभिन्न रूप हैं । इस तप से अपने को समुक्त करना तुम्हारा परम धर्म है ।

हमारे भी जो प्रशंसनीय कर्म हैं, उन्हीं का तुम्हें सेवन करना है ज्यों का नहीं । हमारे सुचरित ही अनुकरणीय हैं, इतर नहीं । हमारे बीच जो धर्मात्मा, भेष्ट ब्रह्मवेत्ता विद्वान हैं उन्हीं का तुम्हें आदर करना है ।

इस प्रकार की शिक्षा जिस स्नातक के जीवन का बंध बन सके वह धर्म है ।

## १३ विवाह

मनु का आदेश है—

युक्तायुक्त स्नात्वा समावृत्तो यथावस्थितः ।

उदहेत द्विजो भार्या सवर्णा ससत्वा निवृत्ताम् ॥ मनु० ३/४/

युव की अनुमति पाकर और विधि पूर्वक समावर्तन संस्कार करके स्नातक द्विज ब्रूम भक्तों से युक्त अपने वर्ण की भार्या के साथ विवाह करे । विवाह सांस्कृतिक विधान में अनिवार्य कर्तव्य के रूप में सम्मिलित है । सामान्यत सभी स्नातकों को ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ में जाना चाहिये । संस्कृत व्यक्ति अनात्मही नहीं हो सकता । यदि वह विवाह नहीं करता है और नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करना चाहता है ( जिसके उदाहरण इतिहास अपवाद रूप में ही प्रस्तुत करता है ) तो भी उसे आत्ममत्त होना ही पड़ेगा ।

स्त्री और पुरुष का एक युग्म है । पुरुष स्त्री के बिना और स्त्री पुरुष के बिना पूर्ण नहीं है । दोनों अर्द्धांग हैं । दो अर्द्धांगों के मिलने से ही पूर्णता की प्रसिद्ध होती है । सात सम्प्रदाय वाले यद्यपि शक्ति की मूर्धन्य स्थान देते हैं परन्तु द्विज के सम्पर्क से उसे वंचित नहीं करते । द्विज का विराज्य उनकी अर्द्धांगिनी शक्ति के कारण है । जैसे ब्रह्म और उसकी माया मिस कर ही सृष्टि रचना में समर्थ होते हैं वैसे ही पुरुष और स्त्री मिस कर प्रजातन्त्र को जाने बढ़ाते हैं । सृष्टि यज्ञ पुरुष द्वारा उत्पन्न हुई है और इसी हेतु वह यज्ञकर्म है । इस यज्ञ की साधना भी एकाकी पुरुष के द्वारा सम्भव नहीं है । वह सपत्नीक यन्त्रमात्र ही कर सकता है । वह पुरुष का विवाह नहीं हुआ वह पत्नी के अभाव में यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है । जो व्यक्ति लयज्ञ है वह समाज में सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता । विवाह जीवन में एक स्पष्ट यज्ञ का रूप है । अतः प्रत्येक स्नातक इस यज्ञ में भाग लेना चाहिये । श्रुति अपाठनी कहती है—

अनुवाः अस्मिन् अनुवाः परस्मिन् तृतीये लोके अनुवाः स्थान ।

हम इस लोक में अनुवा हों दूसरे लोक में अनुवा हों और तीसरे लोक में अनुवा हों के साथ ही हम तीन विषय ज्यों में आबद्ध हो जाते हैं ।

सबसे पहला ऋण माता और पिता का है। मेरा शरीर जो कुछ है, मेरे माता पिता की देन है। यह शरीर मुझे उनसे मिला है। अतः मैं उनका ऋणी हूँ। इसी शरीर के द्वारा मुझे जीवन-यात्रा पूरी करनी है। इस ऋण से मैं तभी मुक्त हो सकता हूँ, जब विवाह करके उनसे पार्थिव अणु (Protoplasm) तथा मानसिक अणु (Psychoplasm) को सन्तति उत्पन्न करके आये बढ़ा दूँ। सन्तान का अर्थ ही है—मसी भाँति फैलाना आये न जाना, विस्तार करना पितृ ऋण से उच्छ्वेद होने का यह प्रमुख साधन है। माता पिता की सेवा करना भी उनके ऋण से मुक्ति पाने का सुयम साधन है। परन्तु सन्तति का प्रसन्न केवल मेरे माता पिता से ही सम्पन्न नहीं रहता वह एक सम्पत्ति परम्परा के साथ अनुस्यूत है। आश्विनवार के समय यह प्रतिवामह तक का स्मरण करा देता है। पितृ-आश्विन में भी प्रतिवामह तक को भूखा समर्पित की जाती है। परन्तु है यह सून धीरे और यह मेरे बंस के सून पुत्र्य तक सम्बन्ध है।

माता-पिता से जन्म मिला गया शरीर प्राप्त हो गया, परन्तु इस शरीर का पोषण कैसे होता है? जिस अन्न का मैं सेवन करता हूँ वह कहाँ से आता है? विद्वान्वासी कहेंगे कि अन्न का उत्पादन पृथिवी जल वायु और सूर्य पर अवलम्बित है। इनमें से एक भी अनुपस्थित हो तो अन्न उत्पन्न नहीं होगा। वेद इन सबको वेद संज्ञा प्रदान करता है। पृथिवी देवता है जल देवता है, वायु देवता है सूर्य देवता है। इन देवों का ऋण भी मेरे ऊपर प्रचुर मात्रा में है। इस ऋण से भी मुझे उच्छ्वेद होता है। यह देव ऋण दूसरे लोक से संबंधित है। एक ऋण तीसरे लोक का भी हम सबके ऊपर है। यह तीसरा लोक ब्रह्मा का लोक है। ब्रह्मलोक के इस लोक में जो ऋषि विचरते हैं जिन्होंने अपनी ज्ञान सम्पदा का बहुतेक पूर्व उद्योगदान हम सबको प्रभूतमात्रा में दिया है, जिनके विचारों से आज भी हम ज्ञान उठाते हैं और जिनके बिना एक पग भी आये नहीं बढ़ सकते हैं, उन ऋषियों के ऋण से भी हमें मुक्त होना है। विवाह संस्कार का पुत्रोत्पत्ति कमी सत्य पितृ ऋण से मुक्त करता है। अग्नि होत्र जिसका विधान पंच महायज्ञों के अन्तर्गत प्रत्येक गृहस्थ के लिये किया गया है, देव ऋण से मुक्ति देता है और गृहस्थ स्नातक के पास जो विपुल बहु समुदाय अध्ययन के लिये आता है वह ऋषि ऋण से मुक्ति दिलाता है। इस प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करना ऋण-मुक्त होने के लिये अनिवार्य समझा गया है।

पुरुष सूत्रों के अनुसार किसी पुष्प लताज में विवाह करना शुभ समझा गया है। उत्तरायण और शुक्लपक्ष का समय भी विवाह के लिये शुभ समझा जाता है। कुछ जायायों की सम्पत्ति में विवाह सभी समयों में विहित है, आवश्यकता है धन और घर के वायु, कुल, स्थान शरीर और स्वभाव की परीक्षा करना। मनु के अनुसार—

असपिण्डा च या मातुर सयोजा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां वारः कर्मणि मधुने ॥

जो स्त्री माता की ६ पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वही द्विजों के सिधे विवाह करने योग्य है। मनु ने ऐसे कुलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना वर्जित माना है जिसमें उत्तम पुरुष विद्वान तथा स्वास्थ्य का अभाव रहा है। जिसके अंग या हस्तिनी के समान गति हो। कोमलांग हो उस स्त्री से विवाह करना मंगल प्रद है। मनु ने जाठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है—

साहूरी ब्रह्म स्तर्षेणार्यः प्राजापत्यस्तथाऽऽमुरः ।

याच्यर्षी राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽयमः ॥

इनमें ब्रह्म विवाह वह है जिसमें योग्य विद्वान पुरुष का सत्कार करके और उसे अपने घर पर बुला कर बस्त्रादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है। ब्रह्म विवाह में यज्ञ विधान तथा ऋत्विक् वरण की प्रमुखता है। इसमें भी अलंकृत कन्या ऋत्विक् को दी जाती है। आर्य विवाह में कन्या का पिता घर से गाय बैल के एक या दो जोड़े भेठा है और धर्म पूर्वक कन्यादान करता है। प्राजापत्य विवाह में कन्या और घर दोनों को यज्ञ सामा में सारो है और सभी उपस्थित महापुरुषों के सामने उन्हें मिलकर गृहस्वाभ्यस के कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के सिधे कहते हैं। ये चार प्रकार के विवाह उत्तम हैं। आमुर विवाह में आतिथ्य तथा कन्या दोनों को यथावश्यक वन दिया जाता है। याच्य विवाह में स्त्री और पुरुष दोनों स्वेच्छा से पति-पत्नी के संबंध में आवद्ध होते हैं। राक्षस विवाह में कन्या का बलात् हरण किया जाता है। पैशाच विवाह अत्यन्त निकृष्ट है। उसमें सोयी हुई, पागल या मला पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना है। अन्तिम चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतान निम्नित कर्म तथा नीच स्वभाव वाली होती है। अतः इन विवाहों से मानव को बचना चाहिये।

माता पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी कन्या का गुण-हीन ब्रुट पुरुष के साथ कभी विवाह न करें। मनु ने विवाह से पूर्व स्त्री के रजस्वला होने का भी उल्लेख किया है। रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष पश्चात् वर्षात् ऋतुर्न वर्ष में विवाह करना श्रेयस्कृत है।

विधान के अनुसार घर और बंधु दोनों को अपने अपने घर पर सुसज्जित एवं नूतन भोजन से स्नान करना चाहिए। फिर उत्तम वस्त्राभूषण वारण करके उत्तम आसन पर पूर्वामुमुख बैठ कर प्रभु की स्तुति और उपासना करनी चाहिए। इसी के साथ बलि होज की क्रिया करके घर तथा घर-आश्रम के पुरुष सामान सहित बंधु के घर की ओर प्रस्थान करें। जब घर बंधु के घर में प्रवेश करे तो बंधु तथा कार्यकर्त्ता घर का आदर सत्कार करें। बंधु के द्वार पर घर पूर्वामुमुख लड़ा रहे और बंधु तथा कार्यकर्त्ता उत्तरामुमुख लड़े रहे कर निम्नांकित सम्मान सूचक शब्द कहें—

आप सुचारु रूप से आसन ग्रहण कीजिए । हम आपकी अर्चना करेंगे ।” इस अर्चना में सर्व प्रथम वर को बिष्टर (आसन) प्रदान किया जाता है । बिष्टर को बिछाकर वर कहता है—

जैसे उद्यतों में ऊपर उठे हुआ में सूर्य प्रभूत है, वैसे ही अपने समानधर्मा पुरुषों में मैं हीर्वास्वामी हूँ । जो कोई मुझे गिराने की चेष्टा करेगा उसको मैं दबा दूँगा । इसके पश्चात् पाप पद्म-अंगनासन के लिए और अर्घ्य मुक्त प्रदामन के लिए दिया जाता है । तीन बार आचमन कर के वर को मधुपर्क दिया जाता है । मधुपर्क में दही, घी और गृह्य सम्मिश्रित रहता है । यदि १२ तोसा दही हो तो चार तोसा गृह्य और चार तोसा घी मिश्राना चाहिए । मधुपर्क दाहिने के पाय में रखा जाता है जिससे पातु बिकार उसमें न आ सके । वर मधुपर्क को अपने दाहिने हाथ में लेता है और उसे देखता है । फिर वाम हस्त में लेकर मधुपर्क की ओर देखता हुआ दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से उसे तीन बार बिसोता है फिर क्रमशः पूर्व, दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में उसके छीटें देता है । इसके उपरान्त तीन बार ऊपर की ओर फेंक कर उसके तीन भाग करता है और तीनों में से बाड़ा २ खाता है । शेष बचे हुए को या तो सेवक को दे देता है या जब में खास देता है । इसके पश्चात् दो आचमन तथा इन्द्रिय स्पर्श करके योदान ग्रहण करता है । योदान के पश्चात् कन्यादान की बिधि होती है जिसमें वर के हाथ में हुयेसी ऊपर किए हुये कन्या का दक्षिण हाथ रख दिया जाता है । इसी समय साक्षात्कार भी होता है । कन्यादान के अतिरिक्त जब तक की समस्त बिधि आयों की श्रेष्ठ सम्मता की सूचना देती है । सम्य सम्राज में एक मानव दूसरे मानव का और वह भी वर में आये हुए अतिथि का सम्मान करता ही है । यदि नहीं करता तो उसे सम्य मानव का अभिमान नहीं दिया जा सकता । भारत वर्ष इतिहास में अतिथि संस्कार के लिए प्रख्यात रहा है । यहाँ जब मांगने पर हुण दिया जाता रहा है । फाहिमान जैसे बिदेसी पर्यटक इस विषय में भारत वर्ष की मूल कठ से प्रशंसा करते हैं । सम्मता के साथ बिधि में सांस्कृतिक भावना भी छिपी हुई है । जब हम किसी का सम्मान करते हैं वह भी औपचारिक दृष्टि से नहीं प्रत्युत आन्तरिक भाव से समन्वित होकर, तो निश्चित रूप से इन सांस्कृतिक विकास की उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित होते हैं । इसी के साथ कृतासन व अर्घ्य की रक्षा के लिए अतीव उपयोगी पदार्थ है । मधुपर्क स्वयं शारीरिक स्थितियों की पूर्ति करने वाला और पवित्र मन का निर्माता है । सांस्कृतिक विकास के लिए दोनों ही उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं । कन्या दाग बिधि के अन्तर्गत एक पुनीत आदर्श की प्रतिष्ठा करता है । कन्या जिस वर में उत्पन्न हुई है वह उस वर में न रहे वर परचमे वर का सर्वस्व बनने जा रही है । वह जिस वर की पुष्टि है उसका हित उस वर में नहीं किसी दूर देश में है । सास्क ने बुद्धि का निर्वाण 'बुद्धिवा दूरे हित' कह कर किया है ।



कन्या का हित-साधन पिता के लिए बु-साध्य होता है। उसके पित्त का टुकड़ा किसी दूसरे देश में जाकर अपरिचित परिवार के सदस्यों में बुरा मिल सकेगा या नहीं, इसकी चिन्ता उसे अहर्निश रहती है। पर विधि का विधान कितना विचित्र है! कन्या इस अपरिचित परिवार के स्नेह-बन्धन में ऐसी बाध हो जाती है कि उसे अपने पितृ कुल का प्राय विस्मरण ही हो जाता है। सम्मान होने पर तो उसका सारा मोह सब ओर से सिंचकर उसी में केन्द्रित हो जाता है। पीछे हम मिल चुके हैं कि विवाह की प्रथा दो हृदयों को एक करने वाली है। ईत को मिटाकर जड़ित की ओर अभिमग्न हुआ जैसे संस्कृति के सज्जन स्तर का चोटक है। ऋग्वेद का निर्माकृत मन्त्र इसी भाव को उपमार्गकार द्वारा स्पष्ट कर रहा है—

ओ३म् सर्वजन्तु विश्वेदेवाः समायोहयामि तौ ।

सं मातरिश्वा स जाता समुपेक्षी वषातु नौ ॥१॥

मन्त्र सं० १०/सु० ५ ॥

यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वज्जन हमें आशीर्वाद दें जिससे हम दोनों के हृदय बल में मिले हुए बल के समान एक हों। इस सम्भावना में मातरिश्वा जाता तथा देवद्वी हमारी सहायता करें। जिससे हम एक दूसरे के लिए बुरा प्रेम को धारण करें। प्राण जैसे सबको प्रिय है जाता जैसे निजिज जगत् को धारण करता है और उपदेव देने वाला अपने ओटाओं से प्रेम करता है उसी प्रकार हम दोनों भी एक दूसरे को धारण करें, परस्पर प्रियाचरण करें और प्रेम पूर्वक एक होकर जीवन व्यतीत करें।

इस मन्त्र का पाठ करने पर अपने दक्षिण हाथ में बलू का दक्षिण हाथ लेकर बल कुण्ड की परिक्रमा करता है और कहता है— हे बरानने। तू अपनी इच्छा से मुझे वैसे ही प्राप्त हुई है जैसे तेजोमय सूर्य को बल विश्वायें और वायु प्राप्त होते हैं। परमेश्वर तुझे मेरे मन के अनुकूल करें और मैं भी तेरे मन के अनुकूल बनूँ। बलू भी कहती है—जब मेरी जीवन यात्रा का पन्थ मुझे आप जैसे पति की ओर से जा रहा है। मैं कम्पान करा तथा धरिष्टा होकर-आपके लोक को प्राप्त करूँ इसके पश्चात् प्रयाग होम की क्रिया होती है। वर के दक्षिण स्कन्ध का अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श करके बलू आहुतियाँ देती है। इन आहुतियों में बारह आभ्याहुतियाँ राष्ट्रभूत कहलाती हैं। तेरह आभ्याहुतियाँ अयाहोम के नाम से प्रख्यात हैं और अठारह आभ्याहुतियाँ अम्यातन होम के अन्तर्गत हैं। राष्ट्रभूत आहुतियाँ ब्रह्म और क्षत्र के रक्षण का निर्देश करती हैं। हमारा ज्ञान और हमारा कर्म दोनों अम्याहूत पति से बजते रहें तो हम अपनी ही नहीं अपने राष्ट्र की भी रक्षा कर सकेंगे। वह देश बल्य है। वही ब्रह्म और क्षत्र ज्ञान और बल देव और अग्नि प्रकाश और प्रामदता दोनों मिलकर बसते हैं। हमारे ऋक् अर्थात् विज्ञान यजु अर्थात् कर्म और साम अर्थात् मातृ सीनों में सामम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। अया होम में अन्तःकरण की विस्तृति प्रमुखरूप से वर्णित हुई है। इसका चित्त वाचनाओं और प्रमाणों का संसार है। हमारी चित्ति अर्थात् चेतना अथवा ज्ञान शक्ति हमें प्रज्ञा के प्रकाश की ओर से जाती है। हमारा आकूट और

साकृति, संकल्प और क्रियामयन, हमारा जाना हुआ और हमारी जानकारी, हमारा मन और हमारा सामर्थ्य, हमारे पाखिक यज्ञ, बृहत् और रश्मि और जैसे साम हमारी स्पष्ट भान्तरिक सम्पदा है । हमें साधनामतापूर्वक इस सम्पदा की रक्षा करनी है । मन्वातन होम में अग्नि, इन्द्र, यम, वायु, सूर्य, अन्न, बृहस्पति, मित्र, वरुण, समुद्र, अथ सोम सबिता रख लपटा बिष्णु, मरुत और पितर इन सबका स्मरण किया जाता है । वायु मंडल में विराजमान यह दिव्य शक्तिमां हमारी रक्षा करें ।

अग्नि देवताओं में प्रथम पूज्य है । वह हम दोनों को मृत्यु पात्र से मुक्त करें । हमारी दीर्घायु हो—हमारी गोद सुनी न रहे । वह भरी हुई हो । हमें सुन्दर मन की प्राप्ति हो । हमारा पथ सुगम हो । मृत्यु हमसे दूर हो । अमरता हमारी संमिती बने । हमारे मुहों में कमी कष्टदायक उच्छ्वास या भीत्कार न हो । सन्तति हमारे प्रामाण्य में प्रीति करें और हमारे जीवन को सीमनस्य से भर दे । ऐसी भावनाओं इन मन्त्रों में निहित हैं जिन्हें बोल कर आहुतियाँ दी जाती हैं ।

होम के पश्चात् पाणिग्रहण का विधान है । वर विधान के अनुसार पूर्वामिमुख बैठी हुई बधू के सम्मुख पश्चिमामिमुख खड़ा रहकर अपने वाम हस्त से बधू के बाहिने हाथ को ऊपर ऊँचाकर अपने दक्षिण हाथ से अंगुष्ठ तथा हस्तांगुलि सहित ग्रहण करता है और कहता है—सौमाम्य के लिये मैं तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ । तू मुझ पति के साथ बृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्नता तथा अनुकूलता पूर्वक जीवन चारण कर । ऐश्वर्य-सम्पन्न, न्यायकारी, सब के प्रेरक और विश्व के चारण करने वाले परमात्मा ने तथा दिव्य शक्तियों ने मुहामम धर्म के अनुष्ठान के लिये तुझको मुझे दिया है । बाब से हम दोनों एक ब्रह्म के प्रियाचरण करते हुये साथ साथ रहेंगे । ऐश्वर्य मुक्त मैं तेरे हाथ को पकड़ता हूँ । धर्ममुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को पकड़ता हूँ । तू धर्म से मेरी भार्या है और मैं धर्म से तेरा गृहपति हूँ । सबसे बड़े पासन करने वाले परमात्मा ने तुझको मुझे दिया है । तू मेरे द्वारा पोषण करने योग्य है । मुझ पति के साथ सन्तानवती बनकर तू सौ वर्ष तक मेरे साथ जीवन व्यतीत कर ।

हे कस्मान्नये ! हम दोनों समा-र्मन्त्र में विद्यमान विधान कथियों की आज्ञा से और सबसे महान परमेश्वर की प्रेरणा से शास्त्रसंग्रह में आज्ञा होते हैं । जैसे सूर्य की किरण अनेक प्रकार की रचना करने में समर्थ होती है वही प्रकार तू प्रजोत्पत्ति में समर्थ बने । इन्द्र अग्नि आकाश पृथिवी मातरिवा मित्र वरुण, भग, अश्विप, बृहस्पति, मरुत ब्रह्म और सोम जो प्रजनन शक्ति के चोतक हैं मेरी पत्नी को सन्तान द्वारा बढ़ावें । हे सुमानने । मैं कुल की वृद्धि को देखता हुआ मन से तेरे रूप में व्याप्त होता हूँ । जैसे ही तू भी मेरे अन्तर व्याप्त हो । मैं मन में तेरे प्रति जो भी परिचय करता हूँ । मैं जो कुछ भोग योग्यो तेरे साथ रहकर योग्य । तेरे साथ ही उत्कृष्ट व्यवहार में पुकार्य पूर्वक निवास करूँगा और इस पथ में जाने वाले पाली बधू शक्तियों को दूर करूँगा । वही प्रकार तू भी व्यवहार करेगी ।

५. बर-बधू का हाथ पकड़े हुये कुण्ड की प्रशिक्षणा करता है और कहता है—

मैं ज्ञानपूर्वक तेरा वनता हूँ । तू भी ज्ञानपूर्वक मेरी बन । मैं पूर्व प्रेम से तुझे अपनी बनाता हूँ । तू भी मुझे अपना बना । मैं साम हूँ तू अक है । मैं सौ हूँ । तू पुषिरी है । हम दोनों साथ-साथ रह कर तृप्ति-उत्पन्न बनें । प्रजा उत्पन्न करें । बहुत पुत्रों को प्राप्त करें जो धीर्धृवीर्भी हों । हम दोनों एक दूसरे के प्रिय प्रकाशमान तथा प्रसन्नचित्त रहें । सौ वर्ष तक देखें जियें और सुनते रहें ।

पाणिग्रहण के पश्चात् सिवारोह्य और साबा होम का विधान है । बधू का माई नाम हाथ में बानों से भरा सूप लेकर दाहिने हाथ से अपनी बहिन का दक्षिण पद पत्थर की सिंहा पर रखवाता है । उस समय बर कहता है—

३०. आरोहे ममवमा मममेव त्वं स्थिरा मम । अग्नितिष्ठ पुतम्यतोऽत्र वायस्य  
पुतमायत ॥१॥ पार० का० ॥१॥का० ६ ॥

इस पत्थर पर बड़ों और पत्थर के समान स्थिर हो जाओ । जन्मों को दबा दो और जो लघुता की इच्छा रखते हैं उन्हें नीचे गिरा दो । इसी समय बधू बर की हस्ताब्जलि पर अपनी हस्ताब्जलि रखती है और बधू का माई सूप वाले बानों में से दाहिने हाथ से जो बार भान लेकर बहिन की हस्ताब्जलि के ऊपर रखता है । फिर बधू और बर दोनों अपनी अग्निमिश्रित हस्ताब्जलि को झुका कर निम्नांकित तीन मंत्रों से उस बान की तीन आहुतियाँ देते हैं । यथा—

३१. अर्यमन् देवं कम्पा अग्निमयसत । सतोऽमर्यमा देव प्रेती नु चतु मा पते ॥१॥

३२. इयं नार्मुं दधते साक्षात्पापपतिका ।

आयुष्मानस्तु मे पतिरेवन्तां ज्ञातमो मम ॥२॥

३३. इमांस्तान्नाना वपाम्यग्नी समृद्धिं करुषं तत्र मम तुम्यं च संब्रततदग्निं  
रतु मम्यतामिय ॥३॥ पार० का० १/४० ६ ॥

मंत्रों का याव इस प्रकार है—

इस कम्पा से ज्ञानस्वरूप अर्यमादेव की अर्चना की है । यह अर्यमादेव मुझे इक्षर से मुक्त करे परन्तु पति से नहीं अर्थात् पति के साथ संयुक्त करे । साक्षात् पाप करने वाली अर्थात् आहुति देने वाली यह नारी प्रार्थना करती है कि मेरा पति आयुष्मान हो और मेरे ज्ञातिजन प्रकाशित हों । इन साक्षात्कारों की आहुति अग्नि में दी जा रही है जो मेरी और तुम्हारी दोनों की समृद्धि का हेतु है । यह सम्पाद तुम्हारे लिये है । अग्नि देव इसका अनुगोचन करें । इसी समय भुजग वाजिनीवती सरस्वती देवी की आराधना की जाती है । यह देवी बर-बधू की रक्षा करे और उन्हें समस्त प्राणियों के सामने प्रजा से सम्पन्न करे । जब मैं उस भाषा को पाठ्यंगा जो स्त्रियों का उत्तम यज्ञ है जो त्रिसंकेतित तथा वर्तमान समस्तजगत् अपना अग्नित्व बनाये हुये है । इसका पश्चात् बर-बधू एक दूसरे की हस्ताब्जलि पकड़े हुये मन्त्रकृद् की प्रशिक्षणा करते हैं । जवारोह्य से लेकर यज्ञ कुण्ड की प्रशिक्षणा तक

की बिधि बार बार की जाती है परन्तु चौथी बार में माहुति केवल एक ही दी जाती है और ॐ मगाय स्वाहा कह कर भूप की रोप वाली अग्नि में दास दी जाती है । प्रजापति वाली पृथाहुति देकर वर एकाम्ब म बभू के केशों को सम्ममता है । फिर समा मंडन में जाकर अग्नि बध्मन तथा सप्तपदी का विधान सम्पन्न होता है । सप्त पदी में वर बभू का दक्षिण पग उठवा कर बसने की आज्ञा देता है जिसमें ईशान बिम्बा की ओर वर और बभू दोनों साथ-साथ साथ पग पसते हैं । प्रथम पग गन्ध पर हय अथवा अश्व की प्रार्थना की जाती है । द्वितीय पग में ऋज अर्घत् बभू के लिये तृतीय पग में रायस्योप अर्घत् ऐरवर्ग की वृद्धि के लिये चतुर्थ पग में भुज के लिये पंचम पग में प्रजा या सन्तति के लिये छठ पग में श्वेतुर्बो व अनुकूल व्यवहार के लिये और सप्तम पग में सक्ता भाव के लिये निर्देश दिया गया है । सात पग पस कर दोनों यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करते हुये अपने-अपने आसन पर विराजमान हो जाते हैं परन्तु इस बार बभू वर के बामांग की ओर बैठती है । अग्नि बध्मन का भाव है वर और बभू का साम्प्रत्य सूत्र में बुद्धता से आबद्ध होना और दोनों का एक हाकर गृहस्थ धर्म का निर्वाह करना । दोनों अपने-अपने पृथक् अस्थिस्थ को पोरर इन विधान द्वारा एक होते हैं । इसी ऐश्वर्य में गृहस्थधर्म की सफलता समिहित है । बिधि में वर और बभू दोनों उठ कर सूर्य का दशन करते हैं और दोनों अपने-अपने दक्षिण हाथ से एक दूसरे के हृत्पत्र का स्पर्श करते हैं । वर बभू के चिर पर हाथ रख कर चिन्नूर से उसकी माँग भरता है । प्रजापति देव दोनों के हृत्पत्र और चित्त को एक करें । दोनों एक दूसरे की बाजी का एक मन होकर पासन करें । बाजे की बिधि में ध्रुव और अरुणती के भी दर्शन कराये जाते हैं । ध्रुव वर्जन का भाव है जीवन में बुद्धता और स्थिरता का लाना । वभू पति के कृम में द्रव्य होकर निवास कर । यह पद्धति समाक या पति पत्नी परित्याग का बसपुनक खंडन करती है । अरुणती का अर्थ है जिसको कोई रोक न सके । जैसे सूर्य पृथिवी और पक्ष अपनी-अपनी गति में बृद्ध हैं उसी प्रकार वर और बभू दोनों गृहस्थ धर्म में स्थित रहें । मंडान की अग्नि का प्रवाह पचयीला है इसे पार करने के लिये पति और पत्नी दोनों मया भाव में जाये बढ़ते हैं । वे अक्षिप्त को यहीं छोड़ देते हैं । तभी तो उन्हें अग्नि के उग पार रख हुये सिद्धत्व की उपलब्धि होती है । अन्त में समा सम्प में बंने हुए मनी मनी और पुरुष कल्याणकारिणी बभू को ॐ श्रीगाम्य मस्तु ॐ शुभं भवतु कह कर आशीर्वाद देते हैं ।

### गार्हस्थ-मर्यादा

वैदिक साहित्य में गार्ह के लिये कई धर्मों का प्रमाण दृष्ट है या ममात्र में उसकी स्थिति को स्पष्ट करते हैं । यह मेना है क्योंकि पूजा उपवास सम्मान करना है । निरुक्त १-२१-२ में मेना मन्त्र की निरुक्ति इन्हीं धर्मों में की गई है । मातृपति एमा पुरुषा । यह म्ना है क्योंकि पुरुष उसके पास जाता है । (मातृपति एमा) स्त्री मन्त्र सत्यं वाचु से निकला है । निरुक्तकार के मन्त्रों में निम्न स्पष्ट है -

अपमर्त्येण' अर्थात् स्त्री सजाती है। उसमें जया अथवा सज्जा की भावना रहती है। मारी नर की सहयोगिनी है। अतः उसे योधा कहते हैं। योधा योते मिथ्यार्थस्य साहि मिथ्यपति आरमार्थं पुरुषेण साकम् । निरुक्त १-५१-१। वह सौम्य का बुनती या बिछेती है (वपति सौम्येणम्) अतः वामा है। वह सु-अम्भी तरह पुरुष के चित्त को उन्म अर्थात् गीमा या व्रथित करती है अथवा सुपु रुप में पुरुष के चित्त को नन्दयति प्रसन्न करती है, (निरुक्त ३-५२-१) अतः सुन्दरी है। वह पुरुष के मन को आह्लाषित करने के कारण प्रमदा है। वह स्वयं साससा प्रधान है तथा साससा जागृत करती है अथवा स्वयं सासित होती तथा सतति का सासन-भासन करती है अतः ससना है। वह गृह की स्वामिनी होने से गृहिणी वाम्या होने से कामिनी रम्या होने से रमणी सन्तति उत्पन्न करने से अननी तथा सेजस्विनी होने से मामा अथवा मामिनी है। माता पत्नी भगिनी पुत्री आदि सभी रूपों में पुजनीय होने से वह महिमा कहलाती है। उसका मारी रूप नर से विरोध-सम्बन्धित है। जनी का अर्थ जनवासी तथा उत्पादिका दोनों ही हैं। जया का अर्थ उत्पन्न करने वाली है। पति द्वारा उसका भरण-पोषण होता है अतः वह भार्या है।

गार्हस्थ आश्रम में प्रवेश करते ही मारी सम्प्राप्ती बन जाती थी। घर में उसका साम्राज्य बसता था। स्वयं देवर नग सास सबके अन्दर वह अपनी प्रतिभा से चमकती थी। घर के समस्त कार्य उसकी देख रेख में संभालन में सम्पन्न होते थे। यज्ञ आदि का प्रबन्ध ही नहीं सम्पादन भी उसके बिना असम्भव था। जैसे समुद्र नदियों को साम्राज्य देता है वैसे ही स्त्रियाँ पति के घर पहुँच कर सम्प्राप्ती बनती थीं। अथर्ववेद १४-१-४३ ४४

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुपुत्रे भूया ।

एवंत्वं साम्राज्येयि पत्युरस्तं परेत्य ॥

साम्राज्येयि इवशुरेषु साम्राज्ययि वैभुषु ।

नमाम्बिर साम्राज्येयि साम्राज्येयि इवधुषु ॥

घर में तो उनका साम्राज्य था पर जब बाहर निकलती थीं तो बाहर जाति से तारीर को आह्लाषित करके बसती थीं। ऋग्वेद ८-१७-७ में जनीमि इव जनि संवृत सस्य जाते हैं जिनमे स्त्रियों का अभिसंभूत रहना सिद्ध होता है। ऋग्वेद १-१६७-३ में अग्रे पुर के लिये गृहा शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी स्त्रियों की अनावृत स्थिति का सूचन करता है। ऋग्वेद ८-४३-१३ में आज्ञा की गई है — मय पयमस्व मोपरि सन्ततं पादकी हर । माते कसत्पकी वृत्तस्ती हि ब्रह्मा वमू विष । हे स्त्री । तुम नीचे देगो ऊपर मही । पैरों को मिलाये रखो । वस्त्र इस प्रकार धारण करो जिससे तुम्हारे ओष्ठ तथा कटि के नीचे के भाग पर किसी की दृष्टि न पड़े। ऋग्वेद १०-७१ ४ के अनुसार स्त्री को इस प्रकार रहना चाहिय जिससे पर पुरुष उसके रूप को देखता हुआ भी न देख सके बाणी को सुनता हुआ भी न सुन सके। भोजन करने समय भी पुरुष की दृष्टि स्त्री पर नहीं पड़नी चाहिये। शतपथ १-३-१-२१ के

अनुसार स्त्रियों को पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिये। सतीत्व एवं सग्रा के रक्षणार्थ ऐसे नियमों की शार्थकता स्वयं सिद्ध है।

स्त्रियों के संस्कार पुरुषों की ही भांति होते थे। उपनयन के पश्चात् उनके विवाह होते थे। विवाह की आयु पुरुष और स्त्रियों के सम्बन्ध में एक नहीं थी। स्त्री १६ की तो पुरुष २५ वर्ष का होता था। शरीर विद्या के अनुसार पुरुष की बीर्य-परिपक्वता २५ वर्ष में होती है परन्तु स्त्री १६ वर्ष की आयु में ही गर्भ धारण करने के योग्य हो जाती है। चरक एक सुपुत्र की सम्प्रति भी यही है। ऐसी महिलायें भी हो सकती हैं जो आजीवन कुमारी रहकर जीवन व्यतीत करें। ब्रह्मविदिनी स्त्रियाँ इसी प्रकार की थीं। वे वैशाध्ययन करती थीं यज्ञ करती थीं भीर भैरवार्चापर निर्वाह करती थीं। उपनयन द्वारा वे ज्ञान नियुक्त-कस्मया बनती थीं। ऋग्वेद १०-१६ एवं ४० में मूर्खों की ऋषिका ब्रह्मविदिनी बोपा ऋ० १-२७-७ की रोमशा तथा इसी प्रकार विश्ववारा इन्द्राणी प्रतोमितनया सभी अपासा आदि उपस्किनी ऋषिकार्यें हुई हैं। पर ऐसी स्त्रियाँ अपवाद रूप थीं। सामान्यतः स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य के पश्चात् युवा पति को प्राप्त करके गृहस्थ बनती थीं। जवर्बेद १-१५-१० में कहा है—ब्रह्मचर्य कन्या युवान् विन्यते पतिम्।

स्त्रियों को वैभिक शिक्षा भी दी जाती थी। विषयमा की टींग युद्ध में ही दूनी थी जिसे अश्विनी कुमारा ने ठीक किया था। नमुषि के पास स्त्रियों की सेना थी। इन्द्रसना ने इन्द्र के शत्रुओं का विध्वंस किया था। वह रथ एवं अस्त्रों के संवाहन में दक्ष थी। सरमा इन्द्र की दूती बनकर पणियों के पास गई थी।

इहैवस्तं मा विधीयै विव्रमामुर्ध्वानुतम ।

भीरुस्तो पुत्रीर्नल्पुभिः मोक्षमानी स्वे गृहे ॥ ऋग्वेद-१०-८३-४२

अनुव्रतं पितुः पुत्रीं मात्रा भवतु समना ।

आपापये मधुमतीं शार्चं बभतु सन्तिवान् ॥ ३-३०

यहीं रही कभी पुरुष न हो संपूर्ण आयु को मोषो। पुत्रों तथा नातिमों के साथ कीड़ा करते हुए प्रसन्नता पूर्वक दूम दोनों (पति और पत्नी) अपने घर में रहो। पुत्र पिता के अनुकूल जैसे माता के साथ एक मनवाला हो पत्नी अपने पति के सिये भीठी तथा नातिमयी बाणी बोले। मा भ्राता भ्रातरं द्विषन् मा स्वसारमुत्सवसा। माई माई से द्वेष न करे। बहिन बहिन से द्वेष न करे। आपस में प्रेम पूर्वक रहते हुये जीवन व्यतीत करना चाहिये।

गृहस्थ में एक सन्तान की उत्पत्ति का नियम था। 'वशास्ता पुत्रानाद्येहि ऋ० १०-८१ ४२)। तीन पीढ़ियों के एक साथ रहन का उत्सव भी प्रायः आता है। पितृ तर्पण में पितामह से एक पीढ़ी पहले के प्रपितामह के भी तर्पण करने का विधान है। शास्त्रोच्चार में भी प्रपितामह का नाम आता है। जवर्बेद के नीचे सिधे मंत्र में पितामह को ही सीमा मामा कहा है — आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं च पिता महम्। जायां जनिर्जी मातरं ये प्रियां तानुपहं नमः ॥ ६-३-१०। पिता ने साथ

माता का आदर हो अभिचार्य या ही पर आचार्य का सम्मान भी उतना ही था यह तत्पक्ष ब्राह्मण के इस वचन से सिद्ध होता है — मातृ देवो भव पितृ देवो भव आचार्य देवो भव ॥

ऋग्वेद ३-५१-४ के अनुसार जाया इत् अस्त मषणन् साहस उ याति — जाया ही पर है। आये ९वें मंत्र में कस्याजी जाया सुरणं गृहेते" में भी यही भावना है। ऐतरेय ब्राह्मण में तज्जाया जाया भवति यस्तस्या जायते पुन — ज्यों ही जाया का जायात्व उसके संतति प्रसव से माना गया है। यास्क ने मातृ पक्ष को आवरणाय तथा निर्माण करने वाली जननी का पक्ष कह कर मान्यता दी है। दुहिता ज्य की कुछ पुर्णति भी हुई है। दुहिता पूरे हिता समझी गई है। उसका विवाह दूर बैठ म हा ऐसा मानकर उसे पिता को दुहने वाली बार बार आकर पितृ गृह का शोपन करने वाली कहा गया है। यह प्रथा अभी तक आसों के परिवारों में प्रचलित है। जब जब सड़की ससुराल से अपने पीतृ (पितृगृह) अर्थात् मायके (मातृगृह) में जाती है तब तब माता पिता या भाई उसे कुछ न कुछ देते ही रहते हैं। दुहिता का जो शाय दुहने वाली ऐसा अर्थ सपाया गया है, वह असमीचीन है। पितृगृह से धन का दुहना-ऐसा अर्थ सेना ही मुख्यतः है।

पत्नी तथा पति दोनों मिलकर गृहस्थी का निर्माण करते हैं। पत्नी पति के अधीन रहती है पर गृह के अन्तर उसी का शासन चलता है। मौनिक आश्रमिकार्य सुख-समृद्धि आदि सब उसी पर अवलम्बित है। ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १८ के कतिपय मंत्र उसी प्रथा का संकेत भी देते हैं। अर्थात् 'जाया' पत्नी पति का अर्धाङ्ग है। वह उसकी पूरक है। उसके बिना पुरुष स्वर्ग में भी नहीं जा सकता। पत्नी के साथ ही पति यज्ञ करता है। संतान उत्पत्ति जो बंध को आगे बढ़ाने वाली है, यज्ञ का ही एक रूप समझी गई है। पुरुष की वीरता तथा नारी की सुन्दरता दोनों मिल कर संपूर्ण मानवता का निर्माण करती है।

नारी नर का तथा नर नारी का सौभाग्य है। दोनों एक दूसरे की वीर्यायु की कामना करते हैं। आयुष्मानस्तु मे पति में दोनों की अभिलाषा छिपी पड़ी है। 'एवस्तां ज्ञातयो मम' में संतान तथा परिवार-वृद्धि की कामना है। नारी का प्रसव धर्म पाठिष्ठ है। नर का धर्म भी पत्नीवत् होता है। दोनों ही पाप से मूढित होकर ब्रह्म पाशों में आवद्ध होते हैं। अतः सवाचार पक्ष का अवलम्बन दोनों के लिये विहित समझा गया है। विवाह के मंत्रों में निर्देश आता है कि पत्नी तथा पति दोनों के हृदय मन तथा चित्त एक दूसरे के अंगुलुस रहें।

विवाह एक पवित्र संस्कार था जिसमें दोनों के साक्ष्य से दो प्राणी जल के समान मिलकर एक हो जाते थे। ऋग्वेद १-११६-१ तथा १०-१-७ में सूर्या सोम का वरम वरके उसके साथ एतत्वा प्राप्त करती है। पक्षम मज्ज के यम यमी मूल

के अनुसार भाई-बहिन का विवाह बन्धित था । दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी । सड़की के पुत्र को स्वपुत्र के अभाव में बचा-बुझ के लिए यौव से सिमा जाता था । स्मृति ग्रन्थों में कदाचित् इसीलिये भ्रातृ-हीना कन्या क साय विवाह निषिद्ध माना गया है । ऋग्वेद १०-८८-३० ३४ के अनुसार स्त्री पुरुषों को एक दूसरे के वस्त्र नहीं पहिनना चाहिये । अथर्ववेद १६-१३१-४ म पति को वस्त्र में करने के लिये आप तथा प्रार्थना का उल्लेख पाया जाता है ।

स्त्री से पुत्र की प्राप्ति हावी है । पुत्र भरक से बाण लेकर स्वर्ग प्राप्ति के लिए नौका का कार्य करता है । इस हेतु पुत्र का जन्म शुभ तथा कन्या का जन्म अशुभ माना जाता था । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुत्र को विपत्ति कहा गया है । वह विपत्ति भले ही हो पर उसके बिना संसार नहीं चल सकता यह भी सत्य है । ब्राह्मिष्ठ धर्मसूत्र १३-४८ म माता का पद इसीलिये सर्वश्रेष्ठ माना गया है —

उपाध्यायाद् ब्रह्माचार्या आचार्य सत पिता ।

पितुर्ब्रह्मन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

गीतम धर्मसूत्र २-३६ के अनुसार किसी के मत से आचार्य तथा किसी के मत से माता सर्वश्रेष्ठ गौरव की अधिकारिणी है । पुत्र और पुत्री नर एवं नारी वस्तुतः एक ही प्रकृति के वा कर हैं । कौन किससे छोटा है यह कथन ही अनावश्यक है । पुरुषों की भाँति स्त्रियों भी ऋषिदेव को प्राप्त करती थी यह उपनिषदों के अनेक स्थलों से प्रमाणित होता है । बृहदारण्यक उपनिषद में ब्राह्मणकी मार्गी-मित्रेयी तथा वाज्रवल्क्य के संवाद इसी विद्या की ओर संकेत करते हैं । बृहदारण्यक ९ ४ १७ म पंडिता दुहिता की उत्पत्ति की इच्छा का उल्लेख है । महाभारत ५ ३८ १० भी स्त्रियों को पूज्य पुण्यवती तथा धर की शोभा कहता है । मनु तो स्पष्ट लिखते हैं —

यत्र भार्येतनुं पुण्यमस्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

वहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं । महाभारत १३-१२७-६ कहता है — योपिठश्चैव हर्म्यन्ते कर्मसोऽहृते पुहे । पाप-मंक्रिन् गृहो मे ही स्त्रियों का अनादर होता है । महाभारत १३-१२९-२६ स्त्री बच को वह महत्त्वा कहा है ।

धर्म संस्कृति में स्त्रीत्व की महिमा महनीय है । इसी ने बल पर स्त्री उच्च लोकों को प्राप्त करती है । उसके पातिव्रत त्रेत्र के सामने बड़े-बड़े तपस्वियों को भी झुकना पड़ता है । अमर्यादित स्त्रियों ने पतंगोत्सेह भी हमारे साहित्य में उपलब्ध होते हैं । जो पुरुष स्त्रियों की बगर्ह पर जीवन-यापन करते हैं उनकी भी निन्दा की गई है ।

### सिंहावलोकन

विवाह की प्रिय विधि वा वर्णन ऊपर दिया गया है । उससे उसकी सामाजिक



कृता तो प्राप्त होती ही है। चाय ही आप्यात्मिकता का रूप भी स्पष्ट हो रहा है। आप्यात्मिकता का सर्वोच्च स्तर प्रेम है। प्रेम सौमिक व्यवहार में भी दो व्यक्तियों को एक कर देता है। आप्यात्मिक स्तर में भी वह मात्मा को परमात्मा से संयुक्त करने वाला है। स्त्री और पुरुष की मुनि परमार्थ में पुरुष और प्रकृति की मुनि है।

हमारा प्राण अगाम के साथ मिल कर शरीर संसार की योग्यता सम्पादित करता है। अकेला प्राण या अकेला अगाम अर्थपूर्ण है। यही दत्ता पुरुष और स्त्री की है। एवाही पुरुष और एवाही स्त्री का मूल्य नगण्य है। दोनों मिलकर एक पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। जैसे प्राण और अगाम दोनों मिलकर ओम् अथवा ओम् की ध्वनि अथवा ज्ञान को प्रतिपन्न ध्वनित करते हैं। इसी प्रकार पुरुष और स्त्री मिल कर ज्ञान आप्यात्मिक मध्य को पूर्ण करते हैं।

सम्मिलन एक सहज प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति पशुओं में भी पायी जाती है। परन्तु मानव ने पशुत्व से ऊपर उठ कर विवाह संस्कार के द्वारा स्त्री और पुरुष के मिलन को धार्मिक एवं सांस्कृतिक बाधावरण प्रदान किया है। उसने पशुता को संयम में परिणत किया है। यह संयम मानव को सांस्कृतिक विकास की ओर ले जाता है। जिस व्यक्ति के जीवन में संयम नहीं है वह हेय एवं पतित कोटि में परिणतित होगा।

पाणिग्रहण सप्तपदी और सग्न्य-अग्नय स्त्री और पुरुष दोनों को उनके स्वयं का स्मरण कराते हैं। सूर्य का दर्शन उन्हें प्रकाश स्वका प्रभु की ओर ले जाता है। अस्पृश्यता का वर्जन मार्ग में जाने वाली बाधाओं के निराकरण की ओर संकेत करता है और प्रभु का वर्जन उन्हें परिधि की गतिमत्ता से निकाल कर केन्द्रस्थ एवं अविचल बनाने की सूचना देता है। हम केन्द्रस्थ से पर इस प्रपञ्च में अपना मोहक आवरण डाल कर हमें विचलित कर दिया अर्थात् से बर्ब बना दिया। निष्क्रम्य से मय कर दिया। विवाह संस्कार हमें पुनः केन्द्र की ओर ले जाने का उपक्रम है।

ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र गृहस्थ की प्रसन्न एवं उदात्त स्थिति का उल्लेख करता है—

सोमो बभ्रुरमवश्वि मातरा भुवाधरा ।

सूर्या मत्पत्नी सप्तर्षी मनसा सविता बवात् ॥

मं० १ । सू० ८२ । मंत्र १ ।

बभ्रु की कामना करने वाले घर को सौम्य होना चाहिये। सीधा अक्सड़ एवं उद्वेग घर गृहस्थ धर्म के निमित्त पुनः सहनशीलता को अपने से दूर रखता है और इसी हेतु गृहस्थ में जाने योग्य नहीं है। वहाँ तो पय-पय पर सहिष्णु बनना पड़ता है। पति और पत्नी सहनशीलता के अभाव में एक दूसरे के अन्तर व्याप्त नहीं हो सकते। सविता अपनी किरणों से आभास से व्याप्त रहता है। इसी प्रकार पति और पत्नी एक दूसरे को तभी ऊपर उठा पाते हैं, जब दोनों ही एक दूसरे का ध्यान रखें। उन्हें जीवन भर इस आसम में रहना है। यद्यपि सम्वास में पत्नी शाब नहीं

रखती, फिर भी उसका स्थान समाज सेवा तथा भक्ति भावना तो ग्रहण कर ही लेती है। फिर विवाह बन्धन को विस्तार देने के लिये मनु की संस्कृति को भागे बढ़ाने के लिये किया जाता है जिसमें पुत्र-पौत्रादि कीड़ा करता है और गृह को मोदमान बनाते हैं। भगवान की मृष्टि विवाह ने समाज में विफल हो सकती है। उस सीमा-मय की सीमा को संवरणशील रखने के लिये विवाह की प्रथा अनिवार्य हो जाती है। अर्थात् वेद के निष्कर्षित मन्त्र भी गृहस्थ की अविरोध भावना तथा मनुष्य व्यवहार की अभिव्यक्ति करते हैं —

१ सहाय्यं सौमनस्यमविरोधं कुणोमि च ।

अग्नौ अग्नयमग्निं हव्यं चरुं आत्मनिवाधाय ॥

२ माध्याता आतर् द्विसन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्यक् सवता भूत्वा वाचं वचत भद्रपा ॥१६॥

अ० कां० ३ । अ० ६ । सु० २० । म० २ । ३ ॥

गृहस्थधर्म का पालन करते हुये पति और पत्नी दोनों को समान हृदय और समान मन बाधा होना चाहिये। द्वेष का सम्बन्ध भी उनके अन्दर प्रवेश न पा सके। वे एक-दूसरे के प्रति जैसे ही प्रेममय व्यवहार करें वैसे ही अपने बच्चे के प्रति प्रेम भाव से समुत्पन्न होती है। पति पत्नी के प्रति और पत्नी पति के प्रति समुत्पत्ती एवं शान्तिप्रदायिनी वाली बोले। पुत्र पिता के वचन का अनुकरण करे और माता के मन के साथ एक हाकर रहे। माई माई से और बहिन बहिन से द्वेष रहित होकर प्रेमपूर्वक व्यवहार करें। गृहस्थ के सभी बेटक मिल कर बनें। समान वचन बोलें और मंगल मयी प्रणामी से बोलते हुये मुक्तवाग्मिनी वाली बोले।

गृहस्थ जीवन जोज तेज, सहिष्णुता असवता इन्द्रियवता भी और धर्म के कारण के लिये प्रभु ने दिया है। हमें सम्यक दर्शन और सम्यक व्यवहार करते हुये ऋत और सत्य के मूल को पकड़ना है। इष्ट और पुष्ट के द्वारा आधुनिक एवं लौकिक व्यवहार की साधना करनी है। अपनी संस्कृति के साथ हमें पशुओं पर भी दृष्टि रखनी है। कर्म करते हुये सौ वर्ष तक जीवन बरान करना है। कम हमें अपने में निष्ठ न कर सके इसका भी ध्यान रखना है। योग योग शान्ति, विराज एव मुख को अपनाते हुये हमें अपने मन्तव्य को प्राप्त करना है।

मनु ने भी गृहस्थाश्रम की सर्व चेष्टता स्वीकार करते हुये उसके वर्तव्यों पर प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में उनके निष्कर्षित श्लोक ध्यान देन योग्य है—

१ यथा वायु समाभित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः ।

तथा गृहस्थमाभित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

मनु० ॥ १-४३ ॥

२ यथा नदी नदा चर्मे सायरे पान्ति सन्वितम् ।

तथावाग्मिनः सर्वे गृहस्थे यान्ति सन्वितम् ॥१॥ मनु० १-१०

जैसे प्राण वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं वैसे

भ्रम का भाव्य सेकर अथ्य तीनों आश्रम स्थित रहते हैं। जिस प्रकार सभी नदी-नव समुद्र में जाकर स्थित हो जाते हैं उसी प्रकार सभी आश्रमी गृहस्थाश्रम का अवसम्भन लेते हैं।

१ प्रजनार्थं महा माया पुत्रार्हा गृहहीप्तयः ।

स्त्रिय भियवच गेहेषु न किलोपोऽस्ति कथयन् ॥ ९-२६

२ उत्थावन मपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।

प्रत्यह शोक यात्रायाः प्रत्यस स्त्री निबन्धनम् ॥ ९-२७

स्त्रियां पुत्रा के योग्य हैं महाभाष्यजाली है पुत्र की सोमा है सन्तति प्रसव का कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है घरों में स्त्री और दूरी एक ही है उनमें कोई भेद नहीं है। सन्तानोत्पत्ति और उत्तरण बन्ध का परिपालन तथा वैदिक शोकक्रात्रा का कार्य सधका निबन्धन करने वाली प्रत्यसकृप न स्त्री ही है। यदि स्त्री के साथ धर्मपूर्वक सभी कर्तव्यों का पालन होता गया तो अपने सिये और अपने पितरों के सिये गृहस्थ स्वर्ग के समान मुक्त पायक है।

१ सत्पुत्रो भार्ययाभर्ता भर्ता भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कस्यानं तत्र नैव श्रवम् ॥ १-६

२ यदि हि स्त्री न रोचेत् पुत्रांश्च न प्रमोदयेत् ।

३ अमोघवात् पुन पुनः प्रजन न प्रवर्तते ॥ १-११

४ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र श्रेयता ।

यत्रोत्तस्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तथा कृता क्रिया ॥ १-१६

जिस घर में पति से पत्नी और पत्नी से पति सम्बन्ध रहते हैं वहाँ स्मिरस्म से कल्याण निवास करता है। यदि दोनों प्रसन्न हैं तो कुल भी प्रसन्नता से ओत-प्रोत रहता है। जिस कुल में नारियों की पूजा होती है उस कुल में देवता अर्थात् दिव्य शुभ दिव्य सोम और दिव्य सन्तान विराजमान रहते हैं। इसके विपरीत यदि स्त्रियां सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी गयी तो उस कुल की समस्त क्रिया निष्फल हो जाती है।

गृहस्थ धर्म का पालन कई दृष्टियों से कठिन भी है। सामाजिकता के परिपार्श्व में शोक व्यवहार की साधना के सिय गृहस्थ को अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। अर्थ अथवा धन के अर्जन में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है और उसमें पग पग पर सोम का आश्रम होता है। यदि गृहस्थ इस लोभ से बच गया तो वह धर्म-शौच परायण बन गया। अर्थ-शौच ही वास्तविक शौच है। इस पवित्रता के सामने धन से पवित्र होने का कोई अर्थ नहीं है।

गृहस्थ न निवाग करते हुए जो प्राणी पराप्त भोजी बनते हैं पर पाक पर अपनी दृष्टि रखा है वे मर कर उन अन्नशायका के पशु बनते हैं। अतः गृहस्थ को वेदोक्त धर्म सम्पन्नी जीविता से ही अपना निर्वाह करना चाहिए।

गृहस्थाश्रम में पंचमहायज्ञों का करना अनिवार्य माना गया है। अन्य यज्ञों को महायज्ञों का नाम नहीं मिला। इन यज्ञों में सर्व प्रथम ब्राह्म यज्ञ की गणना है। ब्राह्म-यज्ञ के अन्तर्गत वेदों का स्वाध्याय तथा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना परिलक्षित है। ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर गृहस्थ को सर्व प्रथम उस परम तत्त्व तथा उसके ज्ञान विज्ञान का चिन्तन करना चाहिये। दूसरा महायज्ञ देव यज्ञ है इसी को अग्नि होम भी कहते हैं। जिन आधि दैविक क्रियाओं का हमारे अमर इतना अधिक ज्ञान है, जिनके कारण हमारी शरीर यात्रा चलती है, उनके लिये वेद ने अग्निहोम करने का विधान किया है। अग्निहोम में हम जिस सामग्री को होमते हैं वह कहाँ कहाँ पहुँचती है इसका तो हमें ज्ञान भी नहीं होता। ब्रिहस्पति त्याग की मानना इसी यज्ञ में देखी जाती है। तीसरा पितृ-यज्ञ है जिसमें हम अपने जीवित माता-पिता की तो सेवा करते ही हैं साथ ही अपने उन पूर्वजों का स्मरण करते हैं जिनका रक्त हमारी कमरियों में प्रवाहित हो रहा है। चौथा अग्नि-यज्ञ देव यज्ञ है। इसमें हम ऐसे प्राणियों को अन्न देते हैं जो असमर्थ हैं जैसे कृत्ता पतिव, आम्बाल, पाप-रोगी काक और इमि इत्यादि। ब्रह्माण्ड अग्नि और सोम, चापा और पुषिनी, सूर्य और भू, नरत्न तथा सत्तात्मकता फिर विष्यता और मनुष्यता आदि के अनेक युग्म हम सबके शरीरों में हैं। 'वैश्वदेव' सर्वभूतों से ही सम्बद्ध है। अतः इस यज्ञ में हम अपने व्यापक सम्बन्ध का अनुभव करते हैं और उसे प्रत्यक्षरूप में प्राणियों की सेवा द्वारा अभिव्यक्त भी करते हैं। पाँचवाँ अतिथि यज्ञ है। कोई धर्मरत्ना परोपकार परायण, सत्योपदेशक पक्ष पाठ से द्रुम यदि अपने घर आने तो उसकी सेवा करना गृहस्थ का परम धर्म है।

पंच महायज्ञों के अतिरिक्त गृहस्थ को पूणिमा और अमावस्या के दिन हवन में अग्नि सोम विष्णु आदि के लिये कृष्ण विषेय आहुतियाँ देना चाहिए और जो नवस-स्वेष्टी जैसे पद आते हैं उनके लिये भी विषेय आहुतियों का विधान है। गृहस्थ को अपने निवास के लिए नवन भी चाहिये। यदि यह पूर्वजों से प्राप्त है तो पुनः नवन बनाने की आवश्यकता नहीं है। यदि न हुआ तो उसका निर्माण करना ही पड़ता है।

वर्ष-मर्यादा गृहस्थ के लिये ही है। हमारी संस्कृति ने दूर वर्ष से ब्राह्मण वर्ष तक विकास की एक सुन्दर श्रृंखला प्रस्तुत की है। अग्न से हम सभी दूर हैं, पर संस्कार हमें द्विज की संज्ञा दे देते हैं। वैश्य अश्वि और ब्राह्मण तीनों द्विज हैं। दूर समाज की सेवा करने के योग्य समझे गये हैं। वैश्य का कार्य कृषि, गोपालन तथा व्यापार द्वारा जन-भाग्य का अर्जन करना है। अश्वि समाज का आगच्छ प्रहरी है। उसे समाज के संरक्षण में अपने प्राणा की आहुति तक देनी पड़ती है। ब्राह्मण समाज का पद प्रबर्हक है, कोरे ज्ञान द्वारा ही नहीं अपने नीस दूत और सदाचरण द्वारा भी। दूर समय पड़ने पर दूर नहीं रहता है। जन की आर्कशा

उसे वैश्यत्व की ओर प्रेरित कर देती है। वैश्य भी अब धन की रक्षा में चिन्तित होने लगता है। तो उसे रक्षाक शक्ति के रूप में परिणत होना पड़ता है और शक्ति भी अब राजनीति की शक्तियों से व्याकुल हो उठता है। तो सरस ब्राह्मण जीवन की ओर स्वतः चल देता है। ब्राह्मणत्व हमारे सांस्कृतिक विकास की ऊर्ध्वतम दिशा है। वह अपने तप त्याग बीसा भड़ा आदि गुणों के आचार पर व्योमिर्भ्य आनन्दधाम का निवासी बनता है। समाज में यदि सभी वर्ग अपने-अपने कर्तव्य का पालन करें, तो समग्र समाज मंगलमय बन सकता है।

### वानप्रस्थ

उपनयन संस्कार ने संस्कृति के जिस रूप का प्रत्यक्ष कराया था विवाह संस्कार में जिसके अन्त वसन हुए थे वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत उसका अतीव प्रोत्थन साधनापरक रूप उपलब्ध होता है। वेद ने जिन ऋतु और बीसा का भड़ा और तप का तथा ब्राह्मण्य और सत्य का अनेक बार उल्लेख किया है वे अपनी समग्र समृद्धि के साथ वानप्रस्थ आश्रम में ही दृष्टिबोधर होते हैं।

ब्राह्मण्य आश्रम विद्या स्वास्थ्य तथा लोक यात्रा के संवाहक व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि का आश्रम है। गृहस्थ में इसी के आचार पर सामाजिक सम्पर्क की आसीनता तथा पारिवारिक जीवन की कृत्तमता सिद्ध हो पाती है। गृहस्थ प्रेम का पाठ पढ़ाता है और आत्म-विस्तार करता है। उसमें एक व्यक्ति की स्वार्थ-संकीर्णता स्थिर नहीं रह पाती। वह मुक्त होती है और व्यक्ति अपने साथ और कभी कभी अपने व्यक्तित्व को छोड़ कर भी पत्नी सन्तति तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों के स्वार्थों का अधिक ध्यान रखता है। वहाँ निवृत्त परतप में परिणत होता है वैयक्तिक सम्बन्ध विस्तृत होते हैं और मानव अल्पता से विज्ञानता तथा अनुता से विमुक्त की ओर प्रयत्न करता है। उपनिषदों ने जिसे सूमा का नाम दिया है तथा यजुर्वेद ने जिस एकत्व की ओर संकेत किया है, वह गृहस्थाश्रम में अपनी सुमिका बना लेता है। पर सुमिका अकेली पर्याप्त नहीं है। मानव को तो विकास-क्रम में इस एकत्व का सम्पादन करना है। वानप्रस्थ आश्रम इसी के लिये ऐसे उर्वर क्षेत्र का कार्य करता है जिसमें बीब पड़ते ही फस फूला पाएष हाथ आ जाये।

ब्राह्मण्य पितृ गृह को छोड़कर आचार्य के गृह में निवास करना है। गृहस्थ अपने गृह के अन्तर्गत संयत भोग है। वानप्रस्थ में पुन गृह का परित्याग एवं अरव्य का निवास है। इतिहास में ऐसे ऋषियों का उल्लेख अनेक बार हुआ है जो वन के कन्द-मूल-फल खाकर तप गृह जीवन व्यतीत करते हैं। वैज्ञानिक सम्प्रदाय ऐसे ही तपस्वियों के आग्नेय चरित्र के कारण प्रख्यात है। कर्मठ ब्रह्म धर्म भी इस प्रकार की त्याग तपस्या के कृतज्ञ उदाहरण प्रस्तुत करता है। मनुस्मृति नाटक में कबिबर कामिदास ने कर्म ऋषि के जिस आश्रम का वर्णन किया है और विद्यावधर ने मुद्रा

रंजित नाटक में गुप्त साम्राज्य के महामंत्री बिष्णु शर्मा कौटिल्य की कुटी का जो चित्र अंकित किया है, वह इन्हीं बंधानों का बनस्य तपस्वियों का स्मरण कर देता है।

बानप्रस्थ आश्रम के सम्बन्ध में मनु की आज्ञा है—

एवं गृह्याश्रमे स्थित्वा विधिं ब्रह्मज्ञातको द्विजः ।

यने वसतेषु निपतो यथा वह्निं जितेन्द्रियः ॥१॥

गृहस्थास्तु यथा पश्येव वसती पतितमात्मनाः ।

अपरयस्यैव आपत्यं तदारब्धं समाधयेत् ॥२॥

सन्तप्य ग्राम्य बाह्यैः सर्वश्रवण परिच्छेदयेत् ।

पुनरेषु भार्यां निजिष्य वर्ज्यं गच्छेत् सहैव वा ॥३॥ मनु० म० १ ॥

विधिपूर्वक विद्याव्रत स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम में रहकर यती तथा इन्द्रिय बन्दी बनने के लिये वन में निवास करे। जब गृहस्थ के बाल पकने लगे और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब उसे वन का आश्रय लेना चाहिये।

बानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हुये ग्राम्य बाह्यार तथा अपने समस्त परिच्छेद को छोड़ देना पड़ता है। भार्या को भी पुत्र के संरक्षण में रख कर अथवा अपने साथ लेकर बानप्रस्थी ब्रह्मचारी बनता है।

अग्निहोत्र त्याग का सूचक है, अतः वह तथा उसकी सामग्री बानप्रस्थी के साथ ही रहती है। वह स्वाध्याय का भी परिपालन नहीं करता। उसे अहनिष्ठ इन्द्रियों के बन्धन, मन के संयम मैत्री भाव समन्वितता सर्वभूतों पर अनुकम्पा तथा किसी से कुछ भी न लेने प्रस्तुत सभी को कुछ न कुछ देते रहने में तत्पर रहना चाहिये। जीवन निर्वाह के लिये वह बनबासी तपस्वी एवं गृहस्थी ब्राह्मणों के घर से भिक्षा ले सकता है। उसे आरम-संसिद्धि के लिये प्रयत्न करना है। अतः जैसे बने जैसे बीछित, प्रती एवं अदा-संपन्न होकर उसे कठोर से कठोर साधना करनी पड़ती है।

मुष्ककोपनिषद् ने ऐसे ही तपस्वियों के सम्बन्ध में लिखा है—

तपः शब्दे ये ह्युप वसन्त्येव रभ्ये शान्तया विद्वां सो भैक्ष्य-वर्षाञ्चरन्तः ।

सूर्य द्वारेण से विरज्जाः प्रयान्ति यत्रा मृतं सपुंसो ह्यव्ययतमा ॥ ७ ॥

यहाँ ब्रह्मचारी का उल्लेख है। बानप्रस्थ शब्द से भी इसी की ध्वनि निकलती है। किसी समय वन का वास शान्ति के साथ सुरक्षा का भी स्थान रहा होगा। जैसे बानप्रस्थी अग्नि को अपने साथ ले जाता है और अग्निहोत्र प्रतिदिन बसता रहता है। अग्नि भी अग्न्य अनुभूति से सुरक्षा रखता है। भोजन के लिये बानप्रस्थी को भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करना पड़ता है, ऐसा मुष्क के उपर्युक्त श्लोक से प्रमाणित होता है। भोजन की समस्या वन के फल, कन्द तथा वायव्य से भी मुक्त सकती है। वन का वातावरण एकान्त आनन्द होता है।

प्राचीन, आधुनिक तथा अन्तर्द्वीय धर्म अर्थ धर्म कर्म एवं कोशादिसु

का वहाँ कोई अवसर ही नहीं है। कहा जा सकता है कि ऐसे बातावरण की सृष्टि तो घर में भी की जा सकती है। बन में जाने की क्या आवश्यकता है? विवेक जनक का उदाहरण इस विषय में इतिहास-प्रसिद्ध है। हमारी समझ में सभी व्यक्ति जनक नहीं बन सकते। निर्बल मानव को साधना सिद्धि के लिए किसी न किसी प्रकार का अवसम्पन्न सेना ही चाहिए। अब समझ से हट कर एवान्त का निवास साधना के लिए हितकर है। वनवास का प्रथम आज की परिस्थिति में पुन उत्पन्न होगा, क्योंकि वनों की स्थिति आज बहु नहीं है जो पुराकाल में थी। वानप्रस्थियों को इस युग में आश्रम तथा गृह बना कर रहना पड़ता है और बहु समस्त बन्ध्यास उमरों में रहे रहता है, जिसका सामना गृहस्थों को करना पड़ता है। कभी कभी तो इनकी दयनीय दशा पर तरस भी जाता है। इन्हें सीमेंट तथा सोहा चाहिये ईंट या पत्थर चाहिये। आश्रम-निवास के साधन जुटाने में ही इनका समय व्यतीत हो जाता है। तब साधना के अवसर कम मिलते हैं। युगीन परिस्थितियों को देखते हुए वानप्रस्थाश्रम की समस्या बुरी एवं अटल बन गयी है। यदि गृह में रहते हुए ही तप, वीक्षा भक्षा और ब्रह्म धर्म का जीवन व्यतीत किया जा सके तो बेमत्कार है।

वेद में वानप्रस्थ आश्रम का स्पष्ट उल्लेख हमें नहीं मिला। मानव को भक्षा सम्पन्न होकर वीक्षित व्रती एवं तपस्वी होना चाहिए। यह गृहस्थ आश्रमी के लिए भी बांझनीय है। यजुर्वेद १८/१० में सत्य की प्राप्ति के लिए चार साधनों का वर्णन किया गया है। प्रथम साधन व्रत है। जब अनुपम व्रत सेता है तो वह एक नियम में बाधित हो जाता है। नियम में बंधकर चलना मार्ग वीक्षा को प्राप्त करना है। वीक्षा वृद्धि की ओर से जाती है, अर्थात् मानव अपने साधन पथ में प्रवीणता प्राप्त कर सेता है। यह प्रवीणता उसके अन्तःकरण में अपने पथ के प्रति ध्याना की भावना उत्पन्न कर देती है। भक्ष्यानु मानव सत्य को प्राप्त कर सेता है जो उसकी जीवन यात्रा का अरम लक्ष्य है।

वीक्षा की महिमा महान् है। यजुर्वेद २०-२४ में वीक्षित व्यक्ति की विशेषतायें इस प्रकार वर्णित हुई हैं—

अभ्यासयानि समिपमग्निं व्रतपते त्वयि ।

व्रतपथ भक्षां चोपमीन्वे तथा वीक्षितो भवन् ॥

हे प्रकामस्वरूप परमात्मन् ! आप व्रतपति ॥ व्रतों की रक्षा करने वाले हैं। पूर्व चन्द्र पृथिवी आदि जिस व्रत में सीम है उसके राक्षक आप ही हैं। निश्चित सृष्टि जिस व्यवस्था के व्रत में बंधी बसी जा रही है, उसकी रक्षा आप ही करते हैं। व्रत में आज से व्रत सेता हूँ दीक्षित बन कर भक्षा को प्राप्त करता हूँ और अपने आप को तुम्हारे प्रज्जित तेज में समिपा बना कर आहुत कर रहा हूँ। जैसे अग्नि समिपा के पड़ने से प्रज्जित होती है वैसे ही मैं अपनी आहुति द्वारा आपको प्रदीप्त करता हूँ और जैसे अग्नि में पड़ कर समिपा स्वयं प्रदीप्त हो उठती है, वैसे ही मैं भी

आपके तेज से तेजस्वी बन रहा हूँ । बीजित की यह साधना किसनी स्पृहणीय है । वह स्वयं प्रवीण हो रहा है और अपनी दीप्ति से अपने प्रभु को भी प्रवीण कर रहा है ।

वेद तो नहीं पर परवर्ती साहित्य में चारों आश्रमों का उल्लेख पाया जाता है । तत्पश्चात् ब्राह्मण के निम्नोक्त शब्द इस तथ्य का समर्थन करते हैं —

“ब्रह्मचर्याश्रमम् समाप्य गृहीमवेद् गृही भूत्वा वनीमवेद् । वनीभूत्वा प्रव्रजेत् ।”

इन शब्दों में ब्रह्मचर्य गृहस्थ ब्रान्धस्य तथा संन्यास चारों आश्रमों का निरूपण किया गया है । मनु की आज्ञा चारों आश्रमों के सम्बन्ध में हम पूर्व ही लिख चुके हैं ।

ब्रान्धस्य की आयु, प्राण अपान व्यान, उद्यान समान जम्बू, ध्यौन, वाभी, मन आरमा ज्ञान ज्योति, स्वर्ग आचार सभी यक्षमय त्यागमय बलिदानशील होने चाहिये । उसका यज्ञ स्वयं यक्षमय हो । किसी भी प्रकार की आकांक्षा का संस्पर्श उसके साधन-यज्ञ के साथ नहीं होना चाहिये । वह एकान्त में निवास करता हुआ वेद शास्त्र का विचार करे, अपने से उष्कोटि क महात्माओं का सत्संग करे पोषाभ्यास करे और अपने तथा प्रभु के साक्षात् करने में वृत्तित रहे ।

## १५. संन्यास आश्रम

श्रुति मन्वन्ती कहती है—

अस्ति तन्मं न ज्ञाति, अस्ति तन्मं न पश्यति ।

बीजारमा निकट ही वर्तमान प्रकृति के मायम को छोड़ता नहीं और निकट ही वर्तमान परमदेव को देखता नहीं । एक को छोड़े तो दूसरे का वर्जन करे । एक ओर से परिस्थान तो दूसरी ओर से ग्रहण जब यही जीव का एकमात्र लक्ष्य है । उसे प्रकृति का परिस्थान कर बेमा है । यह परिस्थान ही प्रभु-वर्जन का एक मात्र साधन है ।

जमी तक जिन संस्कारों का वर्जन हुआ है, उनमें त्याग की भावना कमया वर्तमान होती पयी है । गृहस्थ के समस्त लौकिक सम्भार को छोड़कर जब मानव ब्रान्धस्य में प्रवेश करता है, तब उसका प्रमुख लक्ष्य समस्त लौकिक आसर्षों का परिस्थान ही होता है । ब्रान्धस्य में पत्नी साथ रह सकती है, वह भी अपने पति के त्यागभाव को बढ़ाने के लिये यत्नशील रहती है । मनु ने जीवन निर्वाह के लिये ब्रान्धस्यी को भिक्षा लेने की छूट दे रखी है, परन्तु कुछ आचार्य इसे भाग्यता नहीं देते । उनकी सम्मति में ब्रान्धस्यी को गृहस्थ आश्रम में की हुई अपनी कमाई पर ही अवलम्बित रहना चाहिये । जन में स्वतः जात कन्द फल आदि का उपयोग उसके अधिकार के अन्तर्गत है । उसे त्याग परिवर्तन भी नहीं करना है । एक ही त्याग पर जम कर उसे त्याग की साधना करनी है । सांसारिक कोलाहल से दूर एकान्त ब्रान्ध स्थान का निवास संसार के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला है । सामने आये हुये सृष्टि विज्ञान का यत्न और अन्तर्निहित धृत का चिन्तन उसे



ध्यान की निर्मल एतान अवस्था की ओर से जाता है । सम्पाद्य की मही आपारमिता है ।

धृति के ही शरों में आयु प्राप्त प्रजा पशुम् नीति द्विषं ब्रह्मचर्यम् मय दत्ता धनत्रयमोहम् । सम्पाद्यी सबका छोड़ता है पर उन एव को पकड़ता है । उसे आयु की चिन्ता नहीं, प्राण की ओंगा नहीं, सम्पत्ति की चामता नहीं । पशुचन आदि की आवश्यकता नहीं । नीति की चामता भी बटन पीछ छूट गयी और त्रिष ब्रह्मचर्यम् ने उस दत्ता आने बड़ाया, आज उसरी ओर भी वह सापसा गरी दृष्टि मही बात रहा है । अत और अमृत की जीविका उसरी संमिनी नहीं रही । ये सब उसे जहाँ स प्राप्त हुए थे त्रिषये उपलब्ध हुये थे उसी को समर्पित करके आज वह निग्रह है और गृहता है —

धुर्धपसा मया त्यक्ता, विधपसा मया त्यक्ता लोकेपसा मया त्यक्ता । यह उद्योग है स्व के बिमान का स्वत्व के संहार का धृति के विट जान का । सम्पाद्यी के आने आज वह विरजा प्योतिर्मय ब्रह्ममोह आलोडित है त्रिषे विष्णु के परमाश की तृतीयपान की माग या स्वर्ग की संता प्रदान की जाती है । धृति के ही बिमान में ईजानविष समा ब्रह्मणिं माकस्य पृष्ठान् विबमुलातिष्मन् । तस्मैप्रभाति नमसो प्योतिपी मान् स्वर्ग पग्वा सुहृते देवमान ।

पक्ष की बीबी नीका पर आकड़ सायक पायिष अग्नि के द्वारा भौतिक शरीर का संतोषन करता हुआ जब विज्ञानात्मा का शोचन करने के निचे चैतन्यानि पर आरु होता है उस वह पु छोड़पि ये पार हो जाता है । उसे माक के दर्शन होने लगते हैं । साधना में आने बड़ता हुआ इस माक की भी पीठ पर बैठ कर वह छी लोका की ओर उड़ान भरने लगता है । वह सुकृती इसी दसा में नम में प्योतिष्मान् उस देवमान पय का दर्शन करता है जो स्वर्ग की ओर से जाने वाला है ।

धय है आर्य संस्कृति का यह देवमान मार्ग । सम्पाद्यी इसी पय का चकिर बनता है । उसका कोई निकेतन नहीं वह अनिकेतन है यायावर है, परिचानक है बाध्य अथवा मिथु है । अनिकेतन होते हुए भी वह स्थिर बुद्धि है । स्थान उसका स्थिर नहीं है पर बुद्धि तो स्थिर है । यायावर होते हुये भी वह अन्त-करण से केन्द्रस्व है । इसी को आप एवम्—अनेकत पतिमय—अपतिमय, बाहर भी भीतर भी आवि किसी नाम से पुकार सकते हैं । सम्पाद्यी का यह भौतिक एवं अलौकिक गुण है । वह आप से बाष्पभाप करता है भोजन पान नयन आदि भी करता है विरव की व्यवस्था का वर्णन और सवाचार का उपदेश भी करता है पर रहता है वह अपने केन्द्र में ही बीग । सब कुछ छोड़ कर आज उसे सर्वस्व प्राप्त है । आज वह अपने में है और अपना उसमें है —

आज तुम्हारा साव तुम्हारे मेरा मेरे साव,

आज तिम्रु के हाव तिम्रु है तिम्रु तिम्रु के हाव ॥

धर्मों के संस्कार मानव का विकास करते हुये उसे इसी अवस्था तक पहुँचाने वाले हैं। नियमानुसार सम्पास तीन प्रकार का होता है —

- १ कम सम्पास,
- २ ब्रह्मचर्य से सम्पास तथा
- ३ जब वैराग्य तीव्र हो उठे, तभी सम्पास से सेवा।

कम सम्पास में प्रथम तीनों जाय्यों को उत्तीर्ण करके सम्पास में प्रवेश किया जाता है। यह कम साधक को शोक की उच्छ्वास स्थितियों का अनुभव करा देता है। यह अनुभव साधक को स्वतः सम्पास की प्रेरणा देता है। युद्ध के लिये केवल गृहस्थ है, पर द्विजग्ना अर्थात् संस्कारी जीवों के लिये गृहस्थ के उपरान्त वानप्रस्थ की भी कल्पना की गयी है। इन द्विजों में ब्रह्म, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण तीनों ही हैं और तीनों ही वानप्रस्थ हो सकते हैं पर सम्पास आश्रम में ब्रह्म तथा क्षत्रिय वृत्ति वाले प्रवेश नहीं कर पाते। उनके पास वह योग्यता ही नहीं होती जो उन्हें सम्पास में स्थिर रख सके। ब्राह्मी वृत्ति ही इसके लिए योग्य समझी गयी है। अतः ब्राह्मण ही सम्पास में प्रवेश करने का अधिकारी है। ब्राह्मण त्याग का बनी होता है वह शौचिक सभार का अनायास ही परित्याग कर सकता है। कामनाओं में कीर्ति की कामना अवश्य है। क्षत्रिय यज्ञ-अर्चन के लिये अपने प्राणों का पक्ष सदा देता है पर ब्राह्मण इसके भी ऊपर है। वह यज्ञ कीर्ति जबका जोड़पणा को सहज भाव से ठुकरा देता है। इसी हेतु इसी को सम्पास लेने का अधिकार दिया गया है। पूर्व उद्धृत वेद मंत्र में मन्त्र शब्द ब्रह्मचर्यस्व के उपरान्त ही रखे गये हैं और सर्वस्व समर्पण की सूचना देते हैं।

ब्राह्मणों में कुछ ऐसे भी ब्राह्मण होते हैं जो गृहस्थ बन कर सोनानुभूति की ओर नहीं जाते। ब्रह्मचर्य अवस्था में ही उन्हें जीवन की असाध्यता का रहस्य स्पष्ट हो उठता है। वे आश्रमों के विस्मयजनक निर्माण का पर्यवेक्षण करते ही वैराग्य से उद्बुद्ध हो उठते हैं। वैराग्य ऐसे ब्राह्मणों की विभूति होती है। वैराग्य की इसी एकनिष्ठ साधना के आधार पर वे सीधे ब्रह्मचर्य से ही सम्पास से जुड़े हैं। आचार्य जगद और स्वामी ब्रह्मानन्द इसी प्रकार के ब्राह्मण थे। तीसरे प्रकार में गृहस्थ का उपयोग करते हुये भी ब्राह्मण अपने मूल की ओर गमन करने की तीव्र अभिलाषा से मुक्त हो जाता है। मेरे जीवन का अर्थ क्या है, यह प्रश्न उसके समीप को झकझोर आता है। वर्मपरायणता उसे गृहस्थ का परित्याग करने के लिये बाध्य कर देती है। वह जाह्नू गृहस्थ में हो जाह्नू वानप्रस्थ में जिस दिन वैराग्य बग पड़ा उसी दिन वह शोक का परित्याग कर देता है। ज्यों के मेज खुले रहते पर भी बन्ध रहते हैं, पर यह ब्राह्मण संसार की ओर से मेज बन्ध करके अपने मूल की ओर मेज खुले रखता है। मानवीय ऐपचार्य आकाशार्थ से घेर हीन जान पड़ती है। विश्व की ओर उसके पिण्ड रूप इस शरीर की उच्छिष्टतम व्यवस्था में उसे अपने मूल के दर्शन होने लगते हैं। अतः पूर्व

वैराग्य की इस अवस्था में वह पाहे जिस मायम में रहता हुआ भी सम्पास आश्रम में प्रवेश कर जाता है। ऐसा त्यागी एवं वीतराग ब्राह्मण निस्सन्देह परम तत्त्व को प्राप्त करता है।

सम्पासी स्वयं निर्यय होता है और समस्त प्राणियों को अभयदान देता है। ऐसे ब्रह्मवादी ब्राह्मण न जीवम का अभिनन्दन करते हैं और न मरण का शोक मनाते हैं। दोनों ओर से निरपेक्ष अभ्यात्म-श्रेय में लीन प्रपन्न के उपासक सम्पन्न दर्शन से सम्पन्न स्वभावतः सर्वमात्रों से निस्पृह सर्व-दृष्ट विनिमुक्त वे समस्त पानों को छोड़कर परम ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

सम्पास के पूर्व व्रतम है। अन्य आश्रमी कारायार में पड़े हैं। सम्पासी उन्मुक्त वायुर्मंडल में स्वच्छन्द होकर विचरण करता है। वह कारायार से मुक्त हो गया है, जलम मध्यम तथा उत्तम पानों को नाट चुका है। त्याग ने उसे इस अवस्था को पहुँचाया है। 'अन्ति सन्त' सत के सूक्ष्म आवरण का वह छोड़ चुका है और इसीलिए 'अन्ति सन्तम्' परमदेव की वर्तनीय भी में वह 'सर्वारम्भा मम है। अब उसने घट घट में वर्तमान अपने परम अतिथि को प्राप्त कर लिया है। ऋग्वेद के गवम मंडल के सूक्त ११६ में जिस आनन्दनाम का उल्लेख हुआ है सम्पासी उसी धाम का वासी बन चुका है। वस्य है मत्त त्याग और वस्य है यह उपसर्ग।

### १६ अन्त्येष्टि

जीवन एक यज्ञ है। इसके मूल में भी यज्ञ है मध्य में भी यज्ञ है और अन्त में भी यज्ञ है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पंचानि विद्या का व्याख्यान करते हुए श्री परमेश्वर पृथिवी पुरुष और स्त्री के यज्ञ रूप का उल्लेख हुआ है। एक में मंडा की आहुति पड़ती है, दूसरे में सोम की तीसरे में जल की चतुर्थ में अन्न की और पाँचवें में वीर्य की। अन्तिम आहुति पुरुष को जन्म देती है। धर्म से निकल कर पिण्ड के ओ संस्कार होते हैं उनका प्रतिपादन हम इसके पूर्व सम्पास आश्रम तक कर चुके हैं। वे समस्त संस्कार यज्ञरूप हैं। अब जिस अन्त्येष्टि संस्कार का प्रतिपादन किया जा रहा है वह भी यज्ञरूप ही है।

यज्ञ अर्हो मुख है। यह हमें पाप से छुड़ाने वाला है। कृमि पाप की जन्मदात्री है। यज्ञ हमें सुमति प्रदान करता है यही हमें वीक्षित करता है उपस्वी बनाता है देवा, प्राण तेज आहूताय, सौम्यता और ऐश्वर्य देता है। ब्रह्मवेत्ता इसी साधन यज्ञ का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक को उपसन्न करता है। उसकी वाणी मत चक्षु, श्रोत्र विह्वल भाव आनन्द रेत बुद्धि आकृति संकल्प आदि सब यज्ञरूप बन जाते हैं। वह विरक्षा एवं विपाप्मा ज्योति को प्राप्त कर लेता है। अन्त तत्त्वों ही नहीं उसके ब्राह्मणरूप और शरीर के अवयव—शिर, पाणि पाद पृष्ठ उरु उदर जघन शिबन, उपस्थ, पामु त्वक् चर्म मांस चरि, मेढ मज्जा स्नायु अस्ति स्रव्य स्पर्श रूप रस, गन्ध, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, जलमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय

और आनन्दमय कोष आत्मा, अन्तरात्मा परमात्मा, सभी उनके लिए यज्ञ का रूप धारण कर बैठे हैं। अन्त में उसका यज्ञ भी किसी कामना के लिये नहीं, प्रत्युत यज्ञ के लिये ही होता है। ऐसा जीवन सांस्कृतिक विकास का जीवन है।

जीवन का प्रारम्भ हुआ था तो उसका अन्त भी होना ही चाहिये।

“जातस्य हि ध्रुवो मृत्युं ध्रुवं जस्य मृतस्य च” गीता के इस वाक्य में मृत्यु के पश्चात् भी जन्म का उत्प्रेषण हुआ है। अनेक व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् जिस जीवन में प्रवेश करते हैं, वह यज्ञ-गुरुओं की दृष्टि में बांझनीय नहीं है पर संस्कृति-सम्पन्न संस्कारों से विमुक्त निष्पाप जीवन को ध्येय करने वाला सम्पादी जिस जीवन में प्रवेश करता है, वह अमृत जीवन है। वह बांझनीय ही नहीं कल्याण रूप जीवन है। अतः जब वह वहाँ से प्रयाण करता है तब उसके यज्ञरूप बाह्य एवं अन्त जीवन के बीच अन्त्येष्टि क्रिया के द्वारा अपने अपने सम्बन्धी यज्ञरूपों में ही सीग हो जाते हैं। जो कुछ उसने लिया था उसे ज्यों का त्यों उसके सोत् या सद्मन् स्नान को वह समर्पित कर देता है। कबीर ने अपनी चुनरी में दाग नहीं अपने दिया था। उसे ज्यों का त्यों उतार कर अन्त में रख दिया था। यह उपसम्पि महनीय है महतो महीबसी है और सर्वात्मता काह्य है।

जिस साधक ने अपना इतना अधिक विकास किया है जिसने अपने सर्वस्व को सम्यस्त कर दिया है, पत्नी के रूप में अपनी सहज विकसित बच्चा जिसके साथ है बल-स्पर्शसेवी है रोम कूट है हृष्य रूप (यज्ञ स्तम्भ) है काम आग्रह है, मन्मू रूप में बंधा हुआ पशु है, बाजी पक्षिणा है प्राण होता है अशु उद्वाता है मन अन्धमूर् है अतन हवि है मुखमाहवनीय भग्नि है, उसका शरीर यज्ञ के लिए ईबन है। इसी ईबन का आज अन्त्येष्टि में होमा जा रहा है। यह मरण यह अग्निबाह सम्पादी के लिये मरण नहीं है यह तो अवमृष अर्थात् महात्म स्नान है। जीवन कपी यज्ञ की यह अन्तिम परिणति है।

जन्म के साथ जीवन यज्ञ का आरम्भ करके साधक ने इस लोक को बनाया था अब मृत्यु के उपरान्त यह परलोक को बना रहा है। अपनी इस बीर्ब यात्रा में उसने न जाने कितनी मोनियों में प्रवेश किया होमा जितने लोक लोकान्तरों विश्वाओं और प्रविशाओं के दर्शन किये होंगे। आज वह भविष्य के मोह तथा विमल के लोक से पूर्णतया मुक्त है। उसे सर्वत्र एकरूप का अनुभव हो रहा है। जिसमें समस्त अचार्यों और समस्त देव अधिभित है आज उसने उसी को जान लिया है देख लिया है। अब वह विचलित नहीं समाश्वस्त है। सर्वत्र उसकी समदृष्टि है मित्रदुस्य दर्शन है। अन्त की प्रथममा उसे परमात्म देव के समीप ले आकर बिठा रही है। सर्वानन्दयुक्त मोक्ष इसी का नाम है।

शरीर को अन्त में भस्म होना ही है, पर जो इस शरीर में निवास कर रहा

या, वह जरण से परे अजर-अमर अनादि तत्त्व है। बड़ी एक मानि से दूगरी मानि में जाता है। यह परिचयन यथा ही है जमे गुरान यस्त्रों को छोड़ कर महीन यस्त्रों को धारण कर सता। यथा से शरीर आप्लादिग रहता है। स्पृग शुम्भ तथा कारण शरीरों का आचरण आत्मा के ऊपर होता है। आगागमन न ह्य यत्र में आत्मा अपनी वासनाओं तथा कर्म-फलों के आधार पर नभी मीमी और नभी ऊँची मोनियों में प्रवेश किया करता है। यह यत्र तब ता यनता रहता है जब तब आत्मा भी शरीरों और उनके द्वारा भोगों में आलसि धूँ नती जाती।

वृष्टियों के आगार पात्रात्मा ऊँचे गरी उठ पाते। वे बुरत या मरद जैनी कुगित स्थितियों में पड़ते हैं। गृष्टियों के लिए उन्नत शास्त्र में तथा निर्मम ज्ञान के आधार पर वेद ने पितृपाम और वेचपान नाम के दो मार्गों का उद्देश्य दिया है। पितृपान के पक्षिक यस्त्रोक्त में जाते हैं और बहों के गुण तथा आहगा-जना ऐश्वर्य का उपभोग करके पुन इस संसार में मोल आते हैं। श्वपान के पवित्र सूर्यसोक्त में जाते हैं और बहों से स्वर्ग में भी प्रवेश करत हैं। "मने आन" उपभाग की अवधि एक पचास कास की है। इस विद्यास अवधि का पान करके किसी किसी विद्वान ने उसे निर-वधि भी कह दिया है।

अन्त्येष्टि—त्रिया में आर्यजग प्रायः हवन द्वारा शरीर का दाह करते रहे हैं। यह प्रथा पुरातनकाल से अब तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। "मने कुछ अगवाह भी हैं— यथा क्षिप्रु सम्पासी विविष्ट रोग में वस्तु व्यक्ति आदि का दाह संस्कार नहीं किया जाता। इन्हें या तो भूमि में निपात (बाड़ा बना) किया जाता है अथवा जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। जिन देशों में निपात किया प्रचलित है वहाँ सम्भवतः काष्ठ का अभाव रहा होगा और परिस्थिति को देखते हुये उन्होंने अन्त्येष्टि की अपनी पद्धति निकाली होगी। जो जाति जब को गिद्ध चीत्नों द्वारा घाने के लिये छोड़ देती है वह सम्भव है उपयोगिता की दृष्टि से ऐसा करती हो। दाह संस्कार इन सभी पद्धतियों में श्रेष्ठ माना गया है और जिनके यहाँ यह प्रचलित नहीं था वे भी इसे मान्यता देने लगे हैं। विधान के अनुसार मृत व्यक्ति को पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियाँ स्नात कराती हैं। उसके शरीर पर जम्बूनाभि से सुगन्धित सेप किया जाता है। महीन वस्त्र द्वारा उसके शरीर को आच्छादित किया जाता है। शरीर के भार को देखते हुये मृत जम्बून कस्तूरी केसर अगर तमर जम्बून का चूरा कपूर आदि सामग्री एकत्र की जाती है। शरीर के भार से बूना पसाव आदि का काष्ठ दिया जाता है। शमशान भूमि में यदि बेसी न बनी हो तो भूमि को जोव कर बस्ती से दक्षिण आग्नेय अथवा नैऋत्य दिशा में बेसी बनायी जाती है। मृतक का शिर उत्तर, ईशान या वायव्यकोण में रखा जाता है। नेदी की लम्बाई पुरुष के शरीर तथा ऊपर उठे हाथ की ऊँचाई के बराबर रहनी चाहिये। तीन या साढ़ तीन हाथ चौड़ी और छठी के बराबर बड़ गहरी हो। बेदी पर जोड़ा जोड़ा जल छिरकावे गोमय से सपन करे और

काष्ठारि को चिने । सब को रख कर पुन उसके ऊपर जम्बून पसाध बादि की मक-  
दियां चिने । बूत में कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थ मिलावे । फिर बपूर जमाकर चिता  
में छिर से प्रारम्भ करके पेरों तक अग्नि प्रज्वलित कर दे ।

सर्व प्रथम अग्नि होम शोक, अनुमति तथा स्वयं के लिये आहुतियों की जाती  
है । इसके पश्चात् विन मन्त्रों से आहुतियां भी जाती हैं उनमें शरीर के अवयव तथा  
ब्रह्माण्ड के अंशों का सम्बन्ध वर्णित हुआ है जस अणु और सूर्य का सम्बन्ध है । अग्नि  
को सम्बोधन करके उससे प्रार्थना की जाती है कि उसका जो निज स्वरूप है उसके  
द्वारा वह इस मृतक को पुण्यवानों के श्रेष्ठ भ से जाय । मृतक प्राणी नवीन शरीर के  
साथ संयुक्त हो । अग्नि अपने बर्ण द्वारा उसकी रक्षा करे । जिस मार्ग से पूर्व गितर  
गये हैं उसी मार्ग का यह भी अनुसरण करे । अग्नि वह दूत है जो इसे यमासय में ले  
जाता है । यमासय वायु का स्वाम है जिसे अन्तरिक्ष भी कहते हैं । जीवार्त्ता  
यमासय से सूर्य की ओर जाता हुआ अग्नि में प्रवेश करता है फिर अपनी इतियों के  
अनुसार वर्षा के साथ औषधि तथा वनस्पतियों में जाता है । यहां से वह पृथ्वी के शीर्ष में  
प्रवेश करता है और वही के गर्भ में जाकर दसवें महीने में पुन उत्पन्न हो जाता है ।  
यह मार्ग आवायमन के चक्र में पड़े हुये प्राणियों के लिये है, मृत्तज्जातों के लिये नहीं ।  
मुनवात्मा शरीर के छिर में ब्रह्म रूप को फोड़ कर निकसते है । बन्धनग्रस्त जीव या  
तो मुक्त से चक्षु से या नासिका द्वारा निष्क्रमण करते हैं ।

आहुतियों में प्राण पृथिवी अग्नि अन्तरिक्ष वायु, धी सूर्य बिजा अन्ध नक्षत्र  
जस वरुण नाभि बायी शोम शोम चक्षु त्वया मेव मांस स्नायु अस्ति मन्त्रा,  
ऐत पायु प्रायश्चित्त भेषज अन्तक मृत्यु, ब्रह्म आदि का नाम लेकर हवि देने का  
विधान है । पृथिवी मृतक के लिये सुसदायिनी बने । मृत्यु ने ही दूत बन कर इसके  
प्राणों को निकाला है । प्राण अपनी प्रणीति पर आगे बढ़े । इस पथ के जो रक्षक हैं,  
इसे कृत्तमपूर्वक परलोक में पहुंचा दें । यम जो इस पृथिवी और समस्त जगत् को धारण  
कर रहा है और जिसके संकेत पर यह निश्चित ब्रह्माण्ड संघातित हो रहा है वह यम  
सबको नियंत्रण में रखने वाला परमदेव इस मुगति प्रग्त करे । इसके पाप नष्ट हों,  
मृत्यु इसका संगोपन करे और इसे मुक्तियों के पथ पर ले जाने ।

सब-बाह के उपरांत घर को मार्जन भेषज प्रसादन आदि द्वारा शुद्ध करना चाहिये ।  
तीन दिन स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मंत्रा का पाठ और हवन करना चाहिये ।  
तीसरे दिन चिता से अस्थियां उठा कर कहीं श्मशान भूमि में रख दे अवश्या जल प्रवाह  
कर दे । अपने सामर्थ्य के अनुकूल दान-श्रद्धा भी व परन्तु उसमें पात्र और अपात्र  
का ध्यान रहे । ऐसे अवसर पर अपने सम्बन्धी तथा परिचित व्यक्ति एकत्र होते ही  
हैं । उनका भी सम्मान करे और सभी एकत्र होकर दिवंगत आत्मा की मुगति के लिये  
प्रभु से प्रार्थना करें ।

इस प्रकार जिस जीवन-यज्ञ का प्रारम्भ हुआ था उसका अन्त होकर है ।

## १११ । वैदिक संस्कृति और सम्यक्ता

संस्कार आध्यात्मिक पवित्रता के ही नहीं भौतिक पवित्रता के भी सम्यक् साहक हैं । उनमें वायु, प्राण, शक्ति शिक्षा आदि की तो पूर्ति होती है, सांस्कृतिक विकास का भी योग रहता है । जीवन को नियमित बिना की ओर मोड़ते हुये वे उसे सुखी एवं समृद्ध बनाने में सहायता देते हैं और विकास की उच्च भूमिका तक पहुँचा कर आत्मा का परमात्मा से मिलन करा देते हैं । वे (संस्कार) हमारे विकास की आधार शिमा हैं, समन्वित एवं समुचित जीवन यापन के साधन हैं शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ आत्मिक उपलब्धियों के जनक हैं और हमारी बेतना को उसके स्रोत से मिलाने वाले हैं । संस्कारों का इस प्रकार सांस्कृतिक विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस समय उनका रूप कुछ विकृत हो गया है, जिसमें विवेचियों के समर्थ का विरोध है । हमारा कर्तव्य है कि हम अपने संस्कारों के बिबुध रूप को पुनः जागृत करें और अपने विकास में स्वयं सहायक हों ।



## ३ । योग और संस्कृति

### योग का अर्थ

हमारे दर्शन में सौख्य तथा योग का एक युग्म है। सांख्य ज्ञान है तो योग उसका क्रियान्वयन। अंधे भी के ध्योरे और प्रगिटस वो जग्न इन्ही के क्पांतर है। ज्ञान-भारा में एक ओर ब्रह्माण्डीय विज्ञान है तो दूसरी ओर चैतन्य क्षेत्र के नियम। ब्रह्माण्ड में जो व्यवस्था या प्रणाली प्रचलित है वह सहज और स्वाभाविक है। वहाँ नियम परिवर्तन असम्भव है। जो प्रवृत्त चल रहा है, उसमें प्राकृतिक पिण्ड स्वेच्छा से कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। उसकी कोई इच्छा भी नहीं है। इच्छा का क्षेत्र चैतन्य क्षेत्र में घुट्टि मोचर होता है। नियम वहाँ भी है, पर चैतन्य सत्ता प्रकृति की भाँति पर-बल नहीं है। वह कार्य करने में स्वतन्त्र है। नीति शास्त्र (ethics) उसे सत् की ओर प्रयाण करने का उपदेश देता है। चैतन्य सत्ता स्वतन्त्र है। जब वह कभी उस उपदेश के अनुसार कार्य करती है और कभी नहीं करती। करना या न करना उसके हाथ में है। पर जब कार्य जबका अकार्य सम्पादित हो गया तब उसका जो परिणाम होता है, वह उसके भी बल के बाहर है। नीति का नियम वहाँ सक्रिय होता है और चैतन्य सत्ता को अपने कार्य का फल भोगने में परतन्त्र कर देता है। बाप घट का पालन जबका उत्सर्जन करने में स्वतन्त्र है। मोहन की नियमित मात्रा के सेवन जबका असेवन में भी स्वतन्त्र है। पर उसके पश्चात् जो परिणाम होता है उसमें परतन्त्र है। चैतन्य क्षेत्र के नियमों का उत्सर्जन करने से जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, उनसे धक्का कर मानव उस नियम-परायणता की ओर बरबल मुड़ने की आकांक्षा करने लगता है जो प्राकृतिक क्षेत्र में कार्य करती है। यह उसकी उत्पत्ति क्षमता की ओर पराजय है। जब मानव विचारशील बनकर नियम पालन के महत्त्व को हृदयंगम करने लगता है सभी उसके सांस्कृतिक विकास का प्रारम्भ हो जाता है।

सूर्य अपनी गति में रश्मियों की गति एवं प्रत्यागति में स्वतन्त्र नहीं है। उसके धाम्बर मिहित परम तत्त्व उससे बिना किसी बाधा के ऐसा कराता रहता है। जब से सूर्य का जन्म हुआ है तब से लेकर प्रलय पर्यन्त उसे प्राकृतिक नियम का पालन करना पड़ेगा। सूर्य ही नहीं प्रकृति के घने हुये सभी पदार्थों पर यह नियम लागू होता



है। मेरे घर में कई प्रकार के पुष्प लगे हैं। पत्तियाँ सबकी हरी हरी हैं पर पुष्पों के रंगों में भेद है। किसी का रंग खेस है, किसी का साण है किसी का बजनी है और किसी का प्रारम्भ में कुछ परन्तु परिणामन में अन्य। केले के पादप अंकुरित होकर ऊपर उठते हैं और उगमे ऊपर ही ऊपर पत्ते निकलते जैसे जाते हैं। नीचे के पत्ते स्वतः झड़ते भी जाते हैं। बेलें और सतायें अपने पत्ते और रेशे फँसाती हुई बड़ती जाती हैं। कुछ पृथिवी पर फैल जाती है और कुछ बांस आदि का सहारा पाकर ऊपर बढ़ जाती है। यह विविध अन्तः निहित नियमों का प्रकटवर्ती है। सूर्य चन्द्र आदि की अपेक्षा इसमें चैतन्यात्मकता का वैशिष्ट्य है। जीवन यहाँ सक्रिय है परन्तु सूर्य चन्द्रादि की भाँति परबल भी है। इसे मन-मानी करने का अधिकार नहीं है। वामस्पत्य जगत के ऊपर पालन क्षेत्र है। उसमें चैतन्यात्मक अपेक्षाकृत और भी अधिक है पर जिस नीति के तत्त्व को चैतन्य मानव हृदयगमन कर सकता है उसे पशु पक्षी हृदयगमन नहीं कर सकते। अतः सांस्कृतिक विकास की समस्या मानव के समक्ष ही प्रस्तुत होती है, अन्य किसी के नहीं।

संस्कृति के लिये सांख्य की ज्ञान-धारा पुष्ट भूमि का कार्य करती है और योगशास्त्र उसके विकास में तथा गन्तव्य तक पहुँचाने में सहायता देती है। सांख्य वहाँ ब्रह्माण्ड के निर्माण और नियमन का ज्ञान देता है वहाँ चैतन्य क्षेत्र के नियमों की ओर भी निर्देश करता है। इन नियमों को समझ सेना एक बात है पर उनके अनुकूल जीवन को हासना एक दम बुराई बात है। निरीक्षण और परीक्षण दोनों जब साथ साथ चलते हैं तभी चैतन्य का साम्राज्यकार होता है। अतएव सांख्य के निरीक्षण के साथ योग का परीक्षण भी चलना चाहिये।

निरीक्षण ज्ञानात्मक है परीक्षण क्रियात्मक। निरीक्षण में तो नहीं पर परीक्षण में अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति भी अन्तः तथा बाह्य दो प्रकार की है। बाह्य अभिव्यक्ति आचरण सम्बन्धी है जिससे साम्यता का जन्म होता है। अन्तः अभिव्यक्ति में आन्तरिक प्रकाश होता है जो संस्कृति का जनक है। प्रकाश बाहर भी है पर जब भीतर प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगे तो समझना चाहिये कि मानव सांस्कृतिक विकास में प्रगति कर रहा है। प्रकाश भी अन्तिम स्तर नहीं है। उसके जाने भी कई पड़ाव या भूमिकार्य हैं जो साधना द्वारा अथवा उपबन्धनों पर आश्रित हैं। योग दर्शन के अष्टांग इसी साधना के अपर रूप हैं। योग के इन आठ अंगों को हम आठ सीढ़ियाँ भी कह सकते हैं। जैसे सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ व्यक्ति अन्त में छत पर पहुँच जाता है वैसे ही इन अष्टांगों को पार करता हुआ साधक अपना ब्रह्म या अर्चनम निष्कम्प परमात्मवर्त्मणी अथा अवस्था को प्राप्त कर लेता है। साधना जैसे शकल है, पर उसके पश्चात् जो विद्याम भूमि प्राप्त होती है वह महिष्ट-वरिष्ट एवं श्रेष्ठ है। मानव के निरतिष्ठ प्रयत्नों का अन्तिमोत्पत्ति इसी अवस्था में होता है। उसकी सौकर्य और मूल भी इसी गन्तव्य को समझ रखकर उदयन होती है। जब वह साकस्य

साम नहीं करती सभी मानव अन्तः साधना की ओर प्रवृत्त होता है ।

## स योग के अष्टांग

महर्षि पतञ्जलि ने योग वर्णन में निम्नांकित आठ अंगों का वर्णन किया है — यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इन अंगों में एक क्रम है । प्रथम अंग से लेकर अष्टम अंग तक क्रमशः आन्तरिक आरोहण होता गया है ।

अभिव्यक्ति को हमने अन्त तथा बाह्य दो रूप दिये हैं । बाह्य अभिव्यक्ति को हमने आचरण से सम्बन्धित किया है । यह आचरण निश्चित रूप से समाज-सापेक्ष है । जो कुछ हम करते हैं उसका हम पर हमारे परिवार पर और हमारे समाज पर प्रभाव पड़ता है । आन्तरिक आरोहण के लिये आवश्यक है कि हम इस आचरण को संयत करें । व्यक्ति का असंयत आचरण स्वयं उसके लिये और समाज के लिये भी नुक़्कारक है । उससे स्वस्थि नहीं अस्वस्थि स्थापित नहीं, अस्वास्थ्य का जन्म एवं प्रसार होता है । यह अवस्था योग में विघ्नकारक है । अतः समाज-सापेक्ष आचरण को जितना अधिक संयत किया जायगा उतना ही अधिक वह सामक के लिये श्रेयस्कर होगा । योग का प्रथम अंग यम समाज से सम्बद्ध इसी व्यक्तिगत आचरण को संयत करने के लिये है । अन्त आरोहण की यह प्रारम्भिक सीढ़ी है । आन्तरिक प्रवेश से पूर्व हम बाहर ही तो होंगे । बाहर से ही तो हम अन्त प्रवेश करेंगे । यदि बाह्य भूमिका व्यवस्थित एवं स्वस्थ हो गयी तो आन्तरिक आरोहण भी सुगम हो जायगा ।

ग यम

१ अहिंसा-यम पाँच है — अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । अहिंसा साधनपक्ष में तथा समाज की सापेक्षता में सर्वप्रथम स्थान पाती है । मैं जिनके सम्पर्क में आता हूँ उनके प्रति हिंसा का व्यवहार न करूँ न उनके शरीर को क्षेप दूँ और न उनके मन को तो अधिक सम्मानना यही है कि वे भी मेरे प्रति हिंसा का व्यवहार नहीं करेंगे । यहाँ हम जान-बूझ कर सम्मानना शब्द का प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि सम्मानना इस बात की भी है कि मैं अपनी ओर से जिनके प्रति द्वेष-भाव नहीं रखता वे अकारण भी अपनी मन स्थिति के अनुसार, मुझ से द्वेष करने लगते हैं । उनके व्यवहार पर मैं अकुल नहीं जमा सकता । मेरे अधिकार में इतना ही है कि मैं अपनी ओर से उनके प्रति विगत द्वेष हो जाऊँ और यदि प्रतिक्रिया के रूप में कहीं उनके द्वेष के विरोध में मेरे मन में भी द्वेष भाव की उत्पत्ति होने लगे तो अपनी साधना को निर्विघ्न रखने के लिये आवश्यक है कि मैं उस द्वेषी को प्रभु के ऊपर छोड़ दूँ । मैं अपनी ओर से किसी से भी द्वेष नहीं करता पर यदि कोई जान-बूझ कर मुझ से द्वेष करता है तो उसे प्रभु ही देखें । ब्रह्म-यज्ञ के अन्तर्गत मनसा परिक्रमा के मार्गों के अन्त में इसी भाव की ओर संकेत किया गया है । द्वेष और हिंसा भाई-बहन हैं ।

द्वेष विद्युत् रूप से मानसिक है परन्तु हिंसा मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार की है ।

साधक बहिष्कृत है । यदि उसके सम्पर्क में आने वाले भी बहिष्कृत हों तो साधना का पथ सुकर होगा । हम नृत्यागकारी पथ पर जहाँ इससे निम्ने आवश्यक है कि हमारा संसर्ग बहिष्कृत व्यक्तियों से हो । निम्नांकित श्लोका में इसी भाव का वर्णन है —

स्वस्ति पन्था मनु चरेम सूर्या चन्द्र मसाधिप ।

पुनर्वदताम्भता जगता संगमे महि ॥

सूर्य और चन्द्र जिस पथ पर चल रहे हैं वह स्वस्ति का पथ है कस्याण का मार्ग है स्वास्थ्य संपादन की प्रणाली है । इस पथ में कोई किसी का द्वेषी नहीं है । सूर्य चन्द्र पृथिवी बृहस्पति आदि सभी मिल कर चल रहे हैं । इनका परस्पर मैत्रीभाव सभी की स्थिति को सुबुद्ध बना रहा है । साधक को इसी प्रकार के मंचल पथ का अनुसरण करना है । मंचगत अन्नता तन्त्र बहिष्का की ओर स्पष्ट निर्देश कर रहा है । बहिष्का ही मैत्रीभाव की भी अभिव्यक्ति है । निम्नांकित मन्त्र में मित्रभाव की व्यापकता अभिव्यक्ति हुई है —

दुतेबुद्ध भामिभस्य जगुषा सर्वाभिसूतानि समीक्षताम् ।

मित्रस्याहं जगुषा सर्वाणि सुतानि समीक्षे । मित्रस्य जगुषा समीक्षामहे ।

प्रभु, आप बृद्ध हैं । आपके समान बृद्ध यहाँ कोई भी नहीं है । नाब ! कृपा करो और मुझे भी बृद्ध बना दो — ऐसा बृद्ध जिसे अनुभव करके सभी प्राणी मुझे मित्र दृष्टि से देखने लगे । मैं तो सबको मित्र दृष्टि से देख ही रहा ॥ । यदि अन्य भी ऐसा ही करने लगे तो मैत्री भाव का एक सुन्दर चक्रिक एवं कस्याणप्रद वातावरण उत्पन्न हो जायगा जो सभी के लिए हितकर सिद्ध होगा ।

वेद में यज्ञ के लिये अन्न अन्न आता है । अन्न का अर्थ ही है बहिष्का । प्रभु अन्न में बितने प्रसन्न होते हैं । आगता विज्ञाते ॥ उतने अन्न किसी में नहीं । 'बसुर्वसुनामसि चाररधरे' । प्रभु बसुओं के भी बसु है । बसाने वालों के भी बसाने वाले हैं । साधक शक्तियों में निहित निहित सामर्थ्य के बही स्रोत है । जो सगता बन गया जिसने अपने को प्रभु को समर्पित कर दिया वह इतना बलवान् हो जाता है कि उसे अपने कार्य के सम्पानन में किसी की भी हिंसा नहीं करनी पड़ती । उसका बहिष्कामय जीवन प्रभु को भी प्यारा लगता है । उसके बहिष्कामय चरित्र से प्रभु प्रसन्न होते हैं । वेद में अनेक बार द्वेष को दूर करने की प्रार्थनाएं आती हैं —

अविद्वेषम् कुनोमि व । आरेवेवा द्वेषीप्रमत् ।

विषया द्वेषासि प्रभुमुन्वि अस्मत् ।

बाबि मग्न वहीं में इसी प्रकार की प्रार्थनाएं बिद्यमान हैं। भगवद्भक्तिक दृष्टि से इन प्रार्थनाओं का बड़ा महत्त्व है। द्वेष-रहित मन विभुम्ब नहीं हो पाता। विभोम की तरंगों से जो बच गया वह निश्चितरूप से इस प्रार्थन से पार हो गया। उसी का जीवन वास्तविक अर्थों में शांति और सुखी है।

वीर की अहिंसा और कायर की अहिंसा में अन्तर है। प्रथम अनुकरणीय है, द्वितीय नहीं। कायर की अहिंसा को अहिंसा का नाम देना भी अनुचित है। वीर नहीं है जो अपनी अहिंसा के बल से स्वयं न झुक कर अपने शत्रु को झुका है। कायर तो शत्रु को देखते ही स्वयं झुक जाता है। परिस्थितियाँ कभी-कभी ऐसी भी आ जाती हैं जिनमें हिंसा भी अहिंसा का रूप धारण कर लेती है। ऐसी हिंसा एक का विनाश करके अनेकों का संस्तरण कर जाती है। अत्याचारी के अत्याचार का प्रतिरोध होना आवश्यक है, अन्यथा न जाने कितने व्यक्ति उसके क्रूरचार के आशेट बनें। अत्याचारी कोई भी क्यों न हो स्त्री हो चाहे पुरुष उसका बल जन मंगल के लिये अनिवार्य है। यदि वह समझाने-बुझाने से अपने क्रूर कर्म से विरत हो जाता है, तो अच्छा है अन्यथा उसे उसके शरीर से पुष्कल कर देना ही उचित है। अजुन के सामने युद्ध के प्रारम्भ में ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिसमें वह युद्ध से परामुख होने का रहा था। धनवान् कृष्ण ने शरीर की मरकरता और आत्मा की अमरता का उपदेश देकर उसे युद्ध के लिये सज्ज कर दिया। हिंसा की भी उन्होंने एक नयी परिभाषा दी —

य एन वेति हृत्पारयश्चेनं मम्यते हृतम् ।

जसो सी व बिजाजीतो नाम हन्ति न हृष्यते ॥

शरीर का विनाश आत्मा का विनाश नहीं है। शरीर एक वस्त्र है जिसका प्रयोग आत्मा करता है। यदि यह प्रयोग अनुचित है, जन-मंगल-विधायक होने के स्थान पर जनमंगल-कारक है तो आत्मा को ऐसे शरीर के प्रयोग से संबंधित कर देना अत्यन्त कल्याणकारी कर्म है। वीर को जहाँ भीटी की हत्या से दुःख होता है जहाँ दुर्भाग्य शाला को नष्ट करने में जानना का अनुभव भी होता है। अहिंसा इस प्रकार बाह्य परिस्थिति को योग-साधना के लिये उपयोगी बना देती है।

## २ सत्य

वार्त्तिक दृष्टि से सत्य सत्तात्मक सत्य है। सत्ता, अस्तित्व, स्थिति बाबि इसी सत्य पर अवलम्बित है। वैयक्तिक सत्ता सामाजिक सत्ता का एक बंग है। समस्त सत्ताओं का आधार सत्य ही है। जिन जिन उपादानों से स्थिति सम्भव होती है वे सभी उपादान सत्य में संनिहित माने जायेंगे। विश्व भर की व्यवस्थिति सत्य नियम पर ही अवलम्बित है। वेद कहता है— सत्यमेव जयते भूमिः उपधा जल्पम् बृहत् अतम् उद्यम् भीमा तपो बह्म यत् पृथिवीं वारयन्ति। पृथिवी क

माधार सत्य है। बीसा, तप आदि में भी सत्यरूपी साधन का स्थान अग्रगण्य है। यह सत्य बृहत् है। मेरी सत्ता ही नहीं बिम्ब भर की उता सत्य पर आधारित है। मन्त्रों में पृथिवी त्वय का प्रयोग हुआ है परन्तु वहाँ उपसमास से पृथिवी का अर्थ निश्चित ब्रह्माण्ड सेना चाहिये जिसमें पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः तीनों परिगणित हैं।

सामाजिक पक्ष में सत्य का तात्पर्य सत्य व्यवहार है। समाज में अनेक व्यक्ति हैं। उनमें कभी परस्पर अनुकूलता होती है और कभी प्रतिकूलता। प्रतिकूलता से अशांति उत्पन्न होता है। उसमें वैयर्थ्य तथा वैपरीत्य की भावनायें जागृत होती हैं जिनसे अशान्ति फैलती है जो मानव के अस्तित्व के लिये एकान्त अवाञ्छनीय है। प्रतिकूलता के मूल में असत्य व्यवहार न्याय पर आधारित नहीं होता। अत्याय का प्रसार स्थिति परक नहीं विषय का जनक है। उक्त स्वार्थ की पूर्ति के लिये जब मानव सत्य और न्याय का पसा बोटने लगता है, तब समाज में बिजोम का उत्पन्न हो जाता सामाजिक है। जो मार्ग हमारी प्रवृत्ति का उन्मूलक है, उस पर हम क्यों चढ़ते हैं? अपने आप अपने पैरों में क्यों कुल्हाड़ी मारते हैं? क्यों हम अपने ही द्वारा अपने ही कर्मों से अशान्ति का बाह बाल करते हैं? ये प्रश्न और इनका समाधान मानव इतिहास की गम्भीर समस्या बन गये हैं। साधक के लिये समाधान सीधा है। उसे असत्य नहीं सत्य को अपनाता है। वह सत्य का पक्षपाती बनेगा और सत्य का ही व्यवहार करेगा। उसे अशान्ति नहीं अपने अतुल्य शान्ति का वासुदेव बनाना है। यह उसकी साधना के लिये आवश्यक है। यद्वाक और सत्य अर्थात् वचन और व्यवहार वाणी और कर्म दोनों को ही उसे सयत् करना है। वाणी में श्रुति है यति है। वह एक मुख से निकल कर अनेक श्रवणों में होती हुई मन रूपी अन्तरिक्ष में विहार करती है, प्रसार करती है। सत्य का व्यवहार भी वाणी के समान गतिशील तो नहीं पर सामाजिक स्थिरता के लिये अतीव अपेक्षित है। इसका प्रभाव यति पर पड़ता है। यति ही प्रवृत्ति की ओर से जाती है और वह अपने क्रम में कर्मठता को जन्म देती है। इस प्रकार अत्योपस्थानित होकर वे एक दूसरे के सहायक सिद्ध होते हैं। सत्य की सन्तति सत्य की रक्षिका बनती है और साधक का सामाजिक पक्ष विघ्न-बाधा-विहीन बन जाता है। सत्य का व्यवहार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिये। चाहे आप शिक्षक हों, रक्ष-सुरक्ष योद्धा हों प्रजा पालक नायक हों उद्योग व्यवसाय निपुण व्यापारी हों अथवा अम-जीवी सेवापरायण सामान्य जन हों सत्य का व्यवहार आपके साध रहना ही चाहिये। शिक्षा से जब सत्य निर्वासित होता है तो समाज में भ्रम अविद्या तथा अज्ञान पनपते हैं। रण से जब सत्य भागता है जनजा शासन से उसे दूध करना पड़ता है, तो प्रजा में विद्रोह की ज्वाला बलकने लगती है और मातृस्य न्याय की अन्धेर यहीं जलने लगती है। सत्य विरहित व्यापार समाज में भ्रष्टाचार

को प्रेरित करता है और जब सत्य का अम अथवा सेवा में आवास नहीं रहता, तो सारा समाज का भवन बड़ा-से बरगसायी हो जाता है। अतः सामाजिक हित के लिये सत्य का व्यवहार परमावश्यक है। वेद इसीलिये कहता है —

(१) सत्यमुच्यते एवाहि वाक्— मनुष्यों को सत्य ही मोक्षदा चाहिये और वैसा ही आचरण करना चाहिये।

(२) शान् सत्यस्य सुयमस्य शान्— वह सत्य जो संयम सहित बोला जाता है, निश्चित रूप से कल्याणकारी होता है। परजन्म ने सत्य को इसी हेतु यनों के अन्तर्गत रखा है।

(३) शान् सत्यस्य पतसोमवन्तु— सत्य के पात्रक, उसकी रक्षा करने वाले अर्थात् सत्य पत्र पर आश्रय बन कल्याण भाजन बनते हैं।

(४) सुविज्ञानं चिकित्सये ज्ञानाय सत्त्वा सत्त्वा ब्रह्मसी पस्पृष्यते।

सयोर्वेत् सत्यं यत्तरत् ब्रह्मीयः सविस् सोमोऽश्नति हन्त्यासत्।

मानव जब सत्य विज्ञान की ओर बढ़ता है तब सत् और असत् दोनों ही उसके समक्ष प्रतिलिपि पूर्णक उपस्थित होते हैं। परन्तु दोनों में जो सत्य है, जो सत्य है मन्वान् उसी की रक्षा करते हैं और असत् को समाप्त कर देते हैं।

(५) असत् भूम्याः सममवत् तद्यामेतिमहद् व्यक्त

तत् तत्तौविभूपायन् प्रत्यक् कर्तार भुञ्जति।

असत्य भूमि से निकल कर एक बार तो आकाश तक फैल जाता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यही सब कृष्ण है। परन्तु होता है वह भूत-पृथ्वी, बुद्धि के महान के समान। रावण या हितसर भी इसी प्रकार एक दिन सारे संसार पर छाये हुए थे, परन्तु भूत में पुण्य के न रहने से एक दिन अपने समस्त संसार को लेकर वे बरगसायी हो गये। जिस असत् ने संसार को संतप्त किया था, उसने अपने फैले हुए रूप को समेटा और खीट कर अपने कर्त्ता की ही संतप्त किया। वह संतप्त ही नहीं हुआ अपितु जड़-भूत से नष्ट हो गया। पुण्य की जड़ हरी होती है। पाप की जड़ होती ही नहीं। सत्य पुण्य है, असत्य पाप है। वेद के शब्दों में—

बुद्ध्या क्ये व्याकरीत् सत्यानृते प्रजापतिः।

अमर्त्या अनृतेऽप्यात् अर्थाच्छैत्ये प्रजापतिः॥

अतः और अनृत सत्य और असत्य दोनों में प्रजापति ने भेद कर दिया है। उसने अनृत में अमर्त्या तथा सत्य में अर्थात् को स्थापित किया है। इसी हेतु अर्थात् नाम्ना सत्य को ग्रहण करता है और असत्य को अमर्त्या समझ कर छोड़ देता है।

अतस्य हि भुवनः तन्नि पूर्वो अतस्यवीर्यवृत्तिनामि हन्ति।

अतस्यानृतेको बहिरा तत्तर्क कर्त्ता भुवान् भुवनानः आयोः।

अत की बाणी शोक को अपमयन करती है। अत के चारण करने से पाप

गष्ट होते हैं। अतः अनुष्ठान के स्थान पर ऋत का ही धरम करना चाहिए। जो व्यक्ति ऋतमयी बाणी को नहीं सुनते उनके बहरे कानों को ऋत का उद्बोधन फाड़ डालता है। उन्हें बाध्य होकर ऋत की बाणी सुननी पड़ती है। सत्य को स्वीकार कर सेने से मानव शुचि एवं पवित्र हो जाता है।

सत्य का यह सामाजिक रूप साधक की सामना सुमि को निष्कण्टक बना देता है।

### ३ अस्तेय

किस्ती के अधिकार का अपहरण स्तेय अथवा चोरी है। इससे विनम्र रहना अस्तेय है। जिस व्यक्ति ने अपने परियम से वन अर्जित किया है, उसके वन को जब कोई दूसरा व्यक्ति लूट-छिन कर अपहृत करने लगता है तब उसका कर्म भीम जैसे पाहित पाप में सम्मिश्रित होता है। यह कार्य छिप कर किया जाता है वन के स्वामी की धृष्टि बचा कर किया जाता है और छिपा कर रखा भी जाता है। अतः चोर की यह धृष्टि समाज की धृष्टि में अत्यन्त निम्नगामी समझी जाती है। जिस कार्य को हम शिष्ट ब्रह्मके सबके समक्ष नहीं कर सकते वह स्वतः सामाजिक कार्य है। असामाजिक कार्य ऐसे भी हो सकते हैं जो गुप्त हों परन्तु धर्म-सापेक्ष हों। ऐसे कार्य पाप के क्षेत्र में नहीं आते क्योंकि उनमें किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता परन्तु जो कार्य धर्म-विरुद्ध है और छिप कर किये जाते हैं उनके करने में सर्व प्रथम तो अपना आत्मा ही हितकटा है। जब वही कार्य बार-बार किया जाता है, तो आत्मा की हित किबाहुट भी दूर होने लगती है और मानव निर्लज्ज होकर उस कार्य के करने का अभ्यासी बन जाता है। अन्त्य के अधिकार का अपहरण चोर पाप है। महापापियों का वर्णन करते हुए ज्ञान्दोम्य उपनिषद् के पंचम अध्याय के दसवें खंड के नवम प्रकाश में कहा गया है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरा पिबन्वच पुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैतेपतन्ति चवारः ।

पंचमवशा चरन्तैरिति ।

स्वर्ग की चोरी करने वाला सराब पीने वाला गुरु पत्नी से व्यभिचार करने वाला ब्राह्मण की हत्या करने वाला ये चार और पाँचवा इन चारों का साथी पतिव्रत और पापी होते हैं। यहाँ पाँच पापियों में सर्व प्रथम स्वार्थ चोरी करने वाले को दिया गया है। सामाजिक मर्यादा भी यही है कि जिसने जो कमाया है उसका वह स्वतन्त्रता से उपयोग कर सके। जब इस मर्यादा को भंग किया जाता है तो कर्त्तव्य पर आघात पहुँचता है। कमाने कोई और तथा उसका उपयोग करे कोई और, और वह भी कमाने वाले तथा समाज की भी आँख बचाकर। यह पाप निःसन्देह महापाप है। छिपाकर किये गये चौर्य कर्म की ओर देव ने भी निर्देश किया है। यथा—

पवमान तापु गृह्य धत्तन्तम्

### अथवा

बने बने सिधिये तपस्वीरिव ।

वेद ने इन पदों में जोर के लिये तायु और तपस्वी शब्दों का प्रयोग किया है । निरुक्त ४/२१ में तायु का अर्थ करते हुए महर्षि यास्क ने लिखा है—

तायु रिति तृप्येन नाम ।

संस्थानमस्मिन् पापार्थ इति नेदस्ता :

तस्यते वा स्यात् ।

अर्थात् तायु जोर का नाम है । नेदस्तों का मत है कि जोर में पाप एकत्र हो जाता है । जोर छिन्न कर जोरी करता है अतः उसे देख कर मनुष्य विस्ताने लगते हैं वह आया वह आया वह आया । वनापहरण से मानव क्लेश में पड़ता है उसका परिवार क्लेश में पड़ता है और जो चुराता है वह भी क्षत्रिक संतोष मने ही प्राप्त कर ले पर अन्त में उसकी भी पुनर्ति होती है । वह क्षिप्त-क्षिप्त भूमता है । कहीं वन का आग्रह होता है और कहीं गुहा का अथवा गुह्य स्थान का । उसे भी क्षय-क्षय में अपने प्राण संकट में पड़े दिखाई देते हैं । ऐसे गृहित कर्म को जो सभी को संकट में डालता है मानुष क्यों करने लगता है वह समझता है कि उसे कोई नहीं देख रहा पर कोई देखे या न देखे, वह स्वयं तो उसे देख ही रहा है । फिर सन्नित्योमी प्रभु की दृष्टि से तो कोई बच ही नहीं सकता । हम गुहा से गुह्य स्थान में आकर बैठें । वह मने ही प्राणियों की पहुँच से परे हो पर सर्वज्ञ भगवान् तो सब कहीं बिद्यमान हैं । वे सब को देख रहे हैं सब कार्यों और सब स्थानों में देख रहे हैं । मूढ़ मानव बचना चाहता है, पर बच नहीं पाता । जीव्य कर्म का फल उसे भोगना ही पड़ता है ।

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है— 'मात्स्व स्तेन ईक्षत' जोर तुम्हारे ऊपर शासन न करे । सामाजिक पक्ष में यह निर्वेद शासक के प्रति है । शासक, शासन करने वाला प्रजा के जन की जोरी न करे क्योंकि ऐसा करने से वह निरीह प्रजा का शासक नहीं, शोषण करने वाला बनेगा और प्रजा के अनुराजन के स्थान पर प्रजा का पीड़न करेगा । शासन का यह रूप पाप का रूप है । अथर्वम पत्र में जीव्य का भाव मुझे ब्रह्म न मे अर्थात् वह मेरी सत्ता पर अधिकारी न बन बैठे ऐसा समझा जायेगा । जीव्य कर्म मुझे भीतर से अशुद्ध करेगा और बाहर समाज द्वारा अशुद्ध करावेगा यह दुहरी मार मेरे आध्यात्मिक एवं सामाजिक अस्तित्व को, मेरे नाम और लोक को मेरे व्यक्तित्व और यश का समाप्त कर देगी ।

वेद भगवान् के ही शब्दों में 'मत्स्येय मन्त्रि' मुझे जोरी करके नहीं जाना चाहिए । भगवान् ने मुझे खरीद लिया है जानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ वी हैं मन और बुद्धि प्रदान किये हैं—ऐसे रत्नों को पाकर भी मैं जोरी कर्क पराये रत्नों पर हाथ फेंकूँ यह मेरे लिए अत्यन्त अनोमनीय है, सज्जा की बात है । रत्न मेरे पास हैं जिनका



उपयोग करके मैं अनेक रत्नों का उद्धार कर सकता हूँ। इसी में मेरा पौष्ट है और इसी में मेरे अंग इसी रत्नों की शोभा है। दूसरे के रत्नों पर मेरा अधिकार नहीं है। अनधिकार चोरी के वर्जनीय पाप से पुनः रहने में ही मेरा कल्याण है।

अपुत्र के निम्नांकित श्रम भी शीघ्र कर्म से विरत रहने का आदेश देते हैं—

स्तेनं दायसारमेव तरकर वा पुनः शर ।

स्तोतुम इन्द्राय रामसि किमरमानं बुधटु-नापते मित्रवच ७/२२/१

यो नो रसं हिप्सति पितृषो अथे यो अरवाणां यो गवां परतनूनाम् ।

रिपु रतेन रतेमहव बभ्रमेतु मिव हीयतां तम्बा तना च ॥ ७-१०४ १०

भयवध-भक्तों की ओर पाप अथवा उत्तरा फल-वर्गित-नहीं आ सकते। वे वहाँ जाने की अपेक्षा स्वयं कष्ट में विराम करते हैं अथवा ओर और तस्कर के पास पहुँचते हैं। चोरी करने वाला ओर समझता है कि उसने किसी के अन्न को अन्न को, पशु को या अन्य सामग्री अथवा इनके निचोड़ को छीन लिया है पर वह मरान्वय यह नहीं समझता कि वह किसी अन्य को नहीं अपने को ही चोरा दे रहा है अपने को ही नीचे गिरा रहा है और अपने शरीर तथा सम्पत्ति के साथ हीन मान को प्राप्त हो रहा है। उसे भविष्य दिखाई नहीं दे रहा है अपनी जीवन-यात्रा के बीच पथ के उसे दर्शन नहीं हो रहे वह तारकालिक शत्रु एवं लाभ को ही सब कुछ समझ रहा है। वह नहीं जानता कि जिस घन की वह चोरी कर रहा है वह घन उसके पास भी नहीं रह सकेगा। उसने एक से छीना है तो उससे भी वह छिन जायेगा, विलय हो ही जायेगा। अन्धता सदमी की अनिष्टकर उपमर्श करके आज तक कोई सुखी नहीं हुआ। ओर क्या बाकू भी बड़े बड़े छीस मार खा भी इसको यहाँ छोड़ कर चले गये। दुर्जन मानव ! क्या यह घन लेना साथ दे सकेगा ? अस्तेय अर्थात् चोरी न करना इसीलिये यमों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है क्योंकि यह सामाजिक पाप किसी भी साधना-योग को उभरने और पमपने नहीं देता। उसे अनुर्वर बना देता है।

#### ४ ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है— शीघ्र रक्षा शैक्षिक उत्तेजना के बन्धीभूत न होना, अथवा निष्पत्ति तथा व्यभिचारी न होना। जो व्यक्ति इन्द्रियों के संवेदों पर नियंत्रण रखता है, वह इन्द्रियजयी कहलाता है। ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय पुरुष पर्यायवाची शब्द हैं। ब्रह्मचर्य का एक विशेष अर्थ भी है जिसके अनुसार ब्रह्मचारी उस व्यक्ति की संज्ञा है जो ब्रह्म में विचरण करता है। ब्रह्म का अर्थ है विशालता अस्पृष्टता इसका विलोम है। विशालता एक कायस्थान भूमा भी है। भूमा का अर्थ है अस्तित्व की पराकाष्ठा। स्रु अर्थात् भवन होगा अथवा अस्तित्व की जहाँ मा अर्थात् मिति या सीमा है। यह ब्रह्म के समुद्र है। जो विशालता में रमण करता है जिसकी वृत्ति संकुचित या संकीर्ण नहीं

है, वही ब्रह्मचारी है। ब्रह्म का अर्थ वेद ज्ञान और परमेश्वर भी है। इनमें विचरण करने वाला भी ब्रह्मचारी का अभिधान प्राप्त करता है।

सामाजिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ अधिक उपयुक्त ज्ञान पढ़ता है। माध्यमिक दृष्टि से विशिष्ट अर्थ का अधिक महत्व है। यमों को हमने सामाजिक रूप दिया है। अतः सामान्य अर्थ को लेकर ही हम यहाँ कुछ विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

सञ्चरित का अन्वय इन्द्रियज है। ब्रह्मचर्य इसी इन्द्रिय-ज का वाचक है। ब्रह्मचर्य शरीर के अवयवों को पृष्ट करता है। इन्द्रियों का तेज उसी की देन है। पुरुष का पुरुषार्थ उसी के अन्तर प्रतिष्ठित है। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह नहीं किया, वह दुर्बल इन्द्रिय होकर पुरुषार्थ से हाथ धो बैठता है। वेद कहता है—

इच्छन्ति वैवाः सुखमन्तम न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।

वेदता पुरुषार्थ की, सोम-सवन करने वाले की इच्छा करते हैं निस्सोपी, किर्कटव्यभिमुख निद्राग्रसित प्रमादी पुरुष की स्पृहा वेद नहीं करते। दिव्यता वैवी तेज पुरुषार्थ व्यक्ति की ही सम्पदा है। प्रमादी पुरुष की नहीं। ब्रह्मचर्य से यह वैवी सम्पदा सुप्त हो जाती है। इस सम्पदा का बनी समाज में समावृत्त होता है। समाज को भी उससे हानि नहीं पर्याप्त लाभ होता है। समाज में उसका स्थान सुरक्षित होता है और समाज उसके द्वारा अपनी सुरक्षा अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति साधना के लिये योग्यतम माना गया है। निर्बाध वातावरण में ही साधना फलदायी और फलदायी है।

निरक्त के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के अन्त में रूपक द्वारा महर्षि यास्क, विद्या के एक ब्राह्मण की प्रशंसा करते हुये लिखते हैं— विद्या ब्राह्मण के पास पङ्कजी और कहने लगी कि मैं तेरी निधि हूँ। तू मेरी रक्षा कर। जो निष्क हो बठोर हो सरल मार्ग से पृथक् हो और जितेन्द्रिय न हो उसे मेरा उपदेश मत करना क्योंकि ऐसे व्यक्ति के हाथों में पड़कर मैं निर्भीक हो जाऊँगी। यदि मुझे बिर्यवती रखना चाहते हो, तो मेरा उपदेश ऐसे ब्राह्मण को दो जो पवित्र हो अप्रमत्त हो और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हो। इसी प्रकार का ब्राह्मण मुझसे और तुमसे अर्थात् दोनों से ही प्रेम करने वाला होगा। उसके मन में हम दोनों के प्रति कभी द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं होगी।

महर्षि यास्क ने इस स्वयं पर ज्ञानी तथा विद्या के उपदेष्टा ब्राह्मण को ही विद्यास्पी निधि का एकक बतलाया है। वही वास्तविक अर्थों में ब्रह्म में विचरण करने वाला जितेन्द्रिय तथा संयमी होता है। ज्ञान वान देने वाला यदि स्वयं संयमी नहीं होया तो वह अपने शिष्यों को संयम का पाठ नहीं पढ़ा सकेगा। विद्या का अर्थ कापी और विद्या का वान करने वाला ब्राह्मण स्वयं को अपनी साधना के लिये अनिवार्य एक दितकर समझता है।

सामान्यतः सभी मानवों को संयम चारण करना चाहिये, क्योंकि सोच-भाषा के

सिधे वह आवश्यक है। यास्क ने निरुक्त ५.१६ में स्त्री काम पुरुषस्य, धर्मिचारी पुरुष को मिथ्ययी और कामुक पुरुष सिखा है। ऋग्वेद १/१०४/५ में निम्नांकित प्रार्थना आती है —

मानो मन्त्रे मिथ्ययी परा वाः

यास्क इसकी व्याख्या करते हुये लिखते हैं —

मिथ्ययी स्त्री कायोजवति । स यथा धर्मानि विनाशयति मा नस्वम तथा परावा ।

मिथ्ययी धर्मिचारी होता है। वह जैसे वन को नष्ट करता है वैसे तु हमें मत नष्ट कर। वेद में ऐसे स्त्री-कामी हिंस-भरायण व्यक्ति की निन्दा की है, क्योंकि वह न अपने लिये हितकर सिद्ध होता है और न समाज के लिये। विकास के योग जिस साधन पर की प्रशंसा की जाती है उसके लिये तो वह नितास्त अयोग्य है। जो ब्रह्मचर्य जीवन का हेतु है ( मरणं विन्दु पातेन जीवनं विन्दु वारणात् ) वही साधना की भी आधारशिला है। सांस्कृतिक उत्थान इसी के ऊपर अवलम्बित है। अथर्व वेद ११/५ में इसीलिये उसे प्राण का प्रतिष्ठाता धीर्ष जीवन का वाता बुद्ध-क्लेशों का अपहर्ता और सम्पूर्ण विद्याओं का वाता कहा गया है। ब्रह्मचर्यरूपी उप को वारण करके ही राजा राज्य की रक्षा करण में समर्थ होता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य की साधना करके ही ब्रह्मचारी पुत्रों तथा शिष्यों को उत्पन्न कर पाता है।

## अपरिग्रह

ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना। परिग्रह का अर्थ है चारों ओर से ग्रहण करना। अपरिग्रह इसके विपरीत ग्रहण-कर्म से परांमुक्तता है। हम सबके पास अटीर है और इन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का कर्म ग्रहण करना अथवा उसमें सहायक होना है। इन इन्द्रियों की सहायता से मैं अनेक पदार्थों को ग्रहण करता हूँ सब सुनता हूँ रूप देखता हूँ स्वाद चखता हूँ गुण ग्रहण करता हूँ ज्ञान भी प्राप्त करता हूँ। इन सभी में ग्रहण की क्रिया किसी न किसी रूप में सम्मिश्रित है, परन्तु अपरिग्रह में जिस ग्रहण का निषेध किया गया है, वह गुण ग्रहण अथवा ज्ञान ग्रहण से भिन्न है।

विश्व में विविध प्रकार के पदार्थ हैं। मानव की आकांक्षा रहती है कि वह इन सबको स्वायत्त करे ( पुरुषकामो हि मर्त्य ) पर यह सर्वत्र उसके बल की बात नहीं होती। पदार्थों को लेने के लिये मानव को कुछ मूल्य देना पड़ता है। भारतवर्ष के पास आधुनिक युग के अणु बम तथा उन्नत बम नहीं हैं। जिनके पास हैं, वे मूल्य लेकर ही इन्हें अपने पास से पुनः होने देंगे। एक अणु बम के तैयार करने में लगभग ८० हजार रुपया व्यय होता है। जो देश निर्धन हैं वे अणु बम के बनाने अथवा क्रय करने में असमर्थ रहेंगे। इसी प्रकार राकेट मिसाइल विमान पनडुब्बी आदि को उपलब्ध करने की भी निर्धन देशों के सामने एक समस्या ही है। यह तो क्षात्र क्षेत्र

सामान्य जनता के लिये दुष्कर एवं समाधान से परे है। अतः यह तो निश्चित ही है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को उपसम्भ करने में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में अपरिग्रह का प्रश्न उठाना क्या निरर्थक नहीं है ?

जब हम मानव के असामर्थ्य पर विचार करते हैं, तब निःसंदेह इस प्रकार के प्रश्न प्रस्तुत हो ही जाते हैं। फिर भी अपरिग्रह की बात करना निरर्थक नहीं है। मानव के अक्षत और असमर्थ होते हुये भी उसमें ग्रहण करने की कहीं न कहीं कोई कामना अन्तर्हित रहती है जो अनुकूल परिस्थिति के उपस्थित होते ही भड़क उठती है। इसे हम मानव की दुर्बलता कहिये और सचमुच वह मानव बलवान है जो सम्मुख प्रस्तुत साम से अपने को पूषक रख सके। साम की ओर बढ़ना और अपने ऊपर नियन्त्रण न रखना आर्य संस्कृति में पतन का द्योतक माना गया है। सयम ही वह साधन है जो आर्य संस्कृति में विनाश एवं उत्थान का हेतु है।

वही सम्पदा और वामुरी सम्पदा में आर्य संस्कृति ने जो नेत्र किया है वह इसी परिग्रह तत्त्व पर अवलम्बित है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के प्रथम भग्न में ही आदेश दिया गया है—*तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्य स्विन्नम्*। प्रभु ने जो भोग सामग्री ली है उसे त्याग मात्र से भोगो और यह मात्र अपने सामने रखो कि वह प्रभु की ही हुई है। तुम्हें उसका उपयोग करना है परन्तु उस पर अपना अधिकार जमाना अनुचित है, क्योंकि अन्त में समस्त सम्पत्ति प्रभु की ही होकर रहती है हमारी नहीं। जो वस्तु प्रारम्भ में भी हमारी नहीं और अन्त में भी हमारी नहीं है, वह मध्य में भी हमारी क्यों होगी ? हाँ उसका उपयोग हमारे द्वारा होना है। हमारे अधिकार में रहना ही है और हमारा कर्तव्य भी यही है कि हम उसका उचित उपयोग करें अनुचित नहीं। वेद इसीलिये कहता है—*मत् नासन्नं कर*। परिग्रह करने की बुद्धि का परिष्कार कर दे। एषा वस्व इन्द्र सत्यं सन्नादः। तवेदिव्यपमित केचित्ते वसु। प्रब्राम्भ्य पुष्टिं विमज्जन्त आसते। त्वम विश्वस्य जनता असि। अनुर्बसुतां क्षयसि त्वमेक इत्त द्यावा न यानि पृथिवी न पुष्यत।

द्यावा से लेकर पृथिवी पर्यन्त जितना धन है, उसका एकमात्र स्वामी परम पिता परमेश्वर है। पार्थिव सम्पत्ति की इयत्ता भी हमारे ज्ञान एवं उपसम्भ होने से बाहर है। फिर भी क्षेत्र के धन और ऐश्वर्य की तो बात ही क्या ? वह तो हम सामान्य मानवों की कल्पना शक्ति से भी परे की वस्तु है। ऐसी ऐश्वर्यों की अनुमूर्ति बिरस अत्यन्त बिरस साम्यों और बेबों की ही सम्पदा रही जा सकती है। इस बेबी एवं पार्थिव अतुल सम्पदा में से वह प्रभु सबको उनके कर्मानुकूल दे रहा है। हमें अपने अपने मात्र का उपयोग करते हुये ग्रहण मात्र के स्थान पर त्याग-भाव का ही आश्रय लेना चाहिये। जैसे बात मुख में आयी हुई भोजन सामग्री को बाँधकर अपने ही पास नहीं रख लेते वैसे ही हमें भी सम्पदा को बाँध कर अपने पास नहीं, रखना है। उसका स्वयं उपयोग करना है और समाज के हित में उसका परिष्कार कर देना है। जो धन समाज में संवर्धित, व्यवहृत एवं व्यथरित होता रहना है—

यन है। जो एक स्थान पर परिग्रहीत है संक्षिप्त नहीं हो रहा है और जिससे समाज का हित-सम्पादन नहीं हो रहा है, वह अजुष्ट असेवित यन पतयासु है, व्यक्ति एवं समाज का ध्वंस करने वाला है और अकल्याणकर है।

यन समाज में संक्षिप्त होता रहे, इसी में उसका संरक्षण भी है। संरक्षण के लिये आवश्यक है कि यन एक स्थान पर परिग्रहीत या संग्रहीत न रहे — ठेपा न सर्वे संज्ञायामसि। जो संज्ञा आयी है वह मेरे मन-विमर्शन और प्राप्ति तथा बर्तन को संक्षिप्त रखने में प्रयुक्त हो। इसी के साथ उसे सामाजिक उपयोग में भी लाया जाय। वापी रूप उड़ाग उद्यान विद्यालय आदि का निर्माण उस सम्प्रदाय का सामाजिक समुपयोग कहा जा सकता है। हमारी संस्कृति में इसे यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। वेद कहता है 'ससन्तु स्वा अरतयो बौधन्तु दूर रातयः।

हमारे अन्दर यदि अज्ञान की प्रवृत्ति है तो उसे सुसा हो और उसके स्थान पर ज्ञान की प्रवृत्ति को लगाओ। इससे मन-सम्बन्धी दुरिष्टि समाप्त होगी और त्विष्टि का उदय होगा। इसी प्रवृत्ति द्वारा सम्प्रदाय हमारे अन्दर ही अर्थात् प्रकाश का अवतरण करेगी। जब संस्कृति हमें इसी प्रकाश की ओर ले जाना चाहती है। हमारे समस्त साधन इसी लक्ष्य को लेकर अग्रसर होते हैं। गायत्री मंत्र हमें प्रभु के बरेल्य सर्व (तेज) के ध्यान एवं चारण का सम्यक् देता है। परिग्रहण प्रकाश की ओर नहीं उस की ओर ले जाने वाला है। यान त्याग तथा अपरिग्रहण की भावना ही हमें प्रकाश की ओर ले जा सकती है। परिग्रही लोभी होता है। मास्क के खम्बों में वह पापी है। (समलोकं समुज्ज्वं भवति। पापकमिति नैकतः।) इसका एक कारण है। परिग्रही अथवा लोभी व्यक्ति यन का संक्षेप करने में बुद्धि का दुस्प्रयोग करता है। वह ज्ञान-भूषण कर दूसरों को बोझ देता है। यह प्रवृत्ति बुद्धि को पापीमसी बना देती है। ज्ञान का यह दुस्प्रयोग ब्रह्मरोप है जो पाप ही नहीं, महा पाप कहा जा सकता है।

निजिप्त सम्प्रदाय का स्मोत होते हुये भी प्रभु परम अपरिग्रही हैं। उनके ब्रह्मात्म स्वी यज्ञ में बाग ही बाग है। पृथिवी हमें कितना दे रही है और कम से दे रही है। अमणित प्राणियों का पालन-पोषण उसके द्वारा होता रहा है हो रहा है और होता रहेगा। सूर्य चन्द्रादि सबकी यही यज्ञमयी परिस्थिति है। हम प्रभु के अमृत पुत्र कहाते हैं। हमें भी अपने पिता के पद चिन्हों पर चलना चाहिये। वैज्ञानिक सम्प्रदाय ने अपरिग्रह की महिमा को सभी भाँति ह्रस्वभम किया था। वैज्ञानिकों की कई भैरवें। गृह-विहीन यन-विहीन और वस्त्र-विहीन रह कर चोर तपस्वर्या में अपने जीवन को व्यतीत करने वाले वे वैज्ञानिक प्रकाश-युज्य प्रभु की ओर बढ़ रहे थे। अपनी आवश्यकताओं को कम करते-करते वे सर्वकाम-विहीन बन चुके थे। उनकी कामगाँवें सन्धी के अन्दर प्रविष्ट हो गई थीं। इन्द्रियों द्वारा उनकी सभी व्यक्ति पर उन्मोहि दासा भया दिया था। सभी तो वे अज्ञान प्रतिष्ठ हो चुके थे। कामनाओं

को कम करना सबके बल में है, पर उन्हें बढ़ा कर सुख तक पहुँचाना हमारे बल के बाहर है।

## १४ यमों का मूल्यांकन

समाज की सपेक्षता में सर्व प्रथम मेरा शारीरिक सम्पर्क आता है। इसकी रक्षा का भार बहुत कुछ मेरे ही ऊपर है। पर समाज का योगदान भी इस विषय में कम नहीं है। शरीर के अन्दर मन है जो सामाजिक व्यवहार के मूल में है। मेरा समस्त सामाजिक क्रिया-कलाप मन द्वारा संवाहित होता है। सत् और असत् शुभ और अशुभ सभी क्रियाओं का स्रोत मन में है। शरीर और मन मेरे व्यक्तित्व के अंग हैं। इनसे पूरक परस्माज से एकदम सम्बन्ध मेरा गृह है। गृह की वस्तुएँ हैं पशु पौधे हैं तथा अन्य सम्पदा है। जैसे शरीर में मन रहता है, वैसे ही गृह के अन्दर रहने वाला मेरा परिवार है। जो व्यक्ति विवाहित नहीं है, उनके भी घर और परिवार होते हैं ही। इन चार रूपों में मेरे संरक्षण का बहुत कुछ भार समाज को बहुत करना पड़ता है। यदि मैं इन चारों रूपों में सुरक्षित हूँ, तो निस्संदेह मेरी सांस्कृतिक साधना का क्षेत्र भी सुरक्षित है। संरक्षण में बाधा आने पर साधना में भी विघ्न तथा व्यतिक्रम का आना सामाजिक है।

जब हम यमों पर विचार करते हैं तो हमें कमन्तः यम के प्रथम चार अंग इन्हीं चार रूपों से सम्बन्ध जान पड़ते हैं। यम के प्रथम अंग अहिंसा का अर्थ है, ब्रैर त्याग। ब्रैर दूसरे से होता है जो समाज का बैसा ही बटक है बैसा मैं। यदि मैं अहिंसा का पालन करता हूँ किसी के प्रति ब्रैर की आचना नहीं रहता तो अधिक सम्भावना यही है कि दूसरे भी मेरे प्रति ब्रैर-भाव नहीं रखेंगे। अहिंसा का सीधा परिणाम मेरे शरीर पर पड़ता है। जब मेरे अहिंसक बनने पर मेरा शरीर किसी के द्वारा हिंसित नहीं होता। उसके ऊपर किसी का आक्रमण नहीं होता। 'शरीर माघ अनुबर्मे साधनम्'। यदि शरीर सुरक्षित है, तो उसके द्वारा धर्म की साधना भी हो सकती है। यदि किसी की हिंसा द्वारा शरीर क्षत विक्षत हो गया अथवा आनाथ से विकृत हो गया तो साधना का पथ भी विकृत हो उठेगा। अतः अहिंसा द्वारा शारीरिक सुरक्षा का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है।

यम का दूसरा अंग सत्य है। सत्य का अर्थ यहाँ सत्य व्यवहार है। यदि मेरे व्यवहार में सत्यता है मैं बाणी अथवा आचरण द्वारा किसी के प्रति असत्य व्यवहार नहीं करता तो अधिक सम्भावना यही है कि समाज भी मेरे साथ बैसा ही व्यवहार करेगा। इस व्यवहार द्वारा मेरे मन पर जो प्रभाव पड़ेगा वह सीमनस्य प्रसाद अथवा प्रसन्नता की भावना में परिणत होकर मेरी साधना को सुगम बना देगा। सीमनस्य साधना के लिये आवश्यक है। विषाद शोक विघ्नता आदि की वृत्तियाँ मन को तमसाच्छन्न कर देती हैं जिससे साधना-पथ अवच्छन्न हो जाता है।

बेध ने अनेक बार कहा है— सदा त्वे सुमनसं स्याम, अपिमत्रे सौमनसे स्याम, विश्ववानी सुमनसं स्याम ।

यम का तीसरा अंग अस्तेय है जिसका अर्थ है चोरी न करना । इसका सम्बन्ध वैयक्तिक क्षेत्र में गृह-सम्पदा से है । मेरे अन्तर यदि अस्तेय की भावना है मैं किसी के अधिकृत धन का अपहरण नहीं करता तो समाज में मेरी इस भावना का आदर होगा और परिणामतः मेरी सम्पत्ति पर भी कोई अपहरण का हाथ नहीं उठावेगा । सम्पदा की सुरक्षा मेरी जीवन यात्रा को सुगम बना देगी और मैं विकास के पथ पर निश्चिन्त होकर बढ़ सकूंगा ।

यम का चौथा अंग ब्रह्मचर्य है । इसका सीधा सम्बन्ध गृह में निवास करने वाले मेरे परिवार के साथ है । ब्रह्मचर्य द्वारा मेरा परिवार सुरक्षित होता है । मैं संयमी हूँ तो मेरा परिवार भी संयमी होगा । मैं स्वैरी नहीं तो मेरी पत्नी भी स्वैरिणी नहीं हो सकती । केन्द्र बेध के अधिपति स्वप्नपति के तत्सौरी स्वैरिणी कृत शब्द सार्थक है । सामाजिक क्षेत्र में भी ब्रह्मचर्य के संयम का प्रभाव परिलक्षित होता है । ब्रह्मचर्य से जो बीप्ति आती है जो तेज उत्पन्न होता है वह सामाजिक वातावरण में दूर-दूर तक फैल जाता है । इससे सदाचार की प्रोत्साहन मिलती है और नर्मादा स्थापित होती है ।

यम के इन चारों अंगों पर निश्चिन्त एवं सुरक्षित बढ़ा हुआ छात्रक जब वैयक्तिक विकास की ओर मुड़ता है तो यम का पाँचवाँ अंग अपरिग्रह उसकी सहायता के लिए आ उपस्थित होता है । छात्रक को त्यागी बनना है । प्राप्त पुण्यों के मोम उसके समक्ष है । उसके पास स्वस्थ शरीर है निर्मल मन है सम्पदा है और परिवार है । अपने इस कर्म विपाक-प्रसूत फल को उसे भ्रमना है पर उससे चिपटना नहीं है । अपरिग्रह का भाव उसे त्याग-पूर्वक मोनों के उपभोग का संकेत देता है । जीवन-यात्रा में उसे कहीं पर भी बिपक कर बैठ नहीं जाना है, उसे निरन्तर गति करनी है । गति नहीं करेगा तो यात्रा यात्रा नहीं रहेगी । जो कुछ संमुख आये अपना उपभोग रूप में प्राप्त हो उसको देखते हुए आगे बढ़ते चलिए । 'अरवेति २ का आदर्श ही हमें दान्तव्य स्वयं तक पहुँचा सकेगा । भोगो और बढ़ो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' निरन्तर कर्म में जुटे रहो । कर्म नि संदेह सत्कर्म हो । इच्छन्ति वेदाः सुखान्तम्' जो यम-सवन में त्यागमय पुण्य कर्म में निरत रहता है देव उसी को चाहते हैं । विषयता उसी की संयिनी बनती है । हमें अक्षय से सत तम से ज्योति और मृत्यु से अमृत की ओर बसना है । जब तक सत की उपमक्षि न हो ज्योति के दर्शन न हों तब तक मृत्यु के पंजों से छुटकारा कहाँ ? अपरिग्रह विकास की वह आधार बिम्बा है, संस्कृत जीवन का वह प्रथम बिन्दु है जो मृत्यु से छुड़ा कर अमृत की ओर ले जाता है ।

यम के यह पाँच अंग छात्रक को बाहर से सुरक्षित करते हैं और आंतरिक विकास की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ा देते हैं । अर्चये की यह मंत्र वृत्ति—'अग्नि यन्तं जहाति'

अंति संतम् न पर्यति' हमें प्रकृति के परिग्रह से छुड़ा कर अमूर्तरूप प्रभु की ओर ले जाती है। यम का पाँचवाँ अंग अपरिग्रह इसके लिए प्रकाश स्तम्भ ही नहीं सुदृढ़ आधार भूमि का भी कार्य करता है। यम के पाँचों अंगों का परिपालन प्रभु के साथ योग करने के लिये अनिवार्य है। इसके लिए साधक को उद्योग करना है। वैभवं के भोग से वियोग करना है। तभी वह प्रभु के साथ संयोग करने का अधिकारी बन सकेगा। भव्य पतञ्जलि की दिव्य दृष्टि का आभास ऊपर लिखित यम के अंगों की विवेचना से विशद एवं स्पष्ट हो उठता है। संस्कृति क्या है इसकी भी एक धीरे धीरे हमें यम के इन अंगों की समीक्षा से उपलब्ध हो जाती है।

## घ नियम

साधक ने यम के अंगों पर आधिपत्य कर लिया। सामाजिकता से सुरक्षित अपरिग्रह की दृढ़ आधार भूमि पर स्थित होकर अब वह परिवर्तन की अन्त भूमि में प्रवेश करता है। इसमें उसे पाँच सीढ़ियाँ चढ़नी हैं जो नियम के पाँच अंगों से संबद्ध हैं। ये पाँच अंग हैं—शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इनमें से एक-एक अंग की उद्योगिता भागों एक-एक सीढ़ी का चढ़ना है। पाँचों सीढ़ियों पर चढ़ कर साधक कह सकता है कि जैसे यमों ने मुझे समाज से सुरक्षा प्रदान की वही उसी प्रकार नियम मुझे वैयक्तिक दृष्टि से सुरक्षा प्रदान कर रहे हैं। प्रभु से संयोग करने के लिए सामाजिक और वैयक्तिक दृष्टियों से सुरक्षित हो जाना यात्रा के आनामनी पड़ावों को पार करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

## १ शौच

साधक को सर्व प्रथम घर में बैठने के लिए साहू लगाकर उसे स्वच्छ कर लेना आवश्यक है। अपवित्र स्थान साधना के लिए हानिकारक है। बापु मंडल स्वच्छ हो, अपने निवास का स्थान निर्मल हो, तो भग्न अपने दृष्ट द्येय में रमण करने के योग्य बन सकेगा। शुचिटा शरीर, बाकी और मन तीनों क्षेत्रों में होनी चाहिये। मेरा दृष्ट देव परम पवित्र है। उसके समीप पहुँचने के लिए मुझे भी पवित्र होना चाहिए। वेद कहता है अग्निं शुचिं सत तम शुचिं विप्रं शुचिं कवि । शुचीरोचत माहुत ।

अग्नि का अर्थ पारिवर्त अग्नि भी है और परमात्मा भी है। पारिवर्त अग्नि भी पवित्र है। पवित्र होना और पवित्र करना उसका ऋतु है। प्रभु भी पवित्र हैं और अपने समीप आने वाले को पवित्र कर देते हैं। उनका ज्ञान और उनकी व्यापकता पवित्र है। उनका कवि रूप पवित्र है। जिस प्रकार कवि स्रष्टों को कमल एवं व्य-वस्थित रूप देता है, प्रभु ने भी उसी प्रकार इस सृष्टि को व्यवस्था में बाँध रखा है। सृष्टि को बँधने प्रभु का काम्य कहा भी है। अग्नि में जब आहुतियाँ पड़ती हैं तब अग्नि का प्रज्वलित पवित्र रूप प्रकाशित हो उठता है। प्रभु के लिए भी जब साधक अपने पवित्र रूप की बलि चढ़ाता है तब उसके समूह रूप में भागों प्रभु ही प्रज्वलित हो उठते हैं। अग्नि में पड़ी समिधा तो प्रज्वलित होती ही है अग्नि देव स्मिन्सक



## १३४ । वैदिक संस्कृति और सम्यक्ता

साध प्रदीप्त हो उठते हैं । साधना में साधक और साध्य का भी यही रूप है ।  
 बीच या पवित्रता का सम्पादन अपवित्रता का बुरीकरण है । अपवित्रता को  
 ब्रह्म दुरित पाप अंहस रपस् भ्रमस् मायस् बुध्न एवम् आदि कई नाम दिये गये हैं ।  
 इनसे बचना ही पवित्र होना है । वेद के कई अर्थों में अनागस् अर्थात् निष्पाप होने  
 की प्रार्थनायें आती हैं । यथा—  
 य ईसिरे भुवनस्य प्रचेतसी, विश्वस्य स्वातुर्भ्यस्तथ मन्त्रव ।  
 ते न क्त्वा वक्ता । वेनस्यैवसा देवात् पिपुता स्वस्तये ॥

जो विषय है वही पवित्र है और जो पवित्र है वही दूसरे को पवित्र कर सकता है ।  
 मन्त्र में इसी हेतु विषय शक्तियों का आह्वान करते हुए विषय पद का पवित्र प्रार्थना  
 करता है कि हे देवो ! तुम प्रचेतस् हो प्रकृष्ट ज्ञानी हो भुवन भर पर तुम्हारा शासन  
 है । तुम बर, अक्षर, सबके ज्ञाता हो । ऐसी कृपा करो जिससे मेरे किये हुए और न  
 किये हुए पाप नष्ट हो जायें । मैं पाप से पार हो जाऊँ । कल्याण की प्राप्ति के लिये  
 मुझे निष्पाप कर दो ।

अनेक जगत्पुण्या राये अस्मान् विश्वानि देव अपुनानि विद्वान् ।  
 भुवोऽप्यस्य ऋतुरास्य ज्यौ भूमिष्ठास्ये नम इति विभेन ।  
 पवित्र देव प्रभु की भक्ति करने के लिए भक्त को भी पवित्र होना चाहिए ।  
 जब हम कहते हैं—“प्रभु तुम्हारे लिए हमारा बार-बार प्रणाम हो”—तब हम सच्चे पद  
 पर चल रहे हैं । प्रार्थना भी सुपथ पर चलने की ही है । प्रभु सभी अपुनों अर्थात्  
 मागों को जानते हैं । वे ही भक्त को सुपथ पर बसाते हैं । यह पद ऋतु है  
 ब्रह्म नहीं । ब्रह्मा में एव अर्थात् पाप है । ऋतु मार्ग ही पवित्र है । मन्त्र में इसीलिए  
 कहा गया है कि जो ऋतुजन्म अर्थात् कृत्स्न पाप है उसे प्रभु दूर करें । निर्माकित  
 मंत्र में पाप को भद्र वा विपरीत माना गया है —  
 इन्द्रश्च भुवयाति नो न न पदचारयन् मत्त ।  
 मंत्र अवाति न पुष्ट ।

परमेश्वर्य-सम्पन्न प्रभु कृपा करें जिससे पाप हमारे पीछे न पड़े और भद्र अर्थात्  
 पुण्य हमारे आगे विराजमान रहे ।  
 मन्त्र में प्रकाश है और दान है । प्रकाश और दान दोनों ही पवित्र करने वाले  
 हैं । अन्न और अन्यद्वारा अन्न की ओर ले जाते हैं । यदि वे पीछे न पड़ें तो मन्त्र  
 निश्चित रूप से सामने जा उपस्थित होगा ।

इन्द्रमुद्धो हि नो रयि मुद्धो रत्नानि वासुदे ।  
 मुद्धो वृषासि जिह्वसे मुद्धो बार्जं तियासति ॥  
 प्रभु मुद्ध है । हम भी जब मुद्ध हो जाते हैं तब या कुछ उनसे मांगते हैं वह  
 हमें प्राप्त हो जाता है । यदि हमने मानसिक यत्नशालिता की वा दाना है तो वा वासना  
 भी मन में उत्पन्न होती वह पूर्ण हो जायगी । रत्न-मयिन्वामिन्यादि कभी रयि इच्छा

करते ही हमारे हाथ में होती । यदि हमने विषय वासनाओं की अशुद्धि को दूर कर दिया है, तो हमारी विशुद्ध स्थिति-आरक बिम्बों को तुरन्त दूर कर सकेगी । हमारी खुदवा ही हमारे पास आनन्द, यत्न-बल तथा वीर्य-बल को साकर उपस्थित कर देगी । अन्न, ईश्वर का जनक है । पवित्रता शक्ति प्रदान करती है । निम्नांकित मंत्र में इसी हेतु प्रभु को शुचि और सुख कह गया है ।

अन्नः समस्त जीवता प्रतीत्यं जयमा शुभे ।

मृदा सुखञ्च मृडय ।”

हे समस्त अन्न! तेज से सम्पन्न दीप्तिमान परम पवित्र प्रभु ! आप सुख हैं, शोभन शक्ति वाले हैं । मैं अशुचि हूँ शक्तिविहीन हूँ और बीन हूँ । मेरे इसी बीबं रम ने मुझे विपरीत-पथपायी बना दिया है । हे देव ! क्या करो जिससे मेरा यह रोग दूर हो । मैं सत्य-पथ पर प्रयाण करने वाला बनूँ । मेरा तेज मेरा शीर्ष मुझे पुनः प्राप्त हो जावे ।

जो शुद्ध है, पवित्र है, यज्ञिय जीवन वाला है, वह बीबंयु होता है, प्रजा और बल से सम्पन्न होता है तथा मृत्यु को भी सात मार कर मचा देता है—

मृत्योः पञ्च धोषयन्तो यवैत, द्वावीय आयुः प्रतरं दयाता ।

आप्यायमाणाः प्रजयाचनेन, युद्धाः पूता यवत यज्ञियात् ॥

साधना के लिये बीबं आयु की आवश्यकता है । यदि कृमि कीटों की भाँति बम्ब सेठे और मरते ही रहे, तो कुछ होने और पुण्य प्राप्त करने का अवसर कैसे मिलेगा ? बुद्ध और पवित्र प्राणियों की आयु सम्प्री हो जाती है, जिससे उन्हें सुदृढ़ और साधना शक्तों के सम्प्राप्तन का समय प्राप्त हो जाता है । मृत्यु भी उनके पैरों तले पड़ी रहूँगी है । वे स्वेच्छा से मरण का वरण करते हैं, परबल होकर नहीं । ऋग्वेद के प्रथम मंडल का सूक्त सं० १७ अन्न से हटने और पवित्र बनने का सुन्दर देता है । सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं—

अप नः शोशु अवय मने शुशुभ्या रमिन् । अप नः शोशु अवयम् । १ ।

शुशुभिया सुपायुषा वसुषा च यत्रा महे । अप नः शोशु अवयम् । २ ।

प्र यद् भन्निष्ठ एवां प्राप्ता काशवः सुरयाः । अप नः शोशु अवयम् । ३ ।

प्र यत् से अने सुरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अप नः शोशु अवयम् । ४ ।

प्र यदग्ने सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानव । अप नः शोशु अवयम् । ५ ।

त्वं हि विश्वतोमुक्त विश्वतः परिसुरभि । अप नः शोशु अवयम् । ६ ।

द्वियो नो विश्वतो मुखाति गावेष पारय । अप नः शोशु अवयम् । ७ ।

स नः सिन्धुमिष नावया ति पर्वा स्वस्तये । अप नः शोशु अवयम् । ८ ।

जीव या पवित्रता में तेज है, ज्योति है । अन्न इस ज्योति को मार डालता है । महर्षि यास्क ने गिरक्त में अन्न का निर्बलन हन्ति से किया है—

(अयम् हन्तोः निहृतिर्योपसयाः आहन्ति इति) ६/११/

## १३६ । गीतिका संतुष्टि और सम्मत्ता

अप्य का आच्छादक रूप ही मारक है जिसे हटाते ही तंत्र प्रदीप्त हो उठता है। सामवेद के मंत्र संख्या ४८२ में लिखा है— सदा देवा अयेयः । देव सर्वेन निष्ठाप्य रहते हैं। देव का अर्थ भी ज्योतिष्मान है। यह विष्णुता अप्य के दूर हुये बिना नहीं प्राप्त होती। प्रथम मंत्र में इसीभित्ति कहा गया है —

देव हमारे अर्थों को मष्ट कर वो जिससे हमारी रति हमारी संपदा हमारा शरीर बलक उठे। मृद शरीर में एक प्रकार की आत्मा उत्पन्न हो जाती है। इस आत्मात्म्य शरीर को विविध कर्म-शेषों में से किस दोष में खड़ा किया जाय ? इसका उत्तर दूसरे मंत्र में दिया गया है कि यह दोष सुन्दर दोष हो। कुत्सित दोष न हो। व्यापार के दोष में यदि प्रवेश होता है तो वह भी अलोभन नहीं भोगन व्यापार का दोष हो। इस मन्त्र दोष में भी कुमार्ग नहीं तुमार्ग का अनुसरण करो। ईमानदारी से बिना किसी को धोखा दिये जो कुछ प्राप्त होता है वही तुम्हारे सुन्दर से अविष्ट किया जाय उसका उपयोग यज्ञ कर्म में होना चाहिये अर्थात् यज्ञ अपने उपयोग में तो लायेगा ही उसे दूसरों के हित में भी प्रयुक्त होना चाहिये। जिस विष्णु के हम एव अर्थ हैं वह हमारा ध्यान रखता है तो हमें भी उसका ध्यान रखना चाहिये। तीसरे मंत्र में कहा गया है कि इस प्रकार के कार्यों द्वारा मनुष्य बन्धनीय बनता है तुम भी बन्धनीय बनोये। फिर चतुर्थ मंत्र में कहा गया है कि यह बन्धनीय मत्ता समाज की संयम भावनाओं को तुम्हारे प्रति आकर्षित करेगी और तुम संतुष्टि आदि के द्वारा बर्द्धमान बनोये विशेष रूप से प्रकट होंगे।

पाँचवाँ मंत्र कहता है कि जैसे समुद्रि और बर्द्धमान अग्नि की स्वाभाव्यें चारों ओर फैलती हैं उसी प्रकार तुम भी बहुरिक प्रख्यात हो जाओगे। छठा मंत्र इस प्रख्याति को भी पवित्र रखने के लिये अहंकार के समन का संश्लेष देता है। अहंकार का समन तभी होना जब हम चारों ओर व्याप्त प्रभु की सत्ता का अनुभव करते लमेंगे। यज्ञ से मनु उत्पन्न हो सकते हैं। सबसे बड़ा मनु द्वेष है। यह अन्तर ही अन्तर बैठा हुआ समग्र स्याति पर पानी फेर सकता है। सतर्क मन्त्र में इस द्वेष स्त्री दुरमन से भी बचने के लिये प्रार्थना की गयी है। आठवें मन्त्र में कहा गया है कि जैसे नाव पर बैठ कर समुद्र को पार किया जाता है उसी प्रकार हम प्रभु की कृपा से कल्याण के लिये बाह्य एव अन्त सभी प्रकार के विघ्नों से पार हो जावें।

शिव के ओर भी कई मंत्रों में पवित्रता की प्रार्थना की गयी है। इस विषय में सामवेद के मन्त्र संख्या १२६८ से १३०३ तक प्रत्यक्ष है।

### २ संतोष

संतोष का अर्थ निरुद्ध रहना नहीं है। संतोष में पुरुषार्थ निहित है। अपने सामर्थ्य के अनुकूल सभी को पुरोषार्थ कराना चाहिये। उद्यम करते हुए जो कुछ प्राप्त हो, हाथ अथवा लाभ उसमें शोक या हर्ष का अनुभव न करते हुए उसे प्रभु

की रैन समझ कर सन्तोष पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये । हमारा अपना अधिकार कर्म करने में ही है । फल तो प्रभु के अधिकार में है । जिस पर हमारा अधिकार नहीं, उसके लिए चिन्तित होना ही असन्तोष है ।

हानि-शाम जीवन मरण यज्ञ अपयज्ञ विधि हाथ ।

कर्म-फल के रूप में यदि प्रभु ने सामान्वित किया है धन दिया है अथवा मृत दिया है तो उसे प्रभु प्रसन्न समझ कर आपे से बाहर न होना ही संतोष है । इसी प्रकार यदि कर्म करने के उपरांत अर्थ-हानि होती है अथवा अपयज्ञ प्राप्त होता है अथवा मृत्यु भी आकर उपस्थित हो जाती है तो भी सन्तोष की वृत्ति को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए ।

सन्तोष में चित्तकी साम्यावस्था रहती है । सन्तोष सन्तुलन को सुरक्षित रखता है उसको विकृत नहीं होने देता । सचेतन रहना समचित्तता से संयुक्त रहना मानव की एक ऐसी उपसम्पत्ति है जो उसे विकास के उच्च स्तरों में पहुँचा देती है । यह उपसम्पत्ति प्रभु का अनोख आशीर्वाद बन जाती है । इससे बल बढ़ता है और सुन्दर प्रका (सन्तति) बसता सम्पदा विजय आदि अनेक वैभव मनुष्य को प्राप्त हो जाते हैं । सन्तोषी पुरुष का सामर्थ्य क्षीय नहीं होता । वह बलवान से बलवान शत्रु को भी अपने सन्तोष कपी आयुध से पराभूत कर सकता है ।

सन्तोष में ही सुख है । असन्तुष्ट व्यक्ति सर्वत्र दुःखी रहते हैं अनाथ का अनुभव करते हैं और फलाकांक्षा से पीड़ित होकर न केवल अपने को प्रसूत अपने परि-वार को भी व्याकुल कर देते हैं ।

जीवन में यदि प्रगति करनी है तो सन्तोष करी सहायक को अपना अविश्रान्त मित्र बना कर मात्रा-यज्ञ पर पदार्पण करना चाहिए । आर्य संस्कृति काम को समस्त रोषों का मूल समझती रही है । काम गीता के शब्दों में ऐसा मुखर है जिसकी मूख कभी शान्त नहीं होती । इसी के कारण मानव पाप में प्रवृत्त होता है । अर्थ इसका विशेष स्वयं बनता है । कामना यदि न बढ़ने पायी और यथास्थान सन्तुष्ट बने रहे तो विजय निश्चित है । इच्छाओं का बढ़ाना और उनकी पूर्ति करना अपने बल के बाहर है । इच्छाओं का कम करना अपयज्ञ हाथ में है । जिस पर अपना बल है जो स्वायत्त है, उसके लिए अर्थ के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ता बही हमारे लिए इष्टकर है, उसी से हमारा हित सिद्ध होगा उसी से हम प्रगति-मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे ।

मेरे लिए कौन सा धन उपयुक्त है किस धन से मेरी उत्पत्ति होगी यह सर्वत्र प्रभु को श्राव्य है । मेरा अपना इस विषय का ज्ञान पूर्ण नहीं है । सम्भव है, मेरी क्षमता ऐसे धन की ओर जा रही हो जो मेरे पतन का कारण बन सकता है । अतः अज्ञान यही है कि प्रभु जो देखें उसी में सन्तोष का अनुभव करें । वेद कहता है—

“यममेवमन्यसे ययिम् सहसा बन्धमर्थम् ।

‘ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रविरसति ।’

जो तप मृत्यु की छवि से पार कर दे, वह मानव मात्र के लिए बरभीम है, उपास्य है ।

मुखक उपनिषद् में आरम प्राप्ति के लिए सत्य ज्ञान और ब्रह्मचर्य के साथ तप का भी सम्बन्ध किया गया है । पुराण सूक्त के अनुसार सूर्य को तप द्वारा ही ब्रह्म तेज की प्राप्ति हुई है । वेद तप से ही प्रसन्न होते हैं ।

## ४ स्वाध्याय

स्वाध्याय का योगिक अर्थ अपना अध्ययन है । आरम अध्ययन आन्तरिकता का निर्देशक है । आन्तरिकता बाह्य आवागमन की भी प्रेरका है । अतः दोनों विद्याओं में यह प्रभविष्णु बनती है । आन्तरिकता केन्द्र है तो बाह्य आवागमन अपनी अन्तिम सीमाओं में परिधि है । केन्द्र से परिधि सम्बन्ध है । परिधि के नाना बिन्दु केन्द्र की ओर बसते हुये सरल रेखा बनाते हैं और केन्द्र में ही समाविष्ट हो जाते हैं । ब्रह्माण्ड का केन्द्र चेतन आरम तत्त्व है । यदि उसका अध्ययन कर लिया तो मानों सबका अध्ययन हो गया ।

वेद समस्त वाक्मय का मूल है । वेद के अध्ययन पर हमारे श्रुतियों ने जो इतना बल दिया है, वह उसकी इसी विश्वेयता के कारण । प्राचीन साहित्य में जहाँ जहाँ स्वाध्याय उल्लेख आया है, वहाँ उससे वेद का स्वाध्याय ही अभिप्रेत है । स्वाध्याय के साथ प्रवचन शब्द का भी प्रयोग होता है और उससे ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का अर्थ लिया जाता है । ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का प्रवचन अर्थात् व्याख्या करने वाले हैं ।

स्वाध्याय एक प्रकार का संस्कार है जो मानव मन को निरन्तर संस्कृत करता रहता है । वेद ज्ञान है और अपने व्यापक अर्थ में ज्ञान कर्म एवं उपासना के कारण वेदवयी कहलाता है । मानव के अन्तर निहित विज्ञानात्मा प्रकाश-पुनः सूर्य के समानांतर है । ज्ञान सूर्य है । उसकी प्रकाश किरणों में नित्य प्रति ब्रह्माहुन करना स्नान करना स्मरण करना मानों प्रकाश-बिन्दुओं की उपलब्धि करना है । हम प्रकाश में विचरण करें, ज्योति की उपलब्धि करें ऐसा एक नहीं बनेक बार श्रुति भगवती ने आदेश दिया है । ‘ज्योतिरसीमहि जगन्मज्योति, यत्र ज्योति-रब्रह्मम् स्पर्शद् ज्योति-आदि श्रुति-वाक्य ज्योति की महीमसी महिमा का वर्णन करते हैं । वेद का अध्ययन आचरणों को दूर करता हुआ, अज्ञान तिमिर का विनाश करता हुआ हमें प्रकाश की ओर ले जाता है । मन के समस्त विमल विचार आते रहते हैं । मन का संस्कार इसी पद्धति से होता है । जैसे सत् पुरुषों की संयति हमारे मन तथा आचरण दोनों पर प्रभाव डालती है, वैसे ही वेदों का स्वाध्याय हमारे जीवन निर्माण का हेतु बनता है । स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन

की दैन समझ कर सन्तोष पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये । हमारा अपना अधिकार कर्म करने में ही है । फल तो प्रभु के अधिकार में है । जिस पर हमारा अधिकार नहीं उसके लिए चिन्तित होना ही असन्तोष है ।

हानि-साम जीवन मरण यत्त अपयत्त विधि हाथ ।

कर्म-फल के रूप में यदि प्रभु ने सामान्वित किया है वन दिया है अथवा यत्त दिया है तो उसे प्रभु प्रवृत्त समझ कर आपे से बाहर न होगा ही सटीक है । इसी प्रकार यदि कर्म करने के उपरांत अर्थ-हानि होती है अथवा अपयत्त प्राप्त होता है अथवा मृत्यु भी आकर उपस्थित हो जाती है तो भी सन्तोष की वृत्ति को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए ।

सन्तोष में जिसकी साम्यावस्था रहती है । सन्तोष सन्तुष्टन की सुरक्षित रखता है उसको बिह्वल नहीं होने देता । सचेतन रहना समचित्तता से संयुक्त रहना मानव की एक ऐसी उपलब्धि है जो उसे बिकल के उच्च स्तरों में पहुँचा देती है । यह उपलब्धि प्रभु का अमोघ आशीर्वाद बन जाती है । इससे बल बढ़ता है और सुन्दर प्रज्ञा (सन्तति) बसता सम्पदा विजय आदि अनेक वैभव भण्डों को प्राप्त हो जाते हैं । सन्तोषी पुरुष का सामर्थ्य क्षीण नहीं होता । वह बलवान स बलवान भन्तु को भी अपने सन्तोष कपी आयुष से पराभूत कर सकता है ।

सन्तोष में ही सुख है । असन्तुष्ट व्यक्ति सदा दुखी रहते हैं अभाव का अनुभव करते हैं और फलाकांक्षा से पीड़ित होकर न केवल अपने को प्रसूत अपने परिवार को भी व्याकुल कर देते हैं ।

जीवन में यदि प्रवृत्ति करनी है तो सन्तोष की सहायक को अपना अमित्र मित्र बना कर मात्रा यत्त पर पार्यन्त करना चाहिए । आर्ष संस्कृति काम को समस्त रोगों का मूल समझती रही है । काम भीता के चरणों में ऐसा मुस्बड़ है जिसकी मूख कभी शान्त नहीं होती । इसी के कारण मानव पाप में प्रवृत्त होता है । अर्थ इसका विशेष सत्य बनता है । कामना यदि न बढ़ने पायी और यथासाम सन्तुष्ट बने रहे, तो विजय निश्चित है । इच्छाओं का बढ़ना और उनकी पूर्ति करना अपने बल के बाहर है । इच्छाओं का क्रम करना अपने हाथ में है । जिस पर अपना बल है जो स्वायत्त है, जिसके लिए अर्थ के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ता वही हमारे लिए इष्टकर है, उसी से हमारा हित सिद्ध होगा उसी से हम प्रगति-यत्त पर अग्रसर हो सकेंगे ।

मेरे लिए कीन रा वन उपयुक्त है जिस वन से मेरी उत्पत्ति होगी यह सर्वत्र प्रभु को सात है । मेरा अपना इस विषय का ज्ञान पूर्ण नहीं है । सम्भव है, मेरी सावसा ऐसे वन की ओर जा रही हो जो मेरे पतन का कारण बन सकता है । अतः अच्छा यही है कि प्रभु को देखें उसी में सन्तोष का अनुभव करें । वेद कहता है—

“यममेवम्यसे रयिम् सहसा वयमस्य ।

‘ब्रह्मचर्येण तपसा राज्ञा राष्ट्रविरसति ।’

जो तप मृत्यु की सरिता से पार कर दे वह मानव मात्र के लिए वरणीय है उपास्य है।

मुख्य उपनिषद् में आरम्भ प्राप्ति के लिए सत्य ज्ञान और ब्रह्मचर्य के साथ तप का भी उल्लेख किया गया है। पुराण सूक्त के अनुसार सूर्य को तप द्वारा ही ब्रह्म तेज की प्राप्ति हुई है। वेद तप से ही प्रसन्न होते हैं।

## ४ स्वाध्याय

स्वाध्याय का यौगिक अर्थ अपना अध्ययन है। आरम्भ अध्ययन आन्तरिकता का निर्योजक है। आन्तरिकता बाह्य वातावरण की भी प्रेरका है। अतः दोनों विद्याओं में वह प्रमत्तचित्त बनती है। आन्तरिकता केन्द्र है तो बाह्य वातावरण अपनी अन्तिम सीमाओं में परिधि है। केन्द्र से परिधि सम्बद्ध है। परिधि के नाश बिन्दु केन्द्र की ओर चमकते हुये सरल रेखा बनाते हैं और केन्द्र में ही समाविष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य का केन्द्र चैतन्य आरम्भ उत्पन्न है। यदि उसका अध्ययन कर लिया तो मार्गों सबका अध्ययन हो गया।

वेद समस्त वाङ्मय का मूल है। वेद के अध्ययन पर हमारे ऋषियों ने जो इतना बल दिया है, वह उसकी इसी विशेषता के कारण। प्राचीन साहित्य में जहाँ जहाँ स्वाध्याय शब्द आया है वहाँ उससे वेद का स्वाध्याय ही अभिप्रेत है। स्वाध्याय के साथ प्रवचन शब्द का भी प्रयोग होता है और उससे ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन का अर्थ लिया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का प्रवचन अर्थात् व्याख्या करने वाले हैं।

स्वाध्याय एक प्रकार का संस्कार है जो मानव मन को निरन्तर संस्कृत करता रहता है। वेद ज्ञान है और अपने व्यापक अर्थ में ज्ञान कर्म एवं उपासना के कारण वेदशरीर कहलाता है। मानव के अन्दर निहित विज्ञानात्मा प्रकाश—सुख सूर्य के समानांतर है। ज्ञान सूर्य है। उसकी प्रकाश किरणों में नित्य प्रति अबलानुहन्त करना स्नान करना रमण करना मार्गों प्रकाश-विन्दुओं की उपलब्धि करना है। इस प्रकाश में विघटन करें ज्योति की उपलब्धि करें ऐसा एक नहीं बनेक बार श्रुति भगवती ने आदेश दिया है। ‘ज्योतिरसीमहि जगमज्योति यम ज्योति रचसम् स्वर्गं ज्योति—आवि श्रुति-वाक्य ज्योति की महीमयी महिमा का वर्णन करते हैं। वेद का अध्ययन वाचर्यों को पूर करता हुआ अज्ञान-तिमिर का विनाश करता हुआ हमें प्रकाश की ओर ले जाता है। मन के समक्ष विमल विचार आते रहते हैं। मन का संस्कार, इसी पद्धति से होता है। जैसे सत् पुरुषों की संगति हमारे मन तथा आचरण दोनों पर प्रभाव डालती है वैसे ही वेदों का स्वाध्याय हमारे जीवन निर्माण का हेतु बनता है। स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन

भी अशुद्ध है, पर सर्व प्रथम हम वेदकी मूल का अध्ययन करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय और प्रवचन दोनों का सम्बन्ध ऋतु, रात्रि, तप, दम, शम, धमिहोत्र आदि अनेक तर्कों के साथ जोड़ा गया है। ये तत्त्व जीवन-निर्माण के लिये आवश्यक उपादान हैं, पर इनके साथ स्वाध्याय और प्रवचन अवश्य समुक्त रहने चाहिये। इन उपादानों का भी ज्ञानपूर्वक प्रयोग ही वांछनीय है। तप अशुद्ध है पर ज्ञान के समान में वह अनिष्टकारक भी बन सकता है। अज्ञान पर आधारित इन्द्रियों का हमन ब्रह्म - कारक हो सकता है। ज्ञान के प्रकाश में यही उपादान बहुमूल्य कृति के स्रोत बन जाते हैं। अतः स्वाध्याय प्रत्येक अवस्था में चलना चाहिये। स्वाध्याय ब्रह्मचर्य आरम्भ तक ही सीमित नहीं रहा है। गृहस्थ एवं वानप्रस्थ दोनों के लिये वह हितकर समझा गया है। सन्यास आरम्भ में भी उसकी अपेक्षा बनी रहती है। जो व्यक्ति किसी भी स्तर पर स्वाध्याय की उपेक्षा करता है, वह अपनी हानि ही करता है। हमें वेद की किसी भी रूप में अवहेलना नहीं करनी है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संकेत इसी वेदाध्ययन-विज्ञान की ओर है।

मनु ने इस शरीर को ब्रह्म रूप देने के लिये सर्व प्रथम स्वाध्याय का ही नाम दिया है। पंच महायज्ञों में ब्रह्म यज्ञ वेद के स्वाध्याय का ही अपर नाम है।

वेद देवी बाणी है वही कस्याणी है। ऐसा सभी ऋषियों का अभिमत है। मानुषी बाणी से देवी बाणी ध्येयस्वरूप समझी जाती है। श्रुति भगवती के शब्दों में—

अपक्रामत पीरयेयाद् वृणानो देव्यं वच ।" तथा "संभूतेन यमेमहि मा भूतेन विराधियि ।"

हमें पीरयेय बाणी से हट कर देवी बाणी की ओर प्रस्थान करना चाहिये। देवी बाणी का वरण ही हमें देवी बना सकेगा। मानव बाणी सत्य-असत्य से मिश्रित होती है परन्तु देवी बाणी अपने गर्भ में सत्यकी वस्त्र का धारण ही नहीं पोषण भी करती रहती है। हमारे मन वचन और कर्म देवी बाणी के साथ सजे रहें उसका कभी विरोध न करें यही वेद का सम्बन्ध है। गायत्री मन्त्र प्रभु के सर्व श्रेष्ठ प्रकाश के ध्यान और धारण करने का उपदेश देता है और हमारी बुद्धियों को बहुत ठिठ तथा प्रेरणामयी बनाने की प्रावृत्ति से भी सम्बद्ध है। स्वाध्याय के बिना इन दोनों में से एक भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। स्वाध्याय की सार्पकृता इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

## ५. ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है प्रभु की शरण में अपने आपको समर्पित कर देना। मानव अपने अल्प सामर्थ्य के कारण किसी के अवसंजन की आकांक्षा किया करता है। वास्तविकता में विशेषरूप से माता उससे उतर कर पिता और सामान्यतः



हाथों से कर । इसी से तेरी महिमा बढ़ेगी । कोई अन्य व्यक्ति तुझे इस महिमा को प्राप्त नहीं करा सकेगा ।

यह पुस्कार्य का महत्व है । इसी के साथ वेद प्रभु की अनुकम्पा का वर्णन इस प्रकार करता है —

न हि अयं ब्रह्मकर्तृ भवितार ज्ञातव्यो । त्वं न इन्द्र मुदय । हे जनस्तकतो । परमैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मन् । आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरा सहायक नहीं है । आप ही मुझे सुखी करें ।

नियमों के प्रथम अंग शौच का सम्पादन अपने ही प्रयत्न पर आश्रित है । अपने को पवित्र या अपवित्र रखना मेरे अपने हाथों में है । संतोष की वृत्ति भी अपने ही द्वारा सम्पादित करनी होगी । शौच प्रायः शरीर-सम्बन्धी है । संतोष की वृत्ति मानसिक है । निमग्न का वीरराज अंग इन दोनों की सहायता करता है । तपस्या वहाँ आरीरिक मल का विष्फोट करती है वहाँ मानसिक बाधबन्ध को हान्त करने में भी सहायक सिद्ध होती है । स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान का प्रकाश मुझे पवित्रता की शिक्षा देता है संतोष के सव्युक्तों को सम्मुख प्रस्तुत करके मानसिक पाबिन्ध्य की प्रेरणा देता है और तप की महिमा को भी प्रकट करता है ।

अपना प्रयत्न बहुत दूर तक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक बनता है फिर भी कुछ स्मृन्ता तो रह ही जाती है । महान से महान अतिशक्तियों के पुस्कार्य अगत्या अकस्मात् बिफस होते देखे गये हैं । ईश्वर प्रणिधान की आवश्यकता इसी निम्ने अनुसूत होती है । पर प्रभु का साहाय्य जब बिगड़े को बना सकता है तो सत्यम-धीम पुरुष को कितना ठंढा उठ सकता है इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है । वेद कहता है —

अभ्युचोति यन्नर्गं विपत्तिं निर्वर्णं यत्तु । प्रेमन्त्रं स्वत् निः शोभोऽमृत ।

प्रभु नम्र व्यक्ति को बन्धों से आन्धाराहित कर देते हैं आतुर रोगी को औपधि द्वारा स्वस्थ बना देते हैं अग्न्या समीचीन की कृपा से देखने समता है और पंगु बसने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ।

अपना पुस्कार्य और प्रभु का अनुग्रह दोनों मिल कर व्यक्तित्व का विकास करते हैं और मानव की संस्कृति के धोपानों पर चढ़ा देते हैं ।

## ४ आसन

योग दर्शन में आसन वह शारीरिक स्थिति है जिसमें स्थिरतापूर्वक और सुख सहित योगाभ्यास के काम में बैठ जा सके । शरीर अभ्यास काम में बिड़नकर न हो यह साधना के लिये अत्यन्त आवश्यक है । शरीर के सुस्थिर रहने के लिये सिद्धाचार्यों ने शरीर की ऐसी अनेक स्थितियों का आविर्भाव किया है जो अभ्यास में सहायता पहुँचाने वाली हैं । इन स्थितियों को आसन का नाम दिया गया है । योगी के लिये दो आसन विशेष सामक़ारी समझे गये हैं—एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन । सिद्धासन में बायें पैर की ऐड़ी तिर और मुँह के मध्यस्थान में रखी जाती है और

भी अच्छा है, पर तब प्रथम हमें वेदकी मूल का अध्ययन करना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय और प्रपञ्च दोनों का सम्बन्ध बहुत, सत्य तप, दम शम, अग्निहोत्र आदि अनेक तारों के साथ जोड़ा गया है। ये तत्त्व जीवन-निर्माण के लिये आवश्यक उपादान हैं, पर इनके साथ स्वाध्याय और प्रपञ्च अवश्य समुक्त रहने चाहिये। इन उपादानों का भी ज्ञानपूर्वक प्रयोग ही वांछनीय है। तप अच्छा है, पर ज्ञान के अभाव में वह अनिष्टकारक भी बन सकता है। ज्ञान पर आधारित इन्द्रियों का दमन सबसे कारण हो सकता है। ज्ञान के प्रकाश में यही उपादान बहुमुख्य शक्ति के स्रोत बन जाते हैं। जब स्वाध्याय प्रत्येक अवस्था में चलना चाहिये। स्वाध्याय ब्रह्मचर्य आद्यम तक ही सीमित नहीं रहा है। गृहस्थ एवं वानप्रस्थ दोनों के लिये वह हितकर समझा गया है। सम्पाद आश्रम में भी उसकी अपेक्षा बनी रहती है। जो व्यक्ति किसी भी स्तर पर स्वाध्याय की उपेक्षा करता है वह अपनी हानि ही करता है। हमें वेद की किसी भी रूप में अचहेतना नहीं करनी है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संकट इसी वेदाध्ययन-विद्या की ओर है।

मनु ने इस स्तर को ब्राह्म रूप देने के लिये सब प्रथम स्वाध्याय का ही नाम दिया है। पंच महायज्ञों में ब्रह्म यज्ञ वेद के स्वाध्याय का ही अपर नाम है।

वेद देवी बाणी है। यही कथाणी है। ऐसा सभी ऋषियों का अभिमत है। मातृपी बाणी से देवी बाणी अंतरहीत समझी जाती है। धृति मनबली के शब्दों में—

“अपक्रामत पौरुषेवाद् बुजानो वैश्यं बभूव । तथा संभुतेन यमेमहि मा भूतेन विराजिषि ।

हमें पौरुषेय बाणी से हट कर देवी बाणी की ओर प्रस्थान करना चाहिये। देवी बाणी का बरज ही हमें बनी बना सकेगा। मानव बाणी सत्य-असत्य से मिश्रित होती है, परन्तु देवी बाणी अपने धर्म में सत्यकी वस्त्र का धारण ही नहीं पोषण भी करती रहती है। हमारे मन बचन और कर्म देवी बाणी के साथ लगे रहें। उसका कभी विरोध न करें। यही वेद का सन्देश है। मायामी मात्र प्रभु के सर्व अंश प्रकाश के ध्यान और आश्चर्य करने का उपदेश देता है और हमारी बुद्धियों का अकृष्ट छिटा तथा प्रेरणादायी बनाने की प्रार्थना से भी सम्पन्न है। स्वाध्याय के बिना इन दोनों में से एक भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। स्वाध्याय की सार्यकता इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

## ५. ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है प्रभु की शरण में अपने आपको समर्पित कर देना। मानव अपने जन्म सामर्थ्य के कारण किसी के अवर्चन की आकांक्षा किया करता है। वास्तविकता में विशेषरूप से माता, उससे उत्तर कर पिता और सामान्यतः

हाथों से कर। इसी से तेरी महिमा बढ़ भी। कोई अग्न्य व्यक्ति मुझे इस महिमा को प्राप्त नहीं करा सकेगा।

यह पुरुषार्थ का महत्त्व है। इसी के साथ वेद प्रभु की अनुकम्पा का वर्णन इस प्रकार करता है—

न हि अग्न्यं ब्रह्मकर्म भवितारं शतकृतो। त्वं न इन्द्र मृदय। हे अगस्त्यकृती। परमवर्ण्य-सम्पन्नं वरमात्मनम्। आपके अतिरिक्त अग्न्य कोई भी मेरा सहायक नहीं है। आप ही मुझे सुखी करें।

नियमों के प्रथम अंग शौच का सम्पादन अपने ही प्रयत्न पर आश्रित है। अपने को पवित्र या अपवित्र रखना मेरे अपने हाथों में है। संतोष की वृत्ति भी अपने ही द्वारा सम्पादित करनी होगी। शौच प्रायः शरीर-सम्बन्धी है। संतोष की वृत्ति मानसिक है। नियम का तीसरा अंग इन दोनों की सहायता करता है। तपस्या वहीं आधारीक मन का विच्छेद करती है। वहीं मानसिक आश्रय को शान्त करने में भी सहायक सिद्ध होती है। स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान का प्रकाश मूर्छे पवित्रता की सिखा देता है। संतोष के सद्गुणों को सम्मुख प्रस्तुत करके मानसिक पावित्र्य की प्रेरणा देता है और तप की महिमा को भी प्रकट करता है।

अपना प्रयत्न बहुत दूर तक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक बनता है। फिर भी कुछ म्यूनता तो रह ही जाती है। महान से महान व्यक्तिवासियों के पुरुषार्थ अथवा अकस्मात् विफल होते देखे गये हैं। ईश्वर प्रणिधान की आवश्यकता इसी सिद्धे अनुभूत होती है। पर प्रभु का साहाय्य जब बिम्बे को बना सकता है। तो उत्कर्ष-हीन पुरुष को कितना ऊँचा उठा सकता है। इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। वेद कहता है—

अस्मूर्धोति पद्मगमं मियक्ति विष्वं वरतुरं। प्रेमन्वा-व्यत् मि-ओषोऽभूत्।

प्रभु मनुष्य व्यक्ति को बरकों से आच्छादित कर देते हैं। आधुर रोगी को ओषधि द्वारा स्वस्थ बना देते हैं। अन्धा अन्धी की कृपा से देखने लगता है और पंगु चलने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

अपना पुरुषार्थ और प्रभु का अनुग्रह दोनों मिल कर व्यक्तित्व का विकास करते हैं और मानव को संस्कृति के शोषणों पर जड़ा देते हैं।

## ४ आसन

योग दर्शन में आसन वह शारीरिक स्थिति है जिसमें स्थिरतापूर्वक और सुख सहित योगाभ्यास के काल में बैठा जा सके। शरीर अभ्यास काल में बिगड़कर न हो यह साधना के लिये आवश्यक है। शरीर के सुस्थिर रहने के लिये सिद्धाचार्यों ने शरीर की ऐसी अनेक स्थितियों का आविर्भाव किया है जो अभ्यास में सहायता पहुँचाने वाली हैं। इन स्थितियों को आसन का नाम दिया गया है। योगी के लिये जो आसन विशेष लाभकारी समझे गये हैं—एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। सिद्धासन में बायें पैर की ऐसी निग और गुदा के मध्यस्थान में रखी जाती है और

बाहिना पैर बायें पैर के ऊपर रखा जाता है जिसकी ऐड़ी जननेन्द्रिय के मूल भाग के ऊपर और अंगुलियाँ बायें पैर के जंघा तथा पिंडुली के मध्य में रहती हैं। मेखस्थ सीधा बना रहता है और अङ्गुली की दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर की जाती है। पद्मासन में बायीं पैर बाहिनी जंघा पर तथा बाहिना पैर बायीं जंघा पर रहता है, शेष स्थिति सिद्धासन के समान ही होती है। इन दोनों के अतिरिक्त एक सुखासन की भी स्थिति है जो आसकल अधिक प्रचलित है जिसे पत्नीमार कर बैठना कहा जाता है। आसनों की संख्या ८४ तक है जिनमें शीर्षासन सर्वासासन मयूरसन आदि विशेष रूप से प्रख्यात हैं। आसन की सिद्धि शरीर की मांस-मेदियों तथा विभिन्न अवयवों की समृद्धि एवं मीरोगता की साधिका है।

बेध में इन आसनों का कोई उल्लेख नहीं है। ऋषियों ने आवश्यकता से प्रेरित होकर इनका प्रावर्तन किया है परन्तु वेध ऐसी आसन-स्थितियों का उल्लेख अवश्य करता है जो बेध तक अभ्यास को सहायता दे सकें। यथा—

उपहृदरे निरीक्षाम् संगमे च महीनाम् । धिया विप्रोन्मायत् ।

विप्रत्वं व्यापकत्वं तमी सुखमं होगा जब साधक बिस्व के कोसाहस से दूर किसी शान्त वातावरण में साधना का अभ्यास करें। बेध ने पर्वत की उपर्युक्तार्थ तथा नदियों के संगम इसके सिधे उपयुक्त ध्यान निश्चित किये हैं। इन स्थानों की एकान्त प्राकृतिक सुषमा मन को शान्त बनाने में सहायता देती है।

हृदि स्पर्शस्ते जासते, सोम बिम्बेषु धामसु ।

बिस्व के विभिन्न सोम सोकान्तर प्राप्ति के आवास्य धाम हैं। एक ही सोम में एक ही ग्रह में न जाने कितने प्राणी वास करते हैं। इन सबके भिन्न-भिन्न धाम हैं। इन धामों में बैठ कर साधक अपनी साधना में प्रवृत्त होते हैं। मन की हृदय की मनन तथा अनुभावन पद्धतियों द्वारा वे उस परम तत्त्व के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हैं। उनकी पुकार हृदय-स्पर्शी होती है। आसन बना कर बैठे हुये ऐसे साधक जो कुछ धिस्तन करते हैं ध्यान लगाते हैं अथवा प्रार्थना करते हैं वह उनके सिधे निस्संदेह व्ययस्कर होती है।

इमे हि ते बह्व कृतं मुने सदा मर्षी न मन जासते ।

प्रभो ! ये हैं तुम्हारा ध्यान-निष्पादन करने वाले तुम्हारे स्तुतिकर्ता। वे तुम्हें बेध कर ऐसे बैठ गये हैं जैसे मधु-मक्षिकार्थ मधु के चारों ओर बैठ जाती है। जिस मधु का स्वाद वे लेती हैं उससे कहीं अधिक स्वाद-मधु मधुतर मधुतम, जो स्वादों का भी स्वाद है रसों का भी रस है तुम्हारे धर्मों को प्राप्त होता है।

प्रम जग्ये यन्ति परि जग्ये जासते येपाम् सख्ये असिप्रितः ।

प्रभो ! तुम्हारे सपासक तो बहुत हैं पर वे सब एक ही ध्येयी के नहीं हैं। कुछ ऐसे हैं जो तुम्हारा नाम लेते हैं पर वस्तुतः तुमको या अपने को बोझा देते हैं। कुछ ऐसे हैं जो पुनः-पुनः होकर संताप को दूर करने के सिधे आर्तकर्म में आपके

चरणों में सोंट जाते हैं और कुछ दूर होते ही फिर मायावी प्रपञ्च में फँस जाते हैं और तुमको भूत जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो तुम्हारी टोह में इधर उधर भटकते हैं। तुम्हारे ज्ञान की यदि एक किरण भी उन्हें कहीं से प्राप्त हो गयी तो उसे सहज कर अपने हृदय के कोने में रक्त सेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो ज्ञान सूझ कर तुम्हारा पस्सा पकड़ कर बैठ जाते हैं और विचलित होने का नाम नहीं लेते। भक्ति के क्षेत्र में कुछ साधक थोड़ी देर के लिये जाते हैं और चले जाते हैं परन्तु जिसने अपने को तुम्हारे चरणों में समर्पित कर दिया जो सर्वात्मना तुम्हारा बन गया वह फिर तुम्हारा ही होकर रहता है। तुम्हें छोड़ कर उसे भग्न कहीं भी बिछाम बिछाई नहीं देता। ऐसे समाधीन साधक ही तुम्हारे अस्तित्व को प्रकाशित करते हैं। जिनका आसन उलझ गया वे भक्ति के क्षेत्र से उलझ गये, पर जिनका आसन कम गया वे तुम्हारे हृदय में सर्वत्र के लिये स्थान पा गये जबवा तुम सर्वत्र के लिये उनकी हृदय भूमि में रम गये। बीता ने ऐसे ही भक्तों को तद् बुद्धय तथा स्थानं तस्मिन्ना तत् परायणा कहा है। निर्वृत्त कस्मप्य ऐसे समाहित चित्त साधक ही पुनरावृत्ति के पाश से मुक्त हो पाते हैं।

## घ प्राणायाम

प्राण मानव शरीर में सर्वांगिक महत्ववासी है। ऋषियों ने इसे आत्मा की छाया कहा है। प्राणी संप्राण व्यक्तित्व का नाम है। प्राण प्राकृत है जबवा बेंतन, इस सम्बन्धमें अन्तिम निर्णय देना कठिन है। भौतिकवादी इसे प्रकृति का ही एक रूप मानते हैं परन्तु आत्मा के साथ यह इतना अधिक सम्बद्ध है कि शरीर से प्राण निकलते ही शरीर आत्मा के लिये आवास्य नहीं रहने पाता। मृत्यु प्राण निकलने का ही पर्याय है।

इस प्राण को स्वायत्त करना इस महती शक्ति को अपने अधीन तथा अनुकूल बना लेना योग के चतुर्थ अंग प्राणायाम का कार्य है। जैसे वातुजों के मन अग्नि द्वारा बाध होते हैं वैसे ही इन्द्रियों के योग प्राण के निग्रह से दूर होते हैं। अथर्ववेद के कई मंत्र प्राण की महिमा का वर्णन करते हैं। नीचे इसी विषय के कुछ मंत्र दिये जाते हैं —

१ प्राणायामो यस्य सर्वमिदं भवेत् ।

धोमूत- सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं ॥ अथर्व ११।४।१

२ नमस्ते अस्थायते नमो अस्तु परायते ।

नमस्ते प्राणप्रियं आसीनापीत ते नमः ॥ अथर्व ११।४।७

३ वा ते प्राण प्रिया तनूयौ ते प्राण प्रेयसी ।

अथो यद्गतेयं तव तस्य नो वेद्मि बीजसे ॥ अथर्व ११।४।९

४ एकं पारं नो रिरचरति सतिमद्भ्यत उत्तरम् ।

धर्मस्य स तमुत्तिष्ठेन्नवाद्य न इवः स्यात्त राशी माह-

स्यात्त व्युत्क्रान्तिवाचन ॥ अर्था ११। ४। २२

प्राण को प्रणाम है जिसके बल में यह समग्र जगत् है। वही सबका स्वामी है। सब उसी में आश्रय पा रहे हैं। प्राण के विविध रूप चतुर्विध प्रसृत हैं। मेघ में उसका एक रूप है। उसकी गर्जन में बिजली के कड़कने में तथा वर्षा के होने में उसके अन्य रूप हैं। प्राण की वर्षा ओषधियों के गर्भ का कारण है। प्राण से उत्पन्न हरीतिमा का दबेन करके समग्र प्रजा प्रमोद से परिपूर्ण हो जाती है। सब आश्वासित हो उठते हैं यह अनुभव करके कि प्रसृत बन-व्याम्य उत्पन्न होगा जो जीवन कारण करने का प्रमुख साधन है। प्राण ओषधि है। समस्त रोग प्राण-शक्ति के द्वारा ही नष्ट होते रहते हैं। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, वैसे ही प्राण इन्द्रियों की रक्षा करता है। पूर्व समस्त प्रजाओं का प्राण है। चन्द्रमा ओषधियों का प्राण है। वीहि, यम आदि जलों में भी प्राण शक्ति कार्य करती है। अथर्ववेद के इसी सूक्त के तेरहवें मंत्र में यह भी प्राण शक्ति आहित है तथा वीहि अपान है, ऐसा कहा गया है। वात नागरिका आदि प्राण के ही विविध रूप हैं।

प्राण शक्ति को जग में करने का साधन प्राणायाम है। सूक्त के आठवें मंत्र में प्राण के चार रूप वर्णित हुए हैं— प्राण अपान, प्राचीन और प्रतीचीन। प्राणायाम की प्रक्रिया में जो श्वास अन्तर जाती है, वह आमत और जो बाहर फेंकी जाती है, वह परायत्त कहलाती है। एक से जीवन मिलता है तो दूसरी से आन्तरिक मन बाहर फेंके जाते हैं। प्राण का जर्ब जीवन है और अपान का जर्ब दोषों का अपमयन करता है। पराचीन प्राण प्राची तथा उदय का भाव लिए हुये हैं। प्रतीचीन प्राण पश्चिम की दिशा तथा अस्त काल का भाव लिये हुये हैं। बल आगरण अवस्था के काल को पराचीन तथा क्षय काल के प्राण को प्रतीचीन कहा जायगा परन्तु प्राण की शक्ति के रूप में एक से जीवन का उदय होता है और दूसरे से रोगों का क्षय अवस्था समन।

प्राण निरन्तर चलता रहता है। इसकी गति में सोऽहम् का स्वर ध्वनित होता रहता है। सोऽहम् को उसट देने से हंस शब्द बन जाता है। प्राण वस्तुतः हंस है। यह स्त्रीर के अन्तर मानस सरोवर में झीझ करता है और बाहर अन्तरिक्षीय वायु के सरोवर में। जब प्राण अपना हंस मानस सरोवर से बाहर निकलता है तो एक पैर से उस सरोवर में सड़ा रहता है। वह मानस सरोवर का एकान्त परिधायन नहीं करता। यदि प्राण इस सरोवर को कहीं छोड़ दे तो न उदय का भाव होया न पश्चिम का न दिन का न रात्र का या कम का। अन्य शब्दों में प्राण के इस उत्क्रमण को मृत्यु कहा जाता है।

योगी प्राण के बल से ही मूसाबार जग में कुम्भसिनी को आप्रय करता है और आठों जगों में प्रवेश करता हुआ अन्त में सहस्रार जग में पहुँच जाता है। प्राण इस अवस्था में भी एकलेश बना रहता है। इसकी गति स्थिर रहती है। निरिक्तम सति

प्राण के सर्व रूप की ही सीमा है। इसका दूसरा सर्व भाग कौन सा है, उसका ज्ञान किन्तु प्रकार होता है यह योगियों के प्रत्यक्ष का विषय है। प्राण सपनावस्था में ऊर्ध्व रूप से आगच्छ रहता है। प्राणी सो जाता है पर प्राण कभी नहीं सोता और यह पहले दार के रूप में प्रति पक्ष आगच्छ रह कर सावधानता से शरीर के संरक्षण में प्रवृत्त रहता है।

प्राण का प्रभाव शरीर व्यापी है। प्राण का जो रूप ब्रह्मसूत्र में क्रियाशील रहता है वह मुख्य प्राण कहलाता है। अपान की क्रिया मसमूत्र के विसर्जन में व्यापार-शील बनती है। प्रश्वास छोड़ भावि में भी उसी का कार्य रहता है। प्राण का एक रूप उदान है जिसमें प्राण शक्ति कण्ठ से ऊपर की ओर जाकर शरीर की वृद्धि का हेतु बनती है। जिन्हु बड़े होने पर जो पाँच, छ. या साठ फीट के सम्ये शरीर जाता बन जाता है वह उदान का ही कार्य है। समान प्राण आमाशय में कार्य करता है। यह आमाशय की भट्टी में रोनी पूड़ी हलवा दाल छाग भादि सबको पकाकर सम रस कर देता है। छाये हुये पदार्थ आमाशय में जाकर समान प्राण के ही कारण रस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं जो रक्त-मांस भादि अन्य सात दानुओं का कारण है। अन्य व्यर्थ का द्रव्य जो शरीर का अंग नहीं बन पाता और जिसे विजातीय द्रव्य कहना चाहिये अपान प्राण के द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। व्यान प्राण समस्त शरीर में व्यापक होकर अङ्ग-अङ्ग और रोम रोम की रक्षा किया करता है।

प्राणायाम पुरक रेषक कुम्भक और स्तम्भ वृत्ति रूप से चार प्रकार का कहा गया है। प्राण को बाहर स छोड़ कर अन्दर भर सेना पुरक है। प्राण को समस्त बल समाकर बाहर फेंक देना रेषक है। प्राण का बेर तक रोक रहना कुम्भक है और भाते या जाते प्राण को जहाँ वा तहाँ रोक देना स्तम्भ वृत्ति है। अम्यास करने में सबसे सुयम भन्ना प्राणायाम है। मुहुर जैसे बीझनी में बलि को प्रवर्तित करता है वैसे ही इडा और निगला की बीझनी से आन्तरिक प्राणायाम प्रवर्तित की जाती है। सामान्यतः दिन में द्वादश अर्धातः काम स्वर और रात्रि में पियला अथवा दाहिना स्वर चमत्ता चाहिये। प्रातः तथा सन्ध्या की सखि बेमाओ में दोनों स्वरों की साम्यावस्था रहनी चाहिये। दिन में सूर्य की ऊष्मा समस्त जगत को उत्पन्न बनाती रहती है। रात्रि काम स्वर चमत्ता रहा ता ऊष्मा का प्रभाव सम्पुनित होता रहेगा। रात्रि शैत्य प्रधान होती है।

चन्द्र की क्रियाओं में भी भीगपता रहती है। अतः दाहिने स्वर से उत्पन्न उत्पत्ता इस शीतलता को सन्तुलित करती। सखि बन्ना में साम्यावस्था रहती है। उससे मन में प्रभाव की आर जाता है जो जैय का परिणाम है और न चम्पवता की ओर जाता है जो ऊष्मा का परिणाम है। इस साम्यावस्था में ही मन की प्रशान्त अवस्था हाती है जो भक्ति भावना उत्पन्नता के लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

प्राणायाम की दश प्रविश निद्रिया न नियन्त्रण के लिये परमावश्यक है। तिसरी दृष्टिर्पा उत्पन्नता है अर्जयन है चतुर् अर्जयन है। तिसर निद्रियों को बल में कर

मिया, यही वस्तुतः संसृष्ट है।

## घ प्रत्याहार

हमारी इन्द्रियाँ बाहर की ओर झुकी हैं और सुन्दर पक्षियों की माँति बाहर के समुद्र में फोटा भगाकर अपना-अपना भाग प्राप्त करती रहती हैं। अर्थात् रूप में डूबती हैं, शब्द सन्धों में, ध्याय गन्ध में रसना स्वाद में और स्पर्शा स्पर्श में। वेद कहता है —

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् अतिमेषम् विवशामि स्वरमिति ।

सुपर्णा सोमन पंक्तों वाली उड़कयम सील इन्द्रियाँ हैं। बाहर से अपने भाग को प्राप्त किये बिना इन्हें चैन नहीं पड़ता। इनकी बाह्योग्मुखता पर यदि मैं प्रतिबन्ध लगा दूँ और बाँह-कान आदि को बन्द कर दूँ तो यह अन्दर ही अन्दर अपने मूर्छित विषयों में जो स्मृति रूप में सुरक्षित है रमण करने लगती है। वेद कहता है —

विनेकानां पश्यतो विचक्षुः बीजम् व्योसिद्द्वयमाहितम् यत् ।

विनेकमन्वचरति दूर आभीः किञ्चिद् अवशामि किमु न मनिये ।

मेरे कान बड़ी दूर तक सन्धों के क्षेत्र में चौड़ जमाते हैं। चक्षुओं का भी यही हाल है। जो जाने पर इनका व्यापार बन्द हुआ जान पड़ता है, पर उस समय भी स्वप्नों के संसार में इनका कार्य चलता ही रहता है। ऐसी दशा में क्या मनन हो सकता है और क्या उत्थान हो सकता है ?

महर्षि पतंजलि ने इन्द्रियों को प्राप्त होने वाले बाहर के आहार को प्रत्याहार श्राव इसी लिये भीतर की ओर मोड़ दिया है। इन्द्रियाँ अपने विषयों से पटाई मुँह होकर भीतर की ओर प्रयास करें बाह्योग्मुखता से हठ कर आन्तरिकता गहन करें, यही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार के लिये आवश्यक है कि हम बाह्य विषयों से विरत रहें। मन के विरक्त होने पर इन्द्रियाँ स्वयमेव विषयों से विरत हो जाती हैं। मन का निरोध के लिये प्राणायाम और स्वाध्याय दोनों ही हितकर सिद्ध होते हैं। यदि मन बाह्यपूर्वक अवस्था भाव के बसीभूत होकर किसी एक वृत्ति के साथ एकाग्र हो जायगा तब भी इन्द्रियाँ अपने विषयों में रमण करने से बचित रहेंगी क्योंकि मन का इन्द्रियों के साथ सङ्गर्ष ही इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होना है। इसके लिये सर्वोत्तम उपाहारम विद्याविषयों के परीक्षा काल में उपस्थित होता है। विद्यार्थी जिस प्रश्न-पत्र को कर रहा है उसी के साथ उसका मन संलग्न रहता है। ऐसी स्थिति में न बाँह रूप की ओर जाती है न शब्द किसी शब्द की ओर जाता है और न कोई अन्य इन्द्रिय-व्यापार ही उस समय मूमता है। प्रत्याहार के लिये यह अत्यन्त अनुकूल अवसर उपस्थित हो जाता है। जिसकी दूर तक परीक्षार्थी परीक्षा—मनन में बैठा है, उसकी



देर तक वह इन्द्रियजयी है। इस इन्द्रिय जय के लिये अथवा प्रत्याहार के लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इन्द्रिय-जय सांस्कृतिक विकास का मध्य बिन्दु है। जिसकी इन्द्रियाँ बल में है वही संस्कृत मानव है। इन्द्रिय जय के ऊपर विकास के और भी कई पड़ाव हैं पर संस्कृति प्रत्याहार की सिद्धि में अपने रूप को उन्मुक्त कर देती है। सम्पत्ता और संस्कृति का अन्तर भी प्रत्याहार में स्पष्ट हो उठता है। सम्पत्ता सामान-सापेक्ष है और बाह्योग्मुख है। संस्कृति अन्तर्मुखी तथा व्यक्ति-सापेक्ष है। उसका सामाजिक रूप भी है वैसे ही जैसे व्यक्ति का एक सामाजिक रूप है। एक-एक संस्कृत व्यक्ति के समुदाय को ही तो संस्कृत सामान कहते हैं। जो देव संस्कृत-व्यक्ति-बहुत हो, उसकी विशिष्ट जीवन-पद्धति ही संस्कृति के नाम से पुकारे जाती है।

आत्मक स्वराज्य का उद्घोष बल पकड़ रहा है परन्तु वास्तविक स्वराज्य इन्द्रियों का आत्मा के आधीन होना है। जब तक इन्द्रियाँ बहिर्बर्ती हैं तब तक शरीर कभी राष्ट्र में स्वराज्य नहीं है। स्वराज्य में सब मुख पाते हैं। पर-राज्य क्लेशकारक है। हम व्यक्तिगत रूप से जो बुरी होते हैं उसका एक मात्र कारण इन्द्रियों का आत्मा से पार्थक्य और प्राकृतिक विषयों के साथ संयोग है। इस अवस्था में रूप शब्द स्वाद आदि राज्य करते हैं आत्मा नहीं। निम्नांकित मंत्र में स्वराज्य की विस्तार व्याख्या उपसम्भ होती है -

स्वादोरित्वा विपूवतो मध्य पिबन्ति पौर्यः।

या इन्नेष सयावरीषु य्वा मवन्ति शीमसे वस्तीरगु स्वराज्यम् ॥

स्वराज्य में अनुवसन करने वाली अनुकूलता पूर्वक निवास करने वाली इन्द्रियाँ वस्तुतः पौरी का ही रूप हैं। पौरी शब्द सत्त्वावस्था का सूचक है। इन्द्रियाँ इस अवस्था में बलवान् इन्द्र के साथ आत्मन् भगती हैं। इन्द्र आत्मा है और इन्द्रियाँ उसी की शक्तियाँ हैं। शक्तियाँ शक्तिमान के साथ जब एक होती हैं तभी आत्मन् की अनुप्राप्ति होती है। उसी समय अन्ध-अन्ध में शोभा सुपमा तथा दीप्ति फूट पड़ती है। मंत्र के शब्दों से यह स्थिति भी प्रस्फुटित हो रही है कि इन्द्रियाँ इन्द्र के साथ ही व्यापक मनु का पान करती हैं। इस समय के स्वाद को सभी व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकते। इस स्वाद को तो वही चखते हैं जिन्होंने इन्द्रियों को अपना बना लिया है जिनकी इन्द्रियाँ आध्यात्मिक स्वराज्य में बिचरण करती हैं। विषय-सोनूप प्राप्ति को संकीर्ण शक्ति सुख को ही सब कुछ समझते हैं इस व्यापक स्वाद के स्वादस्व को अनुभव ही नहीं कर सकते।

अ धारणा

धारणा का एक विशेष अर्थ योग दर्शन में लिया जाता है। धारणा का सामान्य अर्थ धारण करना है परन्तु योग दर्शन में चित्त का ऐसा विशेष में बाँध देना धारणा कहा गया है। सोयी हृदय-गुणकारी में गीहों के बीच में मासिका के अथ भ्रम में,

बिज्ञा के अग्र भाग पर, नाभि चक्र में या मूर्धा ज्योति में चित्त को आबद्ध कर देते हैं । उनका अनुमन है कि ऐसा करने से चित्त का प्रसादन होता है और प्रसादन ही प्रभु प्राप्ति के आगम्य तक पहुँचा देता है । वेद ने मन को प्रभु के साथ समुक्त कर देने के लिये कई मंत्रों में निर्देश किया है । यथा —

(१) युञ्जते मनं परत युञ्जते विधौ विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित् ।

विहोत्रा यवे वयुनाविरेक इम्यही देवस्य सवितुः परिप्युतिः ।

ऋ० १-८१ । यजु० ११४

(२) युञ्जान प्रथमं मनस्तत्त्वम्य सवितायिष ।

अप्तेभ्योति निचाप्य पुषिध्या अप्यामरत ॥ यजु० १११

(३) युक्तो न मनसा ययं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शरदा ॥ यजु० ११२

(४) युक्त वाय सविता देवान्स्वर्ग्यतो विपश्चितम् ।

बृहद्व्योतिः करिष्यतः सविता प्रमुखाति तान ॥ यजु० ११३

(५) मुने वास ऋषिं पुष्यं नमोनि विप्रलोक एतु पय्येव घृते ।

मृष्यन्तु विप्रो जमुतस्य पुत्रा आये वामानिदिव्यानि तस्य ॥३॥

प्रभु विपश्चित है, परमेश्वरी है, चित्स्वरूप है बिनाश और व्यापक है । उसके साथ व्यापकता की ओर प्रमाण करने वाले साधक अपने मन और बुद्धियों को जोड़ते हैं । प्रसन्न हो सकता है कि जब मन और बुद्धि प्रभु के साथ समुक्त हो गये तो इन साधकों का आदीरिक्त होत्र कैसे चलता है ? इनके इन्द्रिय-व्यापार, मोक्ष-छाटनादि कैसे सम्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर मंत्र में दिया गया है कि प्रभु वयुनाविरेक हैं उनके ज्ञानों और कर्मों के समुच्चय को जानते हैं । वह अकेले हैं फिर भी सबके होत्रों को, सारी साधक यज्ञ-कर्मों को विविध प्रकार से और विशेष रूप से आरम्भ करने वाले हैं । वे सविता हैं सबके प्रेरक हैं, देव हैं—जब भूत बानी हैं । उनकी स्तुति प्रशंसा महान है । उनके पुत्रों की इच्छा नहीं । वे चारों ओर, जहाँ जामो वहीं जाहे बिना स्थिति में रहो सही में प्राप्त हो जाते हैं ।

योदी तत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रथम अपने मन को प्रभु के साथ जोड़ते हैं फिर बुद्धियों तथा कर्मों को उसी के साथ समुक्त कर देते हैं । इस साधना द्वारा वे जन्म रूप प्रभु की ज्योति को ग्रहण करके अपने भीतर भर लेते हैं ।

सर्वोत्पादक, सर्व-प्रेरक विष्णुमन-सम्पन्न प्रभु का यज्ञ निरन्तर चला करता है । हम साधना-हीन प्राणी उसी के साथ अपने मन को समुक्त किया करते हैं । इस प्रकार साधक को जो अपार शक्ति प्राप्त हो जाती है वह उसके परम मुख मोक्षानन्द का कारण बनती है ।

इन्द्रियों मन के साथ सम्बद्ध हैं वे देव हैं विष्णु सत्त्विया हैं । प्रेरणाशील साधक स्वर्ग की ओर उन्मुख सुख-विशेष की ओर जाने वाली इन इन्द्रियों को तथा बुद्धि को प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के साथ एक करके प्रभु से महान ज्योति को प्राप्त कर लेता है और विष्णुमूर्त को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी उसी हस्तगत हो जाता है ।

देर तक वह इन्द्रियजयी है। इस इन्द्रिय जय के लिये अथवा प्रत्याहार के लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इन्द्रिय-जय सांस्कृतिक विकास का मध्य बिन्दु है। जिसकी इन्द्रियाँ जय में हैं वही संस्कृत मानव है। इन्द्रिय जय के ऊपर विकास के और भी कई पड़ाव हैं पर संस्कृति प्रत्याहार की सिद्धि में अपने रूप को उन्मुक्त कर देती है। सम्प्रदाय और संस्कृति का अन्तर भी प्रत्याहार में स्पष्ट हो उठता है। सम्प्रदाय समाज-सापेक्ष है और बाह्योन्मुख है। संस्कृति अन्तर्मुखी तथा व्यक्ति-सापेक्ष है। उसका सामाजिक रूप भी है जैसे ही जैसे व्यक्ति का एक सामाजिक रूप है। एक-एक संस्कृत व्यक्ति के समुदाय को ही तो संस्कृत समाज कहते हैं। जो देव संस्कृत-व्यक्ति-बहुल हो, उसकी विशिष्ट जीवन-नैतिक ही संस्कृति के नाम से पुकारी जाती है।

आजकल स्वराज्य का उद्घोष बस पकड़ रखा है, परन्तु वास्तविक स्वराज्य इन्द्रियों का आत्मा के आधीन होना है। जब तक इन्द्रियाँ बहिर्बर्ती हैं तब तक शरीर की राष्ट्र में स्वराज्य नहीं है। स्वराज्य में सब कुछ पाते हैं। पर-राज्य क्लेशकारक है। हम व्यक्तिगत रूप से जो दुखी होते हैं उसका एक मात्र कारण इन्द्रियों का आत्मा से पारस्पर्य और प्राकृतिक विषयों के साथ संयोग है। इस अवस्था में रूप सत्य स्वर आदि राज्य करते हैं आत्मा नहीं। निम्नांकित मंत्र में स्वराज्य की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध होती है —

स्वादेरित्वा विपुबतो मध्य पिबन्ति योयं ।

या इत्येव सदावरीर्जुन्वा नवन्ति शीनन्ते वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥

स्वराज्य में अनुवसन करने वाली अनुकूलता पूर्वक निवास करने वाली इन्द्रियाँ वस्तुतः पौरी का ही रूप हैं। गौरी सत्य सत्तावस्था का सूचक है। इन्द्रियाँ इस अवस्था में बलवान् इन्द्र के साथ आत्मन् बनाती हैं। इन्द्र आत्मा है और इन्द्रियाँ उसी की शक्तियाँ हैं। शक्तियाँ शक्तिमान के साथ जब एक होती हैं, तभी आत्मन् की अनुभूति होती है। उसी समय अंग-अंग में सोमा सुषमा तथा शीघ्रि फूट पड़ती है। मंत्र के शब्दों से यह ध्वनि भी प्रस्तुति हो रही है कि इन्द्रियाँ इन्द्र के साथ ही व्यापक मनु का पान करती हैं। इस समय के स्वाव को सभी व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकते। इस स्वाव को तो बड़ी चखते हैं जिन्होंने इन्द्रियों को अपना बना लिया है। जिनकी इन्द्रियाँ आध्यात्मिक स्वराज्य में विचरण करती हैं। विषय-भोग्य प्राप्ति जो संकीर्ण धार्मिक सुख को ही सब कुछ समझते हैं, इस व्यापक स्वाव के स्वराज्य को अनुभव ही नहीं कर सकते।

॥ धारणा

धारणा का एक विशेष अर्थ योग वर्णन में लिया जाता है। धारणा का सामान्य अर्थ धारण करना है परन्तु योग वर्णन में चित्त का देव विशेष में बाँध देना धारणा कहा गया है। योगी हृदय-गुच्छरीक में गीर्हों के बीच में नासिका के अग्र भाग में,

बिज्ञा के अग्र भाग पर गाभि चक्र में या मूर्धा पयोति में चित्त को आबद्ध कर देते हैं । उनका अनुभव है कि ऐसा करने से चित्त का प्रसादन होता है और प्रसादन ही प्रभु प्राप्ति के आनन्द तक पहुँचा देता है । वेद में मन को प्रभु के साथ संयुक्त कर देने के लिये कई मंत्रों में निर्देश किया है । यथा —

(१) पुञ्जते मन उत पुञ्जते बिभो विप्रा विप्रस्य ब्रुहते विपश्चित् ।

विहोवा इमे बभूवामिदेक इमद्भी देवस्य सवितु परिप्युति ।

ऋ० १०.११.१ यजु० ११.४

(२) पुञ्जान् प्रथमं मनस्तत्त्वाय सवितापिय ।

अग्नेर्योति निधाय पुनरिष्या अघ्यामरत ॥ यजु० ११.१

(३) मुक्तैः सनता ययं देवस्य सवितु सखे । स्वर्गाय शतया । यजु ११-२

(४) मुक्त वाय सविता देवान्स्वर्गतो विवाहिबम् ।

ब्रुहस्पतिं करिष्यत् सविता प्रभुवाति तान् ॥ यजु० ११.३

(५) मुने वाम बहू पुष्यं नमोमि विदलोक एतु पथ्येव सुरे ।

सुखम्सु विस्ने अमृतस्य पुत्रा आये वायामिदिव्यानि तस्यु ॥१॥

प्रभु विपश्चित है, परमजानी है चित्स्वरूप है विश्वास और व्यापक है । उसके साथ व्यापकता की ओर प्रयाण करने वाले साधक अपने मन और बुद्धियों को जोड़ते हैं । प्रसन्न हो उठता है कि जब मन और बुद्धि प्रभु के साथ संयुक्त हो गये तो इन साधकों का आतीन्द्रिक होन कैसे बसता है ? इनके इन्द्रिय-व्यापार, भोजन-सुखनादि कैसे सम्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर मंत्र में दिया गया है कि प्रभु बभूवामि हैं । सबके जानों और कर्मों के तन्तुबाल को जानते हैं । वह बकेसे हैं छिद्र भी सबके होशों को घरीर साधक यज्ञ-कर्मों को विविध प्रकार से और विशेष रूप से चारुण करने वाले हैं । वे सविता हैं सबके प्रेरक हैं, देव हैं—जब भूत सभी हैं । उनकी स्तुति प्रशंसा महान है । उनके पुत्रों की इमत्ता नहीं । वे चारों ओर, जहाँ जहाँ नहीं जाई बिना स्थिति में रहो उसी में प्राप्त हो जाते हैं ।

योगी तत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रथम अपने मन को प्रभु के साथ जोड़ने हैं छिद्र बुद्धियों तथा कर्मों की जड़ी के साथ संयुक्त कर देते हैं । इस साधना द्वारा वे अग्नि रूप प्रभु की ज्योति को ग्रहण करके अपने भीतर भर लेते हैं ।

सर्वोपायक सर्व-प्रेरक दिव्यगुण-सम्पन्न प्रभु का यज्ञ निरन्तर बना करता है । हम साधना-बीज प्राप्ति जसी के साथ अपने मन को संयुक्त किया करते हैं । हम प्रसाद साधक को जो अपार शक्ति प्राप्त हो जाती है, वह उसके परम गुण आनन्द का कारण बनती है ।

इन्द्रिया मन के साथ सम्बद्ध हैं वे देव हैं दिव्य शक्तियाँ हैं । प्रेम्ण-वीर्य शक्त स्वर्ग की ओर उन्मुख शुद्ध-विलोप की ओर जाने वाली इन इन्द्रियों को तदा इन्द्रि को प्रकाश-स्वरूप परमात्मा के साथ एक करके प्रभु से महान ज्योति को प्राप्त कर केन्द्र है और दिव्यगुणों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य भी उसे हस्तगत हो जाता है ।

हे अमृत पुन जीवा ! सुतो ! तुममें से जो साधक दिव्य धर्मों के निवासी बनते हैं, उनके मार्ग में नीति विविध ऋणों में प्रवेश करनी है और वे ममता द्वारा प्रपत्तिपथ द्वारा भक्ति भाव पूर्वक उस अपूर्व ब्रह्म के माय जगत् के रूप और कोई नहीं है, अपने आगको एक कर हैं ।

प्रभु बने तो सर्वत्र हैं पर अपने भीतर वे हृदय-ममता में साधक को बिगुन रूप से अनुभूत होते हैं । हृदय केन्द्र है वहाँ न एक सीपी लारी सत्कार तक को मर्द है । हृदय के स्पन्दन समस्त शरीर को यंत्रणीत करते हैं । इन साधकों पर ध्यान केंद्रित करने से मन एकाग्र होता है । बुद्धि निश्चल बनती है और निगम इन्द्रिय ध्यानार समाहित हो जाते हैं । योगी की यह समाहित अवस्था ही अथा-अविषय भाव की समाधि है । समाधि के माय यही अवस्था है । इसी अवस्था में आत्मा परमात्मा के साथ एक होने की योग्यता प्राप्त करना है ।

हृदय-मुण्डरीक ही नहीं साधकों ने अग्न्याग द्वारा नागिका के अघ्न्याग पर आँखों की ज्योति को केंद्रित करने के लिए नागिका के केंद्र तक चले हुए दोनों भीनों के बीच में स्थिर किया है और ज्योति के दर्शन किये हैं जिसे संस्तर का तीव्रतम क्षेत्र कहा गया है । सूर्याग्नि ज्योति न भी मन को केंद्रित किया जाता है । धारणा का अर्थ चित्त को देश विषय में बाँधना है । बाँधो हुआ चित्त शक्ति का साधन है । जब वह इन्द्रियों के विषयों में फैल जाता है तब उसकी भक्ति भी बिगड़ जाती है ।

प्रत्याहार से समाधि योग का प्रारम्भ हो जाता है । धारणा में वह प्रत्यक्ष होने लगता है । धारणा ध्यान-समाधि तीनों का एक सह-वर्ग है । तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं ।

## ज्ञ ध्यान

ध्यान में मन एक दम निर्विषय हो जाता है । प्रत्याहार ने जो अस्तमु सी भाव उत्पन्न किया था और बाह्योग्मुख वृत्तियों को रोना था उसमें इन्द्रियों को बाहर का बाहार न मिसने से क्लेशकर अवस्था नष्ट होन लगी थी । धारणा ने चित्त को देश विषय में बाँध कर लिया और तत्कालीन वृत्ति होने से एकतालता का मार्ग बिन्दु हो गया । ध्यान में मन विषय-विहीन हो जाता है और उसकी ज्ञान की धारा उस धारा के समान अनन्तविशाल रूप धारण करने लगती है । यह ज्ञान जिसे योग दर्शन में प्रत्यक्ष कहा गया है प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान नहीं है क्योंकि बाह्य पदार्थों में इन्द्रियों की विषयमयकता बनी रहती है और इस ज्ञान में निर्विषयता है । अतः इस ज्ञान को हम आत्म ज्ञान के नाम से समिहित करेंगे । मन का ध्यानस्थ हो जाना विषयबीज भूमियों का नष्ट हो जाना है । यही ध्यान की एकतालता जब स्थिर और गम्भीर रूप धारण कर लेती है, तब उसे निर्विध्यासन कहा जाता है ।

प्रभु का अनुग्रह जिस साधक को प्राप्त हो गया वह ध्यान की श्रेष्ठतम अवस्था तक सुषमता से पहुँच जाता है । वेद कहता है —

धम्मसुते न सिद्धयति यत्रो विपरिचितवचन ।

स भीतां योग मिश्रति ।

बड़े से बड़े विपरिचित ज्ञानी का भी यज्ञ प्रभु की कृपा के बिना सिद्ध नहीं होता । वह प्रभु बुद्धियों के योग में प्राप्त होता है ।

बुद्धि का योग ज्ञान का योग है । ध्यान में ज्ञान की ही एकतामता रहती है । जब मन और बुद्धि प्रभु-ज्ञान के साथ एक हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं योग करने लगते हैं तभी ध्यान की सार्थकता सिद्ध होने लगती है ।

वेद का सर्वश्रेष्ठ गायत्री मंत्र भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ।

प्रभु कृपा करें । वे हमारी बुद्धियों को प्रेरित करें जिससे उनके वरणीय भर्ग का, तेज का हम ध्यान और धारण कर सकें । यदि हमारी बुद्धि प्रेरणा पाकर स्फूर्त एवं सचेष्ट हो गई और प्रभु के ध्यान में उनके तेज के धारण में निमग्न हो गई, तो मार्गों हमें अपना लोभ छोड़ा पर प्राप्त हो गया ।

आ त एतु मन पुनः अन्वे यन्माय धीयते ।

ज्योत्स्न सूर्यं बुधे ।

जो मन बाहर भटकता हुआ आत्मा से पृथक् हो गया था और अपने बल बीजन तथा कर्तृत्व से वंचित था फिर आत्मा के अन्दर प्रविष्ट हो आत्मा के ध्यान में घीन हो, जिससे उसे निरन्तर सूर्य के वर्धन होते रहें, परम ज्योति का साक्षात्कार होता रहे ।

यह सूर्य ज्ञान का सूर्य है और यह ज्योति यह प्रकाश भी ज्ञान का ही प्रकाश है । आत्मा का गुण ही ज्ञान है । परमात्मदेव विष्णु ज्ञान स्वल्प है । ज्ञानबारा में जबगाहन करता प्रकाश में ही स्नान करता है । प्रभु अनन्त है । ज्ञान अनन्त है । योग वर्धनकार कहता है —

तथा सर्वावरजमलापेतस्य ज्ञानस्य आनन्दयाद् ज्ञेयमन्यम् । । ४-३१ ।

जब ज्ञान समस्त आवरणों के भर्जों से सून्य होकर कमकने लगता है तभी उसकी अनन्तता प्रकट होती है । तब ज्ञेय स्वल्प था और ज्ञान अनन्त था नाशित होता है । ज्ञान की यही एकतामता ध्यान है ।

प्रभु को वेद में कई बार अन्वस् कहा गया है । यास्क ने इसका अर्थ आध्याय नीय किया है ।

प्र वो महे मन्वमागाम्य अन्वसो मर्धा ।

महीं न वारां अति मन्वी जपति ।

तस्य मन्वी जायति वारा सुतस्य अन्वसः ।

प्रभु को सोम भी कहा गया है । अन्वस् भी सोम है । यह आध्यायनीय सोम

मन्त्री, मन्दमान, मोदमान अर्थात् आनन्द से परिपूर्ण है । आध्यात्मनीय अर्थात् ध्यान के योग्य सोम का ध्यान करने के समय ध्यान की जो एकज्ञान पारा अनवच्छिन्न रूप से चट्टी है उसने साथ ध्याता भी चट्टा बना आता है और प्राकृतिक पाशों से तार हो जाता है । प्रभु का मन्त्रमान रूप उसे भी हृदय निर्भर कर देता है ।

प्रभु ही ध्यान योग्य है पर यहाँ कितने हैं जो उसकी ओर प्रयास करते हैं -

को नामाय बभसा सोम्याय भगवतुर्वी भवति यस्त पश्य ।

क इन्द्रस्य युगं क सत्तायं भ्रातृं बन्धि कचये क ऋती ॥

कौन है जो बाकी ए प्रभु के समस्त प्रपन्न हो ? कौन है जो उसका मनन चिंतन और ध्यान करे ? कौन है जो उसके प्रकाश को अपने अन्दर धारण करे ? है कोई साधक जो प्रभु की संगति सदा भाव भ्रातृभाव कामि एवं दीप्ति को धारण करने की कामना करे ?

बैद-मंत्र-मत्त प्रपन्न का उत्तर निम्नांकित श्लोका में पाया जाता है । उच्चावस्था को प्राप्त साधक कहता है -

विश्वो मतीरस्ततमे स्वाया ॥

मेरी ससस्त भक्तियाँ आज तेरे ही लिये दौड़ रही हैं ।

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहदये सत्यमुष्माय तवसे भक्ति यरे

अपानिब प्रबन्धे यस्य दुर्धरं रात्री विश्वापुत्रवसे अपावृतम् ॥

उस मंहिष्ठ सर्वोत्तम पूजनीय महान से महान विशाल शक्ति से सम्पन्न सत्य ब्रह्मात्मा प्रभु के लिये मैं अपनी भक्ति को समर्पित कर रहा हूँ । मेरे प्रभु का ऐश्वर्य सिद्धिदायक राघव जूना हुआ है । वह साधक के पास बैठे ही स्वतः पहुँच जाता है जैसे जल प्रवण-मूमि में बहता हुआ प्यासे के पास पहुँच जाता है । प्रभु का यह ऐश्वर्य सबको जल प्रवाह करता है ।

अहमिदं पितुं परि मेवामृतस्य जलम् । अहं सूर्य इवाम्बुजः ।

मैंने अपनी बुद्धि में अमृत रूप पात्रक पिता की सेवा को घर लिया है । मेरी बुद्धि प्रभु की व्यापक बुद्धि के साथ आज एक है । इससे जो प्रकाश मुझे प्राप्त हुआ है उसने मुझे सूर्य के समान ही बना दिया है ।

अग्नि मिथ्यातो मगता भियं सयेत मर्यः ।

अग्निमीये विवस्वति ॥

जिसने अपना मन प्रभु में लगा दिया है, जो भग्न द्वारा ध्यान द्वारा उस आनन्दस्वरूप प्रभु को अपने व्यक्तित्व द्वारा प्रकट करने लगा है वह वस्तुतः प्रभु को ही अपने भीतर धारण करने लगा है— प्रभु उसके द्वारा प्रदीप्त हो रहे हैं प्रज्वलित हो रहे हैं । जब तो वह बुद्धि की संतीपता तथा उसकी उपलब्धि को भी अनुभव करने लगा है । उसकी बुद्धियाँ भी उसी प्रभु की ओर वा रही हैं । बुद्धि रूप सूर्य की किरणें अब उसको और साथ ही प्रभु को भी प्रकाशित करने लगी हैं ।

ध्यान में अपने व्यक्तित्व का बोध बना रहता है— यह तत्त्व उपर्युक्त मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है। मैं अपनी बुद्धि को समर्पित करता हूँ मैं सूर्य के सदृश बन गया हूँ आदि वाक्य इसी सत्य की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। बारम्बार ध्यान और समाधि तीनों ही अन्तरंग साधन हैं और तीनों क्रमपूर्वक ऊपर उठाते जाते हैं। व्यक्तित्व का संस्कार होते-होते चित्त मग्न—विशेषादि से रहित तथा उज्ज्वल होता जाता है। संस्कृति इसी आन्तरिक निर्माण के मूल में निहित रहती है।

## ८ समाधि

ध्यान में स्वरूप-ज्ञान बना रहता है। मैं ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ ऐसा भासित होता रहता है। समाधि में स्वरूप की मूर्त्यता हो जाती है— अपना मान नहीं रहता— केवल ध्येय का ध्यान रहता है। ध्येय मात्र—अर्चमान—का निर्माण ही समाधि है। ध्यान की परकाया निर्विषयासन है। समाधि भी ध्यान का चरम उत्कर्ष है। इसमें चित्त की स्थिरता हो जाती है जो परिमार्जन अथवा संस्कृति की सर्वोत्तम अवस्था है।

योग चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम है। चित्त की वृत्तियाँ जब तक बाहर मटकती हैं तब तक संस्कृति भी अपने से दूर रहती है। इन वृत्तियों का संस्कार संशोभन अन्तर्मुखी वृत्ति में होता है। अन्तर्मुख होने पर बाहर का नहीं अन्दर का, आन्तरिक तत्त्वों का ध्यान होने लगता है। अपना माया भी बाहर नहीं भीतर ही है। अपने का भास होना आत्म प्रतीति का जन्म होना मैं शरीर नहीं हूँ आत्मा हूँ चेतन तत्त्व हूँ— ऐसा अनुभव करना अन्तर्मुखी वृत्ति की विशेष उपलब्धि है। इससे भी ऊपर की एक अवस्था है— परमात्मतत्त्व का ध्यान सर्व व्यापक ब्रह्म की अनुभूति। समाधि इसी अनुभूति का नाम है जिसमें मैं— पन विस्मृत हो जाता है और ब्रह्मानुभूति अवशिष्ट रह जाती है।

ब्रह्म ही ध्येय है। चित्त को अन्दर खनते हुए इसी ध्येय के स्वरूप में आबिष्ट या मग्न होना है। ध्येय में चित्त की अवस्थिति ध्यानी के स्वरूप को भी अभिमूर्त कर लेती है। आत्म विस्मृति तथा ध्येय ब्रह्म की ध्याति अथवा उपलब्धि समाधि योग द्वारा सम्पन्न होती है। चित्त ब्रह्म में स्थिर हो जाता है। यही भूमा की अवस्था के नाम से भी विख्यात है। अपनी सत्ता की स्वतन्त्रता इसके द्वारा विनाशता में परिणत हो जाती है। ब्रह्म का अर्थ ही महान और विशाल है।

सम की दृष्टि से विचार करें तो अब तक चित्त वृत्तियाँ बाह्य विषयों में रमण कर रही हैं, अब तक चित्त में स्थिर है और न शान्त। अशान्त मानस समाधि के योग्य होता ही नहीं। अब हम चित्त को बाहर से हटाकर अपने में स्थिर कर लेते हैं तभी वह शान्त हो पाता है। इसी अविचल शान्त अवस्था में पर ब्रह्म की प्रतीति होती है।

माय बधनकार पारणा ध्यान तथा समाधि के एकत्रीकरण को मंथन का नाम



बैरा है। इसी को हम संस्कृति कहते हैं। निरन्तर प्रयाग एवं अग्नास करते हुए पापक को ही इसका साधारणार हो पाता है। इसी संयम से प्रज्ञा का आसक्त छिन पठता है। यह प्रज्ञान के प्रकाश में किसी भी तन्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान होने समता है। माना विषयों में विचरण करने से चित्त की आ मक्ति बुद्धिज्ञा हा गई थी वह सम्पूर्ण ज्ञान के लिए अनुपयुक्त थी। संयम से उत्पन्न प्रज्ञासाधक ग वह मक्ति चित्त को पुन प्राप्त हो गई। वेद कहता है —

उदीर्घं जीवो अगुर्न आयात् अथ प्रायासम आगमोतिरेति ।

आरक पम्पावातसे सूर्याय अगम्य यत्र प्रतिरन्त आयु ॥

चित्त का व्युत्थान चापम्प बाहर भटान्ना अब गमाप्त हो गया है। अब तो असु का आगमन है जिसमें बाध नहीं आन्तरिक उदति है। प्राप्तवत्ता है। चित्त चापम्प के समय अन्धकार या अब निरोध म जम में ज्योति ही ज्योति है। अन्ध कार में मृत्यु भी अब जीवन ही जीवन है। और इतना ही नहीं, परमसूर्य, परमात्म देव तक पहुँचने का पन्था भी अब उन्मुक्त है।

ईजानश्चित्तमाह्वय इमिं नारस्य पुष्ठात् विबभूवतिप्यन् ।

तस्म प्रमाति नमसो ज्योतिषीमान् स्वर्गं पन्था सुष्ठुते देवयान ॥

यह नाक लोक है। इसके ऊपर वह धूमोव चमक रहा है। अन्त्यानि पर आरोहण करता हुआ संस्कृत सामक आन्तरिक यज्ञ-साधना में बहता चला आ रहा है। उसे नम से ज्योतिष्मान् स्वर्गं तब पहुँचाने वाले देवयान पथ के दर्शन हो रहे हैं। संप्रज्ञात समाधि से उद्भूत सिद्धियाँ उसकी संधिर्षावन रहीं हैं।

प्रज्ञान्तराहिता संस्काराद्-संस्कार मे संस्कृति ने परिष्कार ने आज सामक के अन्तर प्रज्ञान्तराहिता उत्पन्न कर दी है। कामेतामनपन्त्सव — यह सुखमयी अवस्था प्रज्ञान्तराहिता है। इष्टा आज अपने स्वरूप में अवस्थित है जबका उस सर्वज्ञा के साथ एक है।

अहं च एवं च ब्रूहन् संमुप्याव सनिम्पया ।

हे ब्रूहन् । ब्रूहो नारकों विष्णो व्युत्थान-भूमियों के विनाशक ! आज आपने मुझे निहास कर लिया। आज मैं और तुम संयुक्त हैं एक हैं मूस तक एक हैं।

केतुं कृष्णन् अनेतवे पैशं मया अनेतसे । समुपविम अजाययाः ।

प्रभो ! आपके सामुप्य से यह ज्ञान जेतना रहित आज ज्ञान तथा जेतना से परि पूर्ण हो रहा है। यह अनुन्तर आज सुन्दर है। आज उपायों उद्यम कारक शक्तियाँ इसे नवीन मोक्षरूप आत्म से रही हैं। सामक की अभिमाया भी —

यत्र ज्योतिरब्जप्र यस्मिन् लोके स्वहितम् ।

तत्र ना चेहि पवमान अमृतं लोके अस्ति ॥

प्रभो ! मुझे ऐसे लोकों में से जसो जहाँ ज्योति हो सुख हो अमृत तथा

अस्तित्व अवस्था हो । साधक की यह अभिलाषा पूर्ण हो गई ।

सप्रज्ञात समाधि सूचीय समाधि के नाम से भी विख्यात है । इसके ऊपर असंप्रज्ञात अर्थात् अबीज समाधि है । प्रथम में ध्येय का ज्ञान रहता है अथवा ज्ञेय और ज्ञान एक साथ भासित होते हैं । दूसरी में ध्येय या ज्ञेय का भी भाग नहीं होता घूम्यता जैसी औद्यों के निर्वाण जैसी परन्तु एक विद्युत् भावात्मक अवस्था रह जाती है । सांस्कृतिक विकास का यह चरम बिन्दु है ।

## ८ योग और उपनिषद्

यदि योग चित्तवृत्तियों के निरास द्वारा मानसिक भर्त्सों को समाप्त कर देता है तो सांस्कृतिक विकास में भी यही कार्य सिद्ध होता है । उपनिषद् के ऋषि भी यही कहते हैं ।—कठोपनिषद् के निम्नांकित श्लोक इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं—

यथा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।  
 बुद्धिश्च म विचेष्टते तामाहु परमां गतिम् ॥ १० ॥  
 तां योममिति मयन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।  
 अग्रतस्तथा भवति योयो हि प्रमत्ताप्यथो ॥ ११ ॥  
 यथा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि भिताः ।  
 अयमर्थोऽप्नुतो भवति भव ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥  
 यथा सर्वे प्रमितांते हृदयस्येह धाम्ना ॥  
 अयमर्थोऽप्नुतो भवति एतावदनु शासनम् ॥ १५ कठ वस्ती ६

भारीक चेष्टायें प्राय इन्द्रियों का खेस हैं और इन्द्रियों की चेष्टायें मन का खेस हैं । जब मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं जब बुद्धि भी विविध एवं विरुद्ध चेष्टाओं से रहित हो जाती है तब इसे परम गति कहा जाता है ।

परमगति ही हम सबका ध्येय या यन्त्रण्य है । सांस्कृतिक यात्रा का यही अन्तिम पड़ाव है । इस गति में इन्द्रियाँ शुद्ध निर्मम तथा स्थिर हो जाती हैं । इन्द्रियों की यही धारणा योग है । इसी अवस्था में उपासक योग द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करता है और अभ्यास होकर सूक्ष्म तथा सत्य गुणों के प्रकाश के साथ अशुद्ध एवं असत्य गुणों को विनाश करने वाला बनता है ।

जब सब कामनायें जो इसके हृदय में आधाय पायी थीं, मर्य हो जाती हैं तभी साधक मृत्यु के पंजों से छूटकर अमृत बनता है और ब्रह्म को प्राप्त करता है ।

कामनाओं के साथ कुछ प्रणियाँ भी हृदय में पड़ी रहती हैं । जिन कामनाओं को मैं बाहर प्रकट नहीं कर सकता वे भीतर ही भीतर मुझे कुरेवती रहती हैं और मेरे मानसिक क्लेश का कारण बनती हैं । यही प्रणियों का कर्म धारण करती हैं । योग द्वारा हृदय की ये प्रणियाँ भी क्षिप्त—विनाश हो जाती हैं । तभी मानव मोक्षपथ

का अपिचारी बनता है ।

मुक्त जीव ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त करके समस्त मोह-मोह-मोहों में स्वच्छन्द विहार करता है । उगड़ी सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं । उगड़ी क्षत्रिया अर्थात् मन और इन्द्रिया प्रकाशमय हो जाती हैं । जैसे नाव द्वारा समुद्र को पार किया जाता है वैसे ही मुक्तिमार्गी सब दुखों से पार हो जाता है । संसारी जीव अवतारण की अवस्था में रहते हैं तो मुक्तिमार्गी उन्नतमन की, ऊर्ध्वारोहण की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं । योग और संस्कृति का सब दोनों ही मानव के मूल स्वरूप के सम्पादक हैं । पाप से पुण्य और पुण्य-प का पक्षि बनकर मानव मोक्षमार्ग को प्राप्त करने में समर्थ होता है ।

विकास की यह अवस्था बिरजा विधेवादि से रहित सूत्र जन्मजन से बिहीन और ध्रुव कहलाती है । इसी को वेद ने तृतीयधाम ( तृतीये धाम-प्रथमैरमस्त ) कहा है । दिव्य पुन्यकारी प्रकाशस्वरूप साधक ही इसे प्राप्त कर सकते हैं ।

समाधिनिर्बुद्ध मलस्य चेतसो निवेगितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।

म सख्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तन्मताः करणेनपुष्टते ।

योग-अन्य समाधि में जब चित्त निर्मल हो जाता है समस्त पाप धुन जाते हैं और वह परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है । सब जो सुख मिलता है, उसे बाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता । वह तो स्वयं मन्त्र करण द्वारा ही ग्रहण किया जाता है ।



## ४ । संस्कृति और चतुर्वर्ग

### क, चतुर्वर्ग का महत्व

आर्य—संस्कृति में परिमार्जन बाहर से प्रारम्भ होता है। योग के मम मम के बिनाओं का वर्णन करते हुये इसे हम स्पष्ट कर चुके हैं। समाज यदि व्यवस्थित है परिस्थिति निरुपद्रव है तो सामक सममता से संस्कृति में प्रवेश कर जायगा। यदि समाज अव्यवस्थित हुआ मर्यादा के पास में पतन-चितन हुआ तो सामक को भी अपने पक्ष में अनेक प्रसूहों का सामना करना पड़ेगा। नियमित जीवन वृत्त और सीखा की अपेक्षा रखता है। इती व्यक्तियों का समुदाय ही आर्य समुदाय है। जो वृत्त—वास्तु है, नियम के बिना कार्य करने वाले हैं और व्यवस्था को पसन्द नहीं करते उन्हें वृत्त—हीन वस्तु के नाम से अविहित किया गया है। चतुर्वर्ग में धर्म इन्हीं नियमों वृत्तों और मर्यादों का नाम है।

### ख धर्म

मानव—व्यक्तिरिक्त अन्य प्राणि—धर्म अपनी जिस स्वाभाविक पति में बनता है उसमें न धर्म का ध्यान है न अधर्म का। धर्म और अधर्म की चर्चा मानव समाज में ही की जाती है और इन दोनों के विवेचन में वही समर्थ भी है। पशुओं और पक्षियों को तो पता ही नहीं कि धर्म क्या है। केतना के निम्नस्तर नीतिशास्त्र से पूरक है। मानव की ऊर्ध्व केतना ही कुम और अकुम में भेद कर सकती है। नीतिशास्त्र सबाचार के नियम इसी हेतु मानव ही के लिये हैं। नीतिशास्त्र धर्म और अधर्म सबाचार और कथाचार, गुम और अगुम भद्र और अभद्र के विवेचन से सम्बद्ध है और अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करने जाया है। उसने गुम को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया है और इस रूप में मानव के सामने एक आधार की स्थापना की है जो समस्त सृष्टियों का आधार है। धार्मिक प्राणी इसी को ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। महर्षि कणाद ने वैज्ञानिक वर्णन में धर्म की व्याख्या करते हुये लिखा है—यतो अम्युदयनि—धेयसु सिद्धिः स धर्मः। जो मानव को अम्युदय और नि-धेयस की सिद्धि करा दे वही धर्म है। अम्युदय मानव सम्यता की प्रगति का चोकर है जिसमें ऐश्वर्य, काम और मय की प्रधानता है। वेद मानव की

अवीन बनाना चाहता है। अवीनां स्वायत्तः शरणाः शतम्'। हम सौ वर्ष तक बीबित रहें परन्तु वीनता पूर्वक नहीं अवीन होकर। वैश्य मानव को सङ्गुनों से घुन्य कर देता है। वीनता के कारण वह सही मार्ग पर नहीं चला पाता प्रतीप पथ का अनुसरण करने लगता है और परिणामतः पतन के गङ्गावर्त में फिर पड़ता है। अतः वीनता नहीं परतन्मता नहीं अपितु अवीनता और स्वतन्त्रता मानव को अभ्युदय पथ पर अग्रसर करती है।

वेद निराशा नहीं आत्मा का संवेद्य देते हैं। आत्मा को सम्बोधन करते हुये निम्नांकित मन्त्र कितने उत्साह और प्रेरणा के साथ मानव को ऊर्ध्वगति की ओर ले जा रहा है—

‘सुपर्णोऽसि गच्छमान् पुच्छे पृथिव्या’ सीधे आत्मा अन्तरिक्षम् आपृण । ज्योतिषा दिव्य भुक्तमानं तेजसा विस्र उबुह ।

मानव तेरी आत्मा गुणी है महीमयी है। तू सोमन पर्णों आत्मा है तेरी उड़ान कितनी खोला—सम्पन्न है। तू मिट्टी का पुतला नहीं इस पृथिवी पर शासन करने आत्मा है। तू पार्थिवता अधका यथायथाय की पीठ पर बैठ जा। इसे अपना बाहुन बना से और अपने मानसिक विज्ञान द्वारा अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर दे। बाह्य का अन्तरिक्ष मानव शरीर के अन्दर अन्तःकरण है। इससे भी ऊपर तुझे उठना है। अन्तःकरण रूपी अन्तरिक्ष के उपरान्त विज्ञानमय कोश का धी शोक आता है। इसे प्रज्ञा के प्रकाश से खोल प्रोत् करना है। इसकी ऊर्ध्वगति प्रज्ञा के प्रकाश पर ही अवलम्बित है। इतना ही नहीं तुझे एक कार्य उसके भी आगे सम्पादित करना है। ऊपर कहीं हुई साधन-सम्पन्ना तेरा उच्चतम विकास कर देगी पर तेरे चतुर्विध विज्ञान मान बाधु मण्डल को भी तो ऊर्ध्व गति प्राप्त होनी चाहिए। तेरे प्रभाव से वह भी चम्बित न रहे। ये दिक्षार्थ और उपदिक्षार्थ जो निराधार खूँटे की तरह आकाश में खड़ी हैं जिनका एकमात्र सहारा ईश्वर है तेरे तेज द्वारा ऊँची उठनी चाहिए भुज और निर्मल बननी चाहिये। तेरे मन का शीरम उनको भी प्राप्त हो तभी तू वास्तव में उन्नत कहा जायगा। उठ और दूसरों को उठाने का कारण बन।

मानव को अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट न रहना चाहिए। अपने साथ अन्यो को भी उन्नत करना चाहिए। अभ्युदय एक का नहीं सम्पूर्ण समाज का होना चाहिये। यदि एक उठ गया और अन्य अज्ञोदय में पड़े रहे तो अभ्युदय की सही परिभाषा नहीं बन सकेगी। समाज में यदि एक व्यक्ति यही अथवा यही अथवा यसरही है और अन्य व्यक्ति निर्धन निर्धन एवं निम्नित हैं तो एक व्यक्ति का विकास कोई अर्थ नहीं रखता। यही क्यों वह विकास कर ही नहीं सकेगा। क्योंकि विकास के सिधे परिस्थिति की अनुकूलता अपेक्षित है। विपरीत बाधुमण्डल में विकास नहीं प्राप्त की समाजना अधिक है। या तो आप सब को अपने साथ लेकर जसिए अथवा अर्थों का साथ दीजिए तब तो आप समाज के बटक बन सकेंगे अथवा नहीं। वेद इसीलिए कहा है—

अग्रेष्ठासो अकनिष्ठास एते संघातरो धाम्बुधुः सौभाग्यम् ।

युवा पिता स्वपा चर एवाम् पुत्रुषा पुत्रिनः सुखिना मन्मथः ॥

हे मनुष्यो ! तुम सब भाई भाई हो । तुम में न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ । अतः मिसकर सौभाग्य-धी की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो । तुम्हारे पिता महान् हैं । वे शोभन-कर्म अपार पुण्यार्थी रोगापहारक सतत सुख, परम देव परमात्मा हैं और माता सुन्दर दुग्ध-देवे वासी सुखवायिनी, फल-फूस-मेवा-अन्न-हीरा रत्न आदि द्वारा पुष्ट करने वाली प्रकृति है । मंत्र में बाएँ हुये भातरो संभाव्यु खम्ब सम्भूम-समुत्पान का सम्बन्ध देते हैं । अकेले नहीं सब इकट्ठे होकर उत्पत्ति करो और सुख लोगो ।

धर्म का आधार नीति शास्त्र है ऐसा हम पहले लिख चुके हैं । पुण्य कर्म धर्म है और अपवित्र असाधु एवं अश्लील कर्म पाप है । हमें अशुभ का परित्याग करके शुभ की ओर प्रयास करना है । संसार की सरिता विकट बंध से बह रही है । इसे पार करना है, तो अश्वि का अश्व वा, पाप का इपर ही परित्याग कर देना होगा । यह भार है । इसको शिर पर साँधे हुये यदि जैसे-तो संसार में बिना दूबे नहीं रहेंगे । अतः इस बोझ को इसी किनारे पर छोड़ दें और सब मिश्र कर पुण्यार्थ-पूर्वक सरिता को पार कर जायें तो दूसरे किनारे पर शिव ही शिव दिखाई देगा ।

बेद में अनेक बार पापों से बचने की प्रार्थनाएँ आती हैं । यथा—

यद स्मृति अकृम किञ्चिदपि उपारिभ चरये जातवेद ।

पाहि तत त्वं न प्रवेत सुमे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु न । अथर्व-७/१०६/१

हे प्रकाश स्वरूप आतमा को जानने वाले प्रकृष्ट ज्ञानी परमात्मन् । जो कुछ हमने भूल से पाप किया है और व्यवहार में त्रुटि की है उससे आप हमारी रक्षा करें । सम्भव है मेरे पाप का प्रभाव मेरे सखाओं पर भी पड़ा हो । उनकी भी आप रक्षा करें जिससे वे मृत्यु से हटकर अमृतत्व को प्राप्त कर सकें ।

पाप वस्तुतः मृत्यु है । पुण्य धर्म का आचरण ही अमृत है । वेद कहता है—

उत देवा अचहितम् देवा उग्रयथा पुन ।

उतामश्चक्रुधम् देवा देवा भीषयथा पुन ॥ अथ० ४/११/१

देव पाप ने मुझे भीषे पिरा दिया है । आप पुण्य बल देकर मुझे ऊपर उठा दें । पाप ने मुझे मार डाला है । आप मुझे पुनः जीवन दान दें ।

पापी प्रारम्भ में तो फलता-फूलता दिखाई देता है परन्तु अन्त में मूल सहित नष्ट हो जाता है । मनु मिच्छते है—

अधर्मैर्नैवते तापस्ततो भद्रानि पश्यति ।

ततः सपप्माग्नयति समुत्तस्तु चित्तपति ॥

अधर्म भी भौतिक क्षेत्र में पापी को बड़ा दता है और वह

अमीन बनाना चाहता है। अमीना- स्वाम शरव- शतम्' । हम सौ वर्ष तक धीबिठ रहें परन्तु बीनता पूर्वक नहीं अमीन होकर। वैश्य मानव को सद्गुणों से घृण्य कर देता है। बीनता का कारण वह सही मार्ग पर नहीं अस पाता प्रतीप पथ का अनुसरण करने लगता है और परिणामतः पतन के गह्वर गर्त में गिर पड़ता है। अतः बीनता नहीं परत-जता नहीं अपितु अमीनता और स्वतन्त्रता मानव को अभ्युन्नय पथ पर अग्रसर करती है।

वेद निराशा नहीं जाता वा संशय से है। आराम को सम्बोधन करते हुये निम्नांकित मन्त्र कितने उत्साह और प्रेरणा के साथ मानव को कर्मवृत्ति की ओर ले जा रहा है—

‘सुपर्णो’ सि मरुतान् पुच्छे पुषिष्या सीध भासा अन्तरिक्षम् आपुब ।  
ज्योतिषा दिव मुत्तमान तेजसा विरा पबुह ।

मानव तेरी आत्मा पूर्वी है महीयसी है। तू जोमन पंखों वाला है तेरी उड़ान बिजली शोभा—सम्पन्न है। तू मिट्टी का पुत्रमा नहीं इस पृथिवी पर शासन करने वाला है। तू पावित्रता अथवा यथार्थवाद की पीठ पर बैठ आ। इसे अपना बाहुन बना स और अपने मानसिक विज्ञान द्वारा अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर दे। बाह्य का अन्तरिक्ष मानव शरीर के अन्दर अन्तःकरण है। इससे भी ऊपर तुझे उठना है। अन्तःकरण की अन्तरिक्ष के उपरान्त विज्ञानमय बोध का ही शोध आता है। इसे प्रकाश के प्रनाश से ओत प्रोत करना है। इसकी कर्मवृत्ति प्रकाश के प्रकाश पर ही अवलम्बित है। इसका ही नहीं तुम एक कार्य उद्योग भी माने सन्तुष्टि करना है। ऊपर वही हुई साधन-सम्पदा तथा उच्चतम विज्ञान कर देगी पर तेरे अतिरिक्त कुछ मान बापु मन्त्र को भी तो कर्म वृत्ति प्राप्त होनी चाहिए। तेरे प्रभाव से वह भी अक्षिप्त न रहे। ये निशान और उपदिशानों का निरामार गूँटे की तरह आकाश में लड़ी हैं बिना एकमात्र महारा शिखर है तेरे तेज द्वारा ऊँची उठनी चाहिए शुद्ध और निमल बननी चाहिए। तेरे यज्ञ का सीम उन्नत भी प्राप्त हो सभी तू वास्तव में उन्नत बना जाना। उन्नत और दूरियों की उन्नत का कारण बन।

मानव का अपनी उन्नति में ही सम्पुष्ट न रहना चाहिए। अपने साथ जगत् की भी उन्नत करना चाहिए। अमृतस्य एव वा नहीं अमृतं समात्र वा हाना चाहिये। यदि एक उन्नत मन और अन्तःकरण का पद न हो अमृतस्य की सही परिभाषा नहीं बन गयेगी। समात्र में यदि एक व्यक्ति यनी अथवा अनी अथवा यज्ञम्बी है और अन्य व्यक्ति निर्पेन निर्बल एव निर्जित है तो एक व्यक्ति का विज्ञान कोई कर्म नहीं रहता। यही बातें बत विज्ञान कर ही न/सहता। वैदिक विज्ञान के लिये परित्याग की अनुपपत्ति अतिवृत्ति है। विज्ञान बापमन्त्र में विज्ञान नहीं ज्ञान की गमायना अतिवृत्ति है। या तो ज्ञान का प्रदान माय मैत्र्य चाहिए अथवा जगत् की गाव दीक्षा तब तो ज्ञान समात्र के पद बन सके अथवा न/ह। वैदिक दर्शन का रहस्य है —

अभ्येष्टासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरी बाबुपुं सोमपाय ।

पुत्रा पिता स्वपा च एवाम् सुबुधा पुमिन् सुविना मन्मथम् ॥

हे मनुष्यो ! तुम सब भाई भाई हो । तुम में न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ । अतः मिलकर सौभाग्य-भी की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो । तुम्हारे पिता महान् हैं । वे क्षोभन-कर्मा अथवा पुण्यार्था, रोमापहारक सतत भुजा परम देव परमात्म हैं और माता सुन्दर दुग्ध-देने वाली सुखदायिनी, फल-फूल-मेवा-अन्न-हीरा रत्न आदि द्वारा पुष्ट करन वाली प्रकृति हैं । मन में जाए हुये भ्रातरो सबाबुपुं अथ सम्भूय-समुत्पन्न का सम्बन्ध वेते हैं । अकेले नहीं सब इकट्ठे होकर उत्पत्ति करो और सुख भोगो ।

धर्म का आचार नीति शास्त्र है ऐसा हम पहले सिख चुके हैं । पुण्य कर्म धर्म है और अपवित्र असाधु एवं बर्हीस कर्म पाप है । हमें अशुभ का परिणाम करके भुम की ओर प्रभाव करना है । संसार की स्रिता विष्ट वेम से बह रही है । इसे पार करना है, तो अतिव का अमर का पाप का इपर ही परित्याग कर देना होगा । यह भार है । इसको सिर पर सारे हुये यदि चलेंगे, तो संसार में बिना बूझे नहीं रहेंगे । अतः इस पोत को इसी किनारे पर छोड़ दें और सब मिल कर पुण्यार्थ-पूर्वक स्रिता को पार कर जाएं तो दूसरे किनारे पर सिव ही सिव दिखाई देगा ।

वेद में अनेक बार पापों से बचने की प्रार्थनाएँ आती हैं । यथा—

यद स्मृतिं जहाम किञ्चिज्जगत् उपारिम जग्धे जातवेदः ।

पाहि तत त्वं न प्रवेत भुमे सज्जिष्यो अमृतत्वमस्तु न । अथर्व-१०/१०६/१

हे प्रकाश स्वर्ण जात मात्र को जानने वाले प्रकट ज्ञानी परमात्मन् । जो कुछ हमने भूल से पाप किया है और व्यवहार में भूलि की है उससे आप हमारी रक्षा करें । सम्भव है मेरे पाप का प्रभाव मेरे सत्ताओं पर भी पड़ा हो । उनकी भी आप रक्षा करें जिससे वे मृत्यु से हटकर अमृतत्व को प्राप्त कर सकें ।

पाप वस्तुतः मृत्यु है । पुण्य धर्म का आचरण ही अमृत है । वेद कहता है—

उत देवा अर्वाहितम् देवा जगयन्ता पुनः ।

उतागज्जगदुपम् देवा देवा जीवयन्ता पुनः ॥ अथ-४/११/१

देव पाप से भुमे नीचे गिरा दिया है । आप पुनः वर देकर भुमे ऊपर उठा दें । पाप ने भुमे मार डाला है । आप भुमे पुनः जीवन वाप दें ।

पापी प्रारम्भ में तो जगता-कृतता दिखाई देता है परन्तु अन्त में मृत सद्रिष्ट गष्ट हो जाता है । मनु विचिन्ते हैं—

अथर्ववेदो तावत्सतो जज्ञानि वयसि ।

ततः उपजाम्यसि तन्मस्तु विजयसि ॥

अधर्म की शक्ति क्षेत्र में पापी को बड़ा देता है और वह अन्त के दर्शन भी



करने लगता है। शत्रुओं पर विजय भी प्राप्त कर लेता है। पर अन्त में तो उसके सिने बिनाश ही बिनाश है। इसलिये मनु ने आज्ञा दी है—

न सीदन्नपि धर्मं न मनोऽधर्मं निवेशयेत् ।

धर्म पर बसते हुये यदि कष्ट भी भोगने पड़ें तो भी मन को अधर्म की ओर न जाने दें। क्योंकि अधर्म की संतति बांस में निकले हुये अश्वों की भांति है जो धूल कर मिर जाते हैं। पाप की प्रवृत्ति रखने वाले अन्त में असफल ही रहते हैं। समृद्धि उनके भाग्य में नहीं है। वेद कहता है—

जना हृत्वा पाप्मानं यस्तेनाश्वं विधासति ।

अश्वान स्तस्यां श्व्यायां बहुला पङ्करिचसि ॥

—अथर्व ४।१८।३

जो व्यक्ति समाज की बाँझों में घुस सोंक कर घर में बँठा हुआ कुपपाप पाप किया करता है और उसके द्वारा किसी श्वस्य की हत्या करना चाहता है वह नहीं जानता कि वह अपनी शक्ति को नष्ट कर रहा है। जब यह शक्ति नहीं रहेगी तो विभिन्न प्रकार के क्लेश ऊपी पत्थर पड़ पड़ करते हुए उसके सिर पर निरेयें।

पाप क्या है इसे निम्नांकित पंक्ति प्रकट करती है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

जो वस्तु अपने प्रतिकूल पड़ती है उसका आचरण दूसरे के सिने न करे। पाप से दर्शन तथा प्रेरणा की शक्तियाँ मर जाती हैं। पवित्र व्यक्ति की दर्शन-शक्ति क्षुब्ध नहीं होती और वह निरन्तर पवित्र प्रेरणाओं से शुभ कर्म की ओर प्रवृत्त होता रहता है। वेद कहता है—

उमाप्मान् देव सविताः पवित्रेषु सवेन न ।

अस्मान् पुनीहि जज्ञसे । अथ १/१९/३

सबका उत्पादक एवं प्रेरक देव मुझे पवित्र प्रेरणा देकर और पवित्र दर्शन देकर पवित्र करे। जीवन पुरुषार्थ सब प्राणवत्ता और जरिष्ट अथवा आरोग्य के विस्तार के लिए परमान प्रभु मुझे पवित्र करे। सामान्य अवस्था में मानव पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता और यदि होता भी है तो अथ सका शक्ता उसके सामने था उपस्थित होते हैं और उसे पाप करने से बचा सेते हैं। यदि मानव ने इनकी उपेक्षा कर के पाप की ओर घूर बढ़ा दिये तो फिर पाप उसे ऐसा अक्ल कर पकड़ लेते हैं कि वह सहसा मुक्त नहीं हो पाता। पाप उसे छोड़ता नहीं और यदि वह भी उसे न छोड़े तो जीवन में पाप का साम्राज्य छा जायगा। वेद की आज्ञा है—

यो न पाप्मानं जहासि तमु त्वा अहिमो वयम् ।

यजामनुव्यावर्तने ऽथ्यपाप्मानुपघताम् ॥ अथर्व १।२६।२

यदि पाप आपकी नहीं छोड़ता है तो आप पाप को छोड़ने के लिये सन्नद्ध हो जाइये । आपकी कटिबद्धता और आपका उत्साह दोनों ही पाप के जावरण को साफ़ बाँसें । पाप पाप में सम्मिश्रित हो जायगा और आप निष्पाप हो जायेंगे ।

मुपवादिष मुमुक्षुनां स्वप्न स्नातो मसादिष ।

पुतं पवित्रेवेवायमाप मुमुक्षु मीनता ॥ यजु० १० । १० ॥

जैसे फाट में रखा हुआ व्यक्ति छूने पर आनन्द का अनुभव करता है वैसे स्नान करके मनुष्य निर्मल हो जाता है वैसे पसीने द्वारा मल बाहर निकल जाता है वैसे ही मगवान मेरे पाप को दूर कर दें और आनन्द दें ।

पाप जनमान में तो होता ही है, आनन्द प्राप्त कर भी किया जाता है । वेद कहता है —

यद् विद्वोसो पबविर्वात एनासि अहमो वयम् ।

युयं न तस्मात् सुचत विद्वेदेवा समोपस ॥

हे देवताओं तुम सब आपस में प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हो । ऐसी कृपा करो कि जो पाप हमने सज्जन अथवा असज्जन अवस्था में किये हैं उनसे हम मुक्त हो सकें ।

अज्ञान असत् है, अनृत है । उससे बिपटना अपने को अनृत बनाना है । अनृत में बल नहीं होता उसे कीड़ा ही बताया जा सकता है । पापी की आत्मा निर्बल हो जाती है और इसी लिए उसका पराभव भी होता है । इसके विपरीत—“अज्ञस्य गोपा न वमाय सुकृत । अज्ञ की रक्षा करने वाला सत्य का परिपालन करने वाला सुकृत अर्थात् पुण्यवान होता है । उसे कोई रबा नहीं सकता । पुण्यात्मा का तेज उसे इतना निर्मल बना देता है कि वह जहाँ भी जाता है विजयी बनता है । उसका अभिमान किसी के द्वारा नहीं हटा सकता । पुण्यवान व्यक्ति ही यशस्वी होते हैं । अपने पवित्र कृत्यों के कारण वे मनुष्यों में मूर्खत्व बल जाते हैं । उन्हें किसी से झोढ़ कजे की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । वे वस्तु की रक्षा करते हैं, नियम और मर्यादा में बँध कर चलते हैं और इसी लिये अवश्य होते हैं ।

मानव योनि में जन्म लेने से कर्तव्य—पासन का एक महान उत्तरदायित्व हम सब के ऊपर आ जाता है । इस उत्तरदायित्व में बुधचरित से दूर रहना है और सुचरित का सेवन करना है —

परिमाणे बुधचरितात् पाचस्य आमा सुचरिते मम ।

उपायुया स्वायुया उपस्थाप्य अमूर्तां मम ॥

हे प्रभो ! आप प्रकाश स्वरूप हैं । मुझे बुधचरित से सभी प्रकार से दूरा करके अन्धे जावरण में भगा दो । मैं अन्धी आयु भोगू, पवित्र जीवन व्यतीत करूँ, धर्म अमृत स्वरूप विष्य शक्तियों के अनुकूल चल कर ठंडा ठंडा जाऊँ । वहि ईरण विपाक दहन के लिये प्रसिद्ध है । कुराखारी का जीवन भी ऐसा ही विपाक-नीपी है । बिप से सर्वत्र बच कर चलना चाहिये । पुण्यों की संगति बुद्धता की, ईश्वर जावगी । विपाक व्यक्तियों का मर्मार्क मन को निर्गुण बना देगा । यह आपनी की

पति से संयुक्त करने वाले हैं। इस रूप में दोनों का सम्बंध अतीव पुनीत रूप धारण कर जाता है। पति और पत्नी मूलतः ऋतु और सत्य के ही प्रतिरूप हैं। एक को चाबा तो दूसरे को पृथिवी एक को ऋतु तो दूसरे को साम भी कहा गया है। दोनों का मिश्रणीयत्व यथार्थ युग-समयता गृहस्थ की इकाई कहलाता है। इस एकत्व में कार्य संस्कृति का विनिष्ठ सकल संधिहित है।

परिवार में बच्चे भी होते हैं जो माई और बहिन दो रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रायः ऐसा चेला मया है कि माई और माई इकट्ठे होकर खेलते हैं और बहिन अपनी पूषक फीका-स्वसी बनाती है। वेद कहता है—

माई माई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे और सभी परस्पर प्रेम संबंध कर में निवास करें। संयुक्त परिवार में माई और माई मिलकर रहते हैं। जब उनके अपने परिवार कुछ काम के उपरांत बगते हैं, तब भी संयुक्त परिवार के प्रभाव से वे पूषक पूषक नहीं रह पाते। कम से कम माता-पिता के आविष्ट रहने की अवधि तक तो वे साथ ही साथ रहते हैं। अपवाद हो सकते हैं और हैं भी फिर भी संयुक्त परिवार की अपनी पूषक विद्यमान और उत्तर-व्यभिक्त है। यह अवस्था बहिन की नहीं होती। उन्हें माता पिता एवं बन्धुओं के परिवार को विवक्षित होकर छोड़ना पड़ता है और अपना पूषक परिवार बनाना पड़ता है। अतः जब तक वे इस परिवार में हैं तब तक माता पिता और बन्धु सभी का स्नेह उन्हें प्राप्त होना चाहिए। कार्य-परिवार-योजना ने पुत्री के पूषक परिवार-निर्माण को भी स्नेह से वंचित नहीं किया। उसका कुछ न कुछ प्राप्य भाग प्रथम परिवार के साथ बंभा हुआ रहता है और वह उसे जीवन पर्यन्त प्राप्त होता रहता है। हमारे विधि-विधानों में पुत्री के पुत्र को नाना की सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है और वह माना का भाव भी करता है। इस प्रकार माई और बहिन का सम्बंध शक्ति नहीं किन्तु सम्बन्ध काय तक बसता है और बाना को पारस्परिक प्रेम में बाँध रखता है। परिवार में इन सब को मिलाकर रहना पड़ता है। यह सभी संभव है जब सबके वरत समान हों और जो कुछ बानी द्वारा उन्मूलित हो वह भद्र अर्थात् कल्याण का सम्पादक हो। बाकी ही समस्त व्यवहार की सामिका है। अतः उसके प्रयोग में सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

परिवार सम्पूर्ण समाज की आधारशिला है। जो कौटुम्बिकता एक घर में दिखाई देती है वही यदि समाज में दिखाई देने लगे तो विश्व-व्यापक की पहिया निरट आ सकती है। ऋग ने इस युग में जिस कम्प्यूनिगम यथार्थ कौटुम्बिकता का उद्घोष किया है वह हमारी दुर्गति में अधिक महत्त्व का ही उद्घोष है। कम्प्यूनिगम की सिद्धि के लिए ऋग ने जिस मायनों का अवलम्बन किया वे कार्य-महत्त्व में मात्र नहीं हैं। हमने बन्धु-मित्रता का नहीं बन्धु-मित्रता का भंग किया है पारम्परिक द्वेष का नहीं अयोग्य प्रेम का भंग किया है। वेद कहता है—

एकदं दृष्ट्वा सर्वाणि तेन समानानि । नवदं मन अर्थात् विशाल समान हों । यदि

किसी से द्वेष न करे। जैसे गी सदा-यात भस्त्रों के साथ व्यवहार करती है उसी प्रकार हम सदा एक दूसरे के साथ व्यवहार करें। सब का यह पवित्र सन्देश मानव मात्र के लिए है। देश और कास के व्यवधान इस सन्देश की अमरता के समस्त प्रत्यक्ष बन कर खड़े नहीं हो सकते।

चाहे रूस हो और चाहे अमेरिका चाहे चीन हो और चाहे भारत सबका कल्याण इसी पृथिवी कीटुम्बिक विचार धारा के अगनामे में है। यही आर्य जीवन है।

छीना-सपटी सूट-आउट अत्याचार, बलात्कार आर्य नहीं वस्त्र के जीवन की महिम्न विशेषताएँ हैं। हमें वस्त्र नहीं, आर्य बनना है। अगती नहीं, अती बनना है। भारतवर्ष की आम संस्था यूरोपीय प्रभाव से पूर्ण इसी पावन पारिवारिकता और आर्यत्व के वैदिक आदर्शों से अनुप्राणित थी। हम कोरे कथन तक ही सीमित नहीं थे, प्रत्यक्ष अपने आदर्शों को आचरणों में परिणत किया करते थे। हमारे इस कौटुम्बिक-ताबाद की यूरोपीय सभ्यता ने बड़ी भारी ठेस पहुँचाई है और हमारी संस्कृति के इस मेखन्द को कुचलनमें सहायक पापी का कार्य किया है। जो संस्कृति हरियाली बेटी के रूप में उल-कूल रही थी उस पर अपने बाँधों का करका-यात तथा बन्धु प्रहार करके उसे विध्वंस के समीप पहुँचा दिया है। प्रग हो सकता है कि हमने यूरोपीय बाँधों को स्वीकार ही क्यों किया? उनकी विचारधारा से हम क्यों प्रभावित हुये? हममें से कुछ महानुभाव उत्तर देंगे— पराधीनता के कारण क्योंकि क्यू ल्व स्वातन्त्र्य में है पारतन्त्र्य में नहीं।” परन्तु प्रग फिर उत्पन्न होता है कि हम परतन्त्र्य हुए ही क्यों? उत्तर इतिहास के पृष्ठों में मिलेगा। हमारी उदारता, हृदय की विद्यामता अर्ध-सूत एक अविष्ट विचारधारा को प्रथम बेटी रही। जब तक हमारा प्राधान्य रहा हम उनके वस्त्र धर्मों को परामृष्ट करते रहे पर जब उनका वस्त्र बंध बढ़ गया और हमारे कुछ बंध से कुहाड़ी के लिए बँट का काम लेने लगा तो हम परतन्त्र्य हो गये। फिर भी हमने अपने को सम्हालने का प्रयत्न किया और कठिपय बर्षों में विभक्त होकर अपने सामूहिक बाँध को मुरखित रखने के लिए प्राण-पण से चेष्टा की। अत्याचारी वस्त्र के सामने झुकना हमस कभी सीखा ही नहीं। वस्त्रों का बल बढ़ा, उनके बल का हमने अपने बल से साम्मुख्य किया, पर यूरोपीय चकाचौंध के बाँधों और विचारों की अश्रयण मार के सामने हम न जाने कैसे दब पड़े। दब तो पड़े हैं, परन्तु बीज अभी बचा है और ईश्वर की कृपा है कि उसे बसिलानी रक्त का जादू भी मिल रहा है जो अगतर पाते ही पुर्णति के बल-बल से निकल कर फिर प्रच्छाद्य वृक्ष के रूप में खड़ा हो जायगा। विश्व को उसकी आवश्यकता है।

अभी हम जिस कौटुम्बिकता की चर्चा कर रहे थे, वह भारतीय घामों में अपने सहज रूप में प्रवर्णित था। कौटुम्बिकता के साथ सहकार की भावना भी संलग्न रहती है। हमारी वर्ण-व्यवस्था सामाजिक सहकार का सर्वोत्तम उदाहरण है। वर्णों के जो कर्तव्य निश्चित किये गये, उनमें भी विभाजन द्वारा सहकार की भावना को

क्रिया गया है। यज्ञ की प्रभासी में चारों ऋषिगणों का कार्य सहकार भाव को ही प्रकट करता है। छात्रों में सहकार का भाव कई रूपों में प्रचलित रहा है। यदि किसी किसान के पास सेत है, और उसकी ओठ आ गयी है तो भूमि को जोतने के लिये अन्य कृषक अपने हस-बैल लेकर आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता क्रिया करते थे। किसी का छप्पर छाना है या चढाया है तब भी सहकार का भाव क्रिया होत रहता था। विवाह के समय इसका और भी उदात्त रूप दिखायी देता था। घर-घर में पाँच-पाँच दस-दस सेर जेठू पिसने के लिये रख दिया जाता था और वे घर कई मन आटा पीस कर सड़की के विवाह में अपना योगदान देते थे। दूध दही या मट्ठे के लिये भी घर-घर दूधे रख दिये जाते थे। प्रायः सभी घरों में गायें और भैंसें रहती थीं। इस प्रकार विवाह करने वाले का भार बट जाता था। अपना भी कार्यसाधन के लिये व्यवहार में आ जाता था। इस सहकार के भूय में मानवता का नाता था और पवित्र कुटुम्बवाद का आधार था। इस ने सहकार की जिस पद्धति को प्रवृत्त किया है, उसमें मानवता का नाता नहीं राजनीति की प्रधानता है और इसीलिये वह विक्षेप सफलता प्राप्त नहीं कर सका। उस हो अपना चीन मानव सर्वत्र मानव है। वह प्रेम का पूरक है। आप उससे बसात कार्य सेगें तो वह ऊपरी मन से भले ही उसे कर दे उसका अन्तर मन तो कार्य के साथ नहीं रहगा। मन को रमाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक यह है कि वह जिस कार्य में हाथ लगा रहा है उसे अपना ही कार्य समझे। फिर मन रमाने के लिये इस के अतिरिक्त मानवता का उच्च सत्य भी उसके सम्मुख प्रस्तुत रहना चाहिये। इन दोनों के समाज में आज जो सहकार चल रहा है और जिस पर विपुल मूद्रा व्यय की जाती है वह अनित्यपिठ परिणाम को प्राप्त करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। हमारा बुर्गीय है कि हम अपनी समय सिद्ध उपयोगी पद्धतियों का परिचयाग करते जाते हैं और नवीन अनुपयोगी पद्धतियों को अपनाते पर उताव्र हैं। इससे प्राचीनता का मोह तो छूट ही रहा है नवीन का स्वागत भी हमें असफलताओं की ओर इकेस रहा है। सम्मुख प्रस्तुत पवित्र भोजन का परिचयाग किया जा रहा है और उसके स्नान पर विवेकी विचार और आचार्यों का उन्निष्ट आस्वादीय बन रहा है। हम नवीन का तिरस्कार नहीं करते, पर जो हमारे लिये हानिकारक सिद्ध हो रहा है उसे स्वीकार करने के लिये भी हमारी बानी अग्रसर नहीं हो सकती। 'हर एक चमकते हुये पदार्थ को हमें स्वर्ण नहीं मान लेना चाहिये।'

जो स्थिति परिवार की है, नही समाज की है। वैदिक संस्कृति जिस मुहुड आधार को लेकर चली है वह विश्व की व्यापक व्यवस्था और मानव नियमों पर अवलम्बित है। जो कुटुम्बवाद और सहकार की भावना परिवार तथा समाज के लिये अवेक्षित है वही समय विश्व की एकता के लिये भी आवश्यक है। पारिवारिक धर्म ही समाज और विश्व रूपी बृहत् परिवार के लिये उपयुक्त समझे गये हैं। वेद कहता है -

१. यथापतन्तश्चिन्तितो मा विधीष्य संराज्यस्तं समुदायचरन्तः ।  
सम्प्रीयस्व वसु वसन्त एतं सद्भीचीनाम् समनसस्कुपोमि ॥

२ समानी प्रपा सह बोधप्रसादा समानी मोक्षे सह बो धुनग्नि ।

सम्यग्बोधीन सपर्यवारा नाभिनिवासिताः ॥

३ सद्गीतोनाम्ब समनसस्कणोमि एक धुन्द्वीमस्तबननेन सर्वान् ।

देवा इवामूर्तं रक्षमाणां चामं प्रातः सौमनसो बो अस्तु ॥

प्रभु का मानव भाव के लिये आदेश है कि तुम क्षुद्रता से पूषक रह कर महान बनो और महान पुरषों का सम्मान करो । तुम्हारी आयु दीर्घ हो तुम ज्ञान-विज्ञान में ऊँचे उठो और कभी भी मेव भाव को प्रयत्न न दो । मिल कर कार्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करो । एक लक्ष्य कभी भुंरे के नीचे समवेत होकर प्रगति के पथ पर आये बड़ो । परस्पर मीठी बाणी बोलते हुये जीवन-यात्रा में बढ़े चलो । मैं तुम्हें समान मन और समान चारणा शक्ति से सम्पन्न करता हूँ ।

तुम सबकी प्याळ एक हो । सबकी भोजनसासा समान हो । तुम सबको एक साथ एक ही ब्रह्म में संलग्न (समुक्त) करता हूँ । जैसे नामि के चारों ओर बरे लगे रहते हैं वैसे ही तुम सब प्रकाश-स्वरूप प्रभु को केन्द्र बनाकर उपासना में जुट जाओ ।

समान चारणा शक्ति वाले तथा समान विचार वाले बन कर तुम सब सेवा-भावना से समान ध्येय की पूर्ति में कटिबद्ध हो जाओ । वैसे देव अमृत की रक्षा करते हैं और सायं प्रातः प्रसन्न-मन रहते हैं वैसे ही तुम भी अनित्य का निरावर तथा नित्य का सम्मान करते हुये प्रतिदिन आह्लाषित रहो ।

ऊपर उद्धृत मंत्रों में जिस जीवन चर्या का उपदेश दिया गया है उसमें ब्रह्म तथा विरोध से पूषक रह कर मानव भाव को प्रेम पूर्वक जीवन व्यतीत करना है । सबको एक ब्रह्म के साथ सौहार्द-पूर्वक रहना है । सबके सामने एक ही लक्ष्य है—जानम्ब की प्राप्ति । इसके लिये सबको मिलकर प्रयत्न करना है । हम सब एक ही वरम पिता परमार्मा की सन्तान हैं । अतः उसके अतिरिक्त हमें अन्य किसी को भी उपासना नहीं करनी है । एक साथ एक स्वर से एक मन से उसी की आराधना में लीन रहना है । जब सब एक ही पिता की सन्तान हैं तो सबको समान बन्धुता के सूत्र में बाँध होकर सौभाग्य एवं समृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिए । हम अमृत पूत्र हैं । अपने इस अमर तत्व को हमें किसी भी अवस्था में विस्मृत नहीं करना है । विपत्तियों से डट कर जूझना और जानम्ब का उपभोग करना हमारा अन्तर्निहित अधिकार है । आर्य को वास्तव भाव का विरम्भार करते हुये स्वतंत्र नेता बनना है । स्वतंत्रता विषय-वासनाओं के स्वच्छन्द उपभोग में नहीं है । उद्योगों के बन्धीमूढ हो जाना तो अपने को परतन्त्र कर देना है । स्वतंत्रता में अपना तन्त्र है अपना विधान है । आत्मनियंत्रण ही स्वतन्त्र अर्थात् अपना राज्य है । जहाँ आत्मा ब्रह्म के तन्त्र को स्वीकार करती है, वहीं वह स्वायत्त शासन से ह्रास को बँधती है । आर्य को इसी आत्म-रति में आत्म-बीड़ा में आत्म-साधना में विचरण करना है । इसी में उसका अमरत्व निहित है । यही स्वतन्त्र स्वस्तिमयी तथा आनन्दमयी अवस्था का बतक है । हमारा धर्म इसी अमरत्व की अनुभूति करना है । ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में भी आर्य

संस्कृति के इसी उपात्त भाव को अभिव्यक्त किया गया है ।

मानव जीवन का महत्त्व धर्म के ही कारण है । बाह्यार निद्रा भय और मृत्यु व्यासुर प्रवृत्तियाँ हैं, जो मानव में भी विद्यमान हैं । मानव इस पशुत्व से ऊपर धर्म साधन के द्वारा ही उठ पाता है । धर्म से हीन मनुष्य पशु के तुल्य है । मनुष्य की परलोक-यात्रा के समय भग्न भूमि में गड़ा अथवा बैकों में पड़ा रह जाता है, पशु गोष्ठों की गोमा बढ़ाते रहते हैं स्त्री भी घर के द्वार तक ही साथ देती है । कुटुम्बी तथा अन्य जन समूहान भूमि तक ही साथ जाते हैं केवल धर्म ही ऐसा है जो जीवन के साथ परलोक तक जाता है । यह धर्म ही जीवात्मा को चारण करने वाला है ।

धर्म की पहिचान मनु के दृष्टों में सर्व प्रथम आत्मप्रियता से होती है । जो वस्तु आत्मा को प्रिय है वही उसे चारण भी करती है । स्वभावतः आत्मा सद्गुण और सत्कर्म की ही ओर आकृष्ट होती है । द्युग दुरित अथवा दुष्कर्म की ओर जाने में उसे हिचकिचाहट होती है प्रवृत्त हो जाने पर उसे ही उसे बुराचार अपनी ओर खींचे । जब इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो और आत्म प्रियत्व धर्म के निर्णय में बाधक बने तब मनु ने सत्पुरुषों के आचार को ग्रहण करने की आज्ञा दी है । हमारे अपने निर्णय की अक्षमता में महापुरुषों का आचरण ही अनुकरणीय है और वही सत्य का प्रदर्शक है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् भी इस सिद्धान्त का समर्पण निर्माकित दृष्टों में करती है —

यदि ते कर्मविचिकित्सा आचरतविचिकित्सा वास्त्यात्, ये तत्र आहूयन् ।

सम्मतिनोपुत्त अमुला धर्मकामा स्मृ-यचारे तत्र कर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेबाः ॥

जब कर्म अथवा दृष्ट के सम्बन्ध में समझ हो तब वर्मात्मा प्रेमी तथा विचारशील आहूयों के व्यवहार को देखना चाहिये । वे वैसे आचरण करते हों वैसे ॥ हमें भी करना चाहिये ।

मनु ने इसके आगे दो आवश्यक-विधायक साधन और भी सिद्धे हैं । यदि एक ही विषय पर दो महापुरुष दो प्रकार का आचरण करते दिखाई दें तब किसे के आचारों की ग्रहण करना समीचीन होगा ? मनु के अनुसार इस विषय पर स्मृतियों का भव माननीय समझा जाना चाहिये । पर स्मृति से भी ऊपर श्रुति का स्थान है । स्मृतियाँ देश-काल की दृष्टि में रखकर लिखी गयी हैं । सम्भव है उनमें त्रिकामाबाधित संस्म के प्रतिपादन न हो । परन्तु श्रुति तो देश-काल से ऊपर शाश्वत सत्य का प्रतिपादन करती है और धर्म के विषय में अंतिम प्रमाण वही है । "वेदोपनिषदो धर्म मूलम" तथा "स्मृतिरेव गरीयसी" आदि वाक्य इसी सत्य का सङ्घाटन करते हैं । मनु ने वेद को सर्वोपरि स्थान दिया है । वह स्वतः प्रमाण है । अन्य स्मृतियाँ धर्म शास्त्रादि परतः प्रमाण हैं । यदि वे वेद का अनुसरण करते हैं तो प्रामाणिक हैं, अन्यथा नहीं ।

वेद में "धर्म" शब्द का प्रयोग एक अणु तथा बहुवचन दोनों ही रूपों में हुआ

है। उपनिषदों ने भी वेद का ही अनुसरण किया है। 'अतो धर्माणि धारयन्' तथा 'तानि धर्माणि प्रथमान्मासन्' आदि श्रुति वाक्यों में धर्म का बहुवचनीय प्रयोग है। परन्तु 'धर्मज्ञा भूतम्' तथा 'सत्यं धर्माय दृष्टये' पदों में धर्म का एक वचनीय प्रयोग है। इन प्रयोगों से कर्त्तव्य के नामा रूपों का ही अभिप्राय होता है। मनु ने धर्म के जो दस सङ्गण किये हैं वे भी कर्त्तव्य-परायणता के ही विभिन्न रूप हैं। मनु ने यह भी सिद्धा है कि जो व्यक्ति धर्म और काम में लगाव रखे धर्म का ज्ञान जल्दी हो जाता है। यहाँ धर्म से तात्पर्य उस कर्त्तव्य-मासन से है जो मानव को प्रवृत्ति से हटाकर निवृत्ति की ओर ले जाता है। धर्म प्रवृत्ति-मूलक भी है और निवृत्ति मूलक भी। जो धर्म प्रवृत्ति-मूलक है उससे अन्मुख का सम्पादन होता है और जो निवृत्ति मूलक है, वह नि-भोग्य की ओर ले जाता है। धर्म का धर्म और काम की वृत्ति दोनों के हो रूप है। एक रूप में वे त्याग्य हैं और दूसरे रूप में ग्राह्य। जब धर्म और काम वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में पतन का हेतु बनते हैं, तब वे त्याग्य हैं। परन्तु जब वे उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन बनते हैं तब ग्राह्य हैं। चतुर्वर्ग में इनके ग्राह्य रूप को ही स्वीकार किया गया है। मनु के अनुसार धर्म के दस सङ्गण इस प्रकार हैं —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।

धीर्ब्रह्मा ह्यस्यमकोपी वसकम धर्मं सप्तमम् ॥

## धृति

धृति मन की एक वृत्ति है जिसे धैर्य कहते हैं। जिसके अन्तर यह वृत्ति है वह धीर कहलाता है। महाकवि काबिदास ने लिखा है— बिकार हैवी सतिबि-  
किमस्तै देवां न बेलासि त एव धीराः। बिकार-हेतु विद्यमान हों फिर भी बिन पुरुषों के बिन विकृत न हों वही धीर हैं। यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में मन का सङ्गण करते हुये कहा गया है यत् प्रज्ञानमृतं वेतो धृतिरस्य। मन में प्रज्ञान बैठना तथा धृति का निवास है। जब धैर्य बाहर नहीं मन में है। अन्तस्तन में निहित धृति ही समरांगण में सामाजिक संघर्ष में विद्या एवं धन की प्राप्ति में सहायक बनती है। धृति के अन्तर्गत करीर से निर्बल व्यक्ति भी बड़े से बड़ा कार्य कर पाते हैं। आपसों के सिन्धु को धृति रूपी नौका ही पार करती है। धृति धर्म का प्रथम सङ्गण है।

## क्षमा

क्षमा भी मन की धृति है। जब हम किसी कष्टित कार्य के बन्धीभूत होकर पाप-मात्रम बनते हैं और परिणामतः दुखी होते हैं, तब प्रभु की क्षमा पर ही हमारी दृष्टि जाती है। हम अनुभव करते हैं कि यदि प्रभु ने हमें क्षमा कर दिया तो हम कुछ के बस-यत्न से निकल सकेंगे। एक ऐसा ही व्याकृत मनुष्य प्रभु से प्रार्थना करता है—



नवस्य ते च मृदयाकुर्वन्तो योऽस्ति भेषजो जनाय ।

अपमर्ता एषो नवस्य अमीनुमा नुपम नवामीवा ॥

हे रोपों के निवारक देव । तुम्हारा यह शुद्ध हस्त कहाँ है, जिसमें पीतमत्ता-प्रदायिनी गोपधि निवास करती है और जो देव-सम्बन्धी पापों को विनष्ट करने वाला है । देव । मुझसे गृहित पाप हुआ है । मैं करबद्ध आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे क्षमा प्रदान करें । आप नुपम हैं । यात्रक की प्रार्थनाओं को पूरा करने वाले हैं । मेरे ऊपर भी आपकी कृपा का बरक हस्त छा जाने और मेरी कामना पूर्ण हो ।

क्षमा बही दे सकता है जो क्षम है समर्थ है बलवान है । बलम एवं बलवत् व्यक्ति की क्षमा कोई अर्थ नहीं रखती । क्षमा में इसीलिए क्षमता तथा अनुग्रह दोनों सम्मिश्रित हैं । प्रभु से बढ़कर बलवान यहाँ कोई भी नहीं है । देव में उसे यह इसी आधार पर कहा गया है । इस शब्द में सहन शक्ति तथा क्षम दोनों विद्यमान हैं । हमें भी क्षमाशील बनने के लिये शक्तिवादी बनना चाहिये । जितनी ही सहन-शक्ति हमारे अन्दर होगी क्षमा का महत्त्व भी उसी मात्रा में अतिरूप होगा ।

धम

प्रभु ने मुझे शरीर दिया है । कर्मश्रियों तथा ज्ञानेश्रियों के साथ अन्तःकरण चतुष्टय दिया है । यह सब प्रभु की ही हुई सम्पदा है जिसका मैं स्वामी बनाया गया हूँ । जब तक मैं इनका स्वामी हूँ तब तक ये मेरे बलवर्ती अनुचर हैं । यदि अनुचर स्वामी और स्वामी अनुचर बन जाय तो यह शरीर रूपी साम्राज्य अस्त व्यस्त हो जायगा । देव मे इसीलिए आत्मा को गोपति कहा है — गोपति चिरा इन्द्रं धर्षं यथाधिदे । अथवा यवह गोपतिः स्याम । आत्मा गो अर्थात् इन्द्रियों का जिसमें मन भी सम्मिश्रित है पति या स्वामी तभी कहा जायगा जब उसके पूरा नियन्त्रण इन पर हो । धम धमन है, जिसका अर्थ है स्व-बलित्व । धम से तात्पर्य धाम धन है धमन से लिया जाता है क्योंकि मन ही बल्य और मोक्ष का कारण है । यदि मन की प्रवृत्तियाँ नियंत्रित रहें और आत्मा के अनुकूल चलती रहें तो बीच मोक्ष की ओर सुसमता से गतिकीम हो सकेगा । उन्मत्त मन बल्य का कारण है । देव कहता है — योऽग्निं तमो बभे वेवसूतः सपर्वति । तस्मा इहीषयन् ननु । जो साधक मन को बलीभूत करके प्रभु की उपासना में निरत होता है उसके समक्ष बासवी शक्तिर्या प्रदीप्त हो उठती है । धर्म सोम धर्म तब मनस्तनुष विभ्रत । प्रजावस्तः सचेमहि — हे सोम शरीरों के अन्दर रहते हुये यदि हमने अपने मन को तुम्हारे व्रत में नया दिया अर्थात् मन तुम्हारे नियमों के अनुकूल चलाने लगा तो उसकी सन्तति निश्चित रूप से कल्याणकारिणी होगी । इसी आधार पर देव के कई मंत्रों में मन को शिष्य तथा यज्ञिय बनाने के आदेश मिलते हैं । वैवी मन ही पवित्र मोक्ष का साधन है ।

कठिपय विद्वानों ने इन्द्रियजय को दम कहा है, परन्तु मनु ने अपने दस सदाओं में इन्द्रिय नियम को दम से पुनः स्थापन दिया है। अतः हमने दम का अर्थ मम का नियम लिया है।

## अस्तेय

किसी के स्वत्व अथवा अधिकार का बलात् अपहरण स्तेय अथवा चोरी कहलाता है। कमाने कोई और जाने दूसरा परिश्रम किसी का और अधिकार तथा भोग दूसरे का इसी का नाम चोरी है। ऐसा करने में चोर छत चोखा आदि अनेक उपायों का माध्यम लेता है और दूसरे की वस्तु को अपनी बना लेता है। यह चोर सामाजिक पाप है। वेद कहता है— मा व' स्तेन ईसत—चोर तुम्हारे ऊपर साक्ष्य न करे क्योंकि वह अचक्षुष अर्थात् पापी है या पाप का प्रतिसक है। यदि साक्ष्य पापी है और चोर है, तो प्रजा भी उसी के रंग में रंग जायगी और मात्स्य न्याय के आधार पर सभी एक दूसरे के विध्वंसक बन बैठेंगे। वेद माता के शब्दों में— यो नो रक्षं विप्लवति पितृो अने योज्ञवानाम् यो पदां यस्तनूनां रिपुः स्तेनः सत्येयं कुर्वन्न मेतु नीप हीयतां तन्वा तनाथ। जो हमें अन्न, रस, अरब, यो आदि के सम्पन्न में बाधा देता है वह चोरी करने वाला चोर समाज का शत्रु है। वह नीचता को प्राप्त हो और वह स्वयं तथा उसकी सन्तान विधेय हीनता को प्राप्त हो। प्रतिशुष्यतु यद्योयस्य वैवा यो नो विवा विप्लवति यश्च नक्तम्। जो हमें दिन या रात्रि में बाधा देता है उसका यक्ष पूरी तरह सुख जाने। सात मर्यादाओं में एक मर्यादा अस्तेय अर्थात् चोरी न करने की है। मर्यादा का पालन समाज की रक्षा करता है। मर्यादा के उल्लंघन से समाज नष्ट—प्रष्ट हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में अस्तेय की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है कि अस्तेय की प्रतिष्ठा में सब रत्नों का उपस्थान हो जाता है।

## शौच

शौच शारीरिक तथा मानसिक दो प्रकार का है। शरीर की पवित्रता व्यायाम तथा स्नान से सम्पादित होती है। मन की पवित्रता निर्मल विचार, स्वाध्याय, सत्संग आदि द्वारा सिद्ध होती है। मनु ने मनः सत्त्वोऽसुष्यति सिद्धकर सत्य को साधन माना है और सब प्रकार की सुखियों में अर्थ—सुख को सर्वोच्च स्थान दिया है। जो वन न्यायपूर्वक अपने परिश्रम से कमाया गया है, उसी का हमें उपयोग करना चाहिए। अग्न्याय से अर्जित मन मन में बिह्वार उत्पन्न करता है और परिणामतः विनाश का कारण बनता है। वेद कहता है— यजमानस्य ते ययं पवित्रममि कल्पताः। सच्चित्तमा वृणीमहे।

जिसने प्रभु के सच्चा नाम का वरण कर लिया वह पवित्र हो गया। उसने भुक्त भण्डन करण को पवित्र प्रभु अपनी पावन ऊर्मियों से, भक्ति रस से आर्द्र कर देते हैं।

## इन्द्रिय-निग्रह

जब हम संस्कृति शब्द पर ध्यान देते हैं तब इन्द्रिय निग्रह का स्वरूप स्पष्टतया सम्मुख लगा हो जाता है जिसने इन्द्रियों को बन्ध में नहीं किया उसे हमारे पूर्वजों ने संस्कृत भी नहीं समझा। इन्द्रिय-बोध निश्चित रूप से मानव को संस्कृत नहीं रहने देते। यदि मैं आँसों को अरसीस तथा कुरिखत दृश्यों की ओर जाने से नहीं रोक सकता यदि मैं कानों को गर्हित शब्द सुनने से हटा नहीं सकता यदि मैं बह्मचर्य व्रत को भंग करता हूँ, यदि मैं धर्माचरण के लिए कटिबद्ध नहीं हो जाता तो संस्कृत जीवन मुझसे कोसों दूर रहेगा। मनु ने एक इन्द्रिय के भी स्वयंसेवक को प्रजा का विनाशक कहा है और लिखा है कि जैसे सारथी अश्वों को अपने वश में रखकर ही गन्तव्य तक पहुँच पाता है उसी प्रकार यत्नपूर्वक इन्द्रियों का संयम करने से मनुष्य संस्कृत बन पाता है। इन्द्रियाँ बड़ी बलवती हैं। ये बल पूर्वक मन को भी विषयों की ओर खींच ले जाती हैं। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इन्द्रियों को अपने वश में रखें।

आयमों में बह्मचर्य आश्रम की सबसे आचारभूत होने के कारण विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस आश्रम में प्रविष्ट हुआ बालक यज्ञोपवीत के साथ मैत्रेया की भी कटि में बाँधता है। वेद कहता है — 'तमहं ब्रह्मणा तपसा अमेघ जनया एनं मैत्रेया विनामि।'

मैत्रेया ब्रह्मचारी के लिये ज्ञान तप और धर्म की द्योतक है। जो व्यक्ति निरन्तर स्वाध्याय मौन जनकर तपश्चर्या में मग्न होता है और धर्म करता रहता है, उसकी इन्द्रियाँ निमृहीत होकर कर्म्याण-मग्न पर चसती हैं। ऐसा ही व्यक्ति काम सेना पर बिजबनी होकर प्रभु का आज्ञापालक बनता है और अपने जीवन को धन्य कर जाता है।

धी

धी आत्मा की वह शक्ति है जो ज्ञान और कर्म को दोनों में प्रकट होती है। यह शक्ति निरन्तर प्रेरित एवं यत्निशील रहे कुण्ठित न होने पावे इसके लिये वेद में अनेक बार प्रार्थनाएं आती हैं। हमारा प्रसिद्ध पायथी मन्त्र भी की प्रेरणा है ही सम्बन्ध रखता है। 'विद्योनीम' प्रबोधयामात् सधका प्रेरक तेजस्वरूप प्रभु हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता रहे। 'आधोविद्यम्यविद्याम् अर्तं कृतये।' देवताओं की दिव्य एवं निर्मल बुद्धि मेरी रक्षा के लिये सबेरे मेरे पास वर्तमान रहे। बुद्धि अन्य शक्तियों की भांति पापीयसी बन सकती है पाप की ओर प्रवृत्त हो सकती है इसलिये वेद करता है 'अन्वय पापीरप वेत्तयाधिय' पापीयसी बुद्धियाँ हमसे दूर रहें। पवित्र बुद्धि पवित्र कर्मों की जननी है। वही मानव का उत्थान करती है, उसे संस्कृत एवं परिभाषित बनाती है। यही मात्र बुद्धि हमारे अन्तर क्रियाशील रहे। मानव मन से मनन की जगति को प्रवीण करता हुआ भी को प्राप्त करता है। जब

जब भागवत के समस्त संकटों की धड़ियाँ बँग उपस्थित होती हैं और उसे भ्रान्त बनाकर पंचभ्रष्ट करने लगती हैं, तब-तब अपनी निर्मल बुद्धि का ही अवलम्बन लेकर वह भ्रम एवं द्विधिया से पार हो पोता है। विषम परिस्थितियों में यदि भी स्थिर रहें, तो भागवत दुर्भेद के पक्ष में पड़ने से बाल-बास बच जाता है।

## विद्या

वी भक्ति है। वी विद्या संसारी संमर्कानि का साधन है। विद्या इस रूप में साधन है और प्रकाश का कार्य करती है। जैसे सूर्य के प्रकाश में हम देखकर चले जाते हैं, वैसे ही विद्या ने प्रकाश में हमारी बुद्धि भी सक्रिय हो उठती है। विद्या आश्चर्यक साधन है, परन्तु बुद्धि की शक्ति उससे भी कहीं बढ़कर है। विद्या के अभाव में भी शक्ति से सम्पन्न पुरुष बड़े-बड़े कार्य कर पये हैं। अरब-र तथा सिवाजी विद्या सम्पन्न नहीं थे, परन्तु बुद्धिमान अवश्य थे और अपनी बुद्धि के बल पर ही उन्होंने भारतीय साम्राज्य के शासन-सूत्र का कुललतापूर्वक संचालन किया।

वेद ने विद्या (विद्वत्ता) तथा कर्म में अन्तर दिखाया है। जो व्यक्ति विद्वान है, परन्तु कर्म-हीन नहीं है। वेद की दृष्टि में वह अन्धतम में प्रवेश करता है, परन्तु जो व्यक्ति अपने बुद्धि-बल से विद्या का कर्म में सत प्रयोग करता है उसका जीवन अमृतास्वादन से परिपूर्ण रहता है। वेद ने विद्या को सरस्वती भी कहा है। यह सरस्वती पवित्र पथ पर प्रवाह करने वाली है। सभी यह बाध से समुक्त होकर वाग्मिनी-वती बन सकेंगी। सरस्वती यज्ञ की बाहिका भी इसी अवस्था में बनती है। जब हम विद्या के प्रकाश में प्रवेश करते हैं तब हमें विद्या के महान समुद्र का किंचित आभास प्राप्त होने लगता है, और हमारी बुद्धि प्रतिष्ठित होने लगती है। सुमति का यह चैतन्य रूप प्रभु के निकट से आने वाला है। 'यं सरस्वती सहस्रीनिरस्तु विद्या और बुद्धि दोनों के समोच्च का क्षेत्र के इस मार्ग पर में महत्त्व वर्णित हुआ है। बुद्धि के छाँव ही विद्या बिलती है। बुद्धि के अभाव में वह अपने तेज को प्रकट नहीं कर पाती। इसलिये बुद्धि के अभाव से विद्या को सुभाषितकारों ने ह्य दृष्टि से देखा है।

## सत्य

वेद ने प्रभु को सत्य कहा है। 'सत्यमित् वा ज तं वयम् इन्द्रं स्तवाम।' हम सत्य स्वर्ण प्रभु की ही स्तुति करें। 'सत्येनोत्तमिता धूमि' सत्यस्वर्ण प्रभु ही इस पृथ्वी को बारण किये हुये हैं। अतः व्यवहार में हमें भी प्रभु का अनुगमन करते हुये सत्य का आश्रय लेना चाहिये। यह सत्य सर्वोपरि न हो स्वल्प श्रेष्ठ अथवा काल तक ही सीमित न हो परन्तु सार्वकालिक और सार्वभौम हो। "सत्यं ब्रह्म सत्यमुग्रं वीक्षा तपो ब्रह्मस्य पुत्रिणी वारयन्ति"। यह ब्रह्म सत्य ही हम पापिब प्राणियों का बाता तथा बाता है। सत्य ब्रह्म है। इसका तेज सर्वविभाजी है। जीवन के व्यावहारिक पक्ष में जो सत्यवादिता की ओर सम्मुख होता है वह मानों प्रभु की आर ही सम्मुख हो रहा है। सत्य का पुकारी परमारमा का पुकारी है। जिसने जीवन में सत्य की बारण कर दिया, प्रभु मार्गों उसके अपने हो गये। मनुष्य प्रायः सत्यमात्र के

कि वह झूठ बोल देने से बच जायगा परन्तु होता इसके विपरीत है । “सामा सत्योक्तिः पौरपातु विवक्षत ।” सत्य कथन ही हमारी रक्षा करता है । सत्य बचन वह बचन है जिस पर पाप के छीरों का प्रहार कुछ भी प्रभाव नहीं डालता ।

व्याहृतियों में सत्य को सबसे अन्त में स्थान मिला है । इसका अर्थ भी यही है कि सत्य सर्वोपरि है । जो असत् का आशय लेता है, वह मृतक के समान है । पारसी धर्म के उपदेष्टा महात्मा जरथुष्ट्र के मतानुसार विश्व में सत् और असत् का सर्वत्र वजन रहा है । दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं । इस प्रतिस्पर्धा में कभी सत् ऊंचा उठ जाता है और कभी असत् । परन्तु प्रगति सत् के द्वारा ही होती है । वरत अन्त में असत् का विजय होया और सत्य की विजय होती । ‘सत्यमेव जयते नानृतम्’ की शक्ति परितोष होगी और उसके साथ यह विश्व भी समाप्त हो जायगा ।  
अक्रोध

क्रोध न करना धर्म का दूसरा भक्षण है । क्रोध काम के साथ रहता है और रजो गुण से समुद्रमूठ होता है । इसके उदय होते ही आँखें अन्धी हो जाती हैं और ज्ञान तिरोहित होने लगता है । जिस व्यक्ति का ज्ञान नष्ट हो गया वह अज्ञान के अन्धकार में भटकता हुआ किन् किन् पाप प्रवृत्तियों में नहीं फँसेगा कौन जानता है ? क्रोध सम्मोह अर्थात् अज्ञान का जगक है जो आगे बसकर स्मृति में विभ्रम उत्पन्न करता है जिससे बुद्धि नष्ट होती है और विनाश की भयावह बेला सम्मुख उपस्थित हो जाती है । द्वेष और ईर्ष्या क्रोध के भाई-बहिन हैं । यदि हम क्रोध के स्वान पर प्रेम को अपना लें तो द्वेष और ईर्ष्या दोनों ही समाप्त हो सकते हैं । क्रेश्चर यही है कि मैं क्रोध का अवसान कर दूँ । इससे मेरा विवेक प्रतिष्ठित रहेगा और चाचा एव धूमिली मेरे लिये कल्याणकारी बन सकेंगे । प्रेम साम्राज्य सिद्धांतानामें इस विश्व को मेरे लिये असंपन्न अर्थात् शत्रुद्विष्ट कर देंगी । यह स्पृहणीय अवस्था मेरे लिये, मेरे ही द्वारा बन सकती है । वेब कहता है —

अथ व्यामिश्र-बालमो मम्यु तमोमि ते ह्यथ ।

धया संमनसो ज्ञत्वा सञ्जाया विष तत्रावहे । अथर्व ६ । ४२ । १ ॥

जैसे धनूप की प्रायश्चा खींची जाती है उसी प्रकार मैं तेरे हृदय से क्रोध को खींचता हूँ अर्थात् दूर करता हूँ । अक्रोध द्वारा ही हमारे मन सञ्जाओं के मन धर्मों और मिलकर काम करेंगे । वेब ने यह भी कहा है कि यदि काम करना है, तो अपने क्रोध के ही ऊपर करो । इससे विवेक जाग्रत होगा । मन चिन्तन करता हुआ क्रोध के मुक्त हो पड़ेगा और उसके उत्पन्न के लिये प्रत्यनशील होगा ।

विवेचयन्तु इन्द्र इव अनवप्रथो अस्माक मम्यो अविषा भवेह ।

प्रियं ते नाम सधुरे गुणीनसि विद्वान्तनुस्तम् यत आबभूव ॥

हे मम्यु । तुम इन्द्र के समान ही विवेकशील हो । कोई तुम्हारा विरोध नही कर सकता । तुम मेरे अधिपति बन जाओ । तुम्हारा नाम बहुत प्रिय है । तुम बने

सहमसीस हो । मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ । मैंने तुम्हारे उस उद्भव-स्थान को समझ लिया है, जहाँ से तुम प्रकट होते हो ।

मम्यु के दो वर्ष हैं । एक वर्ष में वह मनन-सीमता को गूँथ करने वाला है और दूसरे वर्ष में वह मनन-सीमता से संपुष्ट है । इस दूसरे वर्ष में वह अपनाते के योग्य है । इसीलिये वेद कहता है — मम्युरसि मम्यु मयि मेहि— प्रभु तू मम्यु रूप हो । मेरे अन्दर भी मम्यु को स्थापित करो । इसके विपरीत जो कोष है उसको दूर करना है । अन्वेष अर्थात् कोष राहित्य में भाया हुआ कोष तब ही अपर वर्ष का वाचक है ।

### बौद्धों का अष्टांग मार्ग

अतुल्य में बर्ण आचार है मोक्ष सत्य है और धर्मानुसार वर्ष तथा काम वाचन है । संस्कृति का प्रमुख ज्येष्ठ विकास है जो मोक्ष में परिणामाप्त होता है । मोक्ष का वर्ष है बुद्धों से छूटना । संस्कृति के अनुसार योश विविध दुर्बलों की विधातिका है । बुद्ध तीन प्रकार के हैं — आभ्यारमिक आधिर्विषयिक तथा आधिर्मातृक । महारत्ना बुद्ध भी अपनी दीर्घ उपश्रवणों के उपरान्त इसी परिणाम पर पहुँचे थे । उन्होंने जिन चार आर्य सत्यों का उद्घाटन किया वे इस प्रकार हैं — (१) संसार में दुःख है । (२) इस दुःख का कोई कारण है । (३) इसे दूर किया जा सकता है और (४) इसके दूर करने के उपाय हैं । जिन उपायों का उन्होंने वर्णन किया है, वे अष्टांग मार्ग के नाम से विख्यात हैं । अष्टांग मार्ग को प्रमुखतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है — प्रज्ञा बीस एवं समाधि । अष्टांग मार्ग के सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प प्रज्ञा के अंग हैं । बीस के अन्तर्गत सम्यक् वाणी सम्यक् कर्म तथा सम्यक् आजीविका का समावेश है । समाधि में सम्यक् ध्यानात्म (सोमन उद्योग इन्द्रियों का संयम तथा दुर्मात्राओं से बचकर सद्मात्राओं को अपनाता) सम्यक् स्मृति (सत्कर्म के स्वरूप को अवगत करना तथा निरन्तर उसका स्मरण करते रहना) तथा सम्यक् समाधि आते हैं । यही मार्ग आर्य संस्कृति का भी मार्ग है । बीस समाधि और प्रज्ञा विरल कहलाते हैं परन्तु इन तीनों में प्रज्ञा का समुद्भव मानव जीवन में बीस और समाधि के द्वारा ही सम्पन्न होता है । प्रज्ञा का उदय प्रकाश का उदय है । यह प्रकाश ज्ञानमय है । वेद इस प्रज्ञा के प्रकाश का निराकरण शब्दों में प्रस्थापन करता है —

वेदाहमेतन् पुण्य महान्तम् आदित्यवर्णं तमसाः परस्तात् ।”

यह प्रकाश तम से परे तथा प्रकाश पुण्य आदित्य के वर्ण का है । यद्यपि प्रज्ञा इसके लिये साधन भूत है किन्तु भी प्रज्ञा तक पहुँचे बिना इस आदित्य वर्ण, प्रकाश स्वरूप प्रभु की प्राप्ति भी तो नहीं हो सकती ।

प्रज्ञा तक पहुँचने के लिये महारत्ना बुद्ध बीस को आचार बनाते हैं । बीस में

सर्वप्रथम बाणी का संयम ग्रह नमता (नम्रता) और मधुरता का परिगणन होता है ।  
वेद कहता है —

बाबा बभामिमधुमत् धुमासम् मधु संवृत् ।

बाबस्पतिर्बाबमन् स्ववतु ॥

बाबम् वरत मद्रया । र्मनः सत्यस्य सुयमस्पतिः ।

बाबम् पुनमि कवयो मनीषिणः । नामानि ते

शतश्रुतो विषया निर्वीभिरीमहे

इन मन्त्रों में बाणी के माधुर्य संयम तथा नम्रता की प्रशंसा की गयी है ।  
हमारी बाणी में स्वाधु हो मधुरता हो । हमारा कथन सत्य एवं सुयम से ओत प्रोत  
हो और अभिमाति अर्थात् अहंकार हमारी बाणी से दूर रहे जिससे हम प्रभु के सम्म  
उपासक बन सकें । मनीषी कवि सबैव अपनी बाणी को पवित्र किया करते हैं । सीस  
का दूसरा भाग है कर्म की पवित्रता जो मानव को सर्वपति की ओर से जाती है ।  
वेद के मन्त्रों में —

सम सुहृतां सुहृताणि सन्तु । सम आत्मन् सुहृत् सुहृताः ।

उत्तम सुध्मान् बुध्मरान् स्वप्नतः ।

पुण्य कर्म मानवों के पुण्य कर्म शान्ति प्रदान करते हैं । जो व्यक्ति अपने  
सुन्दर हाथों से सुन्दर कर्म करते हैं, वे ही आत्माओं की प्रतिस्पर्धा के पवित्र बनते  
हैं । सोमन कर्म करने वाले प्राणी जनमानस स्वस्ती तथा सफल जीवन से सम्म  
हैं । सीस में सम्मिश्रित आधुनिकता व्यवहार-साधिका है । अतःवाक्येन सत्येन अद्वया  
उपपाद्युतः । हमारा व्यवहार तथा जीवनचर्या के साधन अद्वय और उप से मण्डित  
हैं । हमारी बाणी में ही नहीं व्यवहार में भी सत्य का समावेश हो ।

समाधि में व्यापार अर्थात् शारीरिक परिश्रम सर्व प्रथम जाता है । 'इच्छन्ति  
देवा सुखान्तम्' देव परिश्रमी व्यक्ति को ही चाहते हैं प्रमादी को नहीं ।

वसोप्यते निरमय मध्येवास्तु मधि श्रुतम् । बाबस्पति ऐसी कृपा करें कि मेरा श्रुत  
मेरे अन्दर सुरक्षित रहे । मैं उसे बिस्मृत न कर बैठूँ । समाधि में सम्यक ध्यान अपेक्षित  
है । विद्या विप्रोदवापत् "तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि ।" पदों में ध्यान  
का ही महत्त्व प्रतिपादित हुआ है । हम प्रभु के सर्व ओष्ठ तेज का ध्यान करें । यह  
ध्यान ही व्यापक आधुनिकता का जनक है ।

सीस और समाधि की साधना साधक के अन्दर सम्यक दृष्टि तथा सम्यक  
संज्ञा को उत्पन्न करती है । सम्यक दृष्टि के लिए दो बातों की आवश्यकता है —  
एक तो मेरे दर्शन में कोई दृष्टि न हो और द्वितीय उसमें भ्रमता ओत प्रोत हो ।  
'यग्ने दिष्टं बभूव' र्मन-मह दृष्टि-दोष के दूरीकरण का सम्येक वेदा है । तथा अर्ध  
वसोप्यते निरमय मध्येवास्तु मधि श्रुतम् । बाबस्पति ऐसी कृपा करें कि मेरा श्रुत  
मेरे अन्दर सुरक्षित रहे । मैं उसे बिस्मृत न कर बैठूँ । समाधि में सम्यक ध्यान अपेक्षित  
है । विद्या विप्रोदवापत् "तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि ।" पदों में ध्यान  
का ही महत्त्व प्रतिपादित हुआ है । हम प्रभु के सर्व ओष्ठ तेज का ध्यान करें । यह  
ध्यान ही व्यापक आधुनिकता का जनक है ।

सत् । के अनुसार वहाँ हमारा व्यवहार उत्तम हो, वहाँ हमारी दृष्टि भी उत्तम हो । संतानम् नः स्वैभिः संतानम् अरभेमि । चाहे कोई अपना हो और चाहे पराया, सबके प्रति हमारी सम्यक दृष्टि होनी चाहिये ।

सम्यक संकल्प के सम्बन्ध में भी वेद में कई मंत्र आते हैं, यथा— जा नो सत्रा वसवो यन्तु । 'अप्यमित वसवो ह्यन्तु भीतय ।' मंत्र संकल्प ही हमारे अन्तर आपत हों । हृदय में बारण किये हुए शुभ संकल्प ही संकल्पन करें ।

इस प्रकार बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण आधार स्वयं वैदिक शिक्षा पर ही अवलम्बित है और उसमें जीवन निर्माण के सभी उपादान विद्यमान हैं । धर्म को जीवन को धारण करता है धर्म एक समान है । साम्प्रदायिक रुढ़ियाँ मने ही भिन्नता उत्पन्न करें, परन्तु जो कर्तृत्व का मूल है प्राण है वह भिन्नता को अभिन्नता में परिवर्तन कर ही देता । समस्त मनुष्यों, सम्प्रदायों अथवा भूतों का मेखण्ड धर्म है, रुढ़ियाँ नहीं । धर्म ही सबको संस्कृत बनाता है ।

## ग अर्थ

चतुर्वर्ग में अर्थ को जो स्थान मिला है वह जीवन के व्यापक दृष्टिकोण को सुचित करता है । संस्कृत वाङ्मय में और विशेषरूप से धर्मशास्त्र में अर्थ-शक्ति की निम्ना की गई है । मनु ने स्पष्ट रूप से लिखा है 'अर्थकामेन्द्रिय-सत्प्रानामधर्म ज्ञानम्विधीयते ।' जो व्यक्ति अर्थ और काम से वृषक है अर्थात् इनमें अनासक्त है, उसी के लिये धर्म के ज्ञान का विधान है । मनु ही क्यों वेद भी इसी स्वर में बोल रहा है । मनु ने जो उसका अनुसरण मात्र किया है 'तकी रेवन्तं सक्राम विन्दते ।' 'प्रधु वनवानों का सखा नहीं' बनता । वैराग्य-प्रधान बौद्ध मत तथा ईसाई मत इसी प्रकार की उक्तियाँ कहते रहे हैं । बाइबिल का स्पष्ट संकेत है 'ऊँट सूई के छिद्र में से मने ही निकल जाये पर धनी व्यक्ति स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकते ।' अर्थ के सम्बन्ध में इस प्रकार के कथन एक विशेष शिक्षा का अभिप्रेक्षण करते हैं । यह शिक्षा है धनवानों की येन केन प्रकारेण अर्थ-साधन की निष्ठा । जब अर्थोपादन के साधन दूषित हो जाते हैं जब अर्थ प्राप्ति के लिये हिंसा का आशय होता पड़ता है, प्राणियों को पीड़ित किया जाता है अर्थों के स्वत्व का अपहरण किया जाता है और शोषण-पद्धति के द्वारा अर्थ-सम्बन्ध की पापीयसी प्रवृत्ति उद्दाम रूप धारण कर लेती है, तब निस्सन्देह अर्थ ग्रहित एवं आर्थाध्यक्षीय रूप धारण कर लेता है । ऐसे धनी व्यक्ति वेद के शब्दों में सुराज्य अर्थात् भव-मल हो जाते हैं और पीयूष अर्थात् हिंसा पर उतर जाते हैं । वेद इन्हें असुर की सजा देता है । पर जिस अर्थ को हम चतुर्वर्ग में ले रहे हैं वह ग्रहित नहीं प्रार्थनीय है त्याग्य नहीं उपादेय है और अपवित्र नहीं पवित्र है । यदि धन निन्दनीय होता सर्वथा परित्याज्य सम्पत्ता क्या होता तो वेद के अनेक मन्त्रों में जो उसे उपसर्ग करने की कामनायें प्रकट की गई हैं वे निरर्थक समझी जातीं । वेद अनावृत्त शब्दों में कहता है — 'अग्नेयस्य सुपचाराये' 'अर्थ



स्याम पतयो रयीयाम् ' "योरत्नया वसु विद्या सुदम "अहं वधामि इविमं हविष्मते"  
 'येन विद्या परित्रिपो वृषवित विग्ने' 'युतय कुस्या उपभृतस्य पम्पा मनु"  
 "मपिदेवा इविममापज्जन्ताम् इये च रायेयेहि', 'त आसिषा इविममिष्टमान् "  
 "अप्रतीतो जयति सम्पत्तिना । प्रति जम्पानि जतवासज्जम्पा आप्यापमाना प्रज्जपा  
 धमेन सुद्धा पूता भवत यतिपात । वित्तैरमरु बहुसम्पमाना ।' आदि

हम धन के अधिपति बनें । ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रभु हम सुख पर बसावे ।  
 जो रत्नों को धारण करन वाला धनवान् तथा दानी है । मैं त्वापी पुरुष को धन  
 देता हूँ । जो देवों से पार हो गया धन उसी के पास जाता है । जो श्रुत के पय का  
 अनुसरण करत है उनके पास भी वो नहरें बहती रहती है । देव मुझे धन दें, मुझे  
 अन्न और वन के बीच में रहें । बहु आलीशान के साथ धन भी इच्छा करता है ।  
 जो व्यक्ति उद्योगशील है पीछे पैर नहीं रखता बहुरूपी एवं सामूहिक धनों पर  
 विजय प्राप्त करता है । मन्त्रों तथा धन से सुप्त होते हुये सुप्त सुप्त और पवित्र हो  
 जाओ । तुम यन्त्रिय जीवन व्यतीत करत हुये जो धन मिल जाय उसको बहुत सम्राट  
 कर प्रमत्त रहा । इस प्रकार भी उत्तियों धन को बाँटनीय एक आवश्यक सिद्ध करती  
 है । इस प्रकार का धन अत्रनीय है । आवश्यकता केवल दाननी है कि यह धन साधन  
 का रूप में मानव का उत्तम करने वाला है । उन धन के पक्ष में राय कर उत्तमन  
 के मार्ग पर लवाने योग्य है और माग के मार्ग में विघ्नक न हो ।

मानव को पग पग पर धन की आवश्यकता पड़ती है । शरीर का निर्वाह धन  
 के बिना नहीं होगा । प्राणवना मानविजना बोद्धिजा आदि सब धन के अभाव में  
 शरीर को गुट्टि न मिलने के कारण दुर्बल पड़ जाती है । यह शीर्ष्य मानव के दुर्गतार्थ

या ऐश्वर्य जीवन के सबलों में अन्यतम है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

यह ऐश्वर्य सब मानवों के पास एक समान नहीं है । समाज में वनिक वृत्ति प्रधान वर्गों को ही इसका विशिष्ट अधिपति समझा गया है । वही इसके भर्जन एवं विवर्जन में विषय रूप से भाग लेते हैं । अन्य तीन वर्गों में इस धन का विविध रूपों में विविध प्रकारों से विभाजन होता रहता है । इस विभाजन का प्रमुख आधार कर्म है और वह भी कर्म फल के रूप में सर्व प्रेरक प्रभु के आधीन है । वेद क कर्मों में विमत्तारम्भ हुआमहे असौः विमत्तस्य राक्षसः । सवितारम्भ नृचक्षसम् । देव सविता नृचक्षसः है सबको देखन वाले है । वे ही सफलता के साधन तथा अद्भुत ऐश्वर्य का विभाग करने वाले हैं ।

धन प्राप्त हो सबको है परन्तु वैराग्य प्रधान ब्राह्मण वर्ग इस धन में से भी जुने हुये धन का ही प्रयोग करता है । एक प्रकार से ब्रह्म का प्रतिनिधि होने के कारण ब्राह्मण धन मात्र पर अपना अधिकार रखता है और उसी के दिये हुए धन पर सब पाबित पोषित होते तथा घनी बनते हैं । फिर भी ब्राह्मण नि स्व होकर जीवन व्यतीत करता है । अधिक से अधिक वह ज्ञात तथा अमृत बहमाने वाली क्षिप्तोन्मत्त वृत्ति द्वारा अपना निताम्र आवश्यक भरण-पोषण मात्र करता है । महाकवि विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस नाटक में महात्मा चाणक्य का जो जीवन चित्रित किया है वह इस प्रकार की ब्राह्मी वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । अनुस्मृति में भी ब्राह्मी वृत्ति के इस रूप का उद्घाटन किया गया है और लिखा है । क स्वाध्याय के विरोधी सभी भर्षों को ब्राह्मण परित्यक्त कर देता है । उसके पास जो सम्पत्ति है उससे किसी प्राणी को ईर्ष्या नहीं होती न उसके साथ कोई झोह ही करता है । अपने प्रवृत्त कर्मों द्वारा जीवन यात्रा के निर्वहण मात्र के लिये वह यज्ञ-विष्णु अन्न का सेवन करता है, जिससे किसी भी प्राणी को क्षेय न पहुँचे ।

हमारे संस्कारों में यज्ञोपवीत संस्कार के विधान के अन्तर्गत ब्राह्मण यवामु अर्वाथ जो के सप्तु साकर तीन दिन तक ब्रत रखता है । इसके स्नान पर वैश्य खाद्य मिश्रित पयस आभिता अथवा केशर-मिश्रित खीर का सेवन करता है । वैश्य का यज्ञोपवीत बहुमुख्य रेशम का बना होता है परन्तु ब्राह्मण का यज्ञोपवीत सन अथवा सूत का होता है । यह विभाग वर्ण मर्यादा में वर्ण और काम के विभाजन पर तो प्रकाश डालता ही है साथ ही यह भी सूचित करता है कि विकास के मार्ग में हम किस प्रकार संस्कृत होते जाते हैं । संस्कृति की यह प्रणाली वर्ण का निरावर नहीं करती उसकी आवश्यकता को कम अवश्य करती जाती है जिससे अन्तिम सत्य नि भोग्य की उपलब्धि में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े और स्थिति निरुपब बनी रहे ।

वैद कहता है — भय एव भगवां असु देवा-स्तेन वर्ण भयवन् रायाम  
सं स्वा भग सर्व इजोहवीति सनो भय पुर तता मवेह ।

हे ऐश्वर्य—सम्पन्न प्रभु । आप साक्षात् ऐश्वर्य ही हैं । अपने इस ऐश्वर्य से आप हमें भी ऐश्वर्यवान् बना दें । यह ऐश्वर्य ही है, जिसके द्वारा हम यज्ञ में आहुति आसते हैं । समस्त प्रस्तुत अग्नि में आहुत-हुआ वसु पुन अपने विविध रूपों में हमारे समस्त उपस्थित हो जाता है । निम्नांकित मंत्र भी इसी तथ्य का समर्थन करता है—

‘पुनर्वा बक्षिरावत सुपुनर्वा पुनरावत ।  
वसनेव विधीना बहाव्य मूष सतक्यो ।’

ये वक्ता । तुम पुनर्वा होकर इस यज्ञ में आहुति आसो । भी का अन्त्य भरा हुआ जब अग्नि में भी की आहुति देता है तो वह भी उससे भी बढ़कर याचक को पुन प्राप्त हो जाता है, जैसे व्यापार में नयाबी हुई पूर्वी कई नुनी बढ़कर व्यापारी को प्राप्त होती है । हे सतक्यो । आप अनन्त कर्मा हैं । मेरे लिये भी प्रवित हो जाओ तथा मन के भण्डारों को मेरे लिए उन्मुक्त कर दो । देखि मे ब्रह्माणि ते । तू दे मैं तुझे बूंगा । देवो वो ब्रह्मिणोऽ । वो होता है आहुति आसने वाला है प्रभु उसे बन देते ही हैं । ‘वधाति विभते । वे होता को यज्ञिय रत्नों का धाम बना देते हैं । ‘कुधि रत्नं यजमानाय । यजमान रत्नवान् बनता है । साधक का अभीष्ट पूरा होता है, क्योंकि भगवान् सबको आबरमकताओं क अनुकूल वे ही रहे हैं । वे ही (संगमनी वसूनाम्) वसुओं का संगमन अभीष्ट उपलब्धि कराने वाले हैं । वे मन के प्रचेता हैं ऐश्वर्य के देने वाले हैं उन्हीं का दिया वन सत्य है ।

वन भी कई प्रकार का है । वन वन है फल फूल मेवा रत्न हीरा, माणिक्य स्वर्णादि वन हैं । गो वन है । गो के अतिरिक्त अन्य पशु भी वन ही हैं । बुद्धि विद्या तथा ज्ञान भी वन है पर ये वन सभी सार्वक हैं जब इनके द्वारा हम अन्य कहे जा सकें । वेद ने पाँचव वन से लेकर बीस वन तक की गणना की है । अनेक साधक बाह्य वन की अपेक्षा अपने आन्तरिक वन की अधिक चिन्ता करते हैं, परन्तु आन्तरिक वन भी बाह्य वन की अपेक्षा नहीं करता उसे वह अपना सहायक समझता है । ‘वसुर्वसुनां सप्तसित्त्वमेक इन् छावा न याति पुत्रिबी न पुष्यतः ।’ प्रभु वसुओं का भी वसु है । समस्त वसु उसी के आन्दर निहित है । जिस वसु को रोबड़ी छावा पुत्रिबी पोषण देते रहते हैं वह सामान्य वन से लेकर प्रकाशमयी सम्पदा तक विस्तृत है । पाँचव वन की इयत्ता को हृदयवम करना ही हम सब के लिये अत्यन्त है फिर छावा के वन की हाकी सेवा तो और भी अधिक कठिन है । प्रभु ने जीवों के लिए कितने वसुओं की रक्षा की है इस कीमत जान सकता है ?

दान की महिमा

दान में त्याग का भाव है और त्याग यज्ञ के मूल में विद्यमान है । सपूर्व सृष्टि की रचना यज्ञ का ही एक विधात रूप है । यज्ञ में देवी पर बैठे हुए स्थिति कुण्ड के केन्द्र-भाग में प्रस्थित ब्रह्माक्षर अग्नि में आहुतियाँ आसते हैं । सौर्य जगत के केन्द्र में स्थित आग्नेय्य मान सूर्य को भी यहाँ तथा पित्रो द्वारा आहुतियाँ भिज रही हैं । सृष्टि का एक-एक तत्व

स्यामसीन है। वायु सृष्टि में छाबू सगा रहा है ज्वलि ज्वाबनता को दस्य कर रहा है, बस कूड़े और कर्कट को बहा कर दूर ले जा रहा है। सूर्य वृषित द्रव्यों के रस को खींच कर उनके संशोधन में सीन है। अपनयन कीक्रिया के साथ शान भी बन रहा है। इस प्रकार समग्र जगत् यज्ञमय शानसीन एवं स्यामी बना हुआ जीवन की प्रजाप्ती को अग्रसर करने में संलग्न है। तो क्या मानव सर्वत्र के लिए स्वार्थी बना रहेगा? क्या वह त्यागशील जीवन को अपनाते के लिए सद्यत न होगा? और क्या वह सृष्टि की यज्ञ-क्रिया में अपना सहयोग न देगा? विज्ञान हमें बताता है कि यहाँ उच्चशक्ति के अंश निरंतर निम्नशक्ति के अंशों के साथ संयोग कर रहे हैं और इस प्रकार विश्व में संवृत्त बनाये रखने में अपना योग दे रहे हैं। मानव-सृष्टि के इस नियम से विज्ञा ग्रहण कर सकता है। बेब कहता है—

पृथ्वीमस्तु इक्ष्वाकमानाय तप्यान् हावीर्षांसं अनुपश्येत् पंचाम् ।

ओहिर्वर्तन्तेरप्येव जका अन्यम् अन्यम् उपसिष्ठस्तथाः ॥

ऋ० १०-११७-३

को दस्य हैं बर्बात बन देने के योग्य हैं उनका कर्तव्य है कि वे प्रार्थनासीन पात्रक को अपने बन का कुछ भाग अवश्य दे दे। उन्हें सोचना चाहिए कि जीवन का पक्ष विशाल है। इस सुवीर्य जीवन-यात्रा में न जाने कौन सा शान किछ समय काम है। बन सबके पास एकजैसी बसा में नहीं रहता। वह रस के पहिये की भांति कभी ऊपर और कभी नीचे जाता रहता है। आज यदि वह बकवर के पास है तो कल सिबाबी के पास पहुँच जाता है। न वह हिरण्यर का सगा बनता है और न मुखोसिनी का संबन्धी। यह कभी पठानों के पास या, तो कभी मुगलों के पास रहा और कभी अंग्रेजों के तो कभी हिन्दुओं के साथ रहा। अतः यदि आज मेरे पास बन है तो मैं उस पर अपना एकान्त अधिकार क्यों समझूँ? यह मेरे उपयोग में बितना जाता है उतना अच्छा है, पर जो बचता है उसे उपयुक्त पात्र को दे देने में ही मेरा और उसका कर्त्तव्य है। मैं न भी दूँ या तब भी वह मेरे पास नहीं रहेगा फिर उसे देने में सकोश क्यों हो? सामाजिक कर्त्तव्य की भी यही पुकार है कि जहाँ बन की अनिवार्य अपेक्षा है, वहाँ उसे जितरा भोज्य भी पहुँचा देना चाहिये। ऋ० १०-११७-९ में मेघनादी को को अपने आप जाता है, बूझने की ओर जाँच उठा कर भी नहीं देखता केवल पापकर्म कहा गया है। निम्नांकित मन्त्र भी शान की महिमा का वर्णन करते हैं—

वसिष्ठावतामिदमिति विज्ञावसिष्ठावतां विधिं श्रुत्वाः ।

वसिष्ठावन्तो अमृतं वसन्तो वसिष्ठा वन्तः प्रतिरन्त आधुः ॥

ऋ० १।१११।६

वसिष्ठावान्प्रथमो हूत एति वसिष्ठा वाम्नामभोरपमेति ।

तमेव मन्त्रे नृपतिं वनामी यः प्रथमो वसिष्ठावामिवाय ।

ऋ० १०।१०७।

वसिष्ठा उच्यते वसिष्ठा गां ववाति वसिष्ठा यन्त्र मृत पश्चिरण्यम् ।  
वसिष्ठां वसुते यो न आत्मा वसिष्ठां वर्म कमुते विजानन् ॥

ऋ० १०।१०७।७

ज्ञान देने वालों के लिये यहाँ की विज विजिज सगुण तो है ही जो लोक की प्रकाशमयी निधि भी उन्हीं के लिये है । वसिष्ठा देने वाले मोठा रूपी वसुत को प्राप्त करते हैं और मृत्यु को भी मार कर वीर्यायु भोगते हैं । ज्ञान देने वाला समा समितियों में सर्व प्रथम आहूत होता है । सब लोगों की दृष्टि उसी पर पड़ती है । वह ग्राम या समुदाय का नेता बनता है और सबके आगे बसता है । मैं उसी को मनुष्यों का पासव स्वामी या राजा समझता हूँ जो ज्ञान देने के लिये सर्व प्रथम हाथ बढ़ाता है । ज्ञान में थोड़ा दिया जाता है पी ही जाती है चोरी और सोना दिया जाता है । वसिष्ठा का देने वाला अन्न से कभी भी मृत्यु नहीं रहता है । वसिष्ठा उसकी आत्मा में प्रवेश करके सर्व-समर्थ कवच का रूप धारण कर लेती है ।

देव कहता है पूर्ण तो यहाँ एक ही है । सबका समूह, वसुओं का भी वसु दाताओं का भी दाता सबका उपास्य और पूजनीय एक ही है । इसे इन्द्र कहो, अग्नि कहो सविता कहो देव कहो किसी भी नाम से पुकारो ये सब नाम उसके एक-एक गुण का प्रकाश करने वाले हैं । उसी के गुणों के आधार पर प्राकृतिक पदार्थों और प्राणियों के भी गुण वेष्ट कर नाम रखे गये हैं । परमेश्वर में गुणों की जरम सीमा है । यहाँ उनका एक जल एक क्षतक है । वह महान् दाता अपनी विस्तृत अपार अनराशि में से कुछ भाग सबको दे रहा है । यद्यपि वह स्वयं एकान्त उपस्थी है तथापि हम प्राणियों के लिये जग का जनक और उपभोग्य सामग्री का देने वाला भी है । जिस साधक ने उसके इस गुण की पहचान लिया वह फिर उसी का होकर जीवन व्यतीत करता है और उसके देवी रक्षण का अधिकारी बनता है । क्या हमें भी उसका देवी रक्षण प्राप्त होना ?

देवी रक्षण दिव्य व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है । वैदिक संस्कृति साधक को दिव्यता के अन्तिम सोपान तक पहुँचा देती है । पार्थिव मल और जावरण घटते-घटते साधक को उस दिव्य भूमि में ले जाते हैं जहाँ स्पृशता नहीं सूक्ष्मता है । अन्त में सूक्ष्मता भी नहीं रहती केवल आनन्दमय कारण शरीर रह जाता है । इसी का आधार लेकर जीवात्मा स्वच्छन्द लोकों में बिहार करता है । उसकी गति व्यम्नाहृत होती है न कोई रोकने वाला न कोई टोकने वाला । पर्वतों के निक्षर और अन्तरिक्षीय बबन्धर कोई भी उसके मार्ग में बाधा नहीं डाल पाते । दिव्य जग का धनी बनना कितना उदात्त है, कितना श्रेयस्करो है !

## काम

मनु महाराज से न तो कामात्मता को ही प्रसन्न माना है और न निरी प्रकामता को । यदि प्रकामता को उन्होंने प्रथम दिया होता तो सब कामों के मूल में निहित काम को भी उन्हें परित्यक्त करना पड़ता । उनके मतानुसार वही काम भेद्यस्कर है जो मानव के विकास में सहायक बन सके । कामना मोक्ष की भी होती है और उन साधनों की भी जो साधक को मोक्ष तक पहुँचाते हैं । कामात्मता उस समय परित्याज्य समझी जाती है जब वह मानव के उत्थान में बाधक तथा उसके पतन का कारण बनती है ।

काम के सम्बन्ध में ऋषियों के ये वाक्य विचारणीय हैं — सर्वान् कामान् ब्रह्माण्डानि, सर्वान्ना कामान् समर्पय, मेरी सब कामनायें पूर्ण हों । मैं जो चाहूँ वह मुझे प्राप्त हो । सामान्य व्यक्ति प्रबल कर सकता है कि क्या सभी प्रकार की इच्छायें पूर्ण होनी चाहिये । उत्तर स्पष्ट है कि सभी प्रकार की कामनायें किसी भी व्यक्ति की पूर्ण नहीं हो सकती । ऋषियों के वाक्यों में त्रिंशद् इच्छाओं के पूर्ण होने का उल्लेख है वे उत्कृष्टतम से सम्बन्ध रखती हैं । वे पवित्र कामनायें हैं । यों तो प्रभु की सम्मदा पर उसके सभी पुत्रों का अधिकार है और प्रत्येक पुत्र निम्नांकित मंत्र द्वारा प्रार्थना कर सकता है —

भीष्टते तस्मीन्मम पत्न्या बहो राज्ञे पादौ तस्यैव च यमश्विनी ।

व्यासम् । इत्यनं निषाद्य मम न ह्यान तर्षं लोकम्न ह्यान ॥

प्रभो ! मैं एवं अपनी आपकी दो पत्नियाँ हूँ । दिन और रात्रि आपकी दोनों बगले हूँ । तस्यो में आपका रूप सौन्दर्य है । पादा और पृथिवी आपके बगले हुये मूल के समान हैं । आपकी विभूति हम सब पुत्रों के लिये है । आप मेरे लिये इसकी कामना करें । समस्त लोक मेरे अपने बनें ।

यहाँ निश्चिन्त ब्रह्माण्ड का सबूत भीष्मकी पुत्र के लिये है । वह उसे प्राप्त होना चाहिये । ऐसा संकेत मन्त्र से प्राप्त हो रहा है और हमें उस धूमा अवस्था की ओर से आता है जहाँ पहुँच कर सब कुछ आत्मा का ही और आत्मा के ही लिये है । अणुविभूति की उपलब्धि में स्वस्थता है धूमा में सभी कुछ स्वायत्त है ।

वेद में भौतिक उपलब्धियों के लिये भी प्रार्थनायें की गयी हैं । नीचे इस विषय के कुछ मंत्र दिये जाते हैं —

शरीर, आयु तथा वर्चस की कामना

तनुषा अग्नेऽग्निं तर्षं मेपाहि । आयु दा अग्नेति आयुर्मेवेति ।

वर्चो दा अग्नेऽग्निवर्चो मे वेहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊर्जं तन्म आयुष ॥

प्रभो ! आप शरीरों के पालन करने वाले हैं, मेरे शरीर की रक्षा करें । आप

आपु देने वाले हैं मुझे आपु हैं । आप बर्षसु देने वाले हैं, मुझे बर्षस दें और मेरे शरीर में जो म्यूनठा हो उसे पूर्ण कर दें ।

### सन्तानि की कामना

ओ३म् सुभुक् एव । सुप्रजा प्रजामिः स्याम । सुवीरो वीरं सुपोष पोष ।

हे सन्निधानम् स्वका । हम सन्तानों के द्वारा सुन्दर सन्तान वाले बनें । पोषक क्रियाओं के द्वारा सुन्दर पोषण वाले बनें और वीरों के द्वारा सुन्दर वीरों वाले बनें ।

### इन्द्रियो के स्वास्थ्य की कामना

ममि इवं इन्द्र इन्द्रियवधातु अस्मान् रायी मयवान सञ्जन्ताम् ।

अस्माकं सन्तु आशित्य सत्यान् सन्तु आशित्य ॥

हे इन्द्र ! आप मेरे अन्तर इन्द्रियों को धारण करें । हे मन्त्रा ! हे बन्नी ! आप हमें ऐश्वर्यों से संयुक्त करें । हमारी कामनायें सत्य सिद्ध हों ।

पश्येन शरवः सतं बीवेन शरवः सतम अचुयाम शरवः सतं प्रज्वाम ।

शरवः सतं अहीना स्याम शरवः सत भुयश्च शरवः सतम् ।

प्रभो ! हमारी आँखें इतनी स्वस्थ एवं सज्ज हों कि हम उनसे सी बर्ष पर्वन्त देखते रहें, कानों से सी बर्ष तक सुनते रहें, सी बर्ष तक बाभी से बोलते रहें, सी बर्षों तक अहीन होकर रहें और सी बर्षों से ऊपर भी हमारी इन्द्रियाँ इसी प्रकार सचेष्ट रहें ।

### पापियों और उनके साथियों से ध्वजने की कामना

मैह भई रक्षस्विनै नाभय नोपया उत । पबे चमई वेनवे वीरत्यच मयस्यवे  
अनैह सी व ऊतय सु ऊतयो व ऊतय ।

प्रभो ! पापी हिंसक धर्म से विपरीत बसने वाले तथा उनके समीप रहने वाले अधर्मी कभी सुखी न हों । हमारी गायें तथा वेनू और यज्ञामिसापी पुत्र सब निष्पाप तथा निरुपद्रव स्थिति में रहें और उनको सबैव आप की रक्षण क्रियायें प्राप्त होती रहें ।

पाहि नो अने रससः पाहि नूतें अराक्नः ।

हे ईश्वर ! आप हमें राक्षसों से बचावें और अरानी, कृपण तथा नूतों से हमारी रक्षा करें ।

### शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना

वयं जयेम त्वयापुत्रा वृत्तमस्माकम् नमुदन्ता भरे मरे ।

अस्मभ्यमिन्द्रवरिष्ठः त्वयं कश्चिप्रशावृत्ता मयवन्मुष्या कञ् ॥४३॥ १ ॥७१॥४३॥

हे परमेश्वर्य सम्पन्न प्रभो ! तुम्हारे साथ रहते हुए हम सबैव विजय प्राप्त करें । शत्रु में हमारा जो अहित शत्रु के हाथ में पड़ गया है उसका आप उद्धार करें ।

हमारे लिये सम्पदा को सुसभ कर दें और कर्मों के बस को गूँथ करें ।

**ब्रह्म-क्षेत्र तथा उत्तम धी की कामना**

इह मे ब्रह्म च क्षेत्रं चोमे नियमवन्तुताम् ।

मयि देवा इत्येतु नियमस्तथा तस्य ते स्वाहा ॥ १३ ॥ प० ३२ । १६ ॥

हे महाशक्ति ! राजाधिराज ! आपकी कृपा से मेरा नाम तथा बस विज्ञान तथा राज्य दोनों ही धी सम्पन्न हों । दिव्य शक्तियों की ओर सबसे बढ़ी देन है वह सर्वोत्तम धी भी मुझे प्राप्त हो । धी-इन्द्रिय तथा अहम्-प्राप्य की कामना ।

सेमं न कामना पूष पोनिरश्च शतक्रतो । स्तवाभावा स्वाप्यम् ।

हे अमरपराक्रम-शील परमात्मन् ! हमारी सभी कामनाओं को पूर्ण करो । हम भी तथा जसों से संयुक्त हों हमारी इन्द्रियां तथा प्राण बलवान हों । सुन्दर बुद्धि वाले क्रोमन कर्म वाले तथा सम्यक् ध्यान वाले बनकर हम सर्वत्र आपका स्तवन करते रहें ।

**राष्ट्र के पालन की कामना**

क्षेत्रं त्वा जनाय त्वाकृते सहसे तथा ।

अभि भूयाय त्वा राष्ट्रभूत्याय पर्षद्भूमि शतवारदाय ॥

हे प्रभो ! मैंने तुझका चारों ओर से चारण कर लिया है । जब तू ही मुझे बस बस जोर सहस्र शक्ति कर्मों के पराभव तथा राष्ट्र के पालन करने की शक्ति से सम्पन्न करके सी बर्षों तक जीने का वर प्रदान कर ।

इसी प्रकार की अनेक प्रार्थनायें वेद में मरी पड़ी हैं । इन प्रार्थनाओं में बिन कामनाओं के पूर्ण करने का उल्लेख है वे शत कामनायें हैं । ये कामनायें वैयक्तिक तथा सामूहिक उत्थान करने वाली हैं । जिन्हें अणकामनायें कहते हैं वे मानव को उत्थान नहीं पतन की ओर से जाती हैं । ऐसी कामनाओं का करने वाला पापी बनता है । वेद कहता है —

द्यावा पूर्वाधी अनु ना धीधीवा विवेवेवासी अनुमा रमध्यम् ।

अगिरसः पितरः सौम्यासः पाप माहं त्वय कामस्य कर्ता । अर्च्यं २ १२ १

ये द्यावा और पृथ्वी मुझे प्रकाश से सम्पन्न करें । समस्त दिव्य शक्तियाँ मुझे सहाय्य दें । प्राण शक्ति से सम्पन्न पितर और सौम्य शक्ति से सम्पन्न विद्वान देव में फर्से-फूँसे और जो बुरी कामनाओं का करने वाला है वह पाप को प्राप्त हो । इसी प्रकार से कूटिलता आदि को दूर करने की प्रार्थनायें भी वेद में जाती हैं ।

“अपहोपो अपह्वरो , ‘भुषोष्यात्मन् कुहराभमेतः’ आदि मन्त्र ग्यों में हिंसा कीटिल्य आदि दुष्कर्मों तथा दुर्मितानाओं की निन्दा की गयी है । इस प्रकार की अण कामनायें मानव को मरण की ओर से जाती हैं । वेद के सर्वोत्तम विस्वाहि मर्यत्त्वना अनुकामा शतक्रतो । अणमूय बलिन् आशासः । हम अविघ्ननीय एवं अनादयक कामनाओं से घिरे हात हैं इसीनिप मृषु हम बार बार मारती है । कृत्स्न इन्द्रायें हों”



पीड़ित करती हैं। यदि इन कामनाओं को हम दूर कर सकें, और इनके स्थान पर आराधनों को, व्यापक एवं शुभ इच्छाओं को आसीन कर सकें विवेक द्वारा भुक्त एवं अनुचित कामनाओं पर अंकुश रख कर मंगल कामनाओं को व्यवसर कर सकें तो कृत्स्न कामनाओं के निमूक्त हो जाने से शुभ कामनायें शक्ति का रूप धारण कर सकेंगी और हम वरण-मरण से बचकर अमृत धाम के निवासी हो सकेंगे।

### ज्योति की कामना

आत्मों में ज्योति की कामना प्रमुख है। वेद के कई मंत्रों में ज्योति प्राप्त करने की प्रार्थना आती है। यथा —

यत्र ज्योतिरव्ययं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।

तत्र प्रायेहि पचमान् अमृतं लोके अक्षिते इन्द्रायेभ्यो परिचय ।

—ऋ० १/११३/३०॥

उत्र नो लोके अमृतं विद्वान् स्वर्बत् ज्योतिरमयं स्वस्ति ।

अध्यातव्यं स्वविरस्य बाहु उपस्थे याम शरणा बृहन्ता ।

ऋ० १/४७/८ ॥ अथर्व ११/१२/४ ॥

बृहता गृह्य य तमो, वि यात विद्वन्मन्त्रिणम् । ज्योतिष्कर्त्ता यदुत्तमम् ।

—ऋ० १/८३/१० ॥

है पचमान सबको पवित्र करने वाले प्रभु ? मुझे ऐसे लोक में से जसो वहाँ ज्योति हो। यही ज्योति कमनीय है शुभमयी एवं मंगलमयी है। अमृत एवं अक्षीनता का यही निवास स्वाम है। प्रभो हमें ऐसे विस्तृत लोक में से जसो वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है। यह प्रकाश निर्मयता का जनक है। अन्धकार में तो सभी को भय सगता है। स्वस्ति या हम अस्तित्व प्रकाश की ही देन है। ज्ञानत्व का नाम भी वही है। माय इस बृह यथम को हटा दो। सबन अन्धकार राक्षसों को प्रिय है, क्योंकि इसी में उनकी बन जाती है। जोरी उकँटी क्षीना-सपटी अन्धकार में ही सम्मग्न है। यह आपदा की शिक्षा है इसम से निकालो और ज्योतिर्मय स्थिति में से जसो। हमारी यही कामना है।

### निर्मयता की कामना

अमयं न करत्यन्त रिक्तममयं चावा पृथिवी उभे इमे । अमयं परावामयं पुरस्ता  
बु त्तराववामयं भोऽस्तु । अमयं मित्रा वमयममित्रा वमयम्व्राता वमयमपूरीयम् ।  
अमयं नक्तममयं विषा न सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अन्तरिक्ष में चावा में पीछे, आगे ऊपर और नीचे अमय हो। मित्रों से हम निर्मय हों। शत्रुओं से हम निर्मय हों। जाने हुए और अनजानों से हम अमय हों। दिन और रात्रिमें हम निर्मय रहें। सभी विद्यामें मुझसे मित्रवत् व्यवहार करें।

### अनुण होने की कामना

अनुषा अस्मिन् अनुषा परस्मिन् तृतीये लोके अनुषा इयाम् ।

ये देवयानाः पितृयानाश्च लोकाः सर्वानुपचो अनुधा माक्षियेम ॥

—अध्याय १/११७।१॥

इस लोक में हम ऋण-रहित हों। परलोक तथा पृथ्वीय लोक में भी हम ऋण-रहित हों। जो पत्र देवयान अथवा पितृयान के नाम से प्रख्यात हैं, उन सभी पत्रों में हम ऋण-रहित होकर बिचरण करें।

तीनों पाशों से मुक्त होने की कामना

सुखस्य वक्ष्य पाशमस्मह कायस्य च मध्यस्य वषाय ।

अथा वचना विस्मरते तथानात्मसौ अवितये स्याम ॥ ऋ० १, १४ १५ ।

प्रभो हम तीन पाशों से बंधे हुये हैं। एक अधम पाश है जो तमो गुण से बना है। एक मध्यम पाश है जो रजो गुण से बना है और एक उत्तम पाश है जो सत्व गुण से बना है। ये पाश मुझे अविति अर्थात् अकष्ट अवस्था का अनुभव नहीं करने देते। इनके कारण मैं पाप से बिरा रहता हू। प्रभो आप इन तीनों पाशों से मुझे मुक्त कर दें जिससे मैं अविति तथा अनागत अवस्था को प्राप्त कर सकूँ।

सर्वोदय की कामना

मजीतये महतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतातये बृहते ।

तनुत्तमि विभ्व इमे तन्नायः तथैव वरिम पगमानसोम । ऋ० १/१६।४॥

हे सोम ! तूम अपनी शक्ति से सब समवेत रहते हो। मुझे भी ऐसी शक्ति दो जिससे मुझे कोई चीज न सके मुझे कोई हानि न पहुँचा सके। मेरी यह भी कामना है कि सर्वत्र स्वस्ति का सम्चार हो और एक बृहत सर्वोदय की क्रियायकारी स्थिति का उदय हो। मेरी ही नहीं मेरे सभी मित्रों की यही कामना है।

प्रभु के सन्दर्शन में जीवन व्यतीत करने की कामना

बृतेषु ह माज्योषते संदुषि जीम्यासम् ज्योवते संदुषि जीम्यासम् ।

हे सर्व समर्थ परमेश्वर ! मुझे इतना बूढ़ बना दे कि मैं तेरे सन्दर्शन में बिर कात तक जीवित रहूँ। तू मुझे देखा रहा है, यह भावना सब मेरे साम बनी रहे।

प्रभु प्राप्ति की कामना

आते पत्सो मनोममत् परमात् चित् सवस्थात् । अग्ने त्वाम् कामये विर । प्रष्टु तुम परम हो और मैं अधम हूँ फिर भी मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। अतः तुम्हारे मन को मैं अपनी ओर खींच ही सूँचा। तुमसे मिलने की यह कामना आज बाबी डार अभिष्यक्त हो रही है।

प्रभु से एक हो जाने की कामना

महं च त्वं च बृहन् संदुष्याम सविम्य आ ।

अरासी वा विवर्तिषो अनुनी दूरमस्तने भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥

तप तपता है, तब रचना का आरम्भ होता है । प्रणोपनिषद् इस काम को " ईश्वर" कहती है ।

जो काम सृष्टि के मूल में है वही फँस फूट कर अपनी सन्तति के अंग-अंग में भी रमण करने लगता है । मूल से बिस्तार या फैलाव में जाकर काम का रूप विकृत हो जाता है । जैसे गंगा हिमालय से निकल कर मैदान में बहती हुई अन्त में बंगाल की खाड़ी में भग्न हो जाती है और अपने मूल स्वच्छ रूप का परिमाण करके कमलफले के पास अरपस्त भविष्य रूप में प्रकट होती है । ऐसे ही काम अपनी साक्षा प्रज्ञा आधों में विकृत होता जाता है । भू-धार में जो काम का रूप है उसे रति की संज्ञा दी गयी है । पति और पत्नी का परस्पर आकर्षण इसी काम का एक रूप है । सन्तति-परम्परा इसी के द्वारा आगे बढ़ती है । अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्रों में भी काम को मन का प्रथम बीज कहा गया है—

कामस्तव्यो समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

स काम कामेन बृहता स्योनिः रायस्योर्ध्वं यजमानायवेति ॥ १९।२९।१॥

वह काम पहले ही वर्तमान वा जो मन का प्रथम रेत कहा जाता है । वह काम बृहत् काम के साथ स्योनि है समान मूल वाला है, वह यजमान के सिधे बन और पुष्टि है ।

त्वा काम सज्जसति प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते ।

रवमुग्रः धुतनाधु साधहि सह श्रीचो यजमानायवेति ॥

हे काम ! तुम अपने बस के साथ प्रतिष्ठित हो । तुम विभु हो और विभावा हो अपने परचात उत्पन्न हुये सभी पदार्थों में व्यापक हो और अनेक रूप धारण करने वाले हो । तुम सखा हो और सबको अपना सखा बनाना चाहते हो । तुम उग्र और सेनाओं पर विजय प्राप्त करने वाले हो । तुम यजमान को बस और भोज प्रदान करो ।

दुराश्वकमानाय प्रतिपात्तायाजये ।

आत्मा अमृष्वन्माशा कामेना जनयत्सा ॥

उस अक्षय प्रभु से अपने प्रतिपालन की कामना करता हुआ मैं कितनी दूर से बसकर आया हूँ । कहाँ कहाँ नहीं भटक ! इच्छार्थें मुझे कहाँ कहाँ सेवयीं परन्तु आज प्रतीत होता है कि इन दिशाओं के कानों में मेरी पुकार पहुँच गयी और जिस काम की सिधे हुये जिन इच्छाओं को मन में संजोये हुये मैं पथ पर आगे बढ़ रहा था उन्हीं के परिणाम स्वरूप आज स्वर्ग भी मेरे सम्मुख दिखाई देने लगा है । जो काम स्वर्ग की प्राप्ति कराता है मुक्ति में भी जीवन के साथ रहता हुआ उसे दृष्ट देवी भोषों का आम्बादन कराता है वह काम निस्सन्देह स्तुहनीय है । नतपथ बाह्यपकार रहता है कि जब जीव मोक्ष में किसी का वर्धन करना चाहता है तो मन की सहायता से यद्यु बन जाता है शुभना चाहता है तो भोज बन जाता है और ज्ञान

स्वल्प ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं से तुष्ट होता रहता है। बेर में वहाँ-वहाँ ऐसी प्रार्थनाएँ जाती हैं कि जिस कामना को से कर हम मन्न करते हैं वह कामना प्रभु की कृपा से पूर्ण हो वहाँ काम का यही शिव स्वरूप उपस्थित रहता है।

चार ब्रूत विचार यही ज्ञान पड़ता है कि काम के शिव या भद्र रूप को अपनाना चाहिये और अशिव एवं अमन्नरूप को त्याग देना चाहिये। उसका अशिव रूप कस्याम पर में विघ्नस्वरूप है मार स्वरूप है और सामक को पतन की ओर प्रवृत्त करने वाला है। अतः उसके छोड़ देने में ही कस्याम है। काम का शिव रूप सभी ओर से और सभी प्रकार से ग्रहण करना है। यदि उसे छोड़ दिया तो पुस्कार ही व्यर्थ सिद्ध होगा।

प्रभु शिव की सीमा है मन्न की पराकाष्ठा है। उनके अन्दर उत्तमता का चरमबिन्दु है। वे सुख ही नहीं सुभगता के स्रोत हैं। वे सन्मन के साथ समीपव भी हैं और संकर के साथ मयस्कर भी हैं। वे स्वरूप से शिव हैं। उनसे सिद्ध-तर की ठी कस्याम भी नहीं की जा सकती। जैसे बृक्ष से शाखाएँ फूट-फूट कर चारों ओर फैल जाती हैं वैसे ही प्रभु से शिव के स्रोत से शिवत्व की सीमाय की कस्याम की कस्याम निकल कर चतुर्विध प्रसृत हो जाती हैं। जो पात्र हैं, आकर्षण-ग्रहण के केन्द्र हैं वे इन्हें प्राप्त करते हैं और कस्याम के भाजन बनते हैं। उत्तमता के इसी स्रोत शिव स्वरूप परमप्रभु को प्राप्त करने के लिये जीव वहाँ भटक रहा है। उसके तप दान मन्न आदि सभी कार्य इसी एक की साभिष्य-प्राप्ति के लिए हैं। काम का भद्र रूप इस उद्देश्य में जीव का सहायक बनता है। अतः वह ग्रहण करने योग्य है।

गृह्यार में आए हुए काम को भी महापात्र विस्वनाथ ने अपने साहित्य दर्शन में युधि मेघ्य तथा उम्बल रूप में स्वीकार किया है और उसे रस की अवस्था तक पहुँचाने वाला माना है। 'रसो वै स' ऐसा उपनिषद्कार कहते हैं। कामायनी अवर्णित भद्रा भी काम की पुत्री कही जाती है। यह भद्रा जिसके पास है वह रस का आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होता है। काम का यह रूप हम सबके अन्दर विद्यमान रहे।

## ४ मोक्ष

जैसे साना की नींव या आधार मृमि होती है और ईंट पत्थर, सीमेंट चूना बालू आदि इसके निर्माण में साधन मूल होते हैं और लक्ष्य होता है उसमें सुख-पूर्वक निवास करना वैसे ही हमारे जीवन की आधार तिसा मर्म है, मर्म और काम जसमें साधन रूप हैं और मोक्ष अर्थात् निश्चित दुःखों से छूट कर आनन्द प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। वेद के अनेक मन्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति की कामना वर्णित हुई है और रश्म का वर्णित सुख विषेय का काम्य

तत्त्व के रूप में उल्लेख हुआ है ।

स्वर्ग को विविष्टतया तृतीय धाम भी कहा गया है । इस तृतीय धाम में जो मोक्ष स्वरूप अमृत है उसका आस्वादन दिव्य-मुण-सम्पन्न देवी पुरुष ही किया करते हैं । वेद कहता है —

यथा देवाः अमृतमात्राणां तृतीये धामसम्यैरयम् ।

इस तृतीय धाम में देव अमृत का उपभोग करते हुये स्वप्नस्थ विचरण किया करते हैं । व्याहृतियों में स्व का स्थान तीसरा है । उसके आगे चार लोक या चार स्थितियाँ और हैं । ये स्थितियाँ मोक्ष के ही विभिन्न स्तर हैं ऐसा छान्दोग्य उपनिषद्कार का अभिमत है । प्रथम प्रकार के स्वर्ग में बसुओं का राज्य है द्वितीय में अश्वों का तृतीय में आरित्य का जलधर्म में मत्स्यों का और पंचम में सोम का साम्राज्य है । इन मोक्ष लोकों में देव निवास करते हैं जो न खाते हैं और न पीते हैं भविष्य अमृत को देखते ही तृप्त हो जाते हैं । अन्तिम स्थिति में साध्य देव पहुँचते हैं जिनके लिये सूर्य के उदय तथा अस्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं है इनके लिये सर्वत्र दिन ही दिन रहता है । वे प्रकाश के बासी हैं और स्वयं ज्योतिर्मय हैं । वेद कहता है —

भूवससो अग्निमिवन्तो अर्हन्ता पृथग्देवा सोऽमुषस्त्वमानसु ।

ज्योतीरवा अहिमाया अनामसो दिवो व्यर्था बसते स्वस्तये ।

ये मुक्तात्मा देव नरत्न के द्रष्टा हैं मानवता की पहिचान रखते हैं अपलक दृष्टि से सबको देखते हैं पूजनीय हैं और बृहत् अमृतत्व का उपभोग करने वाले हैं । ज्योति इनका रस है अर्थात् बाह्य है । ज्योति के यान पर चढ़े हुये ये स्वप्नस्थ पति से सभी विद्याओं में बिहार करते रहते हैं । इनकी प्रज्ञा कभी हीनता को प्राप्त नहीं होती । ये अनामस अर्थात् पाप से सर्वत्र पुष्क रहते हैं । इनका शरीर प्रकाश का शरीर है । 'वशिरे दिविसर्ग' के ही लोक के निवासी हैं । यौसोक ही इनका निकेतन है ।

मन्त्र में मुक्तात्माओं की जो विशेषतायें वर्णित हुई हैं उनमें प्रकाश की प्रमुखता है । विकास के स्तरों में जब सामक प्रज्ञा लोक में पहुँचता है तो स्वयं प्रकाश बन जाता है । सामान्य साधक इस स्थिति में पहुँच कर गिर जाते हैं, परन्तु जिसकी सूक्ष्म बुद्धि बन घसी वह गिरता नहीं बही स्थिर रहता है । इसीलिये मुक्तात्माओं को अ+हि+माया—कहा गया है । माया का अर्थ प्रज्ञा है । नहीं होती हीन जिनकी प्रज्ञा अर्थात् जिनके अन्तर प्रज्ञा का प्रकाश सर्वत्र बना रहता है, वे ही दिव्य आत्मा मोक्ष पथ के अधिकारी बनते हैं ।

प्रकाश में विचरण करना ही स्वाधीन बनना है । जो व्यक्ति प्रकाश-विहीन है, उसका वर्तन तथा आचरण खबूरे रहेंगे । विश्व में मैं अनेक पदार्थों को देखता हूँ

परन्तु उन पर दृष्टिमात्र जाती है। ऊपरी परत कुछ-कुछ दिखाई पड़ता है, परन्तु वह दृश्य पदार्थ वस्तुतः क्या है उसकी अन्तराल्या में कौन सा तत्त्व विद्यमान है यह दृष्टि मोक्षर नहीं हो पाता। इसी प्रकार मैं जो कुछ करता हूँ सामान्यतया उसका भी मुझे सम्यक् बोध नहीं होता। जब तक मेरा वर्तन तथा कर्तृत्व विचार-मूल्य हैं और प्रकाश की परिधि से बाहर हैं तब तक उनका होना और न होना बराबर है।

प्रकाश में सब वस्तुएँ अपने वास्तविक रूप में दिखाई देती हैं। प्रकाश में मैं जो कुछ करता हूँ उसका मुझे सम्यक् बोध होता है। अन्धकार में स्थिति इसके विपरीत होती है। मानव अपने वैयक्तिक व्यवहार में प्रायः अन्धकार में ही भटकता रहता है। विरल हैं वे मानव जो प्रकाश में विचरण करते हों। प्रकाश की उपलब्धि साधना की अपेक्षा रखती है। शिक्षित होकर घटी-बनकर, उप और यत्ना से समन्वित होकर जो सामक प्रकाश की ओर बढ़ते हैं वे मोक्ष की ओर उन्मुख हैं और स्वाधीनता प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

मोक्ष का अर्थ है 'छूटना'। किमसे छूटना? पापों से बन्धनों से आवरणों से जो न जाने कब से आत्मा को आवृत किए हैं। ये आवरण तीन प्रकार के हैं। सामान्य इन तीनों पापों से मुक्त होने के लिये प्रभु से प्रार्थना करता है —

उद्धर्तमवयव पापमस्मद्वार्षर्षि विमम्यन् अवाय ।

अथा वयमाधिर्य ज्ञते तवानापसो अक्षितये त्याग ॥

प्रभु आप बरब हैं, बरणीय हैं सर्वोपेक्ष हैं। आप ही पापों के वर्जक हैं विष्णु के निवारण करने वाले हैं। मेरे विष्णुओं को भी दूर कर दो मेरे बारकों आकाशदकों का निवारण कर दो। मैं विष्णुवाचा-विहीन परिस्थिति में कल्याण पथ का पक्षिक बन सकूँ। नाथ! परिस्थिति-जन्य विष्णुओं के साथ कुछ पापों ने भी मुझे बाँध रखा है। इन पापों से मुझे छुड़ा दो। वे पाप उत्तम मध्यम तथा अधम कोटि के हैं। इन्होंने मुझे पापी बना दिया है। अधम पाप उमोगुण का है जो मेरे कर्तृत्व पथ में बाधक बनता है। मध्यमपाप रजोगुण का है जो मुझे अनुचित उपदेश का आवेष्ट बनाए हुए है। उत्तम पाप सत्वगुण का है जो मुझे अविमान में मग्न करता है। इन तीनों पापों से आप ही मुझे छुड़ा सकते हैं। इन पापों के कारण मैं अद्विती की अवस्था को अनुभव करने से वंचित हो जाता हूँ। अण्ड-खण्ड अनुभूतियों का पात्र बनकर मैं व्यापक अनुभूतियों से दूर पड़ा रहता हूँ। यह स्थिति मुझे ज्ञत से पराङ्मुख कर देती है। हे आधिर्य! मुझारे ज्ञत से बाहर रहकर मैं प्रकाश की युमिका में नहीं पहुँच पाता और इसी हेतु अखण्डता की अनुभूति से पराङ्मुख रहता हूँ। कभी इस खण्ड में कभी उस खण्ड में कभी इस क्षेत्र में कभी उस क्षेत्र में कभी इस योनि में कभी उस योनि में चक्कर काटते-काटते मैं निरान्त परवश एव खीन बन गया हूँ। परवशता के बपेड़े खाते-खाते ऐसी दुर्बला में पहुँच गया हूँ जो अब असहनीय एकाग्र असहनीय सिद्ध हो रही है। मुक्त करो हे बरब! मुक्त करो प्रकाश को। हे आधिर्य प्रकाश दो।

मां अरिति । मुझे असह्यता की ओर से पसी ।

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड में वसुध सूक्त का नाम पात्र मोचनम् है । इसमें षाठ मन्त्र हैं जिनमें प्रथम मन्त्र परवर्ती सात मन्त्रों में प्रथम पंक्ति के आचिन्म के साथ रखा गया है । यह मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

ओमिपास्वा मिच्छत्या जामिस्तारु ब्रुही मुग्धानि वक्ष्यस्य पासात ।

अनापसं ब्रह्मणा वा कर्णोमि शिमे ते चावा बुचिषी उमेस्ताम ॥

अगर हम प्रकाश की चर्चा कर चुके हैं । आध्यात्मिक विकास में प्रज्ञा की उपलब्धि प्रकाश की उपलब्धि है । प्रज्ञा स्वकम्पित विशुद्ध ज्ञानमयी है । ज्ञान प्रकाश ही है । सांसारिक पदार्थों का ज्ञान विज्ञान नाम से प्रसिद्ध है । विज्ञान का अर्थ ही है विविध रूपा सृष्टि का ज्ञान । इसके विपरीत ज्ञान आत्म-ज्ञान है । एक में परिधि शेष बनती है, द्वितीय में केन्द्र अर्थात् आत्मा । सृष्टि का विज्ञान भी हमें आत्म-ज्ञान तक ले जाता है जैसे ही जैसे परिधि का एक-एक बिन्दु केन्द्र की ओर प्रतिगति द्वारा पहुँच जाता है । अगर उद्धृत मन्त्र में ब्रह्म अर्थात् ज्ञान द्वारा निष्पाप बन जाने की प्रतिज्ञा वर्णित हुई है । मयवर्णनीता के अनुसार क्षमाभिः सर्वं कर्माणि वस्मसात् कुर्वतेऽर्जुन । अथवा सब ज्ञान प्लवर्णवर्णविभं सन्तरिप्यति । ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है । ज्ञानरूपी मोका पर चढ़कर हम पाप रूपी सरिता को पार कर जाते हैं । कर्म चाहे सत् हो अथवा असत् भोगमूढि को उत्पन्न करता है । अतः कर्म का फल पुत्र मोम है । सत् कर्म मुख के उपभोग की ओर ले जाते हैं । आत्मा इन दोनों से निरलिप्त है । वह चैतन्यमयी तथा ज्ञानमयी है । ज्ञान का सम्पादन ज्ञान रूपी सूर्य की एक-एक किरण ज्ञान-जगति की एक-एक क्वासा आत्म तत्त्व का व्याख्यान है । अतएव मात्र में ज्ञान को अनागत अथवा निष्पाप बनाने का जो साधन कहा गया है वह निदान्त उपमुक्त है । यदि मैं ज्ञान द्वारा निष्पाप बन गया हूँ तो चावा और पृथ्वी दोनों ही मेरे भिये कस्यापकारी सिद्ध होंगे । मन्त्र में वक्ष्य के पात्र से मुक्त होने का भी उल्लेख है । यह पात्र ओमिप मिच्छति ब्रुह तथा बन्धु-बान्धवों के अनुचित पक्षपात से सम्बन्ध रखते हैं । मिच्छति शब्द कष्ट की अवस्था है । इसका एक व्यापक रूप है और दूसरा ओमिप । मन्त्र में ओमिप मिच्छति का अर्थ है जिसे व्यक्तित्व सांसारिक व्यापक कहा जा सकता है । अपने बन्धु-बान्धवों का अनुचित संसल मानव में पाप की वृत्ति उत्पन्न करता है अतः परित्याग्य है । यह ब्रुह की ओर भी ले जाता है । यदि मैं अपने बन्धुओं का अनुचित पक्षपात करता हूँ तो स्वभावतः अन्य व्यक्तियों के द्वेष का भाजन बनता हूँ । और जब अन्य व्यक्ति मुझसे द्वेष करने लगे तो प्रतिश्रिया रूप में मैं भी उनसे द्वेष करने के लिये बाध्य हो जाऊँगा । यह स्थिति क्रिया और प्रति क्रिया के रूप में अत्यन्त अमानव रूप कारण कर सकती है । ज्ञान इस प्रकार के रोगों की एक मात्र औपधि है । अतः ज्ञानाग्नि मुक्ति की उक्ति प्रख्यात ही है । विद्या

मृतमस्तुते' बिद्या या ज्ञान अमृत स्वरूप मोक्ष का प्रवाता है ऐसा वेद स्वयं कहता है । निष्क्रान्त मग्न में मृत्यु से मुक्ति पाने तथा अमृत को उपसब्ध करने की प्रार्थना वर्जित है -

व्यम्बकं यजामहे सुयन्त्रिभुं पुष्टिं वर्धनम् ।

सर्वाङ्गमिव ब्रह्मणात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

हे व्यम्बक ! हे त्रिनेत्र ! हे सर्ववर्धी ! आप ओमन मग्न बाने हैं । आपका यज्ञः सौरम अतुल्य विकीर्ण हो रहा है । सूर्य की रश्मियाँ आन्धमसी घबरा ज्योत्स्ना, सदा की अदक्षिमा सारकावलि की क्षिप्रमिसाहट पुष्पों का विकास सभी तो आपका पुष्पानुवाद कर रहे हैं । महिमामय महापुरुष मनीषी विप्र, विपश्चित्त जब अपनी अपनी सौम्य ब्राह्मण्यों में भाव अभिमानों में विचार-वैमत्य में अनासक्त कर्मकाण्ड में आपके ही बिस्व का वर्धन किया करते हैं । आप ही पोषक-प्रवाता ॥ प्रवाता ही नहीं, उसका सर्ववर्धन करने वाले हैं । जैसे फर्कटी (खरबूजा) का फल पकने में स्वतः बृन्त से पुष्पक हो जाता है वैसे ही हे देव ! मुझे मृत्यु के बन्धन ॥ छुड़ा दो और अमृतमायी बना दो ।

अथर्व १९-४२-३, ४ तथा ऋग्वेद १०-६३-९ में प्रभु को अंहोमुच कहा गया है । वास्तव में पाप से छुड़ाने वाला एक मात्र प्रभु ही है । जो स्वयं नित्य अमृत है, वही दूसरों को भी अमर बना सकता है । जिसके पास ज्ञानम्ब है वही दूसरों को ज्ञानम्ब दे सकता है । जीवार्त्ता सत् भित्ति से ही साध ही वह ज्ञानम्ब का भी अन्वितापी है । यह ज्ञानम्ब उसे नित्यानन्धी परमात्मा से ही प्राप्त होता है । दिव्यों के लिये सन्ध्या को उपासना को, जो वैदिक - यज्ञों में अनिवार्यता प्राप्त है उसका भी यही कारण है । हमारा ध्येय तीनों प्रकार के कु-बलों से छूटकर ज्ञानम्बमयी अमृत अवस्था को प्राप्त करना है ।

अथर्व ११.४३ में जाठ मग्न हैं और सभी मग्न एक ही आकांक्षा प्रकट करते हैं । साधक चाहता है- उसे भी वह अवस्था प्राप्त हो जो ब्रह्म वेत्ताओं के लिये सुख है । बीसा और तप से प्रमुख साधन हैं जो ब्रह्म वेत्ताओं को अमृत सौक में ले जाते हैं । इनके द्वारा मग्न जीवन होते हैं । मग्न और चिन्तन अभ्यास क्षेत्र में विचरण करने वाले साधक के अन्तर प्रज्ञा का उदय करते हैं । प्रज्ञा का यह प्रकाश आत्मा और अनात्मा की प्रतीति को सुलझाता है । प्रज्ञा में प्रविष्ट हुआ साधक प्रभु के अनुग्रह से आरम स्वप्न में प्रतिष्ठित होता है और मोक्ष फल का भागी बनता है । निष्क्रान्त मग्न में साधक की मोक्षाकांक्षा स्पष्टतः प्रकट हो रही है । —

यत्र ब्रह्म बिबो याति बीसमा तपता सह, ब्रह्मा मा तत्र वयत्तु ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मातु मे ।

तप और बीसा के साथ ब्रह्मवेत्ता जिस सौक में जाते हैं, ब्रह्मा मुझे वहीं पहुँचा दे । ब्रह्मा मेरे अन्तर ब्रह्म की चरण करे । ब्रह्म ज्ञान है । ज्ञान अनन्त है ।



ब्रह्म का अर्थ ही महान तथा अनन्त है। जब तक धीवरीयों वहाँ से गया हुआ अपने को स्वल्प रूप में अनुभव करता है तब तक वह ब्रह्म—प्रसिद्ध है। इन ब्रह्मों से मुक्त होते ही उसे आत्म स्वरूप की विज्ञानता भासित होने लगती है। यही ज्ञान है। अज्ञान उसे प्रकृति से हटा कर ब्रह्म की ओर से जाता है। इस ब्रह्म को ज्ञान कहिये आत्मस्वरूप कहिये अथवा सबसे ऊपर परमपद का नाम भीजिये बात एक ही है। जैन जिस अर्थ अथवा में पहुँचते हैं वीथ जिये प्रज्ञा पारमिता का नाम देते हैं असतवादी जिसे शून्य कह कर पुकारते हैं बौद्ध धर्मावलम्बी उसी को ब्रह्म साक अथवा मोक्ष का नाम देते हैं। इस मोक्ष की आकांक्षा हम सबके अन्तर स्वभावतः निहित है। नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति भी दुःखों से छूटना चाहता है। मोक्ष का अर्थ ही छुटकारा है। तीनों प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधि वैदिक और आधि भौतिक) से छूट जाना हम सब के जीवन का एक मात्र ध्येय है। यजुर्वेद के चामीसर्वे अध्याय में ब्रह्मों से छूट जाने के पश्चात् एक भावार्थक अवस्था का भी उल्लेख हुआ है। दुःखों से छूट जाना एक बात है, परन्तु आनन्द की उपलब्धि कर लेना उसके उपरान्त की अवस्था है। मन्त्र इस प्रकार है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वैशोमयं तद् ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सन्मृत्यामृतमश्नुते ॥

यह मन्त्र सम्भूति और असम्भूति की त्रिपुटी का तीसरा मन्त्र है। इसी प्रकार का एक मन्त्र यजुर्वेद के इसी अध्याय में विद्या और अविद्या की त्रिपुटी के अन्त में आता है— विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वैशोमयं तद् ।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा, विद्यायामृतमश्नुते ॥

असम्भूति को विनाश की संज्ञा भी गई है। यह विनाश प्रकृति से सम्बन्ध रहता है। हमें प्रकृति से पृथक् होना है। पार्थिव तयाप अथवा विनाश द्वारा ही होता है। सम्भूति भावात्मक अवस्था है। उसका अर्थ ही सम्पन्न अस्तित्व अथवा सुख सत्ता है। आत्मा प्रकृति से छूटकर ही अपने मुख्यस्वरूप में अवस्थित होता है। अविद्या का अर्थ है विद्या से व्यतिरिक्त कर्म और उपासना। प्राकृतिक शोष कई साधनों से क्षीय होते हैं। कर्म और उपासना उनमें प्रमुख है। मन्त्र में इसीसिधे कहा गया है कि अविद्या वर्णात् कर्म और उपासना द्वारा साधक मृत्यु को पार कर जाता है। मृत्यु का जब विविध प्रकार की योगियों में जाना-जाना है। मानव यानि चौदावीं शाल योगियों के पश्चात् प्राप्त होती है, परन्तु इस योगि में भी कई स्तर हैं जिनमें जन्म और मृत्यु का आवागमन तब तक होता रहता है जब तक मानव देवत्व को प्राप्त न कर ले। देवत्व प्रकाश का दोस्तक है। यह प्रकाश जब स्थिर हो जाता है तब उसे वेद के सन्तों में अन्न प्रयोगि,

उत्पन्न सूर्य अथवा उर ज्योति कहा जाता है। मृत्यु को पार करके यह अक्षर ज्योति आत्म ज्ञान द्वारा ही उपलब्ध होती है। जो आत्म ज्ञान तक नहीं पहुँचा, आत्म स्वप्न में स्थित नहीं हुआ यह अमृतमयी अथवा उर के आत्म की वस्तु नहीं है। अथर्व वे १२वें काण्ड के ४६वें सूक्त में अग्नि वायु, सूर्य चंद्र सोम इन्द्र आप तथा ब्रह्म नामों द्वारा एक विशेष क्रम का उद्घाटन किया गया है। इस क्रम की निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है।

अग्नि का स्थान सर्व प्रथम है। यह अग्नि मेधा प्रदान करती है। अग्निवां कहें हैं परन्तु अतन्वाग्नि इन अग्निवां में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यही मेधा की जननी है। इसी के द्वारा धन्य और मनन अपना वनता है अर्थात् आत्म छात् होता है। उस पर अपनी छाप लग जाती है। वह पुत्रों का अथवा उधार लिया हुआ नहीं जान पड़ता। आध्यात्मिक विकास के लिये यह प्रथम सीढ़ी है। अग्नि के उपरान्त वायु का स्तर आता है। वायु प्राण प्रदान करती है। प्राण आत्मा की ही छाया है और मेधा से पूर्वस्थिति रखता है। मेधा प्राण के आश्रय से ही अमिष्यक्त होती है। प्राकृतिक सर्व में भी यही क्रम है। प्रकृति का प्रथम स्थान ही प्राण है। महत् तत्त्व जो मेधा और बुद्धि का व्यापक कोष है प्राण अक्षि के उपरान्त ही आविर्भूत होता है। इसके पश्चात् सूर्य तत्त्व आता है जिससे अक्षु अर्थात् दर्शन शक्ति प्राप्त होती है। वर्धन इष्टा के साथ रहता है। इस वर्धन में प्रकृति और आत्म तत्त्व पुनः पुनः भाषित होने लगते हैं। सूर्य के पश्चात् अन्न आता है। अन्न मन प्रदान करता है। यह मन अन्न का आस्वाद का जनक है ऐसा मुख्य सूक्त में कहा गया है। इसके पश्चात् सोम का स्थान है जो पय अर्थात् रस का प्रवाह है। रसो वै स बह कर तत्तिरीय उपनिषद् ने जिस रस का नाम लिया है उसी की संज्ञा पय है। अथर्ववेद भी १८ । १ । ४८ में प्रभु को मधुमान तथा रसवान कहता है। इस रस से भी अन्न इन्द्र है जो इन्द्रियों का वेदों का अधिपति है। वेद इस रस का आस्वादन करते हैं परन्तु अभी अब इन्द्र का बस उनके साथ हो। आत्म बल की अनुपस्थिति में रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता। वेद ने अपां सोमं अमृता अमृत कह कर जिस सोम पान का वर्धन किया है वह यही रस है। आत्म बल के ऊपर आप शक्ति है। यह व्यापक भूमा अवस्था की घोषिका है जिसे हम मोक्ष कहते हैं। उसकी व्यापकता की अनुभूति इसी आप अवस्था में होती है। अन्तिम स्तर पर ब्रह्म आता है। ब्रह्म-जीवता विरल साधकों की प्राप्तव्य भूमि है। इस जग पर यदि पाठक पम्पीरता से विचार करेंगे तो उन्हें विविध साधना भूमियों के सामन्व्यस्य का निश्चित आभास प्राप्त हो सकेगा। मोक्ष हमारे अतुल्य मं अन्तिम तत्त्व है और मानव जीवन का सर्वोत्तम सरव है। इसी तत्त्व की प्राप्ति के लिये हमारे निश्चित साधन-समुदाय हैं।

## ५ । संस्कृति तथा काण्डत्रय

### क त्रिगुणात्मक जगत् और काण्डत्रय

जगत् त्रिगुणात्मक है। उसी के समानान्तर मानस भी तीन धाराओं से संवसित है। संचारम की ब्रह्मण्य सृष्टि चिति के क्षेत्र में तीन काण्ड बांटी बनती है। वहां तक प्राकृतिक जगत् का सम्बन्ध है वह सत्त्व रज तथा तम से मोत प्रोत है। पारलम्य अवलम है जिसके अनुसार कहीं सत्त्व का आधिपत्य है कहीं रज का और कहीं तम का, परन्तु अपनी स्वल्प-बहुत भागा में वे सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रकृति से चिति के क्षेत्र की समानान्तरता का जब हम प्रतिपादन करते हैं तब तीन काण्डों में ज्ञान सत्त्व के आधित है और कर्म रज के आधित है। उपासना का किमारायक अंश भी कर्म के ही साथ है परन्तु अपने अद्वैत रूप में वह तम की निष्क्रियता से सम्बन्ध हो जाता है। जैसे अद्वैत के आत्म समर्पण में ब्रह्मण्य का प्रभाव दूर हो जाता है जो निश्चित कर्म ज्ञान की बननी है तम में भी वही ही शुन्यता अवलम अभावात्मकता रहती है।

### ख ज्ञानकाण्ड

तीनों काण्डों में सर्व प्रथम ज्ञान का स्थान है। वर्णभासा में यह 'अ' अक्षर द्वारा सूचित होता है। प्रकाश में जैसे अस्तित्व का भाव होता है वैसे ही ज्ञान में भी। सत्ताओं पर दृष्टि जाते ही उनको समझने की इच्छा आघत होती है। विज्ञासा इसी का नाम है। ज्ञान की इच्छा के प्रतिफलित होते ही ज्ञय के ग्रहण की अभिसाया उत्पन्न होती है। ग्रहण कर्म का सूचक है। ज्ञान और क्रिया दोनों का सम्मिश्रित परिणाम उपासना है। इसमें ज्ञानत्व का उपभोग अवलम रज का आस्वादन उपस्थित रहता है।

ज्ञान दो प्रकार का है— एक ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखता है दूसरा आत्मतत्त्व से। ब्रह्माण्डीय ज्ञान को हम विज्ञान कह सकते हैं और आत्मज्ञान को विमुक्त ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। ब्रह्माण्ड और रिण्ड दोनों एक दूसरे के प्रतिकर हैं। हमारे पूर्वजों ने ब्रह्माण्ड को समझने के लिये रिण्ड के अध्ययन को ही पर्याप्त माना था और कहा था 'अनुविण्डे तद् ब्रह्माण्डे'। ऐतरेय उपनिषद्द्वारा ने पुनः को समझ दृष्टिों में सर्वोच्च स्थान दिया है। 'पुरवो जाय नृहत्तम्' पुनः सर्व क्षेत्र रचना है, क्योंकि उसमें ब्रह्माण्ड के सभी अंश विद्यमान हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, दिशाएं, अमृति, धी,

सूक्ष्म आदि सभी अंशकारण रूप से पुरुष के शरीर में विद्यमान हैं। अतः पिण्ड का ज्ञान यदि हो गया तो उससे समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को हम जब विज्ञान कहते हैं तब उसका अर्थ होता है विभिन्न वस्तु का ज्ञान। सृष्टि विविधरूपा है, यह प्रत्यक्ष का विषय है। इसका विज्ञान हमें इसके रचयिता की ओर से जाता है। सृष्टि में निहित व्यवस्था तथा सप्रयोजनता एक ऐसे मस्तिष्क की सूचना देती है जो सर्वज्ञ नित्य और सर्वशक्तिमान है। विज्ञान द्वारा जब हम सृष्टि-वर्तों की ओर अपना ध्यान से जाते हैं तो प्रकृति नहीं, चित्ति का मन में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह चित्ति अथवा चैतन्य आत्माविध है। आत्म ज्ञान समस्त विज्ञान के मूल में निवास करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान प्रकाश है परन्तु वह भौतिक प्रकाश से भिन्न है। भौतिक प्रकाश प्राकृतिक पदार्थों को ही दिखता सकता है, आत्मा को नहीं। कठोपनिषद्कार इसी लिए कहता है —

‘न तथा सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् वैसा विद्युतो भास्ति कुतोऽग्नयः ॥

आत्म प्रकाश के समस्त सूर्य चन्द्र आदि का प्रकाश नश्य है। अवि जाने कहता है —

तमेव मानसमनुभाति सर्वान् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ आत्म प्रकाश से ही इन भौतिक सूर्यादिकों को प्रकाश प्राप्त होता है। इन उक्तिमें मैं दोनों प्रकाशों की समरूपता ध्वनित हो रही है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। दोनों प्रकार के प्रकाशों में आकाश पाताल का अन्तर है।

ज्ञान प्रकाश है परन्तु वह आत्मरूप प्रत्यक्ष से पृथक् है। उसे हम मानस प्रत्यक्ष कह सकते हैं। मानसिकता चेतनता का क्षेत्र है। ‘सग्रेमन विष संकल्पमस्तु’ डेक वाले छ. मन्त्र मन का विमल विस्मेषण प्रस्तुत करते हैं। इनमें मन को ज्योतिः प्रज्ञान, चैत सृष्टि भूत-सन्निध्य तथा वर्तमान का ज्ञाता ज्ञानेश्वरों का प्रेरक वेद — निधि तथा गर्व का भेदा कहा गया है। चेतनता, सज्जानता प्रकाशरूपता भौतिक प्रकाश नहीं है। चित्ति का यह क्षेत्र विकारान्तरक है और इसीलिए हम उसे प्राकृतिक विषु आत्मकता के समानान्तर रखते हुये भी भिन्न मानते हैं। एक स्थान पर प्रकृति का प्रपञ्च है तो दूसरे स्थान पर आत्मा की असंगता एकता तथा केन्द्रियता। एक विविधरूपा है तो द्वितीय में एकरूपता है। एक में परिधि है विस्तार है तो द्वितीय में अनेक। विज्ञान और ज्ञान इन्हीं दोनों वस्तुओं को प्रकट करते हैं।

सृष्टि विद्या प्राण विद्या तथा आत्म विद्या अग्नेय के अधमर्पण सूक्त पुरुष सूक्त नासदीय सूक्त अस्पृश्यामीय सूक्त आदि में विशाल रूप में वर्णित हुई है। सृष्टि विद्या के विभिन्न अंगों का वर्णन भी वेद में हुआ है। जगत में तीन प्रकार के तत्त्व सृष्टिगोचर होते हैं यिनका संस्मरण निम्नान्वित ऋचाओं में हुआ है —

इा सुपर्णा सयुष्मा सक्वाया समानं ब्रूत परियस्यजाते । १ - १

तयोरप्यपि पिप्पल स्वाधु अति अमङ्गलम अग्नौ अग्निबाहसीति । १ ।

बालादेकमणीपरकं उत्तकं मेघ वृक्षमते ।

ततः परिध्वजीवसी देवता सा ममप्रिया । २ । ।

वो सुन्दर उड़ने वाले पक्षी हैं । वे परस्पर समुदा और सदा हैं । दोनों एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं । इनमें से एक वृक्ष के फल को स्वाद लेकर खाता है । दूसरा देखता है चांदी भाग है परन्तु फलों को नहीं खाता है ।

यहाँ वो पक्षी जीव और परमात्मा है । संसार वृक्ष के रूप में है । जीवात्मा कर्म करता है और सुख-दुःख रूप में प्राप्त फलों को भी भक्षता है । परमात्मा इस बात में जीव से मिल है । वह अनन्त कर्मा है परन्तु फल भोग से वृक्ष है । जीवात्मा फल भोगने में परमात्मा के अधीन है । प्रभु ही उसे स्वाध-स्वधस्वा में कर्मों का फल देने वाले हैं । वे सबके ऊपर हैं । उनके ऊपर कोई भी नहीं है ।

तीन तत्वों में प्रकृति के परमाधु नाम से भी अधिक सूक्ष्म हैं । दूसरा तत्व जीवात्मा है जो सत्तावान है परन्तु उसकी सत्ता भावा की अपेक्षा नहीं रखती । उसे अंशुष्ठमात्र कहा अवश्य पया है परन्तु यह कश्चन हृदय के अंशुष्ठमात्र होने के कारण है क्योंकि वही जीवात्मा का विशिष्ट निवास स्थान है । जीवात्मा की भावा न इस नहीं जैसी है । इन दोनों से भी उत्कृष्ट तत्व परमात्मा है जो इन दोनों को सब ओर से व्याप्त किए हुए है । यही देवता मेरा और सबका प्याप है ।

प्रकृति को वेद में कई नामों से अभिहित किया गया है, यथा पृथिवी स्वभा उच्, अविनि जन्मा आवि । समग्र ब्रह्माण्ड प्रकृति द्वारा ही निर्मित होता है । प्रकृति उसका संपादन कारण है । परमात्मा निमित्त कारण है । जीवात्माओं को जो नदीर प्राप्त होते हैं वे भी प्रकृति के परिणाम हैं । ये नदीर दिखाई देते हैं परन्तु जीवात्मा दिखाई नहीं देता । निम्नांकित श्रुति में इसी भाव को प्रकट किया गया है -

अप्राक् प्राक् एति स्ववया पुत्रीत अमर्त्यो मर्त्येना सयोवि ।

ता तत्त्वस्ता विपुत्रीना विमन्ता व्यम्यम्भिरपुः न निभिरपुःरम्यम् ॥

जीवात्मा प्रकृति से पकड़ा हुआ कभी नीचे जाता है और कभी ऊँचे । दुष्कर्म भोग-वासना और कुत्सित कामनाएं उसे पतन की ओर ले जाती हैं । पुण्यकर्म सद् भावनाएं और सत्संस्कार उसे ऊर्ध्व लोकों में ले जाते हैं । जब तक जीव के साथ प्रकृति का प्रेम विद्यमान रहता है तब तक वह कर्म-बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता । प्रकृति के साथ वह कर्म से बँधा है इसे कोई नहीं बागता । सार्वत्रिक पाशों में बाबद्ध जीवात्मा माना प्रकार की योनियों में जाता है और नागा प्रकार के लोकों में भ्रमण करता है । नदीर को सब कोई देखते हैं परन्तु मात्मा को कोई भी नहीं देख पाता । जिस क्षण जीवात्मा प्रकृति को छोड़ देता है वो उसके अस्पष्ट निष्कट है और प्रभु को देख सेता है जिससे अधिक समीप अन्य कोई भी वस्तु नहीं है उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है ।

इदंसारम् नहि तत्त्वजराय वर्धति चर्चं परिधामुतस्य

मापुत्रा अग्ने मिबुनासो अत्र सप्त सतामि विवसिष्व तस्य ॥

ऋत का एक चक्र है जिसमें द्वादश अंग सजे हुए हैं । इसे कभी अष्ट व्याप्त नहीं होती और यह चाचा के चारों ओर बार बार घूमता रहता है । इसके पुनरुप में साठ ही बीस युग्म हैं ।

ऋत का यह चक्र प्रकृति का ही चक्र है । ऋत प्रकृति के प्रथम स्पन्दन का नाम है । यह गत्यात्मक है । इसी का जोड़ा सत्य है जिसे सत्तात्मक अथवा स्थिति परक सत्य कहा जाता है । साठ ही बीस जोड़े परमाणुओं के जोड़े हैं । दिन और रात भी सर्व भर में साठ ही बीस ही होते हैं । परमात्मा का वर्णन अनेक मंत्रों में पाया जाता है । निम्नांकित मंत्र देखिये —

अनुत्तमा ते मयवन्त किनु न स्वादां अस्ति ईवता विद्वानः

न ज्ञायमानो नवन्ते न काशी यामि करिष्या ह्यनुहि प्रबुद्ध ॥

प्रभु ऐश्वर्यवासी हैं । विश्व में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो उनसे अपेक्षित हो । प्रभु के समान कोई दाता भी नहीं है । दिव्यता में परमात्मा सर्व श्रेष्ठ है । प्रभु जो भी करते हैं और जो कुछ करेंगे उसे उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों में से कोई भी नहीं जान पाता । निम्नांकित मन्त्र भी प्रभु के गुणों पर प्रकाश डालता है —

विष्माहि स्वा सुवि कूर्मिन् सुविदेव्य सुवीमघम् ।

सुवि भावमयोमि ॥

प्रभु अनन्त पराक्रमी, अनन्तशक्ती और अनन्त ऐश्वर्यवासी हैं । उनकी रक्षण शक्तियाँ भी अनन्त हैं ।

सृष्टि विद्या बरीर विद्या आवि से सम्बन्धित अनेक सूक्त वेद के अन्तर्गत हैं । पुरुष सूक्त के अनुसार सूर्य चन्द्र भूमि अन्तरिक्ष आवि सबका जगता परमात्मा ही है । सूर्य एक नहीं अनेक हैं । हमारे क्षीरमण्डल का सूर्य सभी ग्रहों का अप्रभ है । अज्ञान होने के कारण वह अन्ध सभी के लिए तप रहा है । उसे ज्ञानकान्ति प्राप्त है । जो व्यक्ति इस कान्ति को प्राप्त करना चाहता है, उसे सूर्य के समूह ही परहित में निरन्तर निरत होना पड़ेगा ।

अथर्ववेद में अध्यात्म सम्बन्धी कई सूक्त हैं जो अयोधस काण्ड के अन्तर्गत हैं । द्वितीय सूक्त का निम्नांकित ३२वाँ मन्त्र अध्यात्म विद्या के लिए प्रख्यात है —

ब्रह्माह्वयम् धियतो अस्थ पशौ हरेर्हृत्स्य पततः स्वर्गम् ।

सदैवानुत्सर्गान् उरति उपपद्य सम्पद्यन् याति भुवनानि विद्या ।

इस मंत्र में आत्मा को हंस कहा गया है जो सहासों दिनों से अपने दोनों पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ रहा है । वहाँ जाना है इसे ? कहते हैं इसकी उड़ान में स्वर्ग की कामना भरी पड़ी है । आवश्यक यह है कि यह स्वर्ग जाना चाहता है और नाता प्रकार के भुवनों में घूम रहा है, परन्तु जहाँ इसे जाना है जिस स्वर्ग की इसे उपलब्धि करनी है वह स्वर्ग और उस स्वर्ग की दिव्य शक्तियाँ सभी इसके अन्तर विद्यमान हैं ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सूक्त संख्या ७१ ज्ञान वाण के विवेचन के सिधे सर्वप्रसिद्ध सूक्त माना जाता है। अपनी वेपथ्वं वंशिका में इस सूक्त की हममें विस्तृत व्याख्या की है। इस सूक्त में बार बेह और उनके विषयों का जो संकेत उपलब्ध होता है वह सांस्कृतिक विकास में अपना पृथक् महत्त्व रखता है। ऋग्वेद स्तुतिमें द्वारा पदार्थ के गुण दोष—विवेचन के द्वारा ज्ञान को पोषण प्रदान करता है। सामवेद मान से सम्बन्ध रखता है, जो मन को एकाग्र करने के लिए उत्कृष्ट साधन है। मन की एकाग्रता साधक को स्पष्ट ज्ञान के समीप उपस्थित कर देती है। यजुर्वेद यज्ञ की भाषा को मापने वाला है। यज्ञ प्रोत्तम कर्म है। यह यज्ञ ज्ञान से बेपरीत्य नहीं रखता ज्ञान के अनुरूप चलता है। अथर्ववेद अविषम स्थिति का चोकर है। ब्रह्मा से इसका सम्बन्ध है। ब्रह्म का अर्थ है बड़ा महान। जो बितना ही अधिक बड़ा है वह उतना ही अधिक अविषम है। आत विद्या अर्थात् उत्पन्न हुए जगत् की विद्या तथा प्रसिद्ध आर्य विद्या अथर्ववेद की ही विशेषता है। यज्ञ कर्म में होता ऋग्वेदी अथर्ववेद यजुर्वेदी उद्गाता सामवेदी और ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। इस सूक्त का एक मंत्र नीचे उद्धृत किया जाता है —

हृषा तप्येयु मनसो अवेयु यद्वाह्यम् सर्वजन्ते सप्ताय ॥

अत्राह त्वं वि जगुवेद्यामि रोहब्रह्मणो वि जरत्यु स्वे ॥

ज्ञान-मनी ब्राह्मण परस्पर सत्ता बनकर हृष्य की शाप पर तेज किए मये मनन के बेगों में मिलकर चलते हैं। यह चलना पूजा संगति करण और दान तीनों भाव भावों से संरक्षित रहता है। ब्राह्मणों का मनन और उस मन के बेप किसी का अप मान नहीं करते प्रत्युत सत्कार भाव से मण्डित रहते हैं। वे किसी से रोह भी नहीं करते सबसे मिलकर चलते हैं और उनका मनन प्रसूत ज्ञान स्वार्थ में नहीं परार्थ में ही प्रमुक्त होता है। ज्ञान का लक्ष्य भी जन-कल्याण है। ज्ञान या विद्या ज्ञेय को शिक्षाकर अन्त में ज्ञेय से छूट जाती है। ज्ञेय नहीं केवल ज्ञान ही क्षेत्र रहता है। यह ज्ञान ज्योतिष्य ओह ब्राह्मणों में एक प्रकार का बैराग्य भर देता है जिसकी मस्ती में वे निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते हैं।

आयुर्वेद मनोविज्ञान परतत्त्व आदि के मन्त्र अथर्ववेद में और ऋग्वेद में ब्राह्मण से पाये जाते हैं। इच्छा शक्ति का प्रयोग अभिचार सम्मोहन मणि बन्ध आदि में विशेष रूप से परिमलित होता है। अथर्ववेद में इस विषय के अनेक मन्त्र हैं। पूजा का अनुग्रह जाहे वह शौकिकमुक्त हो अथवा आध्यात्मिक शक्तिपात के रूप में यजुर्वेद की सिन्धुशक्ति ऋषि में बधित हुआ है —

यदाकृतस्य सममुत्तीतु हवी वा मनसो वा संमूर्तं जस्यो वा ।

तदनुमेत सुकृताम् सोकं यज ऋषयो जप्नु प्रथमया पुराणा ॥

—यजु. १८। २५

लित्य मुह के समस्त उपस्थित है। मुह लित्य के अन्तर अपने संकल्प से प्रभाव

के पहले २४ वर्ष हैं। वसु इस सबन का देवता है। प्राण ही वसु हैं। २४ वर्ष की आयु तक किये गये कर्म ही व्यक्ति को वासन शक्ति, प्राण शक्ति से पूर्ण करने वाले हैं। मय्याह्न सबन जीवन के ४४ वर्ष हैं। अरु इस यज्ञ के देव हैं। प्रथम सबन वृद्ध करता है तो यह दूसरा सबन भोर परिभ्रम का समय है। पहला सबन योग्य बनाता है तो दूसरा सबन उस योग्यता के प्रयोग में प्रयुक्त होता है। अरु शक्ति रोगों, बिभ्रों, बाधाओं को हटाने वाली है और साध ही कसाने वाली भी है। कठिनाइयों का सामना करना और उन पर विजय प्राप्त करना अरु का ही कार्य है। तृतीय सबन का देवता आदित्य है। यह ग्रहण करता है कठिन परिभ्रम का फल देता है।

यहां मनुष्य सोक पितृ सोक और देव सोक हैं। सन्तान से प्रथम भुमकर्मों से द्वितीय तथा ज्ञान से तृतीय सोक पीता जाता है। यह सब पुण्यार्थ और कर्म की ही सीला है। ग्रह ज्ञान है, यज्ञ कर्म है और इन दोनों के मेल से सोक का निर्माण होता है अर्थात् सोक से नाम होता है कीर्ति फैलती है। कर्म न हो तो यह भी नहीं होता। जीवन कर्म पर ही अवलम्बित है। देव कहता है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि विब्रीहिदेव्यस्तं समा ।

एवं त्वमि नाभ्यपेतोऽस्ति न कर्म निप्यते नरे ॥

कर्म करते हुए ही सी वर्ष तक जीने की इच्छा करो। कर्म की रेखा कर्म से ही कटती है। कर्म करते हुए ही कर्म से निसिप्य रहा जा सकता है। चरैवेति चरैवेति यही एक मात्र ओपधि है जो जीवन के चरम गन्तव्य रूप स्वास्थ्य की प्रगती है।

कर्म की पति अतीव महान है, पर सवाचरण सुधीति, भुम एवं भद्र का अनुसरण मानव को उंचा उठा ही लेते हैं। सहजानु सुकृत चरेयम—हम पुण्य कर्मां होकर ही सहज वर्षों तक विश्व में विचरण करें। पुण्यकर्मों के लिये कृत-वीर्य बनना पड़ता है। हम वीर्य का सम्पादन करें। वीर्य खाये हुए अन्न का सत है निबोड़ है। हम अपने कमाये हुए अन्न का ही सेवन करें। परोक्ष का मक्षण पता नहीं किसे मन को बना देया और वह मन हमें कहाँ ले जायगा? अन्न की बुद्धि में सत्त्व की बुद्धि है और सत्त्व की बुद्धि में स्मृति विचलित नहीं होती प्रभु बनी रहती है। अतः सवाचरण के लिये अन्न-बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। भुमकर्म भुम अन्न के सेवन से ही निप्यत होते।

ज्ञान उत्कर्म का सहायक है। अज्ञान में मनुष्य अकर्म तथा कुकर्म तक कर जाता है। अतः देव कहता है संयुतेन मयेमहि स्तुता मया बरवा देवमाता, यह ब्रह्म अर्थ न सम्पन्नी चरतः सह पाकाय गृहो अभूतो विवेता ताम्बा मुदत्य देवमय कर्माणि कृष्महे, मंत्र-धुर्य परामसि सत्यस्य माव सुकृतमपीपरम आदि। भुति के अनुसार ही आचरण करना चाहिये। बरवायिनी देवमाता की स्तुति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके पवित्रता के पथ पर प्रयाण करना चाहिये। जहां ज्ञान और कर्म, ब्रह्म और सत्य मिस कर पसते हैं, वहीं पुण्य का क्षेत्र है। पवित्र बनने के लिये हमें स्तोता शुभ-ओष का साता बनना चाहिये। व्यापक तथा अव्यापक के रहस्य को जानकर ही



के पहले २४ वर्ष हैं। वसु इस सबग का देवता है। प्राण ही वसु हैं। २४ वर्ष की आयु तक किये गये कर्म ही व्यक्ति को वासन शक्ति, प्राण शक्ति से पूर्ण करने वाले हैं। मध्याह्न सबन जीवन के ४४ वर्ष हैं। उग्र इस यज्ञ के देव हैं। प्रथम सबन बुद्धि करता है, तो यह दूसरा सबन जोर परिश्रम का समय है। पहला सबन योग्य बनाता है तो दूसरा सबन उस योग्यता से प्रयोग में प्रयुक्त होता है। उग्र शक्ति दोनों विघ्नों, बाधाओं को हटाने वाली है और साध ही समाने वाली भी है। कठिनाइयों का सामना करना और उन पर विजय प्राप्त करना उग्र का ही कार्य है। तृतीय सबन का देवता आदित्य है। यह ग्रहण करता है कठिन परिश्रम का फल देता है।

यहाँ मनुष्य लोह त्रिभु लोह और देव लोह हैं। सन्तान से प्रथम कुमकर्मों से द्वितीय तथा ज्ञान से तृतीय लोह जीता जाता है। यह सब पुण्यार्थ और कर्म की ही सीमा है। ब्रह्म ज्ञान है यज्ञ कर्म है और इन दोनों के मेल से लोह का निर्माण होता है अर्थात् लोह से नाम होता है कीर्ति फलप्रीति है। कर्म न हो तो यज्ञ भी नहीं होता। जीवन कर्म पर ही अवलम्बित है। देव कहता है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि विबोधिन्नेष्टं समा ।

एवं त्वमि नाम्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। कर्म की रेखा कर्म से ही कटती है। कर्म करते हुए ही कर्म से निर्लिप्त रहा जा सकता है। चरैवेति चरैवेति यही एक मात्र मोक्षमार्ग है जो जीवन के वरम पशुस्य रूप स्वास्थ्य की प्रवर्तनी है।

कर्म की मति अतीव महान् है पर सवाचरणे सुवीति, नृम एवं भद्र का अनुसरण मानव को ऊंचा उठा ही देते हैं। सहस्राणु सुकृत वचरेयम—हमें पुण्य कर्मा होकर ही सहस्र वर्षों तक विश्व में विचरण करें। पुण्यकर्मों के लिये कृत-वीर्य बनना पड़ता है। हम वीर्य का सम्पादन करें। वीर्य खाय हुए अन्न का सत्व है निबोद्ध है। हम अपने कमाये हुए अन्न का ही सेवन करें। पराप्त का मक्षण पता नहीं किश मन को बना देना और वह मन हमें जहाँ ले जायगा? अन्न की सुखि में सत्व की सुखि है और सत्व की सुखि में स्मृति विचलित नहीं होती प्रभु बनी रहती है। अतः सवाचरण के लिये अन्न-सुखि अत्यन्त आवश्यक है। नृमकर्म नृम अन्न के सेवन से ही निष्पन्न होते।

ज्ञान सत्कर्म का सहायक है। अज्ञान में मनुष्य अकर्म तथा कुकर्म तक कर जाता है। अतः देव कहता है सं श्रुतेन ममैमहि स्तुता मया वरदा देवमाता, पय ब्रह्मच सत्रं च सम्पन्नी वरतः सह पाकाय पुस्तो अमृतो विद्येता ताम्या मुदृत्य देवमन्न कर्माणि कृण्वहे, मंत्र-पुण्यं वरामासि सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरम जावि। श्रुति के अनुसार ही आचरण करना चाहिये। वरदायिनी देवमाता की स्तुति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके पवित्रता के पथ पर प्रयाण करना चाहिये। जहाँ ज्ञान और कर्म, ब्रह्म और दात्र मिल कर चलते हैं वहीं पुण्य का क्षेत्र है। पवित्र बनने के श्रिय हमें स्तोता मुन-शोष का ज्ञाता बनना चाहिये। व्यापक तथा व्यापक के रहस्य को जानकर ही



मित्रग्य ज्ञानुपा समीक्षामहे ।

हम सब एक दुसरे को मित्र की दृष्टि में दर्जें मित्रग सामूहिक समुत्थान हो और मानव जाति संस्कृत बने बिकास तब पर आगे बढ़े ।

मानवता के बिकास में छ. शत्रु घोर बाधक हैं । इन शत्रुओं का दमन अभीष्ट है । ये शत्रु हैं —

धनकुर्यात् शुभमुकुर्यात् अहि इष्यात्तुमुत् कोर्यात्तुम् ।

सुपन्नयात्तुमुत् गृध्रयात्तु बुपदेव प्रमुच रत्न इन्द्र ॥

उल्लू प्रकाश से पकड़ाता है । उसे अंधकार ही अच्छा लगता है । इसी प्रकार जो मानव उल्लू के समान अज्ञान के साथी है वे अपने ही शत्रु हैं । शुभमुक भेड़िया कोभी होता है चाहे जिस पर झपट बैठ । जो मानव कोभी है हिंसक है वह भी समाज का शत्रु है । कुत्ता मरहरी अपने ही स्वयंओं का बरी होता है । बूखों के सामने दुम हिसाबेमा पर अपर कृते को देखते ही भूकने लगेगा । इसी प्रकार जो मानव अपनी के प्रति बैर रखे और बूखों के सामने झुके वह सभी प्रकार से निम्ननीय है । कोक चकवा-चकवी अपनी कामात्मता के लिए प्रस्यात हैं । कभी पुरुष भी काम के प्रभाव में बंधा-बहुरा बन जाता है । उसे अपना-मरणा पुष्प —अपुष्प, लाभ-हानि कुछ भी नहीं सूझता । सुपर्ण यक्ष है । यह अपने गर्व या अभिमान के लिए प्रसिद्ध है । अहंकारी मानव इसी सुपर्ण के समान अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता । गृध्र भालभी होता है बहुत ऊँचे आसमान में उड़ान मरते हुए भी सब पर इसकी दृष्टि वेग से पड़ती है । वेद कहता है इन पक्षिपुंजों को पत्थर के नीचे डालकर मरस दो जिससे फिर वे अपना फिर न उठा सकें । काम कोष लोभ मोह (अज्ञान) मात्सर्य और अभिमान मनुष्यत्व को मार डालते हैं । अतः इनके कुचल डालने में ही कल्याण है ।

दुष्कृतियों से पूरक रहकर सत्कर्मों का सतत संघर्ष करते रहना चाहिए । यही संस्कृत पुरुषों का धर्म है । स्वस्ति का पन्था दान अहिंसा तथा ज्ञानानुकूल आचरण का पन्था है । दिव्य शक्तियाँ जिस प्राणी को इस पथ पर सदा बेटी हैं जो धर्म-मर्यादा बनकर समस्त दुरिष्टों से पार हो जाता है सुनीति जिसकी सहयोगिनी बन जाती है उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाता । दिव्य में वह बहता है फसता-भूमता है, कीर्ति उसके नाम और काम को दिग्विजय में फैला देती है । ऐसा व्यक्ति बूखों के लिए आदर्श रूप बन जाता है । वे उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं । मानवता का निर्वर्ण ऐसे ही धर्मरिमा पुरुषों द्वारा होता है ।

घ भक्ति काण्ड

ज्ञानकाण्ड तथा कर्म काण्ड के साथ भक्ति काण्ड की माध्यता भी धृष्टि के प्रारम्भ से ही बसी आ रही है । हम धृष्टि-विद्या को समझे सत्कर्मों द्वारा अपना उत्थान करें और आत्मज्ञानी बनकर परम प्रभु के साथ एक हो जाने का भी प्रयत्न करें ।

मित्रस्य धनुषा समीक्षामहे ।

हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें जिससे सामूहिक समुत्थान हो और मानव जाति संस्कृत बने विकास-पथ पर आगे बढ़े ।

मानवता के विकास में छ. सन्नु थोर बाधक हैं । इन सन्नुओं का हमन समीप्ट है । ये सन्नु हैं —

उत्सुक्यात् सुसुसुक्यात् अहि इव यस्तुमुत कोक्यात्सुम ।

सुपर्णया तुमुत पृथ्म्यात् सुपरेव प्रमुच रत्न इन्द्र ॥

उत्सू प्रकाश से परकाता है । उसे अन्धकार ही अच्छा लगता है । इसी प्रकार जो मानव उत्सू के समान अज्ञान के साथी है वे अपने ही सन्नु हैं । सुसुसूक मेड़िया कोपी होता है चाहे जिस पर झपट बैठे । जो मानव कोपी है, जिसक है वह भी समाज का सन्नु है । कुछा मत्सरी अपने ही स्वधर्मों का बंदी होता है । दूसरों के सामने दुम हिमावेसा पर अपर कृते को बेचछे ही मूकने लगेया । इसी प्रकार जो मानव अपने के प्रति बर रहे और दूसरों के सामने झुक वह सही प्रकार से निम्ननीय है । कोक चकवा-चकवी अपनी कामाग्नता के लिए प्रस्थात हैं । कभी पुरुष भी काम के प्रभाव में अंधा-बहुरा बन जाता है । उसे अपना-परया पुष्य —अपुष्य, सान-हाति कुछ भी नहीं सूझता । सुपर्ण मकड़ है । यह अपने सर्व या अधिमान के लिए प्रसिद्ध है । अहंकारी मानव इसी सुपर्ण के समान अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता । पृथ्म सावची होता है बहुत ऊँचे आसमान में उड़ान भरते हुए भी खब पर इसकी दृष्टि बेग से पड़ती है । वेब कहता है इन पक्षिपुओं को पत्थर के नीचे डालकर मचल हो जिससे फिर वे अपना छिर न उठा सकें । काम कोब सोम मोह (वहान) मात्सर्य और अधिमान मनुष्यत्व को मार डालते हैं । अत इनके कृचल डालने में ही कस्याम है ।

वृष्कृतिवों से पूबक रहकर सत्कर्मों का सतत संघय करते रहना चाहिए । यही संस्कृत पुरुषों का पथ है । स्वस्ति का पन्था पान अहिंसा तथा ज्ञानानुसूय आचरण का पन्था है । विष्य सक्तिवों जिस प्राणी को इस पथ पर लया देती हैं जो धर्म-पर-मण बनकर समस्त दुरितों से पार हो जाता है सुनीति जिसकी सहयोगिनी बन जाती है उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाता । विश्व में वह बढ़ता है, प्यवता-सूसता है, कीर्ति उसके नाम और काम को दिमियन्त में फैला देती है । ऐसा ब्यक्ति दूसरों के लिए मार्गर्ह रूप बन जाता है । वे उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं । मानवता का विवर्धन ऐसे ही बमरिमा पुरुषों द्वारा होता है ।

घ भक्ति काण्ड

ज्ञानकाण्ड तथा कर्म काण्ड के साथ भक्ति काण्ड की मान्यता भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही बसी का रही है । हम सृष्टि-विद्या को समझें सत्कर्मों द्वारा अपना उन्नयन करें और आत्मज्ञानी बनकर परम प्रभु के साथ एक हो जाने का भी प्रयत्न करें ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें जिससे सामूहिक समुत्थान हो और मानव जाति संस्कृत बने विकास-मार्ग पर जाये बढ़े ।

मानवता के विकास में छ. शत्रु और मित्र हैं । इन शत्रुओं का हमन समीक्ष्य है । ये शत्रु हैं —

अनुकम्पास्तु नृगुणकृपास्तु अहि एवमातुमुत कोकयातुम् ।

सुपर्णयातुमुत मृगयास्तु वृषदेव प्रभुम् रक्ष इन्द्र ॥

उस प्रकाश से बचकाता है । उसे बचकार ही अच्छा लगता है । इसी प्रकार जो मानव उससे समान अज्ञान के साथी है वे अपने ही शत्रु हैं । सुसुभूत भेड़िया कोभी होता है जाहे जिस पर सपट बैठे । जो मानव कोषी है हिंसक है वह भी समाज का शत्रु है । कुत्ता मत्सरी अपने ही स्वार्थों का बीरी होता है । दूसरों के सामने डुम हिमावेमा पर अपर कृते को देखते ही भूकने समेपा । इसी प्रकार जो मानव अपनी के प्रति बैर रखे और दूसरों के सामने झुके वह सभी प्रकार से निम्ननीय है । कोक बकबा बकबी अपनी कामान्विता के लिए प्रसन्न है । कभी पुरुष भी काम के प्रभाव में अंधा-बहुरा बन जाता है । उसे अपना-पराया पुरुष —अपुष्य, शत्रु-हानि कुछ भी नहीं घुसता । सुपर्ण गरुड है । यह अपने गर्व या अभिमान के लिए प्रसिद्ध है । धाँकरी मानव इसी सुपर्ण के समान अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं घुमसता । मृग शालबी होता है बहुत ऊँचे आसमान में उड़ान भरते हुए भी सब पर इसकी दृष्टि बैध से पकटी है । वेद कहता है इन परस्परियों को पत्थर के नीचे डालकर भस्म हो जिससे फिर वे अपना शिर न उठा सकें । काम कोष शोभ मोह (अज्ञान) मात्सर्य और अनिमान अनुप्यत्य को मार डालते हैं । अतः इनके कुछस जामने में ही कस्याप है ।

दुष्कृतियों से पृथक् रहकर सत्कर्मों का सतत संघर्ष करते रहना चाहिए । यही संस्कृत पुरुषों का पक्ष है । स्वस्ति वा पन्था बान अहिंसा तथा ज्ञानामुकुस आचरण का पन्था है । दिव्य शक्तिर्मा जिस प्राणी को इस पक्ष पर लवा बेटी है जो बर्मे-पराय बनकर समस्त दुरितों से पार हो जाता है सुनीति जिसकी सहयोगिनी बन जाती है उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाता । विश्व में वह बढ़ता है फलता-फूलता है कीर्ति उसके नाम और काम को विविगम्य में छेला बेटी है । ऐसा व्यक्ति दूसरों के लिए मार्ग बन बन जाता है । वे उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं । मानवता का विवर्धन ऐसे ही बर्मात्मा पुरुषों द्वारा होता है ।

घ भक्ति काण्ड

ज्ञानवाण्ड तथा बर्मे काण्ड के साथ भक्ति काण्ड की साम्यता भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही बसी जा रही है । हम सृष्टि-विद्या को समझें सत्कर्मों द्वारा अपना उत्थान करें और आत्मज्ञानी बनकर परम प्रभु के साथ एक हो जाने का भी प्रयत्न करें ।

भक्ति भजन है-ब्रह्माण्ड के नायक और अपने सर्वाधिक समीप अपने सर्वत्र परम प्रभु का । भक्ति-भावना ही साधक को प्रभु के समीप से जोड़ती है । है तो वह सर्वत्र ही समीप पर हम प्रकृति से आकृष्ट होकर उसकी समीपता को बिस्मृत कर देते हैं । भक्ति काण्ड हमें उसका स्मरण कराता है और कहता है, वही हमारा माता-पिता बंधु-भाता-बिभाठा भादि सब कृष्ण है ।

भक्ति-विषयक कतिपय मंत्र नीचे दिये जात हैं—

न हि जगत् ब्रह्माकरं परिवारं शतकस्तो । त्वं न इन्द्र मृडय ।

हे प्रभो ! दुख बन्ध भक्त को मुक्त देने वाला इस संसार में ठेरे अतिरिक्त जगत् कोई भी नहीं है । प्रभो ! तू ही हमें सुखी कर ।

यो न शरत् पुराणि जमुग्रो बाध साधये । स त्वं न इन्द्र मृडय ।

माध । कितनी सम्झी जीवन यात्रा है । इस यात्रा में कौन कौन सी यातनायें सामने नहीं आईं ? पर प्रभो ! आपने सर्वत्र रक्षा की यातनाओं को सहने का बल भी आपने ही दिया और आपने ही क्लेश-बहुलता का विनाश किया । आप जमुग्र हैं । संसार में कोई ऐसा मार्ग का नाश नहीं जगत् को आपकी हिंसा कर सके । सभी तो आपके पैरों के नीचे पड़ हैं और कर्म-विपाक को माय रहे है । इस जगत् के पाठा और बीजों के प्रेरक आप ही तो हैं । प्रभो ! आप ही हमें सुखी कीजिये । आपसे बढ़ कर सहायक तथा सुखदाता यहाँ और है ही कौन ?

परिपुषा परस्ताद् हस्तं बध्नातु दक्षिणम् । पुनर्नो जप्यमाव्रतु ।

प्रभो ! आप पूषा हैं, पोषण करने वाला हैं । आपकी यह पापिण और वह दैवी सम्पदा भक्त क्या सभी का पालन-पोषण कर रही है और यह सम्पदा आपकी ही है ।

तवेतिह भजितप्रेक्षिते वसु ।

वसुर्धन्यां क्षयति त्वमेकहत् क्षाया च यानि पृथिवी च पुष्यत-

एवा वस्य इन्द्र सत्यं ब्रह्माद् ।

आपने यह सम्पत्ति यह खाने-पीने भोजन की सामग्री हम बीजों के क्रम्याय के सिद्ध ही प्रदान की है । पर नाच यह सामग्री अब मुझे नहीं चाहिए । इसने मुझे आप जैसे दानी का ज्ञान करा दिया है और स्मृति विज्ञा दी है अपने उस वास्तविक जपन की जरूरी जिसे मैं खो चुका हूँ । प्रभो अब तो अपना दक्षिण हाथ मेरे हिर पर रखकर बर दो कि मेरा जोया हुआ धर मुझे पुन प्राप्त हो जाय । आपको जानकर ही तो यह नाम प्राप्त हुआ है ।

इन्द्र प्रभो रथमथ पथ्यान्वितु सप्तमग्निम् । पुरस्तादेनमे कृधि ।

हे इन्द्र ! मेरा रथ हथ यात्रा में कितना पीछे पड़ गया है । कोई पितृवान पर बढ़कर इस बुद्ध सिन्धु को पारकर गये और कुछ ज्योतिर्मय देवयान में बैठकर ऊर्ध्व भोक्तों के अधिपति बन गये पर मैं अभी यहाँ का ठह्रा बैठा हूँ । मेरा रथ जाने नहीं बढ़ रहा । आपके अवसम्मन की इस समय एकाग्र आवश्यकता है । आपका आश्रय ही मुझे जाने बड़ा सकेगा । यह पीछे छूटा हुआ रथ आपके सहारे ही खिसकेगा और पीछे बेच पकड़ेगा ।

हस्तो नु किमासते प्रवर्णगौरवर्णं वृषि । उपमं वाजमुग्रवः ।

हे वेद ! तू क्यों हो ? मुझे आश्वासन दो जिससे मेरा रथ वीड़ में सबसे प्रथम, सबसे आगे निकल जाय । विजय और वज्र दिसाने वाला वज्र तो आपके समीप ही है । फिर तू क्यों बैठे हो ? मेरी प्रार्थना क्यों नहीं सुनते ? मेरे रथ को आगे क्यों नहीं बढ़ाते ?

अथा गो वाजमु रवं सुकरं तं किमित्परि ।

अस्मत् सुविप्युषं वृषि ॥

वाज की कामना लिए हुये वृषि की अभिसाया से संयुक्त यह मेरा रथ आपके द्वारा ही सुरक्षित होगा और पर्यटन की ध्वनि करता हुआ सबसे आगे निकल आयेगा । क्या मेरी अयोग्यता की ओर दृष्टिपात कर रहे हो ? क्या यह सोचते हो कि यह आगे बढ़ने में असमर्थ है ? असमर्थ हूँ निस्सन्देह बल्लभ हूँ इसी लिए तो आपको पुकार रहा हूँ आपकी वसिष्ठ भुजाओं की ओर संतुल्य नेत्रों से ताक रहा हूँ और मैं असमर्थ ही नहीं निराला अयोग्य ही नहीं पर आप तो सर्वसमर्थ हैं सब कुछ करने में क्षम हैं—ऐसा कौन सा कार्य है जो आपके लिए सुकर न हो ? तो माथ ! जब देर न करो । आप तुषीमय तुमिरेष्य और तुविकूर्मि हैं । आप की रक्षण-वृत्तियों भी अनन्त हैं । आपकी दया—दृष्टि जिस पर पड़ती है, वह पसक भारते ही महान सीमाव्यवस्था बन जाता है । वाज मेरी बारी भी आ गई है । विजय का आकांक्षी मैं भी वाज आपकी चरण-चरण में पड़ा हूँ । मेरा भी उद्धार करो । मेरे रथ को भी विजय-भी प्रदान करो । मुझे भी बरवान लेकर यज्ञोद्भिर्भक्षित बनाओ ।

त्वावतो अभितु सुरराती ।

प्रभो मैं तुम्हारा ही हूँ । तुम्हारे जैसे सुरवीर रक्षक के रहते हुए भी मैं तुम्हारे विजय-यान से वंचित रहूँ यह तो असह्य है । अपना लो माथ ! अपना लो । अम्भ अम्भ के इस क्लेशाकान्त अपने पुत्र के क्लेशों को आब क्षिप्त-मिस कर दो । आप जानन्वमय हैं । आप के समीप आकर क्लेश रह ही कैसे सकता है ? हे क्लेशापहारक हे आनन्दधन । हे सर्वशुभ प्रदाता । सुखी करो आनन्दित करो अपनी गरम दो ।

वेद में ऐसे अनेक मंत्र हैं जो ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति की महत्ता के प्रदर्शक हैं । ईश्वर प्रणिधान भगवान का प्रसाद परम पिता का अनुग्रह जीव की संस्कृति—भाषा के अन्त में जाता है । कभी-कभी बीच में भी उसकी क्षति बिछाई दे जाती है । बीबात्मा इससे कल्याण भाजन बन जाता है ।

प्रभु की दृष्टि स्वादिष्ट है—सबसे अधिक मधुर है । जिस पर यह दृष्टि पड़ मयी वह निहाल हो गया । जो साधक प्रभु की इस मन्त्र संदृष्टि में रमण किया करते हैं वे विन हो या रात्रि—सर्वत्र अमृतामय में मग्न रहते हैं । प्रभु उनके सन्धि सखा बन जाते हैं । स न इन्द्र शिव सखा ।

वैदिक संस्कृति साधक को कोरा जानी या कोरा कर्मकाण्डी ही नहीं बनाती, वह उसे प्रभु का सखा भक्त भी बनाती है । हमारे पूर्वजों ने एकामिता नहीं,

समन्वय को अपनाया है। जैसा ज्ञान मानव को जल की ओर से जा सकता है। जैसा कर्म कीचड़ का रूप धारण कर सकता है और जैसी शक्ति भी मानव को बंधा बना सकती है। भ्रम या भ्रमण को दूर करने के लिये ज्ञान, माने बढ़ने के लिये कर्म और अश्रित पड़ाव तक पहुँचने के लिये शक्ति का अवसम्बन्ध बना ही पड़ेगा।

सांस्कृतिक विकास काण्डधर्म के समन्वय से ही हो सकता है, एक-एक का हाथ पकड़ने से नहीं। संस्कृत व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश से प्रोज्ज्वल, कर्म-भ्रम से तेजोदीप्त और शक्ति-आत्मनिवेदन आत्मसमर्पण द्वारा अलग-निरहंकार बनकर प्रभु-प्रेम से परिष्कारित हो उठता है। वह प्रभु का ही या प्रभु का ही बन्धु जाता है। वैदिक संस्कृति का यह साधन-समूह अपने सामन्व्यस्य में समरसता का सम्पादन है और सर्वतोभावेन स्वीकरणीय है।

### ४ त्रिगुण-सीमा

हमारे शास्त्रिकों ने जल की गुण-परक व्याख्या करके जल से जल पानियों का सरस से सरस समाधान प्रस्तुत किया है। जगत में जड़ पदार्थ हैं तथा चेतन शरीर हैं। दोनों के चार-चार भेद हैं। एक में चार शोक हैं— दौ पुष्पी, स्वर्ग तथा नाक। दूसरे में चार प्रकार के प्राणी हैं निमिषवान् प्रायवान्, द्विपद तथा चतुष्पद। दोनों के चार-चार विभाग प्रकृति के तीन गुणों के तारतम्य पर आधारित हैं। तीन भुज हैं सत्त्व, रज तथा तम। तीनों गुण रहते सर्वत्र हैं, पर उनकी मात्रा में स्थानाधिक्य होता है। शोकों में दौ सत्त्व-प्रधान हैं। उसमें सात्विक गुणों की अधिकता है। पुष्पी तम-प्रधान है। दौ में तम कम से कम है, दौ पुष्पी में तम अधिक से अधिक है। इसी प्रकार पुष्पी में सत्त्व कम से कम है, दौ दौ में वह अधिक से अधिक है। मध्य वाले शोकों में सत्त्व तथा तम की स्थूलता, किन्तु रज की अधिकता है।

प्राणियों के शरीरों में प्रायवता की विधेयता है। यह नियम से प्रारम्भ होती है। सबसे निम्न स्तर पक्षियों के अण्डों के समान संकोच एवं प्रसारण बबला बूझने और मुझने में है। उससे ऊर्ध्व स्तर स्वाद्य एवं प्रबलाद्य के साथ बढ़ने और फैलने में दृष्टि जोषर होता है। वनस्पतियाँ-जोषियाँ जाति इसके अन्तर्गत हैं। तीसरे स्तर पर मानसिकता का राज्य प्रारम्भ होता है जो चतुर्विध में पहुँच कर अत्यन्त विकसित हो जाता है। चतुष्पद तथा द्विपद जन्तु इन दोनों के अन्धर आते हैं, जिन्हें पशु तथा मानव की संज्ञाएँ प्राप्त हैं। शरीरों में नियम वाले तम प्रधान और प्राण वाले रज-प्रधान हैं। चतुष्पदों में रज के साथ किञ्चित् मानसिकता का प्रकाश बासा सत्त्व अंश भी आ जाता है और द्विपदों में-मानवों में-वह अंश क्षिप्त उठता है।

गुणों के तारतम्य से इन दोनों के चार-चार विभागों के और भी अनेक विभाग हो आते हैं। प्राणिक पदार्थों में कोयला निरु तम है, दौ हीरा सत्त्व के



प्रकाश से ओठ प्रोठ है। पशुओं में भी सत्व प्रधान है तो बृहत्तमोगुणी है। मानवों में भी गुणों के म्यूनाभिव्य पर ही चार वर्गों की स्थापना हुई है। ब्राह्मण सात्विक, क्षत्रिय राजस, वैश्य राजस और तामस का सम्मिश्रित रूप है और शूद्र तामस है मान से रहित है। मानव की मनोवृत्तियों में क्रोध ज्ञान का विनाशक है, अतः उसे तामस कहा जाता है। मनोवृत्तियों के विभाजन पर भी गुणों के ही म्यूनाभिव्य का प्रमाण पड़ता है। विरह की विविधरूपता गुणों के वैपम्य का परिणाम है। साम्यावस्था में तो विश्व के संहार जवला समाहार की ही सीता दुष्टिभीतर होती है।

हम सब इन्हीं गुणों को लेकर इन्हीं गुणों के माना रूपों में रमन किया करते हैं। भीष्म में बिस्व प्रचण्ड आतप का अनुभव होता है, वह हेमन्त एवं शिशिर की ठिठुरन में कैसे परिणत हो जाता है इसकी बोध-पूर्व वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है। एक में रज या तो बूझने में तम। बसन्त आते ही तम को भगा देता है और सत्व के अमिन्न उद्यम के साथ नवीन किसलय तथा कुसुम उद्भिन्न होकर प्रकृति की गोद तथा मानवों के मन को बाह्य बाह्य से ओठ-प्रोठ कर देते हैं। हमारे साधियों में कोई सरल है कोई चण्ड, कोई चपल और कोई आलसी। किसी से मिलकर हम प्रसन्न होते हैं किसी की घेट हमें दुःख देती है तथा किसी का सम्पर्क कर्मम्यता का प्रेरक बन जाता है। यह सब गुणों का ही खेल है।

मानवों में यदि असुर, राजस तथा पिशाच हैं स्वार्थ-परायण हिंसक तथा पीडक हैं, तो कल्याण-परायण परहित-साधक साधु-संन्यत भी हैं। एक तमो गुण की आराधना में लीन रहते हैं तो दूसरे सत्व की उपासना में निरत हैं। एक की प्रवृत्ति बभोगामिनी है तो दूसरे की कर्म्मवामिनी। इनमें गुणों का म्यूनाभिव्य ही सक्रिय है। ऐसा नहीं कि एक में तम ही तम हो। तम के साथ बड़ा सत्व भी किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहता है। तभी तो बीसे मिश्र में क्या कूट पड़ती है बीसे ही असुर में सुरत्व तथा वानवता में दिव्यता प्राप्त हो उठती है। प्रज्ञाय वैसा मत्त हिरण्यकशिपु का ही तो पुत्र था। अतोक यदि कसिग में मृद निरत हुआ तो उससे निरत होकर अपनी सन्तान तथा प्रजा को कल्याण का समोपगम्य भी तो दे मया।

जिन ग्रन्थों का हम अध्ययन करते हैं वे भी अपने रचयिताओं की गुण परिमा के ही निदर्शक हैं। कुछ ग्रन्थ साग देते हैं आपको अज्ञान के अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में से आते हैं, तो कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिन्हें पढ़कर आप वासनाओं के जाल में फँस जाते हैं मोह-मुग्ध हो उठते हैं। कुछ ग्रन्थ मनको विह्वल की ओर से आते हैं तो कुछ उसका परिमार्जन भी करते हैं। कुछ ग्रन्थ

बापको बलिदान की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। तो कुछ मङ्गल-गीता भी सिखा जाते हैं। कुछ कवि श्रृंगार परक हैं। कुछ नीरवा के गायक तो कुछ भक्ति के बनी बनकर प्रभु की ओर से जाते जाते भी। किसी किसी कवि में विशाल प्रतिभा होती जाती है और वह एक साथ उसके कर्तृत्व में फूट पड़ती है। वह श्रृंगारी, नीर, भक्त धमाक का उभायक तथा मानव मनोकृत्तियों का अद्भुत चित्तर एक साथ होता है और सब के बिचन द्वारा अपनी प्रतिभा शक्ति का मार्मिक प्रयोग कर जाता है।

त्रिगुण की यह भावा विमात्रिक ओशम से प्रारम्भ होकर सृष्टि के उद्भव, स्थिति तथा संहार, जिसकी बेवचयी भावि में विस्तार पा रही है। इसने अङ्ग बगल को बारम्बार किया है, जेतन जयत को प्रेरणा दी है और पति तथा क्रिया का सञ्चालन किया है। यह नीति शास्त्र मनोविज्ञान तथा परतत्त्व विवेचन में प्रकट होती है। सत चित्त तथा ज्ञानम्ब का आभास देती है और अवतरण, उत्क्रमण तथा सञ्चलता का ज्ञान कराती है। त्रिगुणों में चिपटे हुए हम सब स्वावर तथा मायावर इस उन्मीलित अभिनय के अभिनेता हैं और तब तक बने रहेंगे जब तक या तो इन त्रिगुणों में साम्य नहीं हो जाता अथवा हम इनके साक्षात् द्वारा इनसे विमुक्त नहीं हो जाते।

### च ऋतुसपथ

प्रजापति की प्रजा के दो स्थूल विभाग हैं। विश्वामुख तथा विश्वानर। विश्वा भूष के दो मोटे विभाग हैं। आका और पृथ्वी। विश्वानर के दो विभाग हैं। देव और मानव। पृथ्वी पर रहते हुये हम भी की ओर अपनी दृष्टि से जाते हैं। मानव बोध में रहते हुये भी हम देवत्व की आकांक्षा करते हैं। वह हमारी प्रकृति के अन्तर्गत है। हमारा स्वभाव है। हमारी अन्तर्-आकांक्षा है। हम वहाँ हैं वहाँ से ऊपर उठना चाहते हैं। उत्क्रमण ऊर्ध्वारोहण उद् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम बनना हमारा ध्येय है, आदर्श है। यन्त्रण्य है।

अवतरण में चित्तसने या नीचे गिरने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। पर ऊँचे उठने में प्रयत्न अपेक्षित है। प्रयत्न आत्मा के १ सिधों में एक है। आत्मा शब्द अद् साधत्य समने चातु से निष्पन्न होता है। अवतरण होता है, पर आत्मा की स्वाभाविक आकांक्षा उत्क्रमण की ओर रहती है। अवतरण नाना यातनाओं की योगि है। क्लेशाज्वाला जीवन किसे प्रिय है? सभी क्लेशों से मुक्ति चाहते हैं। इस मुक्ति के लिये आत्मा को प्रयत्न करना पड़ता है।

प्रयत्न की दो दिशाएँ हैं। एक सद् तथा दूसरी असद्। असद् दिशा अर्वाध्वनीय है। सत प्रयत्न स्वीकरणीय है। सत प्रयत्न ही सात्विक वातावरण को उत्पन्न करके कल्याणकारी फल की उपलब्धि कराता है। योगस पथ का विस्तार इसी प्रक्रिया द्वारा

सम्पन्न होता है। सब हमारे निष्पन्न निर्माण की आधार जिला है। हमारा विकास, हमारा उन्नयन, हमारा उत्थान इसी सब की प्रतिष्ठा पर अवलम्बित है। सब ही कुछ ही हठाकर आत्मन्य की ओर उन्मुख करता है। आचार्य बल्कन ने सब को संनिमी शक्ति कहा है। विपुक्त आत्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करने में सब का सबसे अधिक महत्त्व रखा है।

गीता में सब के पाँच रूप व्याख्यात हैं —

सद्भावे साधुभावे च तदित्येतत् प्रयुज्यते ।

प्रसस्ते कर्मणि तथा सम्प्रदायः पार्यं युज्यते ।

यत्ते तपसि बाने च त्विति सति सति बोध्यते ।

कर्म च तदर्थं च तदित्ये त्वामिधीयते ।। १७-२१ २७ ।।

अस्तित्व अथवा वर्तमानता साधुता अथवा सौजन्य प्रशंसनीय कर्म यज्ञ—तप तथा दान में संलग्न रहना और इनके लिये कर्म करना सब कहा जाता है। यज्ञ तथा दान भी कर्म के अन्तर्गत आते हैं और इनके सम्पादन के लिये जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह भी कर्म है। कुछ प्रशंसनीय कर्म और भी हैं जो यज्ञ तप तथा दान की सीमा में नहीं आते। स्वाध्याय, प्रवचन निबन्ध की रचना आग बुझाना जो सहोदरों के मनो मात्सम्य को मिटा कर उनमें सीद्धार्य की स्थापना करना जननी तथा अन्नभूमि की रक्षा में प्राणों की आहुति चढ़ा देना आदर्श की उपलब्धि के लिये अघसर होना आदि ऐसे ही कर्म हैं जो समाज में प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

सत्कर्म आगे बढ़ाते हैं सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करते हैं पाप को दूर करते हैं और इस प्रकार मानव को ऊँचा उठा ले जाते हैं। कुण्ठित वर्णित बसत कर्म करने वाले उठते नहीं मिरते हैं। उनके कुत्सित कृत्य उनके लिये तो अहितकर हैं ही समाज में उनके कारण जो दूषित वातावरण बनता है उससे अन्य व्यक्तियों पर भी मलिन प्रभाव पड़ता है। समुद्र के जम में फँकी हुई कंकड़ी जैसे विषमोत्पन्न करके उसे उद्देक्षित एवं तरंगित कर देती है और जल की शान्ति तथा साम्बावस्था को नष्ट कर देती है उसी प्रकार नीच व्यक्ति के कुकर्म सामाजिक स्थिति में बर्बदर उपस्थित कर देते हैं और परिणामतः मानव-समाज विचलित हो उठता है। कर्म की प्रणाली ही ऐसी है। यदि वह शुभ है तो शुभ वातावरण को जन्म देती है और यदि बलुम है तो बलुमन परिस्थिति को उत्पन्न करती है। हम सब का उत्साह शुभ को अपनाते और तदनुकूल आचरण करने में है।

शुभ कर्म को स्फूर्ति देने के लिये आवश्यक है कि हमारा मन निर्मल हो। उस में जो संकल्प उठें वे शिव हों जिससे संनिध शुभ उत्सकार उद्बुद्ध होते रहें और हमारे आचरण को प्रेरित करते रहें। हृष्य की भूमि सद्भावों की कीड़ा-स्थली बने। शुभ उत्सकार शुभ भाव और शुभ संकल्प मिलकर मेरे सर्वांग को शोभन बना दें जिससे मेरे प्रोन्नत व्यक्तित्व से शुभ कर्मों की ज़रूर निरन्तर प्रवाहित होती रहे। समाज की

सत प्रवृत्तियों को इसी से अनामय आहार प्राप्त होता और वे पुष्ट होकर भद्र समाज का निर्माण करेंगी ।

भद्रमात्र तथा विमल विचार किसी उच्चादर्श के समान रहने से ही प्रवृत्तित होते हैं । वेर इसीलिये कहता है —

‘ समेत निश्चये ब्रह्मसा पति विव ’

प्रकाश के पति के सम्मुख हम सब एकत्र हों और बाणी द्वारा उनका स्तवन करें ।

‘ जगतामी येना मन्त्राकारात् युवा ’

वे अभीष्ट की पूर्ति करने वाले हैं और हमारी बुद्धियों तथा कृतियों को चमकाने वाले हैं । वे जिसके सबनों यहाँ सत्कर्मों में रमण करने समते हैं वह अपने तीव्र सोचों यत्नफलों सत्किणों द्वारा बड़े से बड़े कष्टों का भी पराभव कर देता है । यदि यह वैसी आदर्श यह प्रकाश निरन्तर चमकता हुआ सूर्य का सूर्य हमारे सम्मुख विद्यमान रहा तो हम प्रसन्न मन द्वारा, प्रसन्न भावों द्वारा, प्रसन्न प्रवृत्तियों से परिपूर्ण निरपराध जीवन में सुरक्षित यात्रा के पथिक बने हुये सदैव सुख के धनी बने रहेंगे ।

सूत्र रूप में असत से सत की ओर प्रयाण और तम से ज्योति की ओर प्रस्थान हमें मृत्यु के मुख से निकाल कर अमर बना देगा । सत या सुम की प्राप्ति नीति शास्त्र का सार है ज्योति या प्रकाश की ओर मनोविज्ञान से आता है और परस्पर दर्शन आवर्त के निकट पहुँचा देता है । तीनों में प्रगति का एक क्रम भी है और अम्योग्य साहाय्य भी । इनका साहित्य ही दुःख-राहित्य का पथ है सुख का साधक है । सुम कर्म सब की नींव है । बुद्धिर्म तो ऋत-पथ को पार कर ही नहीं सकता । सत्कर्म ही इस सम्बन्ध में हमारे सहायक बनते हैं । यज्ञिय नाव वैसी यात्र इन्हीं के ऊपर पर्याय है । सुम को पकड़ लिया तो बेड़ा पार है अथवा अथसागर के गपड़े खाते रहना और स्तेज-आल में आवद्ध रहना ही हाव लनेगा । आनन्द का आस्वादन तो सुम के ही साध है । उषी के हाथों हमारा भाग है । सुम ही आराध्य है । सुम ही अपास्त है । सुम ही आचरणीय है । सुम सुम सुम मही ज्वलि ह्य हमारे मन बचन एवं कर्म से ज्वलित होनी चाहिये । संस्कृति एवं काण्डव्यय का प्राग ऋतपथ है ।

## छ. मानवता

मानवता वह माय है जिसके कारण मानव मानव बना रहता है नीचे नहीं गिर पाता । मानव से नीचे पशु-पक्षी हैं जिनमें चेतना का विकास तो दिखाई देता है पर सत असत के निर्णय का विवेक तथा सुम-असुम के अन्तर का ज्ञान उन्हें नहीं होता । बुद्ध एवं वनस्पति में अत्यन्तचेतना तो है पर उसका बाह्य अभिव्यञ्जन नहीं है । यत जब हम मानवता के पतन की बात करते हैं तब पशु — पक्षियों का स्तर ही सामने रहता है । मानवता का पतन है पशु-पक्षियों के स्तर पर घटत आना अर्थात् सत-मसत के विवेक तथा सुम-असुम के ज्ञान से दूर्य हो जाना । एक तीसरा तत्त्व

और इन दोनों में सम्मिश्रित किया जा सकता है। वह है सौन्दर्य पर रीझना और उसकी पहिचान तथा परीक्षा करना। मृग तथा सर्प बीणाबावन पर रीझते तो हैं पर एक राग को दूसरे राग से पृथक् करने पहिचानने तथा उसकी सूक्ष्मताओं की परीक्षा करने से बंचित हैं। कोकिल का मधुर गान मयूर के सुन्दर पक्ष कपोत का कम कंठ चींटे का बमुरित वपु हमें आकर्षित ही नहीं करते अपने भगिन्य का ज्ञान भी डेते हैं। ममिल कसाओं की जो मनोबैज्ञानिक परीक्षा हम कर सकते हैं, वह पशु पक्षियों के भाव्य की बात नहीं है।

प्रथम सत-असत के विवेक को सैं। सत नित्य है और असत अनित्य है। मानव नित्य और अनित्य अमर्त्य और मर्त्य अभिनस्वर और विनस्वर में विभेक कर सकता है और विवेक के उपरान्त नित्य के ग्रहण तथा अनित्य के परित्याग में समर्थ भी हो सकता है। यह शक्ति मानव के अन्तर है। इस शक्ति के रहते हुये भी यदि वह विवेक न कर सके और अनित्य के पीछे बसता रहे तो वह मानवता के विकसित स्तर से नीचे तो उतर ही रहा है। पशु-पक्षियों को यह शक्ति प्राप्त नहीं है। अतः उनसे पतन की बात कोई कहने भी नहीं जाता पर जब मानव अपनी शक्ति तथा योग्यता से बंचित होता है तो कहने की योग्यता रखने वाले उससे कहते ही हैं। यदि मानव विकास पथ से दूर नहीं है तो यह कथन उसे अपमान नहीं बतावनी के रूप में भासित होगा और अपनी कर्तृत्व शक्ति के द्वारा वह सत को अपनाने की भर सक्त चेष्टा करेगा। जब वह ऐसा नहीं कर सकेगा तभी मानवता से पतित होकर पशु-पक्षियों के स्तर पर लड़ा बिछाई देगा। मानवता पशु-स्तरीय भ्रूष से ऊपर उठकर मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक भ्रूष को प्रशान्त करने में परिलक्षित होती है।

जब जुम और अजुम को सैं। मानव स्वभावतः जुम का प्रेमी आकांक्षी तथा अजुम से बूझा करने वाला है। जुम या मद्र के प्रति उसका अनुराग ही उसे जुम को अपनाने के लिये प्रेरित करता है। जुम जहाँ भी है वहीं उसकी वृत्ति आभय पाती है। वह जुम ही नहीं जुम से जुमतम की भी कल्पना करता है। जुम की जहाँ पराकाष्ठा हो वहीं उसकी थडा एव निष्ठा को विधाय प्राप्त होता है। वह उसकी ओर बढ़ता है और अपने को अजुम एवं असत के कोलाहल से दूर करना चाहता है। अजुम एव असत दोनों से ही उसे संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि ये दोनों ही उसे उसमाने वाले हैं उसके पीरों में बेडियाँ डालकर उसे विकास-मय पथ पर अग्रसर नहीं होने देते। सत संघर्ष ही उसे इनके जंगल से बिकाय पाता है सुवृद्ध संकल्प ही उसे विजयी बनाता है। नीति या सदाचार का मार्ग निर्बलों के लिये नहीं सबलों के लिये है। निर्बल अथवा युद्ध संकल्प शक्ति से शून्य कायर एवं भीरु जुम का अनुगमन नहीं कर पाते। अतः बढ़ता प्राणवत्ता पक्षी जुम एव सबन ही मानव को मद्र की ओर ले जाती है। जुम की ओर प्रयास प्राणवृत्ति के अभाव में असम्भव है।

सौन्दर्य में जाता है। मानव के ज्ञान और नेत्र दोनों ही इसके पारखी हैं।

अन्तर और बहरे सुन्दर दृश्यों तथा संगीत के माधुर्य को क्या समझे ? सौन्दर्य समन्वय में है व्यवस्था तथा कम-बहुत में है । पैथागोरस को यह समन्वय सृष्टि में दिखाई देता था । ब्रह्माण्ड की अद्भुत व्यवस्था में उसे सौन्दर्य का भाव होता था । सरपेन्स जीन्स को भी इस युग में ऐसा ही भाव हुआ । दोनों की दृष्टि में नम्र अपनी गति में संगीत की राग निवास कर मरत हैं । साम्योपनिषद् के अनुसार आदिशिव उद्दीप्त का पान करता है । कबीर रबीर की कल्पना में बिसे हुये फूस उस अद्भुत व्यवस्थापक एवं सुमगता के ओत प्रभु के दूत बनकर आते हैं । सौन्दर्य कोलाहल में खोर में नहीं है । अनियाँ जब विसेप कम के साथ आरोह एवं अवरोहण करें, तब संगीत उत्पन्न होता है । सौन्दर्य इस संगीत में है । रंग-विरये फूसों की एक मासा जब एक सूत्र में पिरोई जाकर सामने आती है तो अपने सौन्दर्य से सबको प्रभावित कर देती है । विश्ववाटिका का माली जब पुष्पों के अन्दर बैठा हुआ उन्हें व्यवस्थित रंग प्रदान करता है तब फूलों में सौन्दर्य की छ्पा छा जाती है । यह सौन्दर्य यह समन्वय यह व्यवस्था जिस मानव को आकर्षित न कर सके वह भी क्या मानव कहलाने के योग्य है ?

मानवता के तीन पक्षों पर अभी तक हमारी दृष्टि गई है । इन तीन पक्षों में ललित कला नीति या आचारशास्त्र और तत्त्व दर्शन आ जाते हैं । सच्चे मानव के जीवन में इन तीनों का समुचित विकास होना चाहिये । उसे सौन्दर्य का प्रेमी गुण का जाँकारी तथा सत का जिज्ञासु होना चाहिये पर इच्छा मात्र तक ही वह सीमित न रहे, प्रयत्न करके उन्हें अपने जीवन में अवधारित भी करे । उन्हें अपने जीवन का जल बनावे अपने चरित्र में भी डाले । इच्छा कर्म या आचरण की प्रेरिका है । सत उसकी स्थिति मूलतः वाञ्छनीय है । इच्छा ही नहीं होती तो मानव विकास पथ पर अग्रसर ही नहीं हो सकेगा ?

मानव आत्मा इन्द्रिय और मन से युक्त समष्टि जात है । उसमें आत्मा का अस्तित्व है—यह १ चिन्तों ( सिगों ) से जाना जाता है । यह १ चिन्त है—इच्छा द्वेष सुख दुःख ज्ञान और प्रयत्न । इन्द्रियों का अस्तित्व भौतिक पदार्थों की युग-प्राप्ति पर अवलम्बित है । मन संश्लेषण तथा विभक्त्यपेक्षा द्वारा इन्द्रिय बोधों का समेकन करता है । आत्मा के जो १ चिन्त म्याम ब्रह्म के आधार पर ऊपर लिखे गये हैं, उन्हें तीन भागों में भी विभक्त किया जा सकता है —ज्ञान भाव और कर्म । ज्ञान का मानोस्लेख छ चिन्तों के अन्तर्गत विद्यमान है । सुख एवं दुःख भावकल्प हैं । इच्छा द्वेष एवं प्रयत्न कर्म में सम्मिश्रित किए जा सकते हैं । इच्छा भी कर्म को प्रेरित करती है और द्वेष भी । सुख प्राप्ति के लिये इच्छा बरनीय है अशुभ के लिये त्याग्य है । अशुभ एवं अधम के लिये मानव के हृदय में द्वेष और बुद्धि की भावनाएं होनी चाहिए । प्रयत्न के उपरान्त जो उपसर्ग होती है वह कभी सुख होती है और कभी दुःख । आत्मा इन्द्रिय तथा मन के अतिरिक्त प्राण का भी अस्तित्व है

जिसे आत्मसम्भूत या आत्मा की छाया कहा जा सकता है। प्राण पोषक है, जीवन है और पहरेदार है। यह भुज तथा अपेक्षित अंशों को पचाता आत्मसात करता और मनवरत शरीर की रक्षा करता रहता है। जो अंश अनुरूप तथा अनावश्यक हैं, उन्हें शरीर से बाहर फेंकता रहता है। इन सब पर विचार करते हुये हम कह सकते हैं कि मानवता उस मनुष्य में है जिसकी इन्द्रियाँ शुभ को ग्रहण करती हैं जिसका मन शिव संकल्प करता है जिसकी प्रज्ञा पोषण करी और जिसका आत्मा इन सबके साथ कल्याणकारी पथ का पथिक है। वह आपात रमणीय वृक्षों में उमंगकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करता प्रत्युत श्रेय को पकड़ कर ऊर्ध्वगामी बनता है।

ऊर्ध्व गमन के प्रथम उत्पत्ति उत्तर और अन्त में उत्तम प्रगति की उपसन्धि होती है जिससे संकीर्णता हटती है, अस्पष्टता के बन्धन नष्ट होते हैं उदारता एवं विद्यालता का समावेश होता है और आत्मा राज्य तथा बीज्य से निकलता हुआ स्वाराज्य की भूमा अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ अन्यता की भावना नहीं रहती जनन्यता जा जाती है। अनेक की यह अवस्था सबसे ऊँची अवस्था है। इस धरा-धाम पर ऐसे पुरुष हम सबके बीच समय-समय पर अवतीर्ण होते रहे हैं, जिन्होंने अपने आदर्श जीवन द्वारा ऐसी अवस्था की ओर निर्देश किया है और मानवता की कल्याणकारिणी प्रणामी को अपनाते की प्रेरणा दी है।

संक्षेपतः—मानवता स्वार्थ साधन में नहीं परहित साधन में है बुद्धि नहीं सद्गुण-सम्पादन में है बुद्धील में नहीं सुखीलता में है दुराचार में नहीं सदाचार में है, बर्ष तथा बीडार्य में नहीं सहिष्णुता में है उद्विग्नता में नहीं संयम में है उच्छ्वलता में नहीं अनुशासन में है अकर्तव्य में नहीं कर्तव्य-यासन में है विकारों में नहीं संस्कारों में है कार्यव्य में नहीं बीडार्य में है प्रविशोचन में नहीं क्षमा में है। मानवता अन्धाय में नहीं न्याय में है। मानवता दस्युता की विरोधनी और व्रत पश्यवता बीसा अज्ञा, उप तथा समवर्जिता की पोषिका है। मानवता पाशव हिंसा एवं बर्बरता से दूर बुद्धि-पूर्ण स्वाधीन वामुमण्डल में विचरण करती है। उद्यम उसे उमाङ नहीं पाठे न वह स्वयं किसी को उद्विग्न करती है। मानवता शान्ति एवं स्वस्ति का वरम करने वाली है पर साथ ही उपद्रव, कसह बीडर्य्य खोपण आदि कुप्रवृत्तियों का डटकर विरोध भी करती है। मानवता सहअस्तित्व सिखाती है, बैमनस्य या बीर उसकी परिभाषा में नहीं जाते। मानवतावादी मानव विश्व मण्डल का एक महत्वपूर्ण महिमामय सङ्घ है। मानवता मानव को उद्यान उन्नयन या उत्थान की ओर ले जाती है और उसे अवयान या पतन से बचाती है। संस्कृति और मानवता इस अर्थ में एक हैं।

अ मानवता के पुञ्जारी

सृष्टि के मूल में यज्ञ है। समग्र सृष्टि यज्ञरूप है। मानवता का उपासक अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। वह पूजा सगतिकरण तथा दान को विस्तृत अर्थों में लेकर अपभ जीवन में सबके प्रति सम्मान सद्भाव तथा समुत्सर्ग को स्थापन देता

है। 'कृत्स्न' के प्रति घृणा उसके अन्तर निहित पापिन्त्य के प्रति पूजा की भावना है। 'कृ' अपने 'सु' की ओर उमटमार कर सके यही मानवता की उपासना का सध्य है। कोई संपूर्ण 'कृ' नहीं है, सत नहीं न कहीं उसके भीतर छिपा पड़ा है। यह सु-सत या दुम धिया न रहकर प्रकट होने लगे, तभी तो मानवता विभ्रमिनी बनेगी 'कृ' के साथ मूढ करने में सफलता प्राप्त करेगी। पूजा में भ्रष्टा रहती है, संगति करण से विद्यामता का विकास होता है और बान से आत्मसमर्पण द्वारा मानव इष्ट के साथ एक हो जाता है। मानव की मानवता इसी ऐक्य इसी अमेकत्व इसी प्रपञ्चोपसमता में पर्यवसान पाती है। मानवता के पुजारी इसी अनामनीय पथ के पथिक बनकर बिम्ब में पूजाइ बनते हैं और विरकास तक भूले-भटके मानव के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते हैं।

विकास क्रम में हम सब एक ही स्तर पर नहीं हैं। सबकी अपनी-अपनी कर्म सम्पदा है। विकास के विभिन्न स्तर, गुण कर्म स्वभाव की अनेक स्मृता बुद्धि मन ह्रव्य शरीर की विविध श्रेणियाँ सिद्ध करती हैं कि सबने समान उप नहीं किया है, सबकी विद्या-वीक्षा भ्रष्टा-निष्ठ एक सवृष्ट नहीं रही है सबके बट एवं संक्रमण एक विद्या में नहीं लगे हैं। मानवता का पुजारी इन नाना स्तरों में बिस्वास रखता हुआ किसी के साथ बिबाद में नहीं पड़ता। वह अपने सामर्थ्य के अनुकूल सबकी सेवा करता है सबका उत्थान चाहता है सबको अपनाता है। वह अपने व्यक्तित्व का विभिन्न सर्व में करता चाहता है क्योंकि उसका आदर्श उसका यथार्थ, उसका सत्य सर्व है। वह नहीं। सर्व से पार्यवस ही उसके दुःख का कारण है।

सर्वमम हो जाने में ही उसके ध्येय की पूर्ति है। मानवता की पूजा या उपासना मानव के अन्तर निहित सर्वव्याप्त तत्त्व की अर्चना है। मानवता के पुजारी का ह्रव्य इसी हेतु विद्याम होता है। सर्वस्पष्टिता उसके स्वभाव की प्रमुख परि-पायिका है।

मानवता के पुजारी का ह्रव्य उन्मुक्त होता है। जो बन्ध है, खुला नहीं है वह बन्धन भी नहीं है। मानवता का पुजारी बन्धन है विशेष रूप से बन्धन है और अन्त में अन्धी तरह चारों ओर बन्धन है। उसकी पद्धति में प्रथम राज्य फिर वैराज्य और अन्त में स्वराज्य आता है। वसुधामा उभे राज्य बेटे [ ] वसुधामा उभे वैराज्य बेटे हैं और आश्रित्यसाम उभे स्वराज्य में प्रतिष्ठित कर देते हैं। वह वासक शक्तियों से मुक्त होता है। रोवों को दूर करता है स्वस्य अर्थात् अपने में स्थित होता है और अन्त में सबको ग्रहण कर लेता है। अदिति अर्थात् अक्षय्यता का सदा सम्पन्नी बनता है। पार्थिव अग्नि मानसिक विद्युत् तथा विज्ञानात्मा की सूर्य प्रदीप में वह कमल प्रवेश पाता है और वहीं महता या ब्रह्मभाव में सम्पन्न होता है। जैसे प्रातःकास उदय का समय है, मध्याह्न काय धोर किया या अक्षय्य अमिष्यति का समय है और सायंकाल अवन-संप्राप्ति का समय है वैसे ही मानवता का पुजारी उदय



होता है अपने कर्मकाण्ड से प्रविष्ट यज्ञस्वी बनता है और अन्त में अपने अमन में पर ब्रह्म में समाधीन हो जाता है ।

मानवता का पुजारी ब्रह्म या कला नहीं, अकल या ब्रह्मी की ओर बसता है सीमित नहीं असीम या अगन्त पर वृष्टि रखता है । अन्धकार नहीं प्रकाश से प्यार करता है और परिमाण नहीं अपरिमेय को अपनाता है । मानवों के बीच बही ब्येष्ट है और बही ब्येष्ट है । अतः सभी की भाँखें उसी की ओर जाती हैं । उसी पर केन्द्रित होती हैं । सबको अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति उसी के माध्यम से सम्भव होती मान पड़ती है । वह सर्वप्रिय है सबका है और सबके लिये है । समाज उसको मान देता है तो वह समाज को मान देता है । समाज उसके कारण प्रतिष्ठा पाता है तो वह भी समाज के कारण प्रतिष्ठित होता है । अपने आधिपत्य से वह तो चमकता ही है अपने समाज को भी चमका जाता है । उसियों से परबभित देख उसके पैर से प्रवीण हो उठते हैं पराधीन जातियाँ स्वातन्त्र्य सुख का उपभोग करने लगती हैं । यह सब होते हुए भी वह एक जाति समाज या देश का नहीं होता वह मानव मान का होता है । निश्चित बसुन्धरा उसका परिवार है उधार चरित महामाग विद्यालय हृदय मानवता के पुजारी का आत्मा परमात्मा के समक्ष ही है ।

## ३। मानवता का विकास और संस्कृति

पीछे जो कुछ लिखा गया है, वह मानवता के स्वस्व को स्पष्ट करता है । यह स्वस्व सत्य में प्रतिष्ठित है । सात्विकता मानवता के विकास की ऊर्ध्व स्थिति है । आचार्य अस्मत् इसे महत्व देते हैं, क्योंकि यही आत्मा को परमात्मा से मिलाती है अथवा दोना में सम्मिल करती है । संस्कृति का भी यही कार्य है । अतः मानवता को हम संस्कृति का धर्म कह सकते हैं । पर संस्कृति वस्तुतः मानवता से भी ऊपर से जाने वाली है । मानवता से ऊपर के स्तरों में अधित्व देवत्व तथा साध्यत्व की पगला भी जाती है । इनका कुछ आभास मानव योनि के ब्राह्मणत्व में परिलक्षित हो जाता है पर वह आभास ही है । ब्राह्मण को जब हम भू-देव या भू-मुर कहते हैं तब उसका अर्थ व्यतिरेक द्वारा यही होता है कि देव भू-देव से निम्न अस्तित्व रखते हैं ।

मानवता के लिये अभिप्रेत गुण निश्चित रूप से संस्कृत व्यक्ति की विशेषताएँ हैं । इन गुणों से सम्मिश्रित मानव को हम संस्कृत मानव कहेंगे । मानव जैसे-जैसे बाहर से भीतर तक संस्कृत होता जाता है वैसे ही वैसे वह प्रवीण होता जाता है । आपस मनो वा बहिष्करण तथा मानसिक अर्थों का निराकरण उसे अपने नेतन रूप के निवृत्त से जाता है । हाँ बहिष्करण और नेतनता वा आधान एक ही वस्तु नहीं है । बहिष्करण के साथ आधान के अभ्यास के लिये कतिपय आचारमक तर्कों के समावेश की आवश्यकता है । अप न-शोशुबधम् के साथ समने मन-शिव संवत्समन् के अभ्यास की ओर भी सामक को उन्मुख है । नहीं तस्तीन भी होना चाहिये । अनामीकामय विदवा मनाश्रुतिनपाराति दुर्विवशमधोपत । आरे देवा देवी

अस्मत् । के साथ देवाना महा सुमति ऋक्षयता देवानाराति रभि नी निर्बलताम् । देवाना सव्यमुपसेहिमा अयम् ।' के पाठ नहीं साधन या सम्पादन की आवश्यकता है । तभी हम शर्म तथा जीवन में प्रतिष्ठित हो सकेंगे । कुछ से छुटना सुख प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है । गद्वं अनुमो का करना और अमरता से हटना दो स्तर हैं । एक का अपनयन तथा दूसरे का संपन्न बिना भिये मुक्ति नहीं स्थायीनता नहीं आनन्द नहीं है । आनन्द के अवरोधकों में वेद प्रमुख रूप से तीन पाशों का वर्णन करता है जो पुनः पुनः स्थितियों में अनेक रूप धारण कर लेते हैं । इन्हें बन्धन के पाश या बन्धन कहा गया है ।

दरनीय बन्धनदेव के ये पाश व्रतभंग करने वाशों को सभी स्थानों और कालों में आवद्ध कर लेते हैं । जो पाप करता है वह इन पाशों में जकड़ा जाता है । व्रत कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ नैतिक हैं । इनमें से किसी भी व्रत को तोड़ने वासा व्रत का नामी बनता है । स्वास्थ्य के नियमों का न पालन करना प्राकृतिक व्रत का भंग है । झूठ बोलना चोरी करना आदि नैतिक व्रत-भंग के अन्तर्गत हैं । हम जाहे बितना भी छिपकर व्रत-भंग करें पृथ्वी पर पृथ्वी के ऊपर या उससे भी परे, बन्धन के सहस्राक्ष स्वप्न (वृत्त) हमें बेच ही लेते हैं ।

सर्वं तत्रावा बन्धो विषये

अन्तरा रोवसी मत्परस्तात् (अ० ४।१६।१५)

बन्धन देव के पाश संक्र्यों और सहस्रों हैं अर्थात् अगणित हैं, पर ये सब तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं । अ० १।२४।१५ के अनुसार ये उत्तम मध्यम और अधम पाश हैं । ये वेदा पाश अर्थात् की निर्माकित ऋचा के अनुसार सप्त सप्त प्रकार के भी वर्णित हुये हैं —

ये ते पाशा बन्ध सप्तसप्त

वेदा तिष्ठन्ति विविता क्रान्त ॥

क्षिणन्तु सर्वे अमृत बन्धनं

यः सत्यवाचति तं सुबन्तु (अ० ४।१६।१७)

बन्धन देव के तीन प्रकार के पाश ही सात-सात प्रकार के हैं । ये सात प्रकार के पाश सप्तमर्षावाः कथयस्ततस्तु । (अ० १।१।६) सात मर्षावाओं का भी स्मरण बिला देते हैं । सात मर्षावाओं को तोड़ना मानों सात प्रकार के पाप करना है । ये सात मर्षावायें प्राकृतिक भी हैं और नैतिक भी । अठारो बार सप्त शब्द का प्रयोग हुआ है । प्राकृतिक क्षेत्र में इनका सम्बन्ध महत्त्व अङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राओं से है । इन सातों को स्वस्थ रखना तथा समृद्ध करना प्राकृतिक मर्षावा है । नैतिक क्षेत्र में इनकी स्वस्थता तथा समृद्धि के समुपयोग करने की मर्षावा है । यह उपयोग चेतना की अपेक्षा रखता है अथ नीति के अन्तर्गत आता है । पर ये सात-सात प्रकार के पाश प्रमुखतः तीन ही प्रकार के हैं । प्रकृति त्रिगुणात्मिका है । उसके ये तीन गुण अपने दो हैं ही पर जब ये चेतना पथ पर लड़ जाते हैं, तो उसे



## ६ । संस्कृति और विकास-पद्धति

### क विकास-चक्र

जीवन पक्ष—पक्ष में ह्रास को प्राप्त हो रहा है। प्रकृति एक दिन इसे अपने में मिटा लेगी पर यह इतना बलवान है कि यह उसमें मिलकर भी फिर फूट पड़ेगा। यह क्रम बराबर चलता रहेगा जब तक इसे विकास का मार्ग दिखाई देता रहेगा। वस्तुतः यह विकास पद्धति-की शोख में ही ह्रास विलय तथा पुन प्राकट्य के अन्तः तन्त्र में पड़ा करता है। इस चक्र में भोग और उस भोग के अनूक्त कर्मसंहति चमकी रहती है। भोग के स्थान पर जब यह उपरचर्या को बरन करता है सभी विकास का आरम्भ होता है।

### ख शरीर

उपरचर्या इन्द्र—सहन के साथ संयम विशेष का नाम है। संयम में हम बाहरके मोर्चों के विरुद्ध होते हैं जिनमें सारीरिक मोर्चों की प्रमुखता है। इन मोर्चों में सर्व प्रथम आहार आता है। कुछ व्यक्ति एकाग्रही के दिन अन्न का सेवन नहीं करते। कुछ ऐसे हैं जो रविवार को व्रत—विहीन एकाग्रहार करते हैं। कोई संयम का व्रत रखते हैं, कोई पुनिमा का अन्नवा अन्नान्न का। कुछ व्रत सामाजिक भी हैं। श्री कृष्ण अस्माष्टमी तथा शिवरात्रि के व्रत आर्य जाति में सामूहिक रूप से मनाए जाते हैं। इन व्रतों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर को आहार न मिलने से अन्तर्द्विर्घों की चोड़ी डेर के लिये आराम मिल जाता है और जो मोहन पक्ष नहीं पाया या वह पक्ष जाता है। मोहन के बाव जो सारीपन या प्रभाव की अवस्था आती है, वह भी नहीं कर पाती। आत्मस्य के अभाव में शरीर की कार्य—कृति भी ठीक हो जाती है। उठे-सोने के वेध भी पूर्णतया काम्ठ नहीं तो कम तो हो ही जाते हैं। मन की चंचलता भी पूर्ण चैती नहीं रहती। विकास के लिये ये सभी परिस्थितियाँ कामकारी हैं। इनसे शरीर बूढ़ बनता है बासक शक्तियों से संयुक्त होता है तथा दिव्यता की ओर प्रयाण करता है। वेध इसी हेतु कहता है —

योऽग्निं तन्मो दये देव मर्ता सपर्वति ।

तस्मा इहीदमन् वसु । ऋ० ४/४४/१५

जो मानव शरीर के दमन द्वारा परमपति परम ज्ञान एवं परम प्रकाश रूप देव की पूजा करता है उसके लिये वसु वासन उत्पन्न वन या ऐश्वर्य कम उठता है ।

पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रमुर्षावामि पर्ययि विवदताः ।

अतप्त सगूर्ण तवामो ब्रह्मनुते श्रुतासद्ब्रह्मन्, तत्समाश्रित ॥

श्रु० १८/३/१

प्रभु ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं । उनकी पवित्रताकारिणी नैर्मल्य विधायिनी शक्ति चारों ओर फैली हुई है । वह हमारे शरीरों को सब ओर से परिष्काृत किये हैं । पवित्रता की इस पावन में विमलता को इस बलि में डालकर जिसने अपने शरीर को तपा नहीं लिया, जो कष्ट ही बना रहा, वह उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाता । जो पक जाता है तप की भट्टी में डालकर शरीर को कुम्हल बना देता है, वही कार्य भार को सहन करता हुआ कर्तव्यपालन करता हुआ, उस प्रभु को प्राप्त करता है ।

हठयोगी इस शारीरिक सिद्धि को आसन द्वारा चरितार्थ करते हैं जिससे वे इस स्तूल शरीर को बटों एक ही स्थान पर एक ही स्थिति में बिठाये रखते हैं । शरीर का यह संयम ध्यान में सुकरता उत्पन्न करता है ।

ग प्राण

स्तूल शरीर को सूक्ष्मशरीर के साथ मिलाने वाला प्राण है । मृत्यु के समय स्तूल शरीर नहीं पड़ा रहता है जिसे या तो जला दिया जाता है या बड़ना दिया जाता है या जल में प्रवाहित कर दिया जाता है । कहीं कहीं यह जीव गृध्र आदि के जाने के लिये किसी वन या स्थान विशेष में रख दिया जाता है । प्रत्येक अवस्था में प्राण इसे छोड़ कर सूक्ष्म शरीर के साथ अन्यत्र जाता है । मृत्यु को कोई पंचद नहीं करता । सभी चाहते हैं कि प्राण इस शरीर में निरन्तर चलता रहे । वैदिक ऋषि भी कहते हैं —

आ आसद् ब्रह्मन्त सजोषसो हिरण्यरक्षां सुविताममन्त ।

इयं वो अस्मात् प्रसिद्ध्यते मति-तुष्णजे न विव उत्साजव्यये ॥

श्रु० ४/३/२१

प्राण ! आओ । तुम ब्रह्मन्त हो आत्मशक्ति से युक्त हो सेवा-परायण हो तुम्हारी पति हितकर और रमणीय है । तुम हमारे सुविश्व के लिये उत्तम अवस्था के लिये यहीं रहो । जैसे प्यासा जातक स्वातिनशत्रु के बीबीजस के लिये सासायित रहता है वैसे ही मेरी मति तुम्हारे लिये उत्कृष्ट हो रही है ।

प्राण का कार्य उस प्रकार का है पर उसके पाँच प्रकार तो अतीव महत्त्व पूर्ण हैं । इन पाँच में भी दो रूप सर्वश्रेष्ठ हैं जिन्हें प्राण और अपान कहा जाता है । समस्त प्रजा का प्राण सूर्य है । जब यह प्राण-युक्त अपनी सहस्रबाहिरणों के साथ उदय होता है, तो विश्व का कण कण एक-एक पदार्थ एक-एक व्यक्तित्व संप्राप्त हो उठता

है, निराशा के स्थान पर आशा और तम के स्थान पर प्रकाश का संचार होने लगता है । दिन और रात्रि में २१६०० बार श्वास का प्रवेश और निष्क्रमण होता है । जो सांस बाहर से अन्दर जाती है, वह बाहर के प्राण—सिन्धु में डूबकी समा कर जाती है, अतः अन्दर पहुँच कर शक्ति का संचार करती है । जो सांस अन्दर से बाहर जाती है, वह हृदयसिन्धु के मंचन से उत्पन्न मन को शरीर के बाहर फेंक देती है । पहली सांस को प्राण और दूसरी को अपान कहते हैं । जीवन-मवाची एवं मत्तापहारिणी श्वास प्रश्वास को इसीलिए जो अश्विनी कुमार वैद्य बंधों की संज्ञा दी गई है । अथर्व वेद के अनुसार —

ह्रौं हनीं वातीं वातं आसिन्धो आपराजता ।

वर्षं ते अग्न्य आवातु पराग्यो वातु यज्ञप ॥

आ वात वाहि मेपञ्चं विवात वाहि यज्ञप ॥

त्वं हि विवत मेपञ्चो देवानां हूत ईयसे ॥

आ० १०/११७/२१

ये दो वायु नाम रखी हैं — एक बाहर के सिन्धु से अन्दर के सिन्धु तक और दूसरी अन्दर के सिन्धु से बाहर के सिन्धु तक । अन्दर का सिन्धु हृदय है, बाहर का सिन्धु अन्तरिक्ष । एक एक अर्थात् बस जाती है तो दूसरी सोप धूर करती है । एक से प्राप्ति अपाति जीवन आता है तो दूसरी से अपनयन सोपापहरण होता है । दोनों ही रूपों में प्राण औपम्य का कार्य करता है । वेद तो इसे देवताओं का दूत भी कहता है । प्राण का संयम विम्वता का आह्वान है । जैसे अग्नि की ग्वासाओं में पड़कर वातुओं के मक्ष रग्न हो जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों के सोप प्राण के निग्रह से मृष्ट हो जाते हैं । प्राण की उपस्था प्राण को बलीभूत करने में है । जिस प्राण के बल में सारा संसार है, उसे बल में कर लेना मानों विश्वविजयी होने की जोषणा करना है । हठमोगी प्राणा याम के अन्मास द्वारा अन्दर के अर्थों का उद्घाटन करते हुये आत्मज्ञान पर पहुँच कर ज्योति के वर्तन करने लगते हैं ।

प्राण—संयम से जब इन्द्रियों के शप धूर हो जाते हैं तो इन्द्रियों की संज्ञा श्रुति हो जाती है । इन्द्रियों का यही श्रुतिस्व आधे जलकर विकास कम में देवत्व की संज्ञा प्राप्त करता है । पाँच ज्ञान की और पाँच कर्म की मिलकर दस बाहर की इन्द्रियाँ हैं । मन बुद्धि चित् तथा बह्कार नाम से चार अन्दर की इन्द्रियाँ हैं । ये चार कमी—कमी अकेले मन में भी सम्मिलित कर ली जाती हैं और इस प्रकार समस्त इन्द्रियों की संख्या स्याद् हो जाती है । इन इन्द्रियों का संयम अपूर्व शक्ति रखता है ।

सयमशील इन्द्रियाँ आत्मा के साथ एक होकर उन्नी के अनुकूल आचरण करती हैं । उनकी श्रवणता, स्पर्शजन्यता उच्छ्रब्धता मृष्ट हो जाती है । इसी कारण उनका बल भी बढ़ जाता है । बल बढ़ने से उनमें एक शोभा एक दीप्ति भा जाती है और आत्मा जिस मनु के साथ संयुक्त रहता है, उमात्र भी वे पान करने लगते हैं । इन्द्रियों,

की आस्थावत भक्ति भी व्यापक हो जाती है। जसु दूर दूर देशों का दर्शन करने सगते हैं। शोक विविध लक्ष्यों के श्रवण में समर्प हो जाते हैं। मन सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को ग्रहण कर लेता है। समस्त इन्द्रियों की समवेत शक्ति का अमरकार संयमी मोक्षियों के ही अनुभव की वस्तु है।

समय पूर्वक इन्द्रियां यदि आत्मा के साथ चलने लगीं तो आत्मा का स्वराज्य सिद्ध हो पया। यही तो जीवन यात्रा का अभीष्ट गन्तव्य है। इसी सत्य की प्राप्ति के लिये हम सबका पुनर्पार्थ है। स्वराज्य में एक नहीं सब आनन्द के भागी बनते हैं। जिस राज्य में छोटे व्यक्ति सुख भोगों और अधिक संख्या लोभ कष्टों को सहन करे, वह स्वराज्य नहीं सुराज्य भी नहीं परराज्य और कुराज्य है।

**ध मन**

इन्द्रियों में मन प्रधान है। बाहर की सभी इन्द्रियों के निश्चित व्यापारों का समेकन वही करता है और वही उनका तथा आत्म-सम्बन्ध का माध्यम है। पर, मन में आसुरी तथा बौद्धी दोनों सम्प्रदायें भरी पड़ी हैं। एक के अपनाने से हमारा ह्रास तथा दूसरी के अपनाने से विश्वास होता है। असुरों के नीचे बसकर हम स्वयं ही नहीं मरते दूसरों को भी मारते हैं। बौद्धी सरक्षण में सबको सुख ही सुख है। वेद इसी लिये मन को बौद्धी मन बनाने का आदेश देते हैं।

मन को विष्मता की ओर ले जाने का शिवसंकल्प हमारे अन्दर बंदूत नम्र और तीव्र वेग के साथ आवृत्त होना चाहिये। इस संकल्प का बाह्य बिन्दु श्रवण है। मन बौद्धी विचार सुने देशों का संसर्ग करे विष्म भावों के अनुशीलन में रहे तो विष्मता के इस आसंग से उसमें शैवशक्ति उत्पन्न हो जायगी। श्रवण के उपरान्त दूसरा बिन्दु मनन है जो श्रवण की हुई सामग्री को हमारा अंग बना देता है। मनन आन्तरिक है पर उससे भी अधिक आन्तरिक निर्विध्यासन है जिसे हम निर्विध संमन, बिना तार टूटे ध्यान की अवस्था कह सकते हैं। प्रज्ञा का प्रकाश इसी अवस्था में होता है। श्रवण से पाणिन्य मनन से मुनिन्य, निर्विध्यासन से श्रुतिन्य तथा प्रज्ञा से वेदन्य प्राप्त होता है।

मन को बौद्धी बनाने की प्रेरणा कई मन्त्रों में पाई जाती है, यथा —

पुनरेहि वाचस्पते वैवेग मनसा सह ।

अधोऽप्यते निरमय मध्येऽवास्तु मयिधुतम ॥ अथर्व ११२

हे वाणी के अधिपति निश्चित वाच मय के स्वामी तुमने बहुत कष्ट सुना दिया है विविध आपाधां वास ज्ञान का प्रवचन किया है। अब ऐसी कृपा करो जिससे यह सुना हुआ मेरे अन्दर बस जाय। तुम वाचक शक्तियों के भी पति हो स्वामी हो रसक हो वैसी मनन तुम्हारा आश्रय छापी है। यदि तुम आ मये और मेरे अन्दर निरन्तर रमन करने सगे तो मेरा मन भी वैसी बन जायगा और अपने सुने हुए ज्ञान को अपने अन्दर पचा सकेगा।

संज्ञानामहं मनसा सचिकित्सा मा पुष्पहि मनसा हृष्येन ।

मा घोषा उत्सृज्य बहूने विनिर्हृते, मा ह्यधुः पप्ताव इन्द्रस्य ग्रह्णि आगते ॥

अथर्व० ७-१२-२

हम सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करें, उस पर भलीभांति विचार करें वैसी मनस से कभी पुष्पक न हों इसकी पहिचान का सद्यः यह होगा कि जब विपत्ति आवे तब हम हाहाकार न कर उठें और जब सुख के दिन आवें तो इन्द्र का वपुः हमारे ऊपर न गिरे—अर्थात् बुद्ध में हम विचलित न हों और सुख हमें इन्द्रत्व से आत्मतत्त्व से, अपने आप से बाहर न कर सके ।

तन्नु तन्मन् रक्षसो मानुमन्विहि ज्योतिष्मताः पथो रक्षन्विया कृताम् ।

अनुस्मर्यं वयस जीगुहामपो मनुर्मन जनया इर्यं जनम । ऋ० १०-१६-१

हम ज्ञान का राना और कर्म का बाना कुन्ते हुये विष्य सूर्य के पीछे पीछे चलें । ज्योतिष्मान ज्ञानवनी अपने बुद्धि-बस से जिन प्रकाश पथों का निर्माण कर पड़े हैं, उनकी रक्षा इसी विधि से होनी । हमें उत्सव-रहित होकर, बिना गाँठें बाने, कवियों-ऋषियों के पुनीत पद-चिह्नों पर चलना है । यदि हम मननशील मनु बन गये, तो वैष्य जन की प्रसूति भी संभव हो जायगी । विष्यता की सतान, वैसी स्थिति की उत्पत्ति मनन-वीरता के पश्चात् ही सम्भव है ।

अग्नि मिम्वानो मनसा धियं सवेत तर्प्य ।

अग्निमीये विवस्वतिः । ऋ० ८-१०२ २२

मन से अग्नि प्रव्यवस्थित करता हुआ मानस भी को प्राप्त करता है । अतः हम ज्ञान-किरणों द्वारा इस अग्नि को प्रकाशित करें । जहाँ हैं हमें ज्ञान की रस्मियाँ उपलब्ध हो सकती हैं जहाँ से हम उन्हें प्राप्त करें फिर मनन सम्बन्ध द्वारा उस ज्ञान को अपने अन्दर प्रव्यवस्थित करें । प्रत्येक ज्ञान रश्मि उस ज्ञान-निधान परमसूर्य प्रभु की ओर सकेत करती है । मनन की यह अग्नि भी को भी प्राप्त करती है । ज्ञान और आचरण की कपली और करली की एकता इसी के द्वारा सम्पादित होती है ।

ॐ बुद्धि

जी में ज्ञान और कर्म संयुक्त हो जाते हैं । महात्माओं का लक्षण भी यही है कि जो कुछ उनके मन में है जिस विचार को वे अन्दर रखते हैं, उसी के अनूद्ध आचरण भी करते हैं । दुष्टता बुद्ध जन की पद्धति इसके विपरीत होती है ।

ज्ञान और कर्म की एकता अर्थात् जी की उपलब्धि विष्यता की सुबुद्ध सीढ़ी है । यह भी प्रेरित, गतिवती सचेष्ट बनी रहे कृच्छ्र न होने पावे, हमारी सुबुद्धि सतत भ्रम भद्र और कल्याणकारी कार्यों में प्रभुत रहे इसी की प्रार्थना गायत्री मन्त्र में की गई है ।

यह भी यन्त्रिय होती है । वैराग्यों की तो यह सतत संजिनी है । यात्रक इसी की पूजा करते हैं । इसी से उनकी रक्षा होती है । जैसे जी के श्वेत में भर कर बाहु



हुई गी सहस्रवार हुम्न बेकर हमें सुप्त कर देती है उसी प्रकार यह भी भी उस मही यही गी के समान हमारी कामनाओं को फसवती कर हमें आप्यायित कर देती है ।

आधोयिय यज्ञियां वर्तन्त्ये वैवादेवी यज्ञताम् यज्ञियामिह ।

सा नो बुहीयत् यवसेव गन्धो सहस्रवारो यमसा महीयौ ॥ ऋ १०-१०-१-९

जैसे मन में देवी एवं आसुरी दोनों भाव रहते हैं वैसे ही भी भी यज्ञिय एवं अयज्ञिय दोनों प्रकार की हो सकती है । वेद ने जहाँ भी को यज्ञिय पवित्र कहा है, वहाँ उसे पापीयसी भी कहा है 'अप्यत्र पापीयसेवामिह' । यज्ञिय भी से विकास होगा पापीयसी भी ह्रास की ओर ले जायेगी । पाप प्रकृति वाली भी में कबभी और करनी दोनों ही अपवित्र होंगी । यदि भी को स्रष्ट की ओर चलने की प्रेरणा मिलती रही तो अपवित्रता कम होती जायगी और पुण्य का प्रकाश बर्धमान रहेगा । वैसे पुण्य और अपुण्य का जाड़ा जब तक चलता रहता है जब तक प्रज्ञा का प्रकाश स्थिर नहीं हो जाता । प्रज्ञा के पार चले जाने पर पुण्य और अपुण्य का प्रस्न ही नहीं रहता क्योंकि यह भुग्न प्राकृतिक क्षेत्र तक ही सीमित है ।

मनन के उपरान्त यदि हमारा ध्यान पवित्र हो गया तो विष्यता का आधान हमारे अन्त एवं बाह्य क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगेगा । यह आधान सुरक्षित रहे, विष्यता पर वागवता का आक्रमण न हो सके हमारा प्रकाश परमात्मा न बने इसके लिए भी से भी ऊपर मेधा के क्षेत्र में रहने की आवश्यकता है । वेद के तन्त्रों में —

यां मेधां देवयथा पितरव्योपासते ।

तयामामस मेधया अग्ने मेधाभिर्नृच ॥ यजु० ३२-४१

देव और पितर इस मेधा की उपासना करते रहे हैं । उनका ज्ञान और त्याग योग एवं त्याग कर्म तथा धर्म मेधा के द्वारा ही पूर्णता तक पहुँचें हैं । अतः इस मेधा से आप मुझे भी मेधावी बना दें ।

मेधामहं प्रवसां ब्रह्मभूतौ ब्रह्मभूतां ऋयिष्यताम् ।

प्रतीतां ब्रह्मचारिणि देवानामवसे हुवे ॥ अथर्व १ १०४२

मेधा ब्रह्मभूती देववती ज्ञानवती, आनी ब्राह्मणों द्वारा संवित ऋषियों द्वारा स्तुत, प्रवसित और ब्रह्मचारियों द्वारा प्रपीत है आत्मसात् की गई है । जिन देवताओं को मैंने घाटीरिक तप प्राण-निग्रह इन्द्रिय दमन संयम मनन एवं ध्यान द्वारा अपने अन्तर बसा लिया है, उन पर कोई आँख न जाने पावे वे सुरक्षित रहें मेरे अन्तर बने रहें इसके सिधे मैं मेधा देवी की तरफ जाता हूँ उसका आह्वाण करता हूँ । मेरी पुकार पर मेधा महारानी आवे और मेरे देवी अर्शों की सुरक्षा का कवच पहिना दे ।

विष्यता मेरी संमिती ही नहीं मेरा एक अंग बने अपूपक रूप से मेरे अन्तर निहित रहे इस सिद्धि का सहायन मेधा द्वारा होता है । मेधा का मेधन (समन, प्राप्ति) प्रभूत पुरपापों की ओरता रसता है । इसके सिधे बाष्पण शक्ति (चारक बन्ध द्वारा पापों को हटाना और पवित्रता को बरण करना) आग्नेय शक्ति (निरन्तर प्रगति, पवित्र्य एवं ज्ञान का अभ्यास) प्राधान्य (आधिभूत एवं संवित देवी सम्प्रदाय पा

संस्कृति का संश्रान) ऐंग्री शक्ति ( ईवी ऐश्वर्य को बढ़ाना इन्द्र की भांति नवनवति से ऊपर सतत बनना ) वायवी शक्ति ( विम्वता का प्रसारण ) और वातु शक्ति (अग्नि किये हुए को अपने अन्दर धारण कर लेना, पचा देना) की धराधना करती पड़ती है। मेघा प्राप्त हो गई, तो दिव्यता सुरक्षित हो गई प्रकाश का पट जुग गया।

मेघा के ऊपर प्रकाश का प्रकाश है स्वतः ज्योति का प्रकट हो जाना है। वैज्ञानिक एक महासूर्य को और वेद हिरण्यमर्ग को निषिद्ध ब्रह्माण्ड का बनक मानते हैं। पिंड में प्रकाश का भी यही स्थान है। प्रकाश पर पहुँचते ही पाप समाप्त हो जाते हैं जैसे ही जैसे हिरण्यमर्ग ज्येष्ठ ब्रह्म या महासूर्य तक आकर प्रकृति की विकृतिप्रांति निःशेष हो जाती है। पाप का यह रूप सूक्ष्म ब्रह्म में राग एवं द्वेष और सूक्ष्म ब्रह्म में मोह एवं क्रोध में विच्छाई देता है। प्रकाश के प्रकट होते ही यह विनीत हो जाता है। वेद कहता है -

उदयाहयमावित्यो विषयेन सहसासह ।

क्षिपत्त मह्य रज्ज्वत्, मा उ अहं क्षिपते रज्ज्व ॥ ऋ० १ ३०-१३

प्रकाशवी आदित्य अपने समस्त तेज के साथ उदय हो गया। इसने मेरे शत्रु (राज-द्वेष) को समाप्त कर दिया। अब मैं द्वेष के बन्धीपूत नहीं हो सकता।

अपान सोमममृता अमृत अगम ज्योति रविदाम वैभान् ।

किं नूनम् अस्मान् कृणवहराति किम् कृति अमृत मर्त्यस्य ॥ ॥ ऋ० ८-४८ ३

मैंने सोमपान कर लिया। अब मैं अमर हूँ। ज्योति मेरे सामने है। देव मेरी संनिधि में हैं। अब अराति शत्रु मेरा क्या बिपाद सकते हैं? भरण वर्मा मानवों के इन्द्र सत-कपट चूर्णता अब मेरे चरणों के नीचे बसे हैं अपना बल खो चुके हैं।

प्रकाश के रूप में साधक को सबसे ऊँची सिद्धि प्राप्त हो गई। उसे देव ज्योति अमरत्व सोमपान सब कुछ तो मिल गया। अब और क्या चाहिए? शत्रु कोई अबशिष्ट नहीं रहा मर्यों की कृति उस पर बल नहीं सकती कौसी स्पृहणीय अवस्था है। किन्तु उवाच ! किन्तु श्रेष्ठ ! पर साधक तू जिन शत्रुओं में अपनी सिद्धि का चलेख कर रहा है क्या उन शत्रुओं पर भी ऐसा ध्यान गया है? क्या इन शत्रुओं में ऐसा अहंकार नहीं मोस रहा? अहंकार को पहली गति है बिचने तुझे प्रकृति के साथ सर्व प्रथम प्रथित किया अब भी बना है। तू बहुत ऊपर उठ गया है इसमें सन्देह नहीं, पर अभी विकृति से नहीं तो प्रकृति से तो चिपटा ही है। यह अहंकार तुझ उठे हुए को बिचा देगा। तुझे देव मिल गए हैं अमरत्व का तू अनुभव कर रहा है पर यह स्वर्ग-अमरों और देवों का स्वर्ग, भोग की ही तो वस्तु है। इसे भोगने के बाद तू पुन माता-पिता की आकांक्षा करने समेया। क्या कोई ऐसी अवस्था नहीं जहाँ इस अहंकार का भी नश्वर हो सके?

अ अहंकार शमन

महर्षि पतंजलि ने चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध इष्टा के में माना है और अस्मिता या अहंकार को नौशेषों में स्थान दिया है।

अपरामृष्ट रहता है। यह पुण्यविशेष ईश्वर है। यदि सायक ईश्वर के साथ अपने एक कर के जो प्रकृति से एक वन अलग हो जायगा। प्रभु की भक्ति अहंकार, समनार्थ इसीलिये अनिवार्य समझी गई है। यद बहुता है

स्वपादतु इन्द्र युवा वयं प्रति कुभीमहि स्पुमः ।

स्वमस्माकंतेव समसि ॥ ऋ० ८-१९-३२

हे ईश्वर ! तुमसे मुक्त होकर ही हम बहुता पर आश्रित स्वर्गियों का साम कर सकते हैं। वस्तुतः प्रकृति भाया अभिधा मेरी नहीं और न मैं उसका हूँ। मैं तो तेरा हूँ और तू मेरा है। यही सम्बन्ध सत्य है। जग्य सब सम्बन्ध असत्य है।

स्वावते हि इन्द्र मय्ये अस्मि स्वावतोऽप्रियतुः गुरुरासीत् ।

विश्वेदेवहामि तविषीव उग्र ओक कुबुज्य हरिषो न मयी ॥ ऋ० ७-२२-४

प्रभु ! जब मैं तेरे ही कार्य करूँगा वचन तेरे लिए जो कार्य किए जाते हैं उन्हीं को करणीय, कर्तव्य कार्य समझूँगा। तू दूर है सच्चे बल वाला है अब तेरे जैसे रक्षक के पास में ही मैं अपन को समर्पित करता हूँ। हे बलवती रक्षण शक्ति के भण्डार परम तेजस्वी परम-दुरगामी अब सब दिनों के सिय तुम मेरे अन्दर अपन भर बनाओ तुम्हारे अतिरिक्त अब वही अन्य कोई न रह सके तुम सबको वहाँ से अपहृत कर दो निकाल दो। तुम्हारे निवास से तुम्हारे संसर्ग से हे समुत्त मैं मरने से बच जाऊँगा। जो मुझे बार-बार मारते रहे तथा मरण की ओर प्रेरित करते रहे वे तुम्हारे बल जाने से ही भाव सकेंगे मर सकेंगे।

इमे त इन्द्र ते वयं पुण्यवृत्त ये स्वारम्य अरायसि प्रभुवतो ।

नहि स्वहयो विवर्धो विराः सप्तत ओषीरिष प्रति मोह्यतः ॥

ऋ० १३७-४

हे इन्द्र हे पुण्यवृत्त हे प्रभुवतो ! तुम्हारा ऐश्वर्य ही सच्चा है देवा प्रभुत्व ऐश्वर्य विपुल बलवान् अनाम्य और किसी पर भी नहीं है। अतएव मैंने तुम्हारा ही आश्रय लिया है। जब मैं तुम्हारा ही बन गया हूँ। हे वाणी के सबनीय वाक् शक्ति के आराध्य देव ! आपके अतिरिक्त मेरे वचनों को भेटी जाते पुकार को सुनने वाला भी और कोई नहीं है। पूष्णी की आकर्षण शक्ति की भाँति मेरे वचन आपके ही कागों में पड़े। उन्हें आप ही सुनें।

इमे हि ते बहुवृत्त सुते सप्ता मयौ न मय आसते ।

इमो काम अरितारो वभूवतो रणे न पावमावहु ॥

ऋ० ७-३९९

देवों, देवताओं, आपको अपना बमाने वाले तुम्हारे लिये निर्मित किये वये क्षेत्र में मिल कर बैठ गये हैं, जसे मनु के चारों ओर मन्त्रिणा बैठ जाती हैं। ये स्तोता ये भक्त ये पुत्र वधु के प्रेमी अभिसापी तुम पाकर ऐसे निश्चिन्त हो गये हैं जैसे रण में बैठ कर कोई पथिक निश्चिन्त हो जाता है।

अस्मा रम्यं न विजयो ररम्या शबसस्वते ।



क एमत्य

पञ्चमं के ४०वें अध्याय में निम्नोक्ति संन आता है—

यस्यैवमसर्वाणि भूतानि आत्मैवामूर् विज्ञानतः ।

तत्र को मोह कः मोह एकत्वमनुपापत ॥

विज्ञानी के सामने विज्ञान के रूप में स्वरों में एक ऐसी अवस्था में समस्त भूत आते ही हो जाते हैं—आत्मा ही जान पड़ते हैं। न मोह रहता है न मोह। एकरूप के दर्शन होने समय है। जिस और मोह नष्ट हो जाते हैं वह अवस्था कौसी हो सकती है? न भविष्य के लिये समर्थ नहीं करता है। तब कुछ है जो अतीत पर के नष्ट होने पर हाता है। भिन्न न पुरातन का कुछ हो न भविष्य वह वर्तमान में ही संतुष्ट रहता है। परमात्मा न भूत है न भविष्य भूत की भाँति समाप्त हो गया है और न भविष्यमान होकर भविष्य होमा। न उसकी मृत्यु है न उसका जन्म। वह सतत वर्तमान है वर्तमान का वर्तमान न भी वर्तमान है और भविष्य में भी वर्तमान का वर्तमान है। सब समयों और सब स्थानों में एक सम है उस पर प्रभाव नहीं डाल पाते। ये तो उसके बल में है पर वह है। वह विषय-वस्ती है स्वभाव से सबको अपने बल में रखने का किसी का बल नहीं बसता। साबक विज्ञानी भी अन्त में उ है रहता है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता उसके प मोह और मोह से मृत्यु एकरूप-वर्तमान की यह अवस्था निश्चय एकरूप बालनिकों की युष्टि में मूल भावना है। विषय का एकरूप की ही माया है। एकरूप में अनेकरूप समाविष्ट है। एक से जैसे एक बीज अंकुरित होकर विवसात्मक फिर अनेक दल-स बनता है वैसे ही एक पुरुष अक्षय तथा सत्य सबका प्राण तथा रति होकर अनेक रूप धारण करता है। यही कारण है कि विभिन्न

एकत्व की ओर में अनन्तकाश से संलग्न है ।

सुख और दुःख अन्तर्गतक हैं, इन्द्रियों से सम्बन्ध हैं । इन दोनों से ऊपर जो आनन्द है, वह एकमुखी है । वही सबका मूलाधार है । संसार के किसी एक पदार्थ पर मन अपने राग को एकाग्र रूप से स्थापित नहीं कर पाता । वह एक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर, इसी प्रकार निरन्तर बौक मथाता तथा भटकता रहता है । स्वामी रूप से कहीं पर भी नहीं टिक पाता और तब तक भ्रमण ही रहता है जब तक उसे अपना एकाग्र मूल-तत्त्व प्राप्त नहीं हो जाता । उसके राग अनेक विधाओं के वर्तन करता है पर लोभ या द्रोह उसे एकत्व की अनुभूति में ही होती है । यही द्रष्टा आनन्द है । मानव के निश्चित प्रयास इसी के सिमे हो रहे हैं । उसके प्रयासों का एकमात्र लक्ष्य, अन्वेषकों का एकमात्र गन्तव्य सिध्दाओं की सिध्दा, कामनाओं की कामना केवल एक आनन्द है अद्वैत है एकरव है ।

वेद नीति के पक्ष में जो सिद्ध है कथा के राज म जो सौम्य है, वर्तन की दृष्टि द्वारा जो सत्य है वही आध्यात्म के प्रवेश में आनन्द है और आनन्द की मूर्तिका आकाशमयी है । वहाँ बहुत्व का प्रवेश एकाग्र असम्भव है । बहुत्व जब एकत्व की ओर उन्मुख होता है, तभी उसके सहज स्फुरण में आनन्द की व्योमि स्रवकने प्रकट होती है ।

परन्तु हम बाहर की ओर देखते हैं वहाँ अनेकता है । हम बाहर के वस्तुओं को सुनते हैं, स्पर्शों बिस्पी है, विविध हैं । फूल में अनेक पंखुडियाँ हैं, उन पंखुडियों में अनेक वर्ण हैं जो रंग हैं चित्र हैं उनमें परिमल है नमसता है । इन सब बातों का ज्ञान पुरुष के रूप से एक एक आनेन्द्रिय को होता है, परन्तु इन सबका सामूहिक ज्ञान मन को कार्य करता है । मन के अन्तर बाहर के ऐन्द्रियज्ञान का समेकन होता है । इसी प्रकार प्रेम भी एक है । उसमें भी बहुत्व का समेकन होता है । यह समेकन ही आनन्द का है ।

प्रेम भौतिक नहीं आध्यात्मिक है । भौतिकता की बहुस्मृता आध्यात्मिकता शून्य होकर अमेध की सृष्टि करी करती है । वहाँ विषय तथा विषयी का भेद न हो जाता है । प्रथम ही बहुत्व कुछ वर्गों में विभक्त हो जाता है, फिर वर्ग कुछ का निर्बंध करने लगते हैं और अन्त में निग्रम एक नियामक का ज्ञान लेते हैं । इस प्रकार विषयी विषयों से होता हुआ अन्तमुक्त होकर नियम निर्वर्तन उससे नियामक पर टिक जाता है । वह स्थिति ज्ञान के बचवा अनुभूति के स्तर में एकत्व-विशेषिका है । चिन्ता चिन्तन और चिन्तित इस स्थिति नहीं रहते एकत्व में मग्न हो जाते हैं ।

भौतिकता में नाम और रूप हैं । आध्यात्मिकता में नाम-रूप का अभाव है । उपनिषद्वादी हैं अपर में निष्पापि अवस्था है । भौतिक अन्वेषकों को वधि अन्त करता तात्क ज्ञान वर्तन में नाम-रूपारम्भक उपनिषद्वादी से ऊपर उठ जाता है । व्यष्टि और

समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विभाग की इस उदात्त दशा में एकत्व का दर्शन ही अर्वाङ्ग आनन्द की भूमि है।

सूर्य जब अपनी किरणें विकीर्ण करता है तो व विद्यु-विद्यु पदार्थ पर पड़ती हैं, उस पदार्थ में उनके रंग भिन्न जाते हैं पर जब सूर्य अस्त होता है तब उसकी किरणों के साथ उनके समस्त रंग भी सूर्य में केन्द्रस्थ हो जाते हैं। बहिर्मुखी पुरुष भी इसी प्रकार बहुत्व में रमण करता है पर जब अन्तर्मुख होता है तब केवल आत्मकीर्ण एवं आत्मरति होता है।

ध्वनियाँ बैलरी कम में अनेक हैं। मन में भी उनका बहुत्व है पर बुद्धि के क्षेत्र में वर्णन की प्रमाणता उन्हें एकत्व की ओर ले जाती है और परावस्था में एकत्व के अतिरिक्त कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता।

केन्द्र से अनेक रेखाएँ निकल कर परिधि की ओर जाती हैं और परिधि के माना बिन्दुओं पर समाप्त होती हैं पर जब परिधि से केन्द्र की ओर चलती हैं तो सबकी सब अपना कम और नाम भूलकर केन्द्रस्थ हो जाती हैं। इस एकत्व में ही उनकी मूलभावस्था है।

हम सब भी स एक एवं एकबूदेक एवं-से मिलकर एक हो जाते हैं। बहुत्व में भटकना या। एकत्व में विधाम है विराम है आनन्द है। आनन्द से ही सब निस्तुत होते हैं उसी में प्रतिष्ठित रहते और अन्त में उसी में समा जाते हैं। आर्य संस्कृति हम सबको इसी एकत्वमयी आनन्दमयी अवस्था की ओर ले जाती है।

जब हम इस विद्यालय ब्रह्माण्ड को देखते हैं तो अपनी लज्जा पर सीस उठते हैं। हम कितने लघु हैं कितने क्षुद्र हैं इसका मान हमें हीमता की ओर ले जाता है। पर जब हम यह विचार करते हैं— कि यह समस्त ब्रह्माण्ड हमारे लिये है, हमी इसके उपनोक्त हैं तो हमें अपनी महत्ता का भी बोध होने लगता है। काष्ठ इस बोध को spiritual invigoration आध्यात्मिक मजस्फुरण कहता है। यह बोध हमें ब्रह्मत्व की ओर ले जाता है। ब्रह्मत्व में ही सबका पर्यवसान है एकत्व-निमग्नन है। लज्जा की मूमा में परिणति भी यही है।

अन्तः दर्शन में बाहर की वस्तुएँ अन्तः संचरित होकर अपनी बाह्य छत्ता को मन में मग्न कर लेती हैं। उपा की अक्षयिमा-मुपमा हृदय में संचरित होने लगती हैं। हृदय के साथ वह वक्षु हो जाती है। पहले हृदय उभर जाता था। उपा-दर्शन के लिये चक्षु उठेन उठते थे। अब उपा हृदय में बैठी है उसके साथ एक है, संगति कर रही है। यह संगति वृत्ति प्रदान करती है। इस वृत्ति में आनन्द का संगीत मुखरित हो उठता है। एकत्व में यही तो आनन्दमयी उपलब्धि है।

प्रेम की यहिर्मुखता वासना है। वासना की अन्तर्मुखता प्रेम है। एक स्थान पर विकर्षण है दूसरे पर आकर्षण। विकर्षण में फौसान है, आकर्षण में केन्द्रीयता।

कैसाब जब छिमरने लगता है तब एक-एक इन्द्रियव्यापार अपनी सत्ता छोड़कर केन्द्र के साथ समस्वर हो जाता है। प्रेम में जेब खोल, तबका भावि सब अपनी सत्ता छो बैठे हैं। प्रेम के बगीचावन में बूझ जाते हैं। बाउना पसुता है, तो प्रेम रबी है। एक उद्दाम है तो दूसरा शान्त। एक मज्जिम है तो दूसरा उन्मज्जिम। एक दुःख है तो दूसरा आनन्द। एक बहुप्रिय है तो दूसरा अनन्य। एक में भोग है तो दूसरे में वसितान। एक में शीङ्ग भूप है तो दूसरे में विषाम। एक में प्रभृति है तो दूसरे में निवृत्ति। एक में विवेक्रीकरण है, तो दूसरे में तन्मयीभाव। एक में विस्तार है तो दूसरे में आरमभय। एक में विसोय है तो दूसरे में तत्कीनता। एक में प्रहृष है तो दूसरे में समर्पण।

### स कुछ प्रश्न

संस्कृति मानवता की आन्तरिक उपलब्धि है। हमर्सन और स्पिनोडा इसे बीडिक परिपूर्णता कहते हैं। उद्येय नहीं बुडि और विवेक के सासन में जीवन व्यठीठ करना संस्कृति का उबाउ रूप है। मैप्पु बार्नरड ने संस्कृति में भावना तथा सौन्दर्य-बोध को सम्मिश्रित किया है। यहां भावना का तात्पर्य परोपकार करना किस्व मैनी विविधा भावि से है। इसका अर्थ उद्येय-काम कोभावि नहीं है। सौन्दर्य-बोध पर हम वीसे सिख चुक हैं। वह भीतिक कवि से निकल कर निखिल सौन्दर्य के ओत परम तत्त्व तक पहुंच जाता है। प्राकृतिक तथा शारीरिक सौन्दर्य उसी गरम सौन्दर्य से फूटकर निकली दुर्भ जाकाये हैं।

संस्कृति वहां एक बुडि से अविवक्ष है और विवृति के साथ सामंजस्य नहीं कर पाती वहां वह अपनी उबारता में सर्वसहा भी है। जैन धर्म का स्वाध्याय इसका उबाहरण है। इसे हम अहिंसा भी कह सकते हैं। अहिंसा अर्थों के बाह्यविरोध को ही नहीं आन्तरिक मानसिक विरोधी माग्यताओं को भी सहन कर जाती है। तो क्या हमें विवृति के साथ समझौता कर लेना चाहिए? क्या संस्कृत व्यक्ति असंस्कृत व्यक्ति के साथ सहनशीलता का व्यवहार करे? क्या वह जोर तथा अत्याचारियों, अतिचारियों का रूप रहकर समर्पण करे? क्या ऐसा करना उनकी पापीपसी वृत्तियों एवं कृतियों का अनुमोदन करना नहीं माना जायगा? कदाचित ऐसा सोचकर ही संस्कृति के परिपूर्ण विकास को कल्पनाभास कहा जाता है।

महात्मा गांधी ने इस दिशा में जो गंभीर प्रयोग किये उनके अनुसार संस्कृत व्यक्ति को असंस्कृत व्यक्ति से नहीं उसकी वृत्तियों तथा कृतियों से बचा करनी चाहिए। उनकी बुडि में सत एवं असत् में कभी समझौता नहीं हो सकता। पर यह बुडि कोण भी अभ्यावहारिक सा मगता है। आप जोर से नहीं जोरी से बूना करते हैं। क्या जोरी से बूना करने में जोर का शरीर बापकी बूना का आस्व होने से बच जायगा? यह अविवक्षिता है जो सामान्यत अनुभव में नहीं जाती। महात्मा गांधी ने इस दिशा में प्रयोग अवश्य किया, पर वह प्रयोग मान्यताओं



उन्हीं के साथ रहा सामान्य जनता के हृदय तथा शरीर तक नहीं उतर सका । प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने इसीलिए लिखा था — भाषी पीढ़ियाँ महारमा भाषी के प्रयोगों के विषय में पढ़कर यह विश्वास कठिनाई से कर सकेंगी कि ऐसा व्यक्ति हाइ मांस के शरीर को लेकर कभी इस पृथ्वी पर भी विचरण करता था ।

यह निर्विवाद है कि संस्कृति की परिपक्वता में समग्र्य आदर्श, सद्बुद्धि, सौन्दर्य-शेष भाषि की बुद्धियाँ रहती हैं । आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक विकास इसी का अपर नाम है । अहिंसा जिसने भारत वसुन्धरा पर अमूर्तरस की वर्षा की है, इसी का समुद्र फल है । संस्कृति के विपरीत प्राकृत वस्तुओं के उपयोग की वह अमम अवस्था जाती है जिसमें हिंसा, छीना-फाटी स्वार्थ पराजयता आदि का साम्राज्य है । भौतिकता का यह रूप संस्कृति के विकास में अवांछनीय ही नहीं असम्य भी समझा जा सकता है । इसने यूरोप के वातावरण को विपाक बनाया है । तो क्या संस्कृति भौतिकता का विरुद्ध करेगी ? क्या भौतिकता और आध्यात्मिकता एक साथ नहीं चल सकती ?

भारतीय साधना ने इसका उत्तर निषेधपरक नहीं दिया । उसने विचार और व्यवहार में एकता का प्रतिपादन किया है । सम्यता को उसने संस्कृति का बाह्य रूप समझा है । संस्कृति उसके लिए वह वृक्ष या बाजार है जो भीतर रहता है । सम्यता वह व्यवहार है जो बाहर हमारे साथ दिखाई देता है । सम्यता संस्कृति का ही प्रतिरूप है । घोर व्यावहारिकता में बुरा हुआ व्यक्ति भी संस्कृत हो सकता है जिसका उदाहरण राजर्षि जनक हैं ।

हम अपनी बात किसी के ऊपर थोपने नहीं जाते । विचार-विमर्श के लिए अवश्य हम सबका बाह्य बाग करते हैं । जिसे हमारे विचारों में औदार्य दृष्टिगोचर हो वह उन्हें अपनाने के लिए आग्रह नहीं स्वतन्त्र है । संस्कृति को हमने सूक्ष्म एवं सात्वत समझा है । सम्यता के रूपों में परिवर्तन होता रहता है । इन परिवर्तनों से हम बचकाते नहीं और जब तक कोई अपनी विशिष्टता रखता हुआ भी हमारी आध्यात्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं पर आघात नहीं करता हमें अपबन्ध करने का प्रयत्न नहीं रखता ऐसा हमारी सत्ता के जन्मलार्थ प्रयत्न नहीं करता जब तक वह मुक्त से हमारे साथ रह सकता है । पर यदि उसने हमारे मूल पर ही आघात किया, तो उस आक्रान्ता आतङ्कारी के लिए हमारे हस्त भी सुरक्षित हैं । कार्य सम्राट भिक्षु बनकर कबला की अमल वर्षा भी सब पर करते रहे हैं पर निरक्षर आतङ्कारी के जघनृ बस क्रूरों को समाप्त करने के लिये उनके बजूबाहु भी सर्वत्र सद्यस्त्र रहे हैं । हमारी उदात्ता हमारी ससमता इसी हेतु चर्को तूफानों गहनों जलकों सभी के सौहास-मनों को सहती हुई आने तक कार्य संस्कृति को जीवित रूप दे रही है । अवशिष्ट स्फुटिसों ने समय आगे पर आध्यात्म तथा ब्रह्मात्म का रूप भी धारण किया है और सब को आत्मसात करके अपनी पावन शक्ति का भी परिचय दिया है । कार्य संस्कृति की अर्थ

भरी गइरी है । इन्हें आज तक कोई उठाइ नहीं सका । यथिष्य इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए जाये आ ही रहा है ।

स्याद्वाच सभी प्रकार की मान्यताओं की सत्य संभाव्यता का समर्थक है । जो बात आज सत्य प्रतीत नहीं होती वह समभव है कल सत्य का रूप धारण कर ले । विकास का ध्यान इस बात में विशेष रूप से रखा गया है । आर्य संस्कृति का इसके साथ इतना ही मतभेद है कि यह भौतिक सत्य को सभी देशों और कालों के लिए समान रूप से मान्यता देती है । उसके बाह्य आचरण में भिन्नता दिखाई भी दे तो उसे यह अधिक महत्व का नहीं समझती । नर और नारी का वैवाहिक सम्बन्ध एक सामाजिक मान्यता है । वह उष्ण देशों में २५ तथा १६ वर्षों के अनुपात में तो शीत देशों में अपेक्षाकृत कुछ अधिक वर्षों के अनुपात में प्रतिष्ठित होता । पर यदि कोई दो और दो को मिलाकर बार के स्थान पर पाँच की समावना करे तो ऐसा स्याद्वाच आर्य संस्कृति को मान्य नहीं होता ।

हम कर्म-विपाक तथा पुनर्जन्म में विश्वास करते रहे हैं । हमारे अन्तर ईश्वर विश्वास तथा विविध नामों से उल्टी उपासना का भी प्रचार रहा है । पंच महायज्ञ, वर्धन्मय मर्यादा, आत्मव्यवस्था अतिथि उत्कार, सबकी कल्याण-कामना निरुपम व्यवस्था हमारी चेतना के विकास की रम्य भूमिकायें हैं । हमारे अन्तर ईश्वर अविश्वासी भी रहे हैं पर कार्वाकों को छोड़ कर बेर पर अन्य सबकी आस्था बनी रही है । इसका एक मात्र कारण है—आर्य संस्कृति का सार्वभौम एवं सारबत स्वरूप । हमने संस्कृति को विश्वव्यापक वर्णवृत्ति द्वारा बरपीय रूप दिया है ।

संस्कृति के साथ वर्म शब्द का भी प्रयोग होता रहा है । वेद में कृष्टि शब्द का प्रयोग उही वर्म में हुआ है जिसमें अग्नेयी शब्द कन्वर का प्रयोग होता है । संस्कृति आन्तरिक परिशोधन और परिमार्जन है तो कृष्टि वैरी है इसके द्वारा आन्तरिक या बाह्य श्रेष्ठ का शोधन होता है तथा उसमें बीजवपन के द्वारा अमिमल फल तबार की जाती है । परिणाम दोनों का एक है—आध्यात्मिक विकास रूप कल की उपसम्पि ।

मनु ने जो वर्म के वर लक्षण<sup>१</sup> मिले हैं उनमें भी सांस्कृतिक विकास की पर्याप्त सामग्री आ जाती है । पञ्चमल के योग दर्शन में जिन पाँच यमों और पाँच नियमों 'अहिंसासत्य अस्तेयब्रह्मचर्यं अपरिग्रहा इति धर्माः । शौचसंतोषतप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः' ॥ की गणना है, वे व्यवस्था की दृष्टि से सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करते हैं और उपर्युक्त वर्म के १० लक्षणों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं ।

कभी कभी अनेक प्रकार की संस्कृतियों की चर्चा की जाती है जो प्रमात्मक है । आन्तरिक विकास सभी देशों सभी कालों और सभी आदिम में एक ही प्रकार

का रहा है। घरय सारस्य बहिःसा अग्नेय, क्षमा, तितिक्षा आदि का ग्रहण सर्व सम्मत है एक वैसीय या एक कामिन नहीं।

### ग अमृत पुत्र

अमर पिता की अमृत संस्थानो ! क्या तुम पग-पग पर और पत-पत में विमस्वरता की ठोकरें ही खाते रहोगे ? क्या तुम मरण के बलस्यस पर पैर रखकर, सधे विमर्शित करते हुए अपने अमरत्व का जलनाद नहीं फूँकोगे ! तुम अपने स्वरूप को बिस्मृत कर बैठे हो। भौतिकता के संभार में तुम ऐसे लिप्त हो गये हो कि अपने को पहिचान ही नहीं पाते। भौतिक वैभव के बढ़ने पर तुम गर्व से खिर ऊँचा करने लगते हो और उसके लुप्त होने या गल्ट होने पर हाहाकार में डूब जाते हो। भौतिकता की सीमा-लपटी में तुम अपने ही बन्धु के बन्धु बन जाते हो और भूल जाते हो कि यह वैभव कभी किसी के साथ नहीं रहा। आज एक के पास है तो कल घुसरे के पास है। यदि तुम अपने स्वरूप का ज्ञान कर सको तो देखोगे कि तुम्हारी धार्मिक सम्पदा के समक्ष यह प्राकृतिक सम्पदा एकान्त है।

तुम हम सब का पिता वह एक परमात्मा है। वह वेद-यत् तथा काम-यत् सभी भेदों से दूर है। उसके माते हम सब भी माई माई हैं। हमारी बन्धुता में वेद-यत् भेद नहीं होने चाहिये। अथर्ववेद के शब्दों में माता भूमि पुत्रोऽहं पुत्रिष्वा-मह भूमि यह पृथ्वी हमारी माता है। भूमि एक है। उसे भारत वर्मन अमरीका आदि शब्दों में हमने विभक्त किया है अपनी बरबदता तथा अस्मीयसी भटान्धता या ममता के कारण। अम्यथा मानव मानव मे भेद कैसा ? समग्र मानव जाति एक है और उसकी संस्कृति एक है। एक ही क्रम से सबका विकास होता है। ह्रास के क्रम या कारण अनेक हो सकते हैं विकास के नहीं। कोई काम से पतित होता है कोई दूत मद्य या अर्ब लिप्सा के कारण गिर जाता है पर ब्रह्मचर्य के संयम से लेकर संन्यास तक तथा सूत्र से ब्राह्मण तक जो सांस्कृतिक क्रम है, उसी से सबका विकास होता है। विकास के इस क्रम को हम अहम-बहुमिका में पढ़कर खोद बैठते हैं। जिस क्षण हम आरम्भ होते हैं उसी क्षण हमें इसका बोध होता है और हमारे उद्धार की बेजा भी तभी समुपस्थित होती है।

गीता ने ह्रास या विनाश का एक क्रम दिया है जो विषयों के ध्यान से आरम्भ होता है। विषय-ध्यान से विषयशक्ति अशक्ति से काम काम से क्रोध क्रोध से सम्मोह या अज्ञान उससे स्मृति विभ्रम और अन्त में बुद्धि का विनाश वह क्रम अपने में पूर्ण है। पर जैसे प्रपञ्च विविध रूप आता है वैसे ही ह्रास भी। यह ह्रास योनियों की विविधता में स्पष्टतः अनुभूत होता है। जिसे हम विविध प्रकार का विकास कहते हैं वह भौतिकता से सम्बद्ध है और परिणामतः विकास नहीं है। धार्मिक विकास ही वास्तविक विकास है। अपनी गरम परिचय में वह एक

है । वहाँ भेद नहीं, अभेद है ।

यदि हम आत्मीयमैत्र के सिद्धान्त को साबू करें, तो मानव मानव के बीच की कोई छान भर में पट सकती है । हम एक दूसरे से घृणा करते हैं— क्यों ? शारीरिक तथा मानसिक अस्वीयता के कारण ही न ? यदि इनके अन्तरास का भेदन करते हुये हम शरीर और मन के स्वामी पर अपनी दृष्टि टिका दें तो घृणा के सभी कारण दूर हो सकते हैं । ऐसी दशा में सभी अपने प्रतीत हुंमि और प्रमत्पूर्वक एक दूसरे का सहयोग करते हुये विकास पथ पर सहज ही अग्रसर हो सकेंगे ।

छोटे बड़ों का अनुकरण करते हैं । स्वामी पिता, माता ज्येष्ठ भ्राता राजा आदि सभी का प्रभाव संतति अनुब प्रभा आदि पर पड़ता है । यदि बड़े बिग्रीही अन्धायी स्वार्थी सबमत्त तथा पापी हों तो छोटे भी वैसे ही बनें और यदि बड़े बड़े होकर, ब्रह्मण का निर्वाह करते हुये न्यायी परोपकारी प्रेमी विनम्र तथा वर्मात्मा हुये तो छोटे भी उनके सद्गुणों को अपनायेंगे । यथा राजा तथा प्रजा की रक्ति इसी आधार पर प्रचलित हुई है । अतः हम सबका कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने प्रभु के सद्गुणों का ध्यान करें और उन्हें अपने जीवन में धारण करें । हमारा प्रभु एक का नहीं सब का प्रभु है, माता-पिता है, भाता-बिभाता है बन्धु और सखा है । उसके होकर हम कल्याण-पथ के पथिक बनें इसी में सोमा है ।

मेरा प्रभु मुझसे दूर नहीं नेविष्ट है समीपतम है । उसके और मेरे बीच में कोई परवा नहीं है । हमने प्रकृति के आवरणों में सिपटकर अपने और उसके बीच में अपनी ओर से व्यवधान खड़ा कर लिया है । संस्कृति इसी व्यवधान को दूर करने का नाम है । इस विषय का ज्ञान मुझे अपने गुरुजनों से होता है । इन्हें अपने गुरुजनों से हुआ होगा और पीछे की पीढ़ियों ने भी इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त किया होगा । परन्तु सृष्टि की आवि में गुरु कौन था ? किसने हमें सिखाया पढ़ाया और सज्जन बनाया ? यह गुरु गुरुजनों का गुरु आदि गुरु परमात्मा है । उसका गुरु कोई नहीं है । वही देव द्वारा मानव को ज्ञान देता है और आश भी देता है । जिस क्षण हम अपने में केन्द्रित होते हैं, उसी क्षण हमारा संपर्क प्रभु से हो जाता है । ज्ञान के स्रोत से संबद्ध होकर कौन ज्ञानी नहीं बनेगा ? संस्कृति की विमोचता यही है कि वह आपको प्रकृति से पृथक् करके विकास की भ्रमसाओं में से निकालती हुई प्रभु के साथ संयुक्त कर देती है ।

अमृत पुत्रो ! अपने अमृत रूप का ध्यान करो । संस्कृत होते हुये सभी प्रकार के मर्तों से रहित हो जाओ । शुचिता, पवित्रता भीष्टि भक्त प्रकाश ज्योति आपके साथी सभी हों । अभाव पारतन्त्र्य, अंधकार आदि के कारण जो भय आशान्त क्रिये रहता है वह इस ज्योति के द्वारा ही होमा । संस्कृति के पथ में ज्योति का सामाग्य है, भक्तिभावना की प्रदीप्ति है, अनवरत अन्धास का संबन्ध है । इनसे समवेत हो कर

उठो, बड़ो और आनन्द का प्रभु की, अमृत तरल की, प्राप्ति करो । तुम अमृत पुत्र हो, इस गौरव को अनुभव करो और अपने अमृत पिता ॥ योम् अमृत पुत्र बनो ।

शृणुषु विश्वे अमृतस्य पुत्रा ।

आये भामानि दिव्यानि तत्सु ॥

अमृत पुत्रों को नरक नहीं भयं सोक भी नहीं दिव्य वारों का बासी बनना है । नरक बुरा है बर्षण रूप बारकटा का जनक है, स्वच्छता एवं निर्मलता का विनाशक है । अश्वत्थामित्र से पूर्ण स्थान आपको कैसे दिय हो सकता है ? भयं सोक भी अरण-अरण-धीन है ? अमृतपुत्रों को वह कैसे छोड़ा दे सकता है ? जो अमृत है ज्योति है सत है ससे अमृत ज्योति और सत के छात्र ही रहना चाहिये । आर्य संस्कृति का यही संकेत है । वह आपको वहीं से आना चाहती है, जहाँ आपका अपना नाम है— अपना ही अपना कोई परदा नहीं चेतनता ही चेतनता-आत्मा ही आत्मा ।

यस्मिन्सर्वीणि सुतानि आर्त्यवाधूत् ।



द्वितीय भाग

वैदिक सभ्यता



## १ । वैदिक सम्यता

### क वैदिक सम्यता

जब हम वैदिक सम्यता पर विचार करते हैं, तो स्वभावतः दो प्रश्न खड़े हो जाते हैं। आस्तिक मानना वाले कहते हैं कि वेद सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट हुए जब न समा भी न समान। सम्यता समा के योग्य बनने का भाव है। समा के अभाव में यह भाव उपपन्न ही नहीं होता। विकासवाद को मानने वाले प्रश्न की गति को ही उलट देते हैं। उनके मतानुसार मानव का विकास हुआ है और उसके साथ कलाओं का। सम्यता का सीधा सम्बन्ध कलाओं से है। जब कलाओं का विकास ही नहीं हुआ था तब सम्यता की बात कहना निरर्थक ही है। सृष्टि के प्रारम्भ में कबका ज्ञान से साक्षों करोड़ों वर्ष पूर्व सम्यता का नाम भी नहीं था। मानव असम्य था। न उसे पहिचना आता था न बर बना कर रहता। मोक्ष के लिए वो कुछ प्रकृति से देती थी उसी पर संतोष करना पड़ता था। सम्यता में परिणमित इन तत्त्वों का विकास करने करने हुआ है। अतः वैदिक सम्यता की बात करना व्यर्थ है।

प्रथम प्रश्न आस्तिकों का है और कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा विकासवादियों का। विकासवाद के अनुसार सम्यता का विकास हुआ है पर आस्तिकवादियों के मत में वेद सांस्कृतिक उत्तराजान की तो बात कह सकता है भौतिक सम्यता रहून सहन वस्त्र-परिधान कृषि-वाणिज्य आदि की नहीं। इनका सम्बन्ध ज्ञान के साथ नहीं मानव व्यवहार के साथ है। वेद ज्ञान है। व्यावहारिकता की बातें उसके क्षेत्र के बाहर हैं। प्रश्न कुछ जटिल सा है, पर जब हम व्यवहार पर विचार करते हैं तो वह भी ज्ञान पर आभित ज्ञान पड़ता है। और जब ज्ञान व्यवहार के लिए अपेक्षित है तथा उसके मूल में है तो उसका क्षेत्र में विद्यमान होना व्यर्थ क्यों सार्थक ही समझा जायगा। अतः आस्तिकों का प्रश्न वैदिक सम्यता के सम्बन्ध में निराधार हो जाता है। विकासवादियों का प्रश्न भी साधारण नहीं है। यदि वेद सम्यता के अंगों पर प्रकाश डालता है तो वे क्यों चौकते हैं? यदि वेद आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों की ओर संकेत करता है उसमें नाथ विमान प्रकाश की सहृ, बीच त-जम ल्कार, विज्ञान ध्वन आदि की जहाँ है तो उससे उसका मत निराकृत क्यों हो सकता



है ? ये समझ लें कि वेद जामात सभ्यता का प्रकार ही भी । हाँ, हमने यह निश्चय कोई भी विद्वान नहीं किया है कि वर्तमान सभ्यता पुरातन मान की सभ्यताओं से भेद्यतर है । संभव है पुरातनकाल में सभ्यता का एक आधुनिक सभ्यता से भेद्यतर रहा हो । मानव इतिहास अनेक उतार चढ़ाव देता हुआ है । हो सचता है, सभ्यता विकसित होकर ह्रास को प्राप्त हो गई हो और अब पुन उगका विकास हो रहा हो ।

जिन वादियों के मत में सृष्टि का इतिहास चार-पाँच हजार वर्षों का ही इतिहास है उसके लिए प्रश्न ब्रह्माई पैदा कर सचता है पर जो भूगर्भ विद्या या पथी विद्या के आधार पर सृष्टि के इतिहास को करोड़ों वर्ष पूर्व से जाते हैं उनके सामने विकास ह्रास या ह्रास-विकास का इष्ट समझना गड़ी नहीं कर सकेगा । पृथ्वी का वयस्वत आरंभ पैदा है वैसे कुछ करोड़ वर्ष पहले नहीं था । अमरीका और अफ्रीका की पतल पूर्वी तथा पश्चिमी सीमा रेखाओं को बेगलर भूभोत के विद्वान अनुमान लगाते हैं कि ये दोनों महाद्वीप किसी सुदूर काल में मिले हुये थे । प्राकृतिक परिवर्तन हुए और उन्होंने दोनों को एक समुद्र द्वारा पृथक् २ कर दिया । जहाँ आज कल मरु या रेगिस्तान हैं वहाँ कभी समुद्र थे और जहाँ समुद्र हैं वहाँ रचल था । इस प्रकार इतिहास कुछ हजार का नहीं करोड़ों वर्षों का है । अतः वेद यदि किसी विकसित सभ्यता का संकेत देता है तो इसमें आश्चर्य क्यों होना चाहिये ? वास्तविक वादियों से हम यह कहेंगे कि वेद जैसे आध्यात्मिक उत्थान का ज्ञान देता है वैसे ही भौतिक का भी । निधेयस और अमृत्युय दोनों का सम्पादन उसके समझ समीप है । बीजांकुर रूप में वही ज्ञान विद्वानों का संकेत नहीं करेगा तो मानव कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? प्रभु पूर्व नुस्खों का भी गुरु है । वही वास्तविक उपदेष्टा है । वही हमारा सच्चा सहायक और सखा है । उससे बढ़कर हमारा हितकारी अन्य कोई भी नहीं हो सकता । उसी ने हमारे लिए, हमारे विकास सुख और सुविधा के लिये सृष्टि की रचना की है । वही वेद ज्ञान द्वारा हमारा पथ प्रदर्शन करता है । वही हमें अमृत्युय की प्राप्ति कराता है और वहीं हमें निधेयस की ओर से जाता है । उसकी करुणा का अक्षय अनवरत प्रवाह हम सबके लिये बहा रहा है । उसी के सहारे हम साधन सम्पन्न हो कर विकास-मार्ग पर अग्रसर होते हैं ।

## स सभ्यता

सभ्यता सभ्य का भाव है । सभ्य उसे कहेंगे जो सभा के योग्य हो । सभा वह समिति समझा या परिषद है जहाँ सभी सदस्य साथ-साथ चमकते या सोभित होते हैं । सह भास्ति सोभन्ते यत्र सभया—

पस्मिन् वैशे निवीदन्ति विद्वा वैदविद्वत्तमः ।

राज प्रतिहन्तो विद्वान् ब्राह्मणः तां सभां विभुः ।

चिस वेद में तीन वैदविद् विद्वाँ के साथ राजा के प्रतिनिधि स्वल्प एक विद्वान

ब्राह्मण बैठे हो तो उसे समा कहेंगे । संसय आस्थानी आस्थान सप्त, समास, पर्यंत यावि इसके पर्याय हैं । परिपद में दस अष्ट समास होते हैं—

अविद्यो ह्युक्तस्तर्को नैवस्ति धर्म पाठक ।

अथवाचमिष पुर्वे परिपदस्याद् दशाधरा ॥ मनु० १२ । १११

तीन वेदों के विज्ञान एक संपुष्टि का व्यवहार करने वाला एक ठरक (म्याय) में निपुण एक नैवदिक, एक धर्म शास्त्र का वेत्ता और एक ब्रह्मचारी, एक गृहस्थ तथा एक वानप्रस्थ—इस प्रकार दस अष्ट जनों से मिलकर परिपद का निर्माण होता है । जो कहते हैं दीप्ति प्रकाश या ज्ञान को । उसके साथ जो वर्तमान हो वह समा है । वेद सप्त संसय या समाओं का उत्प्रेषण करता है । यथा-विस्था अवि धियो रजन्ति सप्त संसद ॥ १०८ ॥ १२ २० तथा सप्त संसदो जप्यमी मृतसाधनी । मनु० २१ १ ॥ १०८ ॥ १८ १ में तीन राज समाओं का उत्प्रेषण है । यथा श्रीणि राजाना बिबे सद्योति ।

समा इस प्रकार सुविज्ञित व्यवहार-निपुण धर्मशास्त्र तथा म्याय में निष्णात विद्वानों के समाज का नाम है । ऐसे विद्वानों के आचरण तथा व्यवहार को सम्यक्ता कहेंगे ।

न सा समा यम न सति बद्धा न तै बद्धा ये न यद्विधि धर्मम् ।

इस उक्ति के अनुसार समा वही है जिसमें कुछ अर्थात् अनुनवी पुण्य विद्यमान हों और उनकी बुद्धता भी तभी है जब वे समा के अन्तर्गत धर्म अर्थात् सवाचार और म्याय की बात ही कहें ।

धर्मो विदुस्तत्त्वमेव समा यद्विधिधर्मः ।

सर्वं ज्ञानं न कुतन्ति विद्वान्स्त्व समासदा ॥ १२

समा वा न प्रवेष्टव्या बन्धव्यं वासमन्त्रसम् ।

अनुबन् विबुधम्यापि नरो भवति किन्त्वियी ॥ १३

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सर्वं यथात्मनेन च ।

हृष्यते प्रेक्षमाणां हतस्तत्र समासदा ॥ १४

धर्म एव ह्यती हन्ति धर्मो रसति रक्षितः ।

सत्त्वाद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो ह्यती बधीत् ॥ १५-मनु० अ० ४

जिस समा में धर्म अधर्म से विद्व होता है और समासद बैठे-बैठे ठाका करते हैं, उस कर्त्तक अर्थात् अधर्म का ज्ञान नहीं करते तो उस समा के सब समासद विद्व अर्थात् पायस समझे जाते हैं ।

समा में या तो प्रवेश नहीं करना चाहिये और करे तो स्वयं ही बोधना चाहिये, अस्वयं बल नहीं कहनी चाहिये । जो व्यक्ति समा में अन्धाय होता देखकर न बोले अथवा म्याय के विषय बोले वह पापी होता है ।

जिस समा में सब समासदों के देखते हुये अधर्म से धर्म और अस्वय से स्वय की दुरा की जाती है, उस समा के सभी समासद मृतक के समान हैं ।

मारया हुआ धर्म मारने वालों का नाम और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है । अतः धर्म का रक्षक न करना चाहिये इस अर्थ से कि मारया हुआ धर्म हमें न कहीं मार डाले ।

## ग सम्प्रदाय और धर्म

समा के सम्प्रदाय में व्यक्त मनु की यह धारणा हमारी सम्प्रदाय का कन्द्रबिन्दु है । यह सम्प्रदाय धर्म पर आधारित है । आज जिस प्रजातन्त्रीय सम्प्रदाय की घोषणा की जाती है वह भी बलाघनीय है पर यदि प्रजातन्त्र के प्रतिनिधि धर्म का आशय लेकर स्वार्थ-साधन करने लगे तो वह प्रजातन्त्र हमें कथमति स्वीकार्य नहीं है । मनु की साफ़ आज्ञा है—

एकोऽपि वेदविद्वत् धर्मं यं व्यवशयेद् द्विजोत्तमः ।

स विज्ञेयः परो धर्मो नामानामुक्तोऽप्युत ॥१२ ११

एक वेदवेत्ता धर्मात्मा जिस वर्तव्य का निर्णय कर दे वहीं करणीय है । भेद घसान वाले हजारों ज्ञानी जिसके निये हाथ उठा दें स्वीकृति दें दें वह माननीय नहीं हो सकता ।

अवतानाममत्राणां जातिधर्मोपजीविनाम् ।

सहस्रसं समेतानां परिचर्यं न विद्यते ॥१२ ११४

समा अवतियों से नहीं घटसम्पन्न पुरुषों से जोड़ित होती है । जो व्यक्ति मन्त्र ज्ञीन हैं मननशक्ति से भूम्य हैं और बीदा रहित हैं जातिमात्र से उपजीवी हैं अर्थात् धर्मना अपने को बड़ा मानकर दूसरों का वनहरण करते और जीविता बनाते हैं—ये यदि सहस्रों की संख्या में ही क्यों न हों परिचर्य का महत्त्व तब भी उनके स्थापित नहीं हो सकेगा । ऐसे व्यक्ति समा या परिचर्य को मार डालेंगे । अपर्यवेष्ट इष्टीतिवे कहा है — सम्यं समां ये पाहि ये न सम्या समासदः । कांड १९ हे सम्य ? तू समा की रक्षा कर । हे सम्य समासदो ? तूम सब इस समा की रक्षा करो । यह रक्षा तभी सम्भव है जब समासद धर्मात्मा हों सदाचारी और वर्तव्य निष्ठ हों ।

धर्म हमारी समस्त जीवन प्रणाली में ओढ़ प्रोढ़ है । कसार्थों को इस प्रणाली की बाह्य अभिव्यक्ति हैं धर्म से पृथक् नहीं जाती । सलित कसार्थों को जातिवृत्ता के सौन्दर्य से मंडित हैं ही उपयोगी कसार्थों भी धर्म का नाम लेकर ही प्रारम्भ हुई हैं । जस्य भवन नहीं क्योंकि वे वास्तुकला में परियणित होमे जो सलितकसार्थों में सबसे निम्न स्तर पर है साधारण घर भी प्रभु का नाम लेकर ही बनाये जाते हैं और उनकी नींव में शेषनाग की मूर्ति रखी जाती है । हृषिक हल जसाता है तो ईश्वर का नाम लेकर । व्यापारी उद्योग-मध्यो में हाथ डालता है तो उसी परम सत्ता के विश्वास पर । बिचर बुद्धि आशिये उचर ही धर्म का कोई न कोई कुराजारको बुद्धिगोचर हो जायदा ।

सम्प्रदाय से धर्म का यह रूप आज तिरोहित होने लगा है । पारंपार्य भौतिक विचारवादा ने सब भैरों को ऐसा आलस्य कर लिया है कि मानव का परोक्ष सत्ता की ओर ध्यान ही नहीं जाता । जो प्रत्यक्ष है उस वाली उसकी लिये सब कुछ है । पीछे क्या हो चुका है इससे तो उसका कोई प्रयोजन ही नहीं रहा माने क्या माने जाता है, अभिव्य हमारे प्रत्यक्षवाक से कहेगा या नहीं इस ओर से भी वह उपेक्षा

है। हमारी संस्कृति की छाप हमारी सम्प्रदाय पर जब पड़ती थी तो हम सोचते थे  
 अठ हस्त समाह्वर सहस्रहस्त संकिर। पर आज समाह्वर समाह्वर एकज करो पर भरो  
 की शक्ति ही अतुल्य व्याप्त है। संकिर, वितीर्ण कर का बोध कोई करता तो दूर  
 मुनमा भी नहीं जाहता। सम्प्रदाय का वर्तमान रूप इसीसिधे सबको सामने ला रहा है।  
 अमि पर अमि हो रही है पर मानव मान्य नहीं आनन्द नहीं स्वस्थ नहीं है।  
 ऊपर से देखिये मानव सम्प्रदाय दिखाई देता है अन्धे बस्त्र पहिने है बाणी भी आकर्षक  
 है, पर उसका मन और हृदय अज्ञान है। पता नहीं किस दुर्भाग्य को सिपाय वह  
 भूमि रहा है। आज की इस अस्तित्व सम्प्रदाय को क्या नाम दिया जाय ?

अस्तित्व-व्यक्ति भी समाज बनाकर रहते हैं पर उनके व्यवहार सम्प्रदाय की  
 श्रेणी में नहीं आते। जिस सम्प्रदाय पर हम लिखने जा रहे हैं वह अस्तित्व समाज की  
 सम्प्रदाय है। संस्कृति पर प्रकाश डालते हुये हम सम्प्रदाय को बाह्य-व्यवहार को  
 उसका परिवर्तन या बाह्य परिवेश लिख चुके हैं। हमारी सम्प्रदाय का सत्य अस्तित्व  
 जीवन ही है। संस्कृति हमारा आन्तरिक विकास करती है। सम्प्रदाय हमारे बाह्य रूप  
 को संभारती है। इस बाह्य रूप का अर्थकरण किस क्षेत्र में किस प्रकार का हुआ है  
 हमारी भौतिक आवश्यकताओं किन कसामों द्वारा सम्प्रापित हुई हैं कौन-कौन से बाह्य  
 प्रयोग हमें अभ्युदय के लिये करने पड़े हैं वे अपने सन्धियों में हमें इस विषय की किन  
 किन विज्ञानों का संकेत देता है यही हमारे लेखन का सत्य है हमारी गन्तव्य  
 भूमि है। पाठक इसी दृष्टिकोण के साथ आगे आई सामग्री का अवलोकन करें।



## २ । दैनिक जीवन और व्यवहार

### क खानपान

प्रलय के उपरान्त जब सौरमण्डलों का निर्माण हो चुका और पृथिव्यादिग्रह ओपधियों तथा वनस्पतियों से सम्पन्न हो गये तब ऋषि उत्पन्न हुए और उनके उपरान्त पितर, देव मानव तथा पशुजन्म । यह अवतरण कहा जाता है । अवतरण के साथ ही बीबों को बसना-पिपासा ने बिड़ कर दिया । उनकी भूख-प्यास की शान्ति के लिये परमात्मा ने पूर्व से ही सामग्री उपस्थित कर दी थी-नीने के लिये स्रष्टाओं और निर्धरों का बस खाने के लिये फस फूस तथा जल । यह सब प्रकृति जात था । मानव की बुद्धि ने इस प्रकृति के साथ सहयोग किया और वर्षों के बस को सरोवरों में एकत्र किया । सूभि छोड़ कर कूप बनाये बावड़ियाँ बनाई तथा जहाँ बस नहीं था वहाँ जल पहुँचाया । जल फस तथा फूसों का भी उसने विकास किया । इसके अतिरिक्त वन्य पशुओं में से कतिपय उपयोगी पशुओं को पालतू बनाया । वे आरम्भिक से शास्य बने और उचित आहार पाकर किसी ने बूख और बी दिया किसी ने बाहन का कार्य किया और किसी ने गृह-रक्षा तथा कृषि में सहयोग दिया । वेद खान पान के सम्बन्ध में क्या कहता है इसी पर सर्व प्रथम विचार किया जाता है ।

जायों के भोजन में बसकारक जीवनवर्धक तेजोवायक तथा पुष्टिकारक सामग्री रहती थी इसका संकेत हमें यजुर्वेद के नीचे लिखे मन्त्र से प्राप्त होता है —

अन्वं बहुमसी रभुतं घृतं पयः कोसात् परिभुतम् ।

स्वयास्व तर्पयत भि पितुम् ॥ २ - ३४

स्वधा वह शक्ति है जो मानव को अपने में धारण करे, स्थापित करे । पितरों का तर्पण इसी शक्ति द्वारा होता है । जो व्यक्ति इस शक्ति से संबंधित हो जाते हैं वे पितरों को तृप्त नहीं कर सकते । पितर प्रसन्न होते हैं स्वस्व संतान से जो उनके नाम को जमर बनाती है । स्वस्व संतान की उत्पत्ति बहुत कुछ स्वस्व आहार पर आधारित है । स्वस्व आहार के गुण ऊपर लिखे मन्त्र में इस प्रकार वर्णित हुए हैं—

१ ऊर्ध्वं बहुमसी - भोजन सामग्री बसवाहिका अर्थात् शक्ति-प्रदायिनी हो ।

२-अमृत बहस्ती- मायु को बढ़ाने वाली दीर्घायु प्रदायिनी हो । ३-मृत बहस्ती- स्निग्धता अर्थात् तेज उत्पन्न करने वाली हो । ४-पय बहस्ती- दुग्धादि द्वारा पुष्टि करिणी हो और ५-परिभूतम कीलार्त्त बहस्ती- भोजनार्ति अर्थात् मनु आदि से मुक्त अर्थात् आह्लादन करिणी हो । कीलास का अर्थ मनु है और परिभूतम् से सोम-रस का भी ग्रहण किया जा सकता है ।

आर्य जनों ने इसी वैदिक पद्धति पर अपने भोजन का आयोजन किया था । ज्यों के विशिष्ट पुरों को ध्यान में रखते हुए भी भोजन का विभाजन था । बाह्य विद्युत् सारिण्य आहारी था । अन्न के उत्पत्तिस्थित रसोपुषी बाह्य की आवश्यकता थी । वैदिक कृषि की प्रधानता सारिण्य की ओर रहती है । पर अर्थ की अनिश्चयता और जन का अर्थ उद्योग से ही और भी से आते हैं । मनु समोद्योग प्रधान है और वह उसी प्रकार के अन्न का सेवन करता है । बाह्य के अन्तर्गत मनु अन्न के अन्तर्गत वैदिक प्रजाति भी वैदिक के अन्तर्गत दुग्धादि और दूध के अन्तर्गत अन्न की अपेक्षा अधिक रहती है । यह सामान्य परिस्थिति के लिए है । विशेष परिस्थितियों में तबनुकूल तथा यथोपयुक्त सामग्री ही काम देनी । निम्नांकित मन्त्रों में सेवन-योग्य भोज्य पदार्थों का उल्लेख है —

बानावन्तं करमिभयमपूपवन्तं मृचिबन्तम् ।

इन्द्र प्रातर्भुपस्व न ॥ १ ॥

प्रति बाना भरत तूयमस्मि पुरोडाशं क्षीरतमायं नृबान् ।

विद्वै-विद्वै सवृषी रिन्द्र तुम्यं वर्धन्तु त्वा सोमपेयाम वज्रो ॥ ८ ॥

करन्त-नी या चावस को भूनकर तथा पीसकर और दही में मिलाकर खाया जाता था । पुरोडाश-यज्ञ की आहुतियों में विशेषरूप से प्रयुक्त होता था और यज्ञ के रूप में खाया भी जाता था । इसका निर्माण चावस को पीसकर किया जाता था । बानावन्त-बान के चावस का बना हुआ पदार्थ है । अपूप-इसे पुमा कहा जाता है । इसके निर्माण के भी कई प्रकार हैं जो सभी तक भारतीय घरों में प्रचलित हैं । अपूपवान के साव अर्थात् १८-४-१६ में क्षीरवान १८-४-१७ में दधिवान, १८-४-१८ में श्वसवान १८-४-१९ में मृतवान १८-४-२० में अन्नवान १८-४-२१ में मधुवान १८-४-२२ में रसवान और १८-४-२३ में मधिवान मन्त्रों का प्रयोग हुआ है । इनके अतिरिक्त पक्के अर्थात् पकाई हुई रोटी का भी उल्लेख ऋग्वेद ४-२४-५ में है । पुरोडाश का एक प्रकार क्षीरोदन या क्षीर है जिसका प्रयोग आज भी यज्ञ में होता है । अर्थात् ११-३-१९ तथा ११-११-३ में ओदन-मात का और २०-२२-६ में गवासीर का उल्लेख है ।

ज्यों में दीर्घ यज्ञ आदि का उल्लेख निम्नांकित मन्त्र में है —

क्षीरुपवन्तं मे, यवावन्तं मे तिलावन्तं मे मुद्गावन्तं मे ज्वत्वावन्तं मे प्रियह्यवन्तं मे, धनवन्तं मे, स्वाभाकावन्तं मे नीवारवन्तं मे, गोब्रूमावन्तं मे मधुरावन्तं मे यज्ञेन कल्पन्ताम्

यजुः १८-१९

बोहि = पावस, यव = जौ, तिस, मुद्ग = मूग, राह्य = पना, प्रियंगु = मासकागुनी अजु = यड़ आ या अज्रा पावस, श्यामाक = छाया, नीबार = बिना बोये अपने आप उत्पन्न होने वाला पावस, गोधूम = गेहूँ मसूर।

सक्तुमिषठित्तना पुमस्त । ऋ० १०-७१-२ में सक्तु का वर्णन है जो देहातों में मात्र भी प्रिय भोजन बना हुआ है। यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में भी इसका उल्लेख है—

धानां करम्भः सक्तवः परीवापः पयोदधि ।

सोमस्य रूपम् हविष आमिक्षा पात्रिनम्भषु ॥ १९-२१

सक्तु भूने हुये जौ को पीसकर बनाया जाता है। धान को साजा या छील भी कहते हैं। करम्भ वही—विभिन्न भूने हुए जौ या पावस का आटा—इसे आम में मपसी भी कहते हैं। दुधमपसी दूध को मिलाकर बनाई जाती है। परीवाप वह पाण्य या अन्न है जो क्यारी या खेत के चारों ओर बोया जाता है जैसे तिल। विमिष्ट अर्घ्य में यह एक प्रकार का हविष्यान्न है। पय, दधि, मधु, प्रक्ष्पात हैं। आमिक्षा कटे हुए दूध का स्तूप आन्न है और लेप रस-का भाग को चाली कहा जाता है। फलों में कर्कशू = उभाय वा सुवन्धित फल, उर्वाक या धरबूजा तथा बदर (बैर) के नाम वेद में आते हैं यथा-यन्तो रूपं कर्कशूनि। (यजु० ११ २१) सक्तूनाम् रूपं बदरम्। (यजु० ११ २२) तथा उर्वाकमिव कर्कशात् (यजु० १-१०)।

पेय पदार्थों में जस तो पेय है वही पय अर्थात् दूध और मद्य भी पेय हैं। सोम और सुरा का भी उल्लेख पेय पदार्थों में है। सक्तु नमक या मीठा मिलाकर खाये भी जाते हैं और द्रव रूप में पिये भी जाते हैं। इषु का उल्लेख 'परित्वा परित्तुना इषुना' अर्च० १ १४ २ में है। इसका रस भी चूसा या पिवा जाता था। फलों के रस भी तैयार किये जाते थे। सोमरस एक बस्ती को कूटकर निकाला जाता था जो मुक्कान (बंजारिण्या मुक्कबुम्भ्य) । अर्च० १ २२ १४) पर्यंत पर उपरी थी। इस रस को भेड़ के ऊन के बने 'पवित्र' से छाना जाता था। दूध मिसाने पर इसे गवाक्षीर, वही मिसाने पर कम्पाक्षीर और यव के सक्तु मिसाने पर इसे यवाक्षीर कहा जाता था। सोमरस का पान पीने वाले के अन्तर उत्साह तथा भाव साध उत्पन्न कर देता था। सोमसत्ता अन्न उपपन्न नहीं है। यजु० १८-१ में पय, रस, चूत और मधु का एक साथ उल्लेख है। यजु० ११-१४ में अतिथि को मांसर खिलाते का वर्णन है। यह पावस शण्य लोकम साजा आदि का मिश्रण था। यजु० ११-११ में शण्य गये उने धान्य का नाम है। लोकम गये भी को कहते हैं। साजा क्षीम और मधु सह्य है।

निम्नांकित मन्त्र में विभीषक पति बनवा जुआ बेचने के साथ सुतपाप की निन्दा की गई है।

म म स्वो वसो वक्त्र मृति सा सुराम्पुविभीषको अचितिः ।

अस्ति ज्ञायमानं कनीयसं जपारे स्वप्नश्चनेवनृतस्य प्रयोता । ऋ० ४-८९ ६  
हे बरणीय देव । यहाँ अपना बल नहीं चलता । कूर्तता या पासण्ड क्रोध  
जुआ बहाना या सुरापान मानव को नीचे गिरा देते हैं, पापी बना देते हैं । कनिष्ठ  
के ऊपर यह फ्यष्ट का सा आतंक फैला देते हैं और कभी-कभी स्वप्न कल्पना या  
भ्रम भी मानव को अनृत या पाप की ओर से आते हैं ।

सुरापान आर्य जाति में बर्जित है । केकय बेल के राजा अश्वपति ने तभी तो  
औरवपुर्न दम्प्यों में कहा था — न मे स्तेनो जगपते न कश्चो न मद्यपः । मेरे राज्य  
में कोई चोर, कायर या बराही नहीं है । न कोई मूर्ख है और न कोई अयाग्रक है ।  
और जब व्यक्तिचारी ही नहीं तो व्यक्तिचारिणी की तो बात ही क्या ? आर्यों का  
राज्य ऐसा ही आदर्श राज्य था । मद्य या सुरा मानव को पागल बना देती है उसकी  
चेतना को भ्रष्ट कर देती है और जब चेतना ही नहीं रही तो मानवता कहाँ रही ?  
सम्य राष्ट्रे इसीसिधे सुरापान पर कठोर नियन्त्रण रखते हैं और ओपधि के अतिरिक्त  
अन्यत्र उसका उपयोग बर्जित कर देते हैं ।

## ख कृपि

ज्ञान-मान का सम्बन्ध कृपि के साथ विशेष रूप से है । इस कृपि का उल्लेख  
वेद में कई स्थानों पर है । कृपि कर्म को कृष्टि कहा जाता था । कृष्टि का सामान्य  
अर्थ मनुष्य भी है परन्तु अपने आत्मार्थ में यह कृपि — कर्म की ओर ही संकेत  
करता है । यथा—

यस्यामर्षं श्रीक्षिप्तो यस्या इमा पञ्चकृष्टयः ।

भूम्यं पर्जन्यपाल्य नमोस्तु वर्धनेदधे ॥ ४२ ॥ अथर्वकाण्ड १२

भूमि पर्जन्य-पत्नी है । पर्जन्य ही उसकी रक्षा करता है और वही वर्ध-आराधनों  
से उसे सींचता है । जो तथा जावन पृथ्वी पर उसी के कारण उत्पन्न होते हैं और  
पाँच प्रकार के कृपि कर्म करने वाले इसी भूमि पर निवास करते हैं । यह पृथ्वी  
पंचजनों की माता है ।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

पर्जन्याः पिता स उ न पिप्लुः ॥

माता भूमि है पर्जन्य पिता है हम सब पुत्र हैं । दोनों ही हमारी कामना पूर्ण  
करें । भूमि माता मृस पुत्र के लिये वृष्य है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे आज कल सभी वर्गों के व्यक्ति ग्रामों में खेती  
करते हैं वैसे ही प्राचीन काल में भी करते रहे होंगे ।

जिस भूमि में खेती होती है, उसकी उर्वर बनाये रखने के लिये बाढ़ की आवश्यकता  
कहा पड़ती है । भूमि इच्छानुसृत जब तभी वीर्य करेगी जब उसे बाढ़ मिलता रहेगा ।  
यह बाढ़ पशुओं के विशेषकर गाय के गोबर से रींसार होता था । अथर्व १ १४ ३  
में, पृथ्वी का विशेषण करीपिणी (संजघ्माला अक्षिण्यु वीरस्मिन् गोष्ठे खरीपिणीः)



विभ्रती सौम्यं मध्वनमीवा उपेतन । अथर्व० ३ । १४ । ३) इसी लिये आया है । करीप गोबर का नाम है । उसके बगड़ भी बनत हैं जिन्हें देहात में कस्ती कहते हैं । कस्ती करीप का अपभ्रंश है ।

कृषि—कर्म समाज को बलवान बनाता है । यदि कृषि सफल है तो समाज भी धन-व्याप्य न सम्पन्न है । कृषि के अभाव में समृद्धि समाज से माय जाती है । राष्ट्र में यदि दीप्ति जाती है तो कृषि स । जिस बल में विपुल धन-व्याप्य उत्पन्न होता है वह विरल में ऊँचा स्तर नरक कहा होता है । जो भूमि भाग अन्न के लिये दूसरे भागों के समस्त हाथ फँसाव वह बीन है । बीनता मानव को सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है । वेद में इसी लिये प्रार्थना की गई है —“यस्याः पुरो देव कृताः क्षेत्रे यस्या विवृण्वते । प्रजापतिः पृथिवीं विदध पमिमासाभारां रण्या नः कुनोतु ॥” अथर्व १९ । १ । ४३ जिस भूमि पर वन-निमित्त मयूर हैं, जिसके अंतों में पक्षयज सेती करते हैं वन-व्याप्य मणि-मालिक्य कम फूल मेवा सब जिसके गर्भ में हैं उस भूमि को प्रजापति पर मारमा हम सब के लिये रमणीय बनावे ।

यस्यावचतनः प्रविराः पृथिव्या यस्यामर्धं कृष्यन् सर्वसुख ।

या विभ्रति बहुधाप्राणवेजसा नो सुमिषोऽप्यन्नेनातु ॥ ४ ॥

जिस पृथ्वी की चारों दिशाओं उन्मुक्त हैं जिसमें कृषक जल पैदा करते हैं, और जो पतिव्रील प्राणचारियों का त्रिविध प्रकार से चारण-शोषण करती है वह हमारे लिये भी तथा अन्न प्रधान करे । निर्मार्कित मन्त्रों में साधारण मानव ही नहीं विद्वान विप्रों का भी कृषि करने का आदेश है —

सुगच्छ सीरा विपुणा सगुण्यं ह्ये सोनी अपसेह बीजम् ।

मिरा च मुष्टिः समरा जसप्रो मेवीय हस्तुष्यः पञ्चमेमात् ॥ १ ॥

सीरा सुगच्छति कवयो धुपा वितन्ते पृथक् बीरा देवेषु सुमया ॥ ४ ॥

मिराहायान् ह्योतनं सं वरवा वमातन । १ अ० १-१० १

कृषि कर्म यज्ञ ही है । उसे उत्तम यज्ञ भी कहा जा सकता है । विद्वानो ! इस यज्ञ को करो । हस्तफलों को संयुक्त करो । जूनों को फँसाओ । तैयार किये गये खेत में बीज बोओ जिससे भरपूर अन्न पैदा हो । तुम्हारे धृति अर्थात् हँसुये खेत को काटें । हत्तों से भूमि जोती जाती है, तदनन्तर कृषक जूनों को बोस देते हैं । इस यज्ञ में विप्र कृषक स्त्रीज-पाठ करते हैं । बीसों या पञ्चवीसों के लिये प्रया अर्थात् जल पान स्थान तैयार करो । वरज (वत्त वरियत्त या मोटी रस्ती) को पुर में बाँधो और अराय सेवनयोग्य जल से परिपूर्ण कुये से जल निकाल कर खेतों को सींचो ।

कृषक के लिये कीनाश जह्व का प्रयोग भी वेद में हुआ है । यथा—

सुर्न न काता विह्वन्तु भूमिं सुर्न कीनासा अभियन्तु बाह्वः ।

सुर्न पर्जन्यो मधुना पयोमि शुनातीरा शुनमस्मासु पतन् ॥

हस में लगे हुये फास भूमि को गहरा खोदें, टुकड़-बन सुखपूर्वक बाहनों को चलायें मेघों से मधुमय जल की वर्षा हो और सुखदायक अन्न हम सबको प्राप्त हो ।

जब जल पक जाता था, तो उसे हुंघुये जलपा दानों से काटा जाता था, क्षमि यान में इकट्ठा किया जाता था बाँय जसती भी और बनाज भूसे से मसम किया जाता था । ऋग्वेद १० । १०१ । ११ में रथों का वर्णन है । जो अन्न क्षमियान में तैयार होता था वह रथों या शकटों में भरकर घर पर लाया जाता था । जिसमें अनाज भरा जाता था उसको ऊँचर कहते थे यथा— तमुर्चरं न पूजता यवेन । ( ऋ० २ । १४ । ११ ) और खेती या भित्तारे को स्थिबि कहा जाता था यममिब स्थि विम्य । ( ऋ० १० । १८ । ३ ) ऋग्वेद के नीचे लिखे मंत्र में उर्चर तथा अनुर्चर खेतों का वर्णन है । यथा—

सहि सार्धं न जातं तुविज्जमि रज्जस्वतीपूर्वरास्विष्टनिरस्तनास्विष्टि ।

ऋ० १ । १२७ । ९ ।

अपूजस्वती उर्चर भूमि का नाम है और आर्तना परती या अनुर्चर भूमि का । हस चलाने से भूमि में जो गहरी लकीर बनती है उसे अथर्व० ३ । १७ । ८ में सीठा कहा गया है ।

खेती ऋतुओं पर आधित है । वेद कहता है सभी ऋतुयें हमारे लिये रमणीय हों—

वसन्त इमं रमयो ग्रीष्म इमु रम्यः ।

वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त शितिर इमु रम्यः ॥ साम० ११६

वसन्त हमारे लिये रमणीय हो । ग्रीष्म हमारे लिये रमणीय हो । वर्षा के पश्चात् शरद हेमन्त तथा शितिर ऋतुयें हमारे लिये रमणीय हों । ऋतुओं के साथ ही उत्तरायण और दक्षिणायन का भी सम्बन्ध है । इनका वर्णन भी वेद में पाया जाता है ।

सिन्धौ भारतीय टुकड़ कृषिकर्म की सक्रमता के लिये वर्षा पर अवलम्बित रहते हैं । वर्षा का बेषता इन्द्र माना गया है । बड़ी बुद्धि विष्णुओं को दूर करता हुआ वर्षा करता है । इन्द्र इस संवत्स में सूर्य है । वेद में इती हेतु प्रार्थना आती है— राजा सूर्य उदयसा जवेतु 'सम्यः सिन्धवः समुत्सन्वाप' । जलो वेद सविता आयमाजः शम्भो नवन्नुपसो विभाती । राजन् पञ्चमो भवतु प्रसाभ्यः सान्न क्षेत्रस्य पतिरस्तु-शम्भुः ॥ ऋ० ७ । १३३ ॥ इन मंत्रों में सूर्य पञ्चम्य तथा क्षेत्रपति का उल्लेख है जो परस्पर वनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं ।

निम्नांकित मंत्रों में चार प्रकार के जलों का उल्लेख है—

या आपो विम्या पत या सवन्ति ।

समिधिया पत या याः स्वयंजा ॥ ऋ० ७ । ४९ । ९ ॥

विम्य जल स्वाति गदान में बरसि हुये जल का नाम है । सवन्तीस जल, सविन्ती

में होते हैं । अनिष्टिमा जल खोदे हुये कूप या बाबड़ी का जल है । स्वयंवा जल पर्वतीय निर्गमर जल है । सभी प्रकार के जल श्रुति कर्म के लिये उपयोगी हैं ।

निम्नांकित मन्त्रों में खोद कर बनाये गये कूपादि का वर्णन है—

सिन्ध्वामहा अवतम् उग्रिणं वयं सुयेकमनुप सितम् ॥ ४

इष्कताहावमवतम् सुवरम् सुयेकनम् । उग्रिण सिन्धवे मसितम् ॥ ५

द्रोणाहावमवतम् अश्वघ्नं अश्वकोश सिन्धवता गुपावम् ॥ ७ ॥ ऋ० १० । १०१

त्रित कूपे अवहितो देवान् हवतउत्तये ॥ ऋ० ११ ५ १७

ये मंत्र सिन्धवन किया अवत—खोखरा गड्ढा या बाबड़ी द्रोण आहाव—काठ के बने हुये बड़े बड़े पात्र वरत्र—माटी बत्त बरियम या रस्सी अग्रिण—क्रम म होने वाले जल उग्रिण—ऊपर निकाले हुये जल अश्वघ्नक—पत्थर के बने चक्र कोल पेटियां जो चक्र में खेची रहती हैं और जिनके द्वारा जल नीचे से ऊपर आता है तथा कूप—कुआ बावि की ओर संकेत करते हैं । जल की प्रणामिकार्यों भी होती थीं जिन्हें बरहा कहा जाता है । मंत्र ५ में एक स्रग् अनुपसिद्ध आया है । देशात में पुर का पानी जहाँ पहले उड़का जाता है उसे पाण्ड्य कहते हैं । संभव है यह स्रग् अनु पक्षित का ही अपभ्रंश हो । यजुर्वेद अ १९ मंत्र ३७ ३८ में सुत्वार (नाला), कस्वा ( नहर ) वेमन्त ( ठामाव ) नीप्य ( गहरा जल ) काद्व—बम्बा या गूस ( जिसमे से पानी काट कर चूत सीधे आते हैं । ) सर—ताल कुप्य—कूप का जल आश्रद्व—गड्ढों पोखरों का जल मेघ्य—मेघ जल अवर्त्य—बिना बरसा जल आदि का वर्णन है ।

पशु पालन— ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त में वामस्य आरस्य तथा धाम्य पशुओं का उल्लेख है । इनमें धाम्य पशु पालन ही हो सकते हैं । इसी सूक्त में चार वित्तिष्ट पशुओं के भी नाम हैं—

तस्मादश्वश्च अजावन्त ये के चोमयावत ।

पावो ह वसिरे तस्मात्तस्माद्वन्ता अजावन् ॥

इन नामों में एक अश्व है दूसरा गी है तीसरा बकरी है और चौथा अजि या भेड़ है । अजावन्त से तात्पर्य उन पशुओं से है जिनके मुख में ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँत होते हैं जैसे मनुष्यों के । इससे स्वभावतः यह निष्कर्ष भी निकल आता है कि कुछ पशु ऐसे भी हैं जिनके मुख में केवल एक ओर दाँत होते हैं ।

निम्नांकित मन्त्रों में भी पशुओं के नाम आते हैं—

अजो हवीरविमता वसिका वा मास्नी यत् सीममुज्जतम् वुकरय ॥ १६

शतमेवान् वुज्ये मासहानम् ॥ १७ ॥

शुनमग्वाप सर महू वयत् सा वृहीरविमता वुष्पानरेति ॥ १८ ऋक् १-११७

आमु तिसानी वृपमो । अश्व० १९ १३ २

सहस्रम् स एक मुखा वदाति ।

यो वाह्यन् जपममा कुहोति । ९ ॥

य इन्द्र इव देवेभ्य गोषु पति विवाचकत् ।

तस्य ऋषभस्य अंगानि ब्रह्मा सस्तीतु भद्रया ॥ ११ ॥ अथर्व ९४

अथ येन मुहुषाम् भित्तय त्वासां त्वां ब्रुहाम् विपरिचयतम् परोक्षि ॥

२१ ॥ अथर्व ९४

पावः सन्तु प्रजा सन्तु यजोऽस्तु तनू वसन्तु

तत् सर्वमनुमग्नताम् देवा ऋषभ दायिने ॥ २० ॥ अथर्व ९४

इसी मूक्त के मन्त्र १ में सोम से पूर्ण कर्मा तथा मन्त्र ७ में आग्न्य भूतारि का भी वर्णन है। यजु० २१-२२ १ में मेघ तथा ऋषभ के साथ आग (अथ बकरा) का भी उल्लेख है।

बीस के सिवें रूपस ऋषभ अनन्धान उक्षा आदि सन्धियों का भी प्रयोग हुआ है। बीस छेटी के काम में भी आते थे और रथ में भी जोते आते थे। बोकड़ों को भी रथ में जोता जाता था। अश्व और गो इन दो जन्तुओं का प्रयोग वेद में कई जगहों में हुआ है। अश्व शरीर में प्राण है तो गो इन्द्रिय है। अन्तरिक्ष में अश्व सूर्य है और गो उसकी किरणें। समाज में दोनों पशु के का में दिखाई देते हैं। कार्य जन मोक्ष के लिए प्रख्यात हैं। ऋग्वेद के कई मूर्तों में (६/२८ १/६६ आदि) वेनु की प्रशंसा तथा उत्पत्ति का वर्णन है। गो को यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही अघ्न्या कहा गया है। अघ्न्या का अर्थ है जो मार्ग के योग्य न हो। एक अग्न्य मन्त्र में इसे बनागा भी कहा गया है। अनागा का अर्थ है लिप्ताप। कार्य पाप का बड़ा आवर करत थे। उनकी दृष्टि में मार्ग ऐश्वर्यमयी हैं। उनमें शैवी अन्त है। उनका दुग्ध अग्नीर अर्वाति थी—रहित को भी—सम्पन्न करने वाला है। गाय का भी वेद—प्रदायक है। गाय का मोबर सुन्दर खार है। गोमूत्र में रोम—विनाशक तत्व है। पाप के वस्त्र बड़े होकर मानव के विभिन्न कार्यों की साधना करत हैं। ऐसी मो का आवर यदि कार्य समाज में हुआ है, तो वह उपयुक्त ही है। अथर्व १६-२-३ में तथा अग्न्य भी कई स्थानों पर योपा मन्त्र आता है जो योपात (ग्रास) का संकेत देता है। गोपात योपासन किया करते थे। अथर्व ३-१४ तथा ४-२१ गोवर्धन से ही सम्बन्ध रखते हैं। वेद में शाला तथा गोष्ठ का भी वर्णन है। गायें कभी-कभी चुरा सो जाती थीं। ऋग्वेद १। १२० में पशिवीं द्वारा उनके चुराये जाने का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी गायों की पहिचान के लिये उनके कानों पर कृष्ण चिन्ह बना दिये जाते थे। आठ के अंक से चिह्नित पशु का नाम अष्टकर्णी था यथा—

पञ्च योमस्त मधिवर्नं सहस्र मे दहतो अष्टकण्ठयः परोक्षेदेभ्यु अक्षम् ।।

—ऋग्वेद १०-६२-७ ।।

अथ बोकड़े का नाम है जिसमें मार्गें रखी जाती थीं। गाय के दूध की समता माठा के दूध से की गयी है। पाप के कई नाम वेद में आते हैं यथा—

वेनु बसा वेनुष्ठी गच्छि आदि जो उसकी विशेषताओं को प्रकट करने हैं ।

अपने बछड़े के लिये रंभाठी हुई माय की उपमा देवों के माझान के लिये प्रयुक्त हुई है यथा—

अग्नि विप्रा अणुपत यावो वत्सं न मातरः । ऋ० १-१२-२

यजुर्वेद के अष्टादश अध्याय के निम्नांकित मंत्रों में आयु तथा कार्य की दृष्टि से भी योसन्तति के नाम आये हैं —

वृषविष्य मे वृषवी च मे शिष्यवाद्वा मे शिष्योही च मे

पञ्चाविष्य मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सव मे त्रिवत्सा च मे

तुर्यवाद् च मे तुर्योही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। २६

पष्ठवाद्वा मे पष्ठोही च मे उज्जा च मे वशा च मे

अवमव मे वेहव मे अमववादि मे वेनुव मे यज्ञेन कल्पन्ताम्—२७ ।।

इनमें शिष्यवाद् दो वर्ष का बछड़ा और शिष्योही दो वर्ष की बछिया है। त्रिवत्स तीन वर्ष का बैल और त्रिवत्सा तीन वर्ष की माय है। इसी प्रकार तुर्यवाद् तथा तुर्योही चार वर्ष के बैल तथा माय हैं। पष्ठवाद् और पष्ठोही पीठ से चौथा डोने वाले हाथी बैल जोड़ा यात्रि मर और माया के नाम हैं। उज्जा सोड तथा वशा बन्धा गाय है। अवम वमवान बैल है। वेहव गर्भ—मातृगी गाय है। अमववान बोन डोने वाला या शकटवाही बैल है। वेनु कुमार गाय है। वृषवि और वृषवी तीन मेंड़ें और मेंड़ा हो सकते हैं अथवा वेद वर्ष के बछड़ा और बछिया। इसी प्रकार पञ्चावि और पञ्चावी पांच भड़—मेंड़ा या ठाई वर्ष के बछड़ा और बछिया। अग्नि मेंड़ के साथ वर्षार्ष का भी जोड़ है। वेनुष्टी=बहुत अधिक रूप देने वाली तथा दृष्टि=प्रसन्न स्तनीय माय है।

वेद में उष्ट्र का भी नाम आया है। यथा—

उष्ट्रा यस्य प्रवाहनी । अथर्व० २० । १२७ । १

वीथि उष्ट्रस्य नामानि हिरण्य इति एके वदन्तीत् ।

नील शिखण्ड ब्राह्मण । अथर्व० २० । १३२

सिंह व्याघ्र बघाह बृह जैसे पशुओं के साथ हस्ती मृग महिष आदि का उल्लेख भी वेद में पाया जाता है। द्रष्टव्य अथर्व ८—७ १—२२ तथा ऋ०—१—६४ आदि। यजु० ११—१० में व्याघ्र विपुषिह बृह स्तेन और सिंह जैसे हिरक यन्तुओं के नाम आये हैं। यजुर्वेद का अध्याय २६ अनेक प्रकार के असजन्तुओं, पशुओं तथा पक्षियों के नामों से भरा हुआ है। पक्षियों में कर्जिम कर्षिक तित्तिरि, बलिक (बटेर) ककर, तित्तर, हंस वमादा कृञ्च मयुग अक्रवाक कंठ कुटक उमृक, चाप (मीनकृञ्च) मयूर कयोग तथा कौसीक ( बया ) गोपादि ( जो पर बैठने वाली गुरुमन विहिमा ) कुपीक पारण ( बछ्पों का अपने उष्ट्र अंशों से सजा कर पाने वाले ) पारावज मृग त्रि सीवायु जनु ( बमगाहर ) दार्योह ( कीमा ) नुनर्ष ( पण्ड ) आदि। पशुओं में गङ्ग गेडा तथा मय गर्भम ( राधम ), ठरधु

(बीठा) सूकर, सिंह, उष्ट्र विश्व बाघीनस सुमर, रुब बाजी, रोहित (मृग) कुम्भूबाजी (हस्तिनी), गोसन्निधा (भिभिणी) अल सौताला (लोमड़ी) बाधु न बृध, कृमु प (मृग) बज गौर मृग मर्कट आपम नीम गौ महिष आप्य पवय हस्ती आदि । पक्ष पशुओं में लिङ्गुमार मण्डूक यस्त्य कृसीपय (मृगावी) नाक ककट, प्लव (वतक) कूर्म आदि । इनके अतिरिक्त नकुल लक्ष अजपर, कोट (धियार) महन कुकलास (गिरगिट) मंग आदि के नाम भी आये हैं ।

पशु धारण में विचारण करते थे । यह मानव बुद्धि का समतकार है जिसने उसे पालतू बनाया । जिस व्यक्ति ने स्वान से चौकीदार का काम लिया होगा, या निस्संदेह अपने विज्ञान पर गर्व कर सकता था । बाज कुत्तों से चौकीबोटी ही नहीं बल्कि चोरों की खोज का काम भी लिया जाता है । पाव के पुरुष में कौन-कौन पुरुष हैं, इसका ज्ञान भी मानव ने अपने बुद्धि—प्रयोग द्वारा ही प्राप्त किया होगा । पक्ष पालन मानव के अर्थ—विकास में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध हुआ है और आज भी हो रहा है । यह उसके सम्य होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है । पशुओं को अपना माना वहाँ मानव के सिधे सहायक सिद्ध हुआ वहाँ पशुओं के सिधे भी ।

## ग साक्षा

यजुर्वेद में अठारहवें अध्याय में निम्नलिखित मंत्र आता है—

असु य मे वसतिश्च मे कर्म य मे तत्तिष्ठश्च मेऽर्वाश्च य एवश्च  
म इत्या य मे पतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। १५ ।।

यजुर्वेद यज्ञ-अध्याय है । यज्ञ की व्यापकता भी प्रकटित है । हमारा एक-एक कर्म पुरुषार्थ का एक—एक रूप तथा उपलब्धियों के सभी सुख—स्वल्प यज्ञमय हों, ऐसी—प्रार्थना अनेक बार की गयी है । इस मन्त्र में कहा गया है कि वहाँ मेरी गति तथा इत्या अर्थात् मेरा सामर्थ्य और उस सामर्थ्य के साधन यज्ञ द्वारा परिकल्पित हों वहाँ मेरा वन और एम (पशु), कर्म और शक्ति तथा असु और वसति भी यज्ञ रूप हों । असु वन गृह आदि का नाम है और वसति निवास—स्नान के सिधे आया है । अथर्व ७—७३—८ के जुष्टोपमूना अतिथि पर में वसूना तथा अन्वेष्ट १—१—८ के अथर्वान्त्येष्टमे पर में वस लब्ध वर के सिधे आये हैं । वेद में अथर्व पुरुष दुरोण नाम आदि लब्ध भी गृह के सिधे प्रकट हुए हैं । गृह लब्ध भी अनेक बार आया है । दुरोण लब्ध ऐसे वर ( यजु० १—११ तथा ४—३७ ) का श्रोतक है, जिसमें कठिनाई से प्रवेष्ट किया जा सके । पुरुष लब्ध का भी यही अर्थ है । दुरोण यजु० ३३—७२ में वर के अर्थ में आया है । वाम और सरण नाम भी आते हैं । यजु० ५—२८ में अष्ट के सिधे कहा गया है ।

यजुर्वेद में गाना प्रकार के पद्यों के नाम आये हैं । बाधु वर का नाम रत पाण सेना राजकीय-व्यवस्था अन्तरिक्ष यात्रा आदि से सम्बद्ध जीवन व्यवहार से सम्बद्ध, पक्ष और तप से सम्बद्ध गणित और वर्तन से सम्बद्ध म जाने कितनी शब्द

राशि इस बेद में विद्यमान है। बगु और वसति दोनों का सम्बंध निपास के साथ है। नासा भी इसी अर्थ की शोचक है।

निवास किस प्रकार का हो यह तो मानव की रधि पर अवलम्बित है। वह उन्मुक्त आकाश के नीचे भी रह सकता है। पार्थव्य युद्धांशों में निवास कर सकता है। सामान्य शोषड़ी अथवा भव्य भवन भी उसके वासस्थान बन सकते हैं। सम्प्रति इन सबका भूस्वीकरण करती है। युद्धा-निवासी तपस्वी को हम असम्प्रति नहीं कह सकते। कुटीकर आश्रय को सम्प्रति मनुष्यों में गौरव का स्थान प्राप्त है। उसकी शोषड़ी के ऊपर मने ही उपरोक्त ब्रूखते हैं अथवा अग्निहोत्र की समिधाएँ रखी हों वह मने ही वीरिन धारण करता हो पर वह एक विज्ञान साम्राज्य का महामार्य है। उसे असम्प्रति कौन कह सकता है? वह सभा तथा समाज के योग्य है। वैदिक वृत्त उसकी कुटी पर ही आकर मतलब करते हैं। अतः निवास के लिये रधि ही मापदण्ड है भोग-विज्ञान की सामग्री नहीं।

बेद ने 'उपह्वरे गिरीणां सगमे च नदीनाम्' कह कर सम्प्रति व्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित किया है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्यजन विपुल भनधाम्य से अपरिचित थे और अपने निवास स्थानों को व्यवस्थित एवं अलंकृत करना नहीं जानते थे। एतद्विषयक श्रुति ७-५४ के तीनों मंत्रों का भाव नीचे दिया जाता है। इन मंत्रों में वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे आश्रयों को निवास गृहों को अनमीन अर्थात् रोग-रहित रखें। दूसरे शब्दों में हमारे घर ऐसे होने चाहिए जिनके कोने-कोने में सूर्य की किरणें प्रवेश करती रहें। सूर्य की किरणों से रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने की अपूर्व शक्ति है। जन्मकार से आध्यात्मिक स्थानों में ही रोग के कीटाणु पनपते हैं। हम जो आकांक्षा करते हैं उसे प्रभु पूर्ण करें। विपन्न मानव ही नहीं हमारे चतुष्पथ पक्षु भी नीरोनता साम करें।

पशु-पालन के लिये आवश्यक है कि हमारे पशु स्वस्थ हों। मानवों के साथ पक्षु भी बरो में रहते हैं। खानाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं, पर मानव स्थान की विभिन्नता होते हुये भी पक्षुओं के साथ रहता है। अतः स्वास्थ्य की कामना वह अपने ही लिये नहीं अपने पक्षुओं के लिए भी करता है। मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—

हे वास्तोष्पति जैसे पिता पुत्र का पालन करता है वैसे ही तू हमारा पालन करो बन्धुको बढ़ाओ। हम गाय और भोड़े रखें तथा बर-रहित जीवन व्यतीत करें।

हमारे ससब अर्थात् बैठने और रहने के स्थान सुखमय सुन्दर और शोभन पुष्पार्थ की प्रेरणा करने वाले हों। योग और क्षेम हमारे लिये सर्वत्र वरणीय बनें और हम स्वस्ति से सम्पन्न रहें।

अर्थात् वेद काण्ड १ का तीसरा सूक्त शास्त्रा निर्माण से ही सम्बन्ध रखता है ।  
अतः उसका पूर्ण विवरण देना यहाँ असंगत न होगा ।

१- शास्त्रा विद्वानों द्वारा उल्लिखित अर्थात् प्रकृतित हो प्रतिष्ठित अर्थात् दूसरों के लिये प्रतिष्ठान या आवर्त रूप हो अथवा एक द्वार कोण या कणा के सम्मुख दूसरा द्वार, कोण या कला हो परिमित अर्थात् परिमाण की दृष्टि से एकसम हो और वह विस्मयकार अर्थात् सब ओर की बाहु तथा प्रभाव को ग्रहण करने वाली हो । शास्त्रा के अन्तर्गत और चिन्ताई नष्ट अर्थात् सुसंयोज्य और बुद्धि हो ।

२- शास्त्रा दिव्य हो । उसमें इतिवृत्ति अर्थात् होम करने के पन्थ रखने का स्थान अग्निस्थान—अग्निहोम का अथवा आहवनीय गार्हपत्य तथा दक्षिणाम्नि रखने और स्थापित करने का स्थान परितः—सुदन या म्बिषो के रहने का स्थान, अन्तःपुर या हर्म्य और देवसद पुराणों विद्वानों तथा अतिथियों के बैठने तथा संवाद करने का स्थान तथा भोजन स्थान आदि करने का स्थान सभी पुष्क-पुष्क हो ।

३- जैसे शास्त्रा और पृथिवी के बीच विस्तारमय अन्तर है, वैसे ही शास्त्रा में द्युत और कर्ष के बीच में हो । जैसे अन्तरिक्ष में लोकलोकान्तर नाव-टीस के रहे वैसे ही घर के सब कक्ष कमरे और बरान्दे अनुपात के अनुसार गये-गुले हो और जैसे उदर में रक्षाधि की निधि सुरक्षित रखी है वैसे ही शास्त्रा में नर्मबृह हो वहाँ गृहस्वामी अपनी निधियों को सुरक्षित रूप में रख सके ।

४- शास्त्रा उन्मूर्ध्वगती अर्थात् अन्यान्य से पूर्ण तथा पराक्रम मीरोगता और बस को बढ़ाने वाली हो । वह परमस्वती ब्रह्म—रस आदि से परिपूर्ण अर्थात् सुबाहू गाय आदि पशु तथा मनु, वृत् आदि से भरी रहे । पृथिवी पर परिमित स्थान में बनी हुई भी सम्पूर्ण अश्वों को चारण करने वाली हो । उसमें निवास करने वाले कभी हिरित या पीडित न हों । न पारिवारिक व्यक्ति एक दूसरे को पीड़ा पहुँचावे और न बाहर वाले पहुँचा सकें—ऐसी उस शास्त्रा की स्थिति तथा वातावरण हो ।

५- शास्त्रा मूर्ख या अमात्रु द्वारा नहीं चतुर जानकार चित्सी द्वारा ठीक माप करके बनाई गई हो । चित्सी जानकार ही नहीं भावना सम्पन्न भी हो । मंत्र में चतुर या जानकार के लिये ब्राह्मण और भावना-सम्पन्न के लिये कवि शब्द का प्रयोग हुआ है । जानकार न होना तो शास्त्रा को बिगाड़ देता और भावना सम्पन्न न हुआ तो शास्त्रा अमृत या टिकाऊ नहीं होती । अतः चित्सी में दोनों बुद्ध होने चाहिये । वह शास्त्रा या घर अर्थात् निवास स्थान योग्य—सर्वथा मुक्त शायक, आह्लाददाता तथा ऐश्वर्य-वर्धक हो । दृग्ग और अग्नि वायु और पावक



निरन्तर उसकी रक्षा करते रहें । उस माता के निवासी भीत और सम्प्रदाय से सर्वत्र भये रहें ।

१- पानी के समीप में रहते गर्भ टहरता है वैसे ही माता में सभी शक्ति टहरते गर्भ की जाति के गुणादीन रहते हुए अपनी बुद्धि करें । वैसे भान-सम्प्रदाय को बचाया जाता है, वैसे ही माता को भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये और निवासी-पुत्राई-सफाई के द्वारा उसे सम्पूर्ण तथा टिकाऊ रूप देना चाहिये । यह माता त्रिपदा अर्थात् मध्य में एक और उसके पूर्व तथा पश्चिम में एक-एक माता हो । इसी प्रकार कतुप्पदा पट पदा, अष्टपदा अथवा दशपदा माता होनी चाहिये । कतुप्पदा का अर्थ है- मध्य में एक और उसके पूर्व पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में एक-एक माता हो । दश पदा के मध्य में दो माता और उनके अग्र-अग्र सभी दिशाओं में दो-दो मातायें होंगी ।

७- मैं माता के पूर्व द्वार से पश्चिमी द्वार की ओर प्रवेष्ट करता हूँ । इस क्रिया में माता मेरा हिंसन नहीं करती और मैं उसे कोई हानि नहीं पहुँचाता । इसका तात्पर्य यही है कि माता पूर्वामिमुखी पश्चिमामिमुखी या उत्तरामिमुखी हो, दक्षिणामिमुखी न हो । पूर्व में ही हम उत्तर की दशा को भी सम्मिलित कर सकते हैं क्योंकि दोनों सहस्रकृत हैं । पश्चिम में दक्षिण को इसलिये सम्मिलित नहीं करेंगे कि पश्चिम की ओर से प्रविष्ट व्यक्ति दक्षिण की ओर नहीं जा सकता पूर्व या उत्तर की ओर ही उसकी पति होनी चाहिये । और यदि उत्तर की दिशा का नाम न लें तब भी कोई हानि नहीं है । पूर्वामिमुखी अथवा पश्चिमामिमुखी ही साक्षात् रहे, वो शुभ है ।

८ माता में पहुँचने पर हमारा गुरु भार लभू हो जाना चाहिये । बाहर जाहे बली चित्ता हो पर घर में प्रवेश करते ही चित्ता हट जाय और चित्त प्रसन्नता का अनुभव करे, ऐसा माता का वातावरण होना चाहिये । माता के साथ हमारा प्राप्त अर्थात् सम्बन्ध भिन्नित्व न हो । उसके प्रति हमारी समता बनी रहे । जैसे मातृव मारी को बच्चे रूप में स्वीकार करता है जो उसको जीवन भर भयता-मातृ में बाँधे रहती है और कामना के अनुकूल व्यवहार करती है, वैसे ही हम माता को स्वीकार करें । माता की रक्षा इसी विधान से हो सकेगी ।

माता अथवावती गोमती तथा शून्यावती हो । उसमें अन्न-तथा यन्त्र-पशुओं के लिये पुष्क-पुष्क स्थान हों । वह शून्य अर्थात् सत्य व्यवहार पर टिकी हो । उसमें निवास करने वाले हम सब महान् सौभाग्य की प्राप्ति करते हुये ऊपर उठें । मैं बिना किसीकारिणी करते हूँ तथा बुद्धि मार्गें रम्हाती हूँ ।

माता रहने वालों के लिये सुख की प्राप्ति या केन्द्र है । उसमें बच्चों, बनों,

बैमर्बों की धारा प्रवाहित रहनी चाहिये । जूत आदि के सेवन द्वारा पराक्रमी बने हुए हम लोग शासा में क्षेम पूर्वक निवास करें ।

शासा वास्तुकला के अन्तर्गत स्थान पाठी है । इसी हेतु शासा के निर्माता को वास्तोष्यति कहा जाता है । यजु० १६ १९ में इसे स्वपति भी कहा गया है । यह हमें गृह के कर्ण में ऐसी वास्तु, कसमीय कला देता है जो हमें सुख तथा कल्याण प्रदान करती है । ज्ञान-संतान की रक्षा शासा में रहकर ही सुगमता पूर्वक की जा सकती है । समस्त देवता विष्य कृतियाँ प्रभु की अनुगामिनी बनकर विष्यक्षाना में आश्रय पाती हैं । श्री तथा यश यज्ञ तथा बलिधा अन्न तथा ब्राह्मज्ञान और बल तथा सत्य सभी विष्य रूप हैं और वे शासा में प्रतिष्ठित होकर उसकी रक्षा करते हैं । शासा सम्बन्धी यह विवरण आधुनिकतम शासा-निर्माण विधि के समकक्ष ही नहीं उससे एक पग आगे है । विज्ञान के समस्कारों पर आधारित गृह केवल स्वास्थ्य पर दृष्टि रखकर बनाये जाते हैं । हमारी शासा स्वास्थ्य के साथ विष्यता का संचार भी करती है ।

ऋग्वेद के नीचे लिखे मंत्र में ज्ञान तथा बर्म के साथ आमघीपुः—जौह नगर जववा जौहगर्जों का भी नाम आया है । यथा—

ॐ सर्वं कृणुष्वो स हि वो नृपानो बर्म सीध्यन्व बहुसा पृथुनि ।

पुरं कृणुष्वमायसीर युष्ठा मावः सुसोत्तु बमसो दु हता तम् ॥ ऋ० १० १०१/८

ज्ञान या गोष्ठ बनाओ । वह मनुष्यों के लिए पान का भी योग्य स्थान होया । अनेक पृथु कवचों को सीमो । सोहे के अनेक दुर्भ या पुर बनाओ और बमसों को बुझ करो जिससे पानी न टपके ।

पुर और गड़ भाव भी पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं । गड़ एक प्रकार का पुर ही है । जोधपुर के पुराने किसे के मास-मास सभी प्रकार के पेये शाने व्यक्ति रहा करता थे । गड़ कही जाया में श्राव हो गया है । ऋ० ७-३-५७ में भी आमघीमि पृथि जषात जौह नगरों का नाम आया है । अथर्व १०-२ ११ में अयोध्या को देवतनरी आठवकों वाली तथा सुवर्ण मयी कहा गया है । इतिहास शंका को तो स्वर्ण पुरी कहता ही है ।

निम्नांकित मंत्र भी वास्तु कला की दृष्टि से विचारणीय हैं—

१—स चार्चं पातापकुण्डरा यन्तस्वर्वात्ता परिपत्तु सनिध्यम् ।

अनर्वायात् सतपुरस्य केवो ध्मन्विष्टकवेणो अधिवर्षता पूतु । ऋ० १०-१९ ३

२—ब्रह्महृतो जमुता निवर्षवेवसः शर्मनीयसम् निवर्षवः संहृत् ॥ १०-६६-३

३—घाभीजिरे युषजो देवयज्यया ता नः शर्म निवर्षवः विवर्षतः ॥ १०-६६-७

४—विधातुना शर्मना पातमस्मान् नद्य स्याम पतनो ययीवाम् ॥ ८-४०-१२

५—बृहन्तम् मानम् बरष स्वनाथः सहस्र द्वारं जवमा गृहं ते ॥ ७-८८ ३

६—द्वारं विधातु शार्वं निवर्षवः स्वस्तिनम् ।

एवमिदं मयवद्व्यस्य मय्य न वाच्यमिति श्रुत्वा ॥ १४१-९

७-राजाणां धर्ममहत्कीर्णमाणा सहस्रं स्वर्णं विभूषणं सह ही ॥ १४२-६ ।

८-हिरण्यनिर्जितं अथो अथ स्मृणा विभ्राजते विविधं मयवाजनीय ॥ १४२-७

९-राजाणां धर्ममिदं ॥ १४२-८ ।

सहस्रं स्मृणं आसृजते ॥ १४२-९

१० भगवतो विद्वान्मनुजानि हृष्यां विभो ओ धाम ॥ १४३-४

प्रथम मर्म में ही बरबाजों वाली पुरी का उल्लेख है। द्वितीय तथा तृतीय मर्मों में विद्वान् अर्थात् तीन तलों वाले मकान (त्रिभूमिक) का नाम आया है।

चतुर्थं मर्म म विधातु अर्थात् तीन कोनों वाले घर का और पाँचवें मर्म में सहस्र द्वारां वाले गृह का उल्लेख है। छठे मर्म में विधातु का शास्त्र काष्ठ इष्टिका और प्रस्तर है। विद्वान् का तात्पर्य है बीठ साप और बर्षा से बचाने वाला। स्वस्तिमत् का अर्थ है कल्याणकारी। इस प्रकार के घर निश्चित रूप से मनु के प्रहार से सुरक्षित रहेगे। सातवें मर्म में सहस्र स्तम्भों वाले मकान का आठवें मर्म में मीठ स्तम्भ या स्तम्भ का नवम मर्म में सहस्र स्तम्भों वाले सब अर्थात् निवास स्थान का और दशम मर्म में हर्म्य अर्थात् अन्ध-पुर या अट्टाभिरा का वर्णन है।

अन्य विधेयतायें तो आज भी कहीं न कहीं मिल सकेंगी परन्तु सत्रों स्तम्भों वाले विद्यालय समान-गृहों का वर्णन आजकल नहीं होता। प्राचीन भारत तथा रोम में इस प्रकार के भवन अवश्य होते थे।

वेद के इसी प्रकार के मर्मों के आधार पर विश्व में वास्तुकला का प्रसार हुआ। पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भारत वर्ष का बृहत् इतिहास' द्वितीय भाग के पृष्ठ २४ पर वास्तु शास्त्र के १८ उपवेदों के नाम मत्स्य पुराण अध्याय २५२ के अनुसार इस प्रकार दिये हैं — मृमु अथि अक्षिष्ट विश्वकर्मा मय नारद मन्त्रित विद्याभास पुरन्दर, ब्रह्मा कुमार मन्वीश लौकिक गर्ग वामदेव अनिरुद्ध मुक्त और बृहस्पति ।

घ पात्र और वस्त्र

संभव है, पात्रों का कार्य सर्व प्रथम पत्तों के बने हुये दोनों से मिया जाता रहा हो। बौद्ध लोग शब्द का ही अपभ्रंश होता है। आज भी इसका प्रयोग बाहुस्य से होता है। पर होता भी पत्तों का बनाया जाता है और उसी के साथ पल्ल भी बनाई जाती है। बहुधा पलाश के पत्तों का प्रयोग इनके निर्माण में होता है। केसे का पत्ता बिना किसी कलात्मक प्रयोग के ही उपयोग में आता है। जो कार्य हम बासी और फटोरी से सेते हैं वही केसे के पत्ते या पल्ल और पोंनों से। धातुओं से इन वस्तुओं का निर्माण संभव है परन्तु युग की देन हो।

कार्य यज्ञप्रिय थे। यज्ञ में पात्रों का प्रयोग अनिवार्य होता है। वाली मृदा और मृक तो निरन्तर आवश्यक पात्र हैं। इनका निर्माण काष्ठ धातु आदि द्वारा ही

होता है । आज भी बाण्ड की बनी कठोरी प्रोशनी झुवा तथा झुक प्राप्त होते हैं और प्रयोग में लाये जाते हैं । बाण्ड-निमित्त पात्र भी सख्या में अनेक हैं । ये सभी कसा-अपेक्षित हैं । कसा सम्पत्ता की धननी है । अतः पात्रों की विद्यमानता सम्पत्ता की परिचायिका है ।

यजुर्वेद के निर्माकित मंत्र में कई पात्रों के नाम आये हैं—

वायव्य वायव्याम्याप्नोति सतेन द्रोण कससम् ।

कुम्भी श्वात्मन्मूषो सुते स्वासीप्य स्वासी दाप्नोति । १९ २७ ।

इस मंत्र में आरव्यक राजा द्वारा निर्मित पात्रों की तुलना राजकीय यज्ञ-पात्रों से की गई है । यज्ञ में वायव्य द्रोणकसस अन्मृग तथा स्वासी का प्रयोग होता है । आरव्यक बैलानस या वानप्रस्थ इसी प्रकार के पात्रों को रखता है परन्तु वे वनधातु काष्ठानि के बने होते हैं । सोम यज्ञ सौषामणि यज्ञ आदि अनुष्ठान नागरिक बनी गृहस्थों वैश्यों क्षत्रियों आदि द्वारा ही सम्पादित होते थे । इन यज्ञों में वायव्य पात्रों का सम्बन्ध सम्पत्त अग्नि-अपन की क्रिया से रहा होगा । यह भी हो सकता है कि वायव्य कोश में जिन्हीं विशेष पात्रों को रखा जाता हो और इसी आधार पर उसका यह नाम पड़ गया हो । सत की तुलना द्रोण कसस से की गई है । द्रोण और कसस दोनों शब्दों तथा उभयाना पात्रों का प्रयोग अभी तक प्रत्येक गृह में होता है । द्रोण काठ या बाण्ड का बना एक पात्र था । उसमें जितना अनाज या सदृश था, उसकी तैल भी इसी द्रव्य द्वारा आँधी जाती थी । कसस पानी भरने का पात्र था । सत वनस्त्रा के पास रखा था । इस नाम के पात्र का निर्माण वेत की लकड़ी द्वारा होता था । सत की बनी हुई ओसणी आज भी बाजारों में बिक्री है । अन्मृग पात्र का प्रयोग यज्ञ में होता था । इसकी समता कुम्भी—मिट्टी के बने छोटे बड़े से की गई है । स्वासी (बासी) की समता स्वासी से की गई है । बासी जब तक सामान्य प्रयोग की वस्तु है और आर्थिक स्थिति के अनुसार पीतल काँसा फूल चाँदी सोना आदि किसी भी धातु से बनाई जा सकती है । अथर्व० २०—१३४-१ में स्वासी पात्र का वर्णन है ।

अथर्ववेद ४ १४-७ में बार कुम्भों का वर्णन है । गृहस्थ में उज्ज्वल मुलत सुगन्ध पसनी आदि का प्रयोग सामान्यतः होता ही है । सक्तुमिष सितवना पुनस्त मन्त्र इसके पूर्व उद्धृत किया जा चुका है जिसमें सितव अर्थात् पसनी का नाम आया है जिससे सक्त मी को छाया जाता है और घृही पुनस्त की जाती है । अथर्व १६ १६ में 'सर्व पवित्र सुपा' मंत्र में सुगन्ध का उल्लेख है । सुगन्ध से भी अनाज के बाने और घृता या घस्य कुड़ा करके पुनस्त-पुनस्त क्रिये जाते हैं । अथर्व० १० २ २६ में 'उज्ज्वलं पुनस्तं मन्त्रं' तथा अथर्व० १९ १७ में 'याम्पुमुज्ज्वलपुनस्तानि' मंत्रों में उज्ज्वल और मुलत मन्त्र आये हैं जो आज तक इन्हीं नामों द्वारा प्रयुक्त होते हैं । अथर्व० १६ १ १

में 'अर्बुद मा चमसर्ब मा' मन्त्र में चमस प्याले के लिये आया है जो चमसे के आकार का होता था और सोमपात्र करने के काम आता था। आबकस चाय के प्यालों की आकृति भी इसी प्रकार की होती है। ये काष्ठ या बाहु द्वारा बनाये जाते थे। ऊर्ध्व किस पात्र का नाम था कहा नहीं जा सकता।

अथर्व ११.३.१८ में चर पञ्चविंशमुक्तं मन्त्र में चर शब्द आया है। घामों में इसे चरमा कहा जाता है। पुत्रेष्टि यज्ञ के अन्त में भी अग्निदेव हाथ में चर लेकर ही उपस्थित होते हैं जिसमें पुत्र प्रसा और या अन्य ओषधि युक्त पदार्थ जो पुत्र उत्पन्न करने के गुण रखता है भरा रहता है।

यजुर्वेद के मिमंसाकृत मन्त्र में भी पात्रों के नाम आये हैं —

सूक्तस्य मे चमसाश्च मे चायम्यामि च मे द्रोणकमसाश्च मे प्रावाचरच मे अविषवसे च मे पूतमुक्च मे आधवनीयश्च मे । १८-२१ ।

आगे वैदिक ऋषि-अथर्वस्य आदि शब्द आये हैं जो पात्र नहीं हैं। पात्रों में सूक्त का उल्लेख ऋग्वेद के भी कई मंत्रों में है। इस सूक्त और बृह भी कहा जाता है। सतपथ ७.४.१.३६ में बाहुओं को भी सूक्त कहा गया है। चमसे का आकार बाहु जैसा ही होता है। चमस चायम्य और द्रोणकस पात्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रावा तिस बद्ध है जिस पर रखकर सोम या कोई अन्न-मसासा पीसा या कूटा जाता है। अविषवस कूटे हुए सोम या अन्न को रखने वाला पात्र है। साम के निष्पादक दो तिसा कसकों को भी अविषवण कहते हैं। पूतमुक् वह पात्र है जिसमें छाने हुये सोम या अन्न को रखते हैं। आधवनीय पात्र में मिष्टान्न या मेवादि पदार्थ रखे जाते हैं।

अथर्व. ११.२८.३ में चर्म इव अथितपत्र ८-८.१७ में चर्म समिद्धो अग्निना ऋग्वेद १०.१०६-८ में चर्मैव मनु जठरे तथा ऋग्वेद १.१६४.२६ और अथर्व ७-७.३.७ एवं १०.४ में अग्नीदो चर्म सद्यु प्रबोधम में चर्म शब्द चूर्ण के लिये आया है। यजु. ११.२६ में उक्ता या उक्ता शब्द हविष्य के पत्राने में प्रयुक्त भूम्य पात्र के लिये आया है जो सम्भवत मिट्टी की बनी हुई होगी। अथर्व. ११.१६ में तिष्य का अपभ्रंश छीका मात्र भी देहागों में चलता है जो रस्सी आदि द्वारा बनाया जाता है और स्रज से सटका कर रोगी आदि रखने का काम देता है। ऋग्वेद १.११७-१२ में हिरण्यस्यैव कनकं निपातम में जिस स्वर्ण कनक को भूमि में गाड़ देने का उल्लेख है वह मात्र भी घामों में प्रचलित है। रुपये मुहरें अर्थात् चाँदी और साने के छिन्ने तथा माधुप्य इसी प्रकार जब तक गाड़ कर रखे जाते रहे हैं।

ऋग्वेद ६.४८.१८ में 'दुतरिच' मन्त्र में दृति शब्द का प्रयोग हुआ है जो संभवत चमड़े की बनी मजकूनी। ऋग्वेद १.११२.३ में उगलप्रसिषी मना में उपम शब्द मात्र पीतने को चमड़ी के लिये आया है। ऋ. ७.१०४.२२ (अथर्व ८.४.२२) में दुग्देव प्रमूज में आया हुआ दुग्ध शब्द भी पत्रों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है जो गम्पर की बनावट वाली है।

अथर्ववेद १४ २ ११ के आरोह तर्ण सुमनस्यमाना पद में जिस तस्य अर्थात् ब्रह्मा का वर्णन है वह सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित की जाती थी। श्रुत्येव के निम्नांकित मंत्र में प्रोष्ठ बड़ा तथा तस्य दीन शब्द आये हैं जो शयन-पलंग का अर्थ देते हैं—

प्रोष्ठोत्तमा बह्वृश्या नारीर्वास्तस्यशोचरी ।

स्त्रियो याः पुण्यगन्धां तां सर्वां स्थापयामसि ॥ ७-५५-८

प्रोष्ठ संभवतः बड़ा पलंग रहा होगा। बड़ा बहन करने योग्य पलंग है या सोनी है। तस्य वस्त्र-वस्त्र के शयन-पलंग का कहते हैं। इन सभी के ऊपर बहुमुख्य आदरे बिछाये गते थे जिन्हें उपस्तरण कहा जाता था। यथा—

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुषं प्रथतामसमं स्वर्च ।

तस्मिं ध्रुवात् नहिष्यं सुपर्णो वैवा एनं वैवताम्बं प्रयच्छात् ।

अथर्व १२-३ ३८

इस लोक या स्थान पर उपस्तरण अर्थात् बिछीना (आवर आदि) बिछा दिया है। यह असम अर्थात् अनुपम और सुख देने वाला है। इसकी स्थापति चारों ओर कीले। इस पर नहिष्य—उषा या पूजनीय व्यक्ति और सुपर्ण—सुन्दर ज्ञान और कर्म रूपी पंखों वाले पुष्ट शयन करण या आश्रय लेते हैं। यह दिव्यगुण वाले वैवी कारीगरों ने दिव्यशक्ति वाले पुरुषों के लिये दिया है।

यस्या पर उपस्तरण के साथ उपबर्हण या अपिधान भी रहता था जिसे तकिया कहते हैं। यथा—

जितिरा उपबर्हणं चक्षुरा जन्मज्जगत् ।

टीर्धूमि कोश आसीत् वक्षपात् सूर्या पतिम् ॥ अथर्व १४ १ १

जब सूर्या पति को प्राप्त हुई तब उसकी चेतना ही तकिये का कार्य कर रही थी जो अन्धकार बन गई थी और छाया पृथिवी कोय या स्पर्शमन्वा बन गये थे।

सूर्या (१४ १-७) मन्त्र अर्थात् मांगयिक वास अर्थात् वस्त्र धारण किये हुये थी। युवा पुरुष को भी सुन्दर, स्वच्छ वस्त्र धारण करना चाहिये इसका संकेत युवा सुवासि परिणीत आयात् ॥ १-२ १ मंत्र से प्राप्त होता है। सूर्या (१४ १ १० से १२ अथर्व) पति के घर रथ पर बैठकर गई थी जिसके चक्र युधि य अथ अहत् या छत घी के समान दमक रही थी और जिसमें बीज चुते हुये थे। मन्त्र ६१ के अनुसार यह रथ सुकिणुक-सुन्दर फूलों से सुसज्जित था। यह हिरण्य-वर्ण अर्थात् सुवर्ण के रंग का था सुवर्ण सुवर्णम्—उस पर सुन्दर सासरे सटक रही थी और उत्तम चक्र थे।

पति को वधू के वस्त्र नहीं पहिने चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उसका सोमनस्य भी सोमा रहित हो जाता है। (अथर्व १४ १ २७) अथर्व १४ १ २८ में मातृसन चापिहार वस्त्र है निवासन शिर का वस्त्र है और अधिविकर्तम सर्वास को

में 'उर्ध्वश्च मा धमसश्च मा मग्ग में चमस प्यासे के लिये आया है जो चमसे के आकार का होता था और सोमपात्र करने के काम आता था। आजकल चाम के प्यासों की आकृति भी इसी प्रकार की होती है। ये काष्ठ या बाहु द्वारा बनाये जाते थे। ऊर्ध्व किस पात्र का नाम था कहा नहीं जा सकता।

अथर्व ११ ३ १८ में 'अथ पञ्चभिसमुर्धं मग्ग में अथ शव्य आया है। प्रामों में इसे चरमा कहा जाता है। पुत्रेष्टि यज्ञ के अन्त में भी अग्निदेव ह्यम् में अथ सेवर ही उपस्थित होते हैं जिसमें पुत्र प्रसा लीर या अन्य ओपधि मुक्त पदार्थ जो पुत्र उत्पन्न करने के गुण रखता है भर रखा है।

यजुर्वेद के निम्नांकित मन्त्र में भी पात्रों के नाम आये हैं —

सुचरश्च मे चमसाश्च मे वायम्याभि च मे द्रोणकसराश्च मे प्रावाचरश्च मे अधिवचने च मे पूतभृजश्च मे आधवनीपश्च मे। १८-२१।

आगे वेदि बहिः अथमथ आदि शब्द आये हैं जो पात्र नहीं हैं। पात्रों में सूक का उल्लेख ऋग्वेद के भी कई मंत्रों में है। इसे सूच और सुहु भी कहा जाता है। छतपत्र ७-४ १ ३६ में बाहुजों को भी सूक कहा गया है। चमसे का आकार बाहु जैसा ही होता है। चमस वायम्य और द्रोणकसरा पात्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रावा चित्त बद्ध है जिस पर रखकर सोम या कोई अन्न-मद्यसा पीसा या कूटा जाता है। अधिवचन कटे हुये सोम या अन्न को रखने वाला पात्र है। सोम के निष्पादन दो सिला फलकों को भी अधिवचन कहते हैं। पूतभृज वह पात्र है जिसमें छेदे हुये सोम या अन्न को रखते हैं। आधवनीय पात्र में मिष्टान्न या मेषादि पदार्थ रखे जाते होंगे।

अथर्व १२ २८ १ में चर्म ह्य अमिषपत्र ॥ ८ १७ में चर्म समिद्धो अग्निना ऋग्वेद १ १ १-८ में चर्मैव मधु जठरे तथा ऋग्वेद १ १५४ २५ और अथर्व ७-७ १-७ एव २ १ ४ में अमीद्धो चर्म तदुपु प्रबोधन म चर्म शव्य चूस्ते के लिये आया है। यजु ११ ३६ में उक्षा या ऊक्षा शव्य हविष्य के पकाने में प्रयुक्त मृन्मय पात्र के लिये आया है जो चर्मवत् मिट्टी की बनी हुई होगी। अथर्व ० २ ३ ६ में शिक्य का अपत्र च चूर्णका आज भी देहातों में चलता है जो रस्सी आदि द्वारा बनाया जाता है और छत से झटका कर रोटी आदि रखने का काम देता है। ऋग्वेद १ ११७-१२ में हिरण्यस्येव कसज्ज निष्ठातम में जिस स्वर्ण कसज को भूमि में गाड़ देन का उल्लेख है वह आज भी प्रामों में प्रचलित है। रुपये मुहरें जर्जरित पानी और सोने के सिक्के तथा आभूषण इसी प्रकार अन्न तक गाड़ कर रख जाते रहे हैं।

ऋग्वेद ६-४८ १८ में 'वृतेरिव' मन्त्र में वृति शब्द का प्रयोग हुआ है जो संभवतः चमड़े की बनी मराक भी। ऋग्वेद २ ११२ ३ में 'उपलम्रशिणी मना में उपल शब्द बनाम पीसने की चक्की के लिये आया है। ऋ ७-१ ४ २२ ( अथर्व ८ ४ २२ ) में वृषदेव प्रमेय में आया हुआ वृषा शब्द भी चक्की के लिये ही प्रयुक्त हुआ है जो पत्थर की बनाई जाती है।

अथर्ववेद १४ २ ३१ के आगेह तस्यं सुमनस्यभावा पद में जिस तत्त्व वर्णित यम्या का वर्णन है, वह मुख्यर वस्त्रों से सुसज्जित की जाती थी। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में प्रोष्ठ बह्य तथा तस्य चीन शब्द आये हैं जो शयन वस्त्र का अर्थ देते हैं—

प्रोष्ठेशया बह्येशया नारीर्यास्तस्यशीवरी ।

स्त्रियो या पुष्यगम्या ता सर्वा स्वापयामसि ॥ ७-१५-४

प्रोष्ठ संभवत बड़ा पर्लंग रखा होगा। बह्य बहन करने योग्य वस्त्र है या बोली है। तस्य बर-बन्धू के शयन-मलय को कहते हैं। इस सभी के ऊपर बहुमुख्य चादरे बिछाये जाते थे जिन्हें उपस्तरण कहा जाता था। यथा—

उपस्तरिरीकरो लोकमेतमुक्तः प्रपत्तामसमं स्वयं ।

तस्मिं छयातं महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताम्य प्रयच्छाम् ।

अथर्व १२-३ १४

इस लोक या स्थान पर उपस्तरण अर्थात् बिछीना ( चादर आदि ) बिछा दिया है। यह भस्म अर्थात् अनुपम और मुक्त देने वाला है। इसकी क्याति धारों धोर फैले। इस पर महिष—राजा या पुत्रीय व्यक्ति और सुपर्ण—सुन्दर स्त्रिय और कर्म करी पक्षों वाल पुण्य शयन करते या आश्रय लेते हैं। यह दिव्यपुत्र नामे ईश्वरी कारीगरों ने दिव्यशक्ति वाले पुरुषों के लिये दिया है।

यम्या पर उपस्तरण के साथ उपवर्तन या अपिचान भी रहता था जिसे तकिया कहते हैं। यथा—

जितिरा उपवर्तनीं अक्षुरां जम्यञ्जतम् ।

धीर्भुवि कोश आसीत् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ अथर्व १४ १ १

जब सूर्या पति को प्राप्त हुई तब उसकी पेतना हूँ तकिया का कार्य कर रही थी जो अञ्जन बन गई थी और छाया पृथिवी कोप या स्वर्णमञ्जूषा बन गये थे।

सूर्या ( १४ १-७ ) भद्र अर्थात् मौसमिक वास अर्थात् वस्त्र धारण किये हुये थी। युवा पुष्य को भी सुन्दर, स्वच्छ वस्त्र धारण करना चाहिए इसका संकेत युवा सुवास परिणीत आगात् ऋ० ३ १ १ मंत्र से प्राप्त होता है। सूर्या ( १४ १ १० से १२ अथर्व ) पति के घर रथ पर बैठकर गई थी जिसके चक्र सुधि व, अथ बहुत या छत छौ के समान बमक रही थी और जिसमें बैस जुते हुये थे। मन्त्र ६१ के अनुसार यह रथ सुकिमुक्त-सुन्दर फूला से सुशोभित था। वह हिरण्य-वर्ण अर्थात् सुवर्ण के रंग का था सुवर्ण गुणकम्—उस पर सुन्दर साजों सटक रही थी और उत्तम चक्र थे।

पति को बन्धु के वस्त्र नहीं पहिने चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उसका सोमन शरीर भी सोमा-रहित हो जाता है। ( अथर्व १४ १ २७ ) अथर्व १४-१-२८ में आशसन धारीदार वस्त्र है, जिससन क्षिर का वस्त्र है और अपिचिर्जन्त सर्पा को



इन्ही वा ॥ वाचं धेनुमुपासीत ॥ इति श्रीः भद्राचार्यः स्वर्गसंग्रहोक्तः । विष्णुमिर  
न कदापि नृणां यथाकामं वदति प्रजायां ये प्रजायन्-माययोः श्राव्य उग्र मुनिभिः विना  
करुणीभिः ।

१. नीच मुद्रा में संव २० तथा २१ वर्ष के कुछ दूरे बच्चों की रात-सुनायी जाता है। घामीन शिवां आश भी बताया जा भी थी, रू की गो-नी बगानी और मरणा जात कर मुन तपार करनी है। बताया व अतिमि ऊन के बरा भी बनने थे, बताया ऊनबागी भेजे जाभी जाती थी। प्यार ३ ६३-६ के अनुसार बगना पुनाय मायास मरुति ३ गुण व शिव बताया जा निर्मास मायावे करनी थी।

अथर्व १५३ में वायु का वर्णन है। उस वायु का भर उठा गया तो वेद बाग वायु ! बँटत क्यों नहीं हो ? वायु कात — आगनी म गभगन्तु मेरे निम आगनी ताओ। आगनी के चार पैर थे। उगम चार ही लकड़ियों लगी थी। तिरती तथा दो ऊपर स भीने। जिस तन्तुमा ग ५४ बनी ली की ब भी प्राथ और धियंथ सीधे और तिरछे थे। उस पर बैद की आगारण अर्थात् चार की ब्रह्म ली उगवर्हण अर्थात् तद्विद्या या सामन्ती आगार अर्थात् लगी थी उद्गीथ ली अथर्व या छद्मारा सने का साधन था। अथर्व १८ ३० में काम प्रस्तरण अर्थात् स्वर्ण-नापित या रत्न-जन्ति विधानों का प्रयोग है। पञ्च० १६ ८३ में तस्मै और वेमा मिता कर तात वरा ( रोहित ) बसाने का उद्देश्य है। पुर० १६ ८० में ऊर्णाग्न्य तथा ऋग्वेद १५ ६ में ऊर्णप्रश ऊर्ण क बने सुदुल वस्त्र का नाम आया है। ऋग्वेद ५ ५२ ६ में पण्डित्याम् ऊर्णा वरा ऊर्णा वस्त्रा का परलगी लगी के लक्ष्मी कलाकार बनाया करते थे-ऐसा गिना है। अथर्व १८ ४ ११ में वायु वरन का उल्लेख है। यह संभवतः ओम या ऐलम का बना वस्त्र था। ऋ० १०-२९ ९ के लघीनाम् आवासाधिमम् अतः पत्र है छिद्र होता है कि वायोवाय अर्थात् तन्तुवाय अथि अर्थात् भेद से ली गई ऊर्ण से वस्त्र बुनता है। ममु जत् का अर्थ है स्वच्छ करना घोंना चमकाना। ये वस्त्र धोये तथा चमकाय आते थे। मृगधर्म भी वस्त्र का नाम देता था। अथर्व ४-७-९ में अजित वस्त्र आया है जिसका अर्थ मृगधर्म होता है — यवस्त स्त्रा पर्यकीर्तन् हुस्तमिरजिरेस्त। यही अजित मृगधर्म है। यवस्त चादर है। मात्र में वृत्त वस्त्र भी आया है जिसका अर्थ वस्त्र वस्त्र वस्त्र वस्त्र भी सामों में हस्के वस्त्र के लिये प्रयोग में आता है।

वस्तु भद्र हो इसका ध्यान बिधेय रूप से आपको को रहता था। निम्नांकित मन्त्रों से यही संकेत प्राप्त होता है :—

सुखमुपासः सुखं परावति सत्ता वसता तन्मते ॥ अ० १-१४-४

महा घस्यानि यमुना वसाना । अ० ३ ३९ २

महा बरना समन्या बरान । प्र० ११७-२ साम १४००

मन्त्रि वरुणा सुवसनानि । ऋ० १-१७-५० शाम १४२७

यजु० ४१० में अथोवस्त्र को नीबि और ऋग्वेद ११४० १ में ऊार के वस्त्र को अविषासम् कहा गया है । ऋ० ११४० १० अथर्व ११२० २ तथा अथर्व भी कई मन्त्रों में बर्म अर्थात् कवच का नाम आया है । यजु० १६ ११ में कवच धारण करनेवाले तथा बर्म धारण करने वाले अग्नि मिश्र-मिश्र हैं । कवच सामान्य और बर्म संभवतः सोहे का बनाया होगा । ऋ० ११२२ २ य अत्क १२१ १३ में हिरण्य द्वापि अर्वात् सोने की बनी द्वापि ऋ० ११६ १४ तथा ११० ६ आदि में नी द्वापि का नाम आया है । ये सब एक प्रकार के ओवर कोट रहे होंगे । बास बनाहूत अर्वात् बिना पहिना हुआ, कोरा और बिना फटा पहिना चाहिये । यजु० ३८ १ तथा अथर्व काण्ड १५ में उष्णीष का वर्णन है जिसे मुटासा या पगड़ी कहा जाता है । ऋत्विज सात पगड़ी बाँधते थे । पञ्चाश में विवाह के बखस्र पर सात पगड़ी अभी तक बाँधी जाती है । वासिष्ठास्य जूता नहीं पहनते थे उन्हें असबाबु ने जूता पहिनने के लिये बाधित ही नहीं किया परन्तु उत्तराश्व तथा विष्णु के निवासी जूता पहिनते थे । ऋ० ११३३ २ में अरुणिता तथा महावर्णिता पशु का उल्लेख है जो उपानह के भेद प्रतीत होते हैं । अथर्व ०५ २१ १० में पस्त्रमिनी वस्त्र जूते के लिये ही आया है । बही पैरों का सहायक और साथी है । स्त्रियाँ मुकुपर्वा मुकुटीरा तथा स्त्रोपता (यजु० ११ ५०) होती थीं । कपर्द कटाजूट को कहते हैं । पुरुषों में भी कुछ कटाजूट धारी होते थे । कुटीर स्वर्णभूषण है जिसे स्त्रियाँ विवाह के बखस्र पर शिर पर धारण करती थीं । इसे वृ गाकृति केर रचना भी माना गया है । कुम्ब ( अग्नेवी की Comb किया इसी वस्त्र से बनी है और यही वर्ण देती है । ) या कभी से केर सभारे जाते थे । ओपस गिरी भूषण है । ऋ० ८ ११ तथा अथर्व ० १७-४ में वस्त्राज ओपस विधि कहकर इसी विधा की ओर संकेत किया गया है । एक प्रकार की केर रचना भी ओपस कहलाती थी । अथर्व ० १३८ २ ३ के अनुसार पूग्य को कसीब बनाने के लिये उसे ओपस कुटीर तथा कम्ब शिर पर धारण कराने का वर्णन है ।

### छ व्यापार

व्यापार-समस्या मानव के ही लिय है—अथ्य प्राणियों के लिये नहीं । हम अनेक हैं । हमारी आवश्यकताएँ अनेक हैं । इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन अनेक हैं । हम सब एक दृष्टि के नहीं हैं और सब अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल ही कार्य करना चाहते हैं । इन कार्यों में एक कार्य दूसरे का सहयोगी बने यही समाज को देखना है । सम्य समाज एक बृहत् परिवार के रूप में है । उसे परिवार का एक स्थिति दूसरे के हित में संलग्न रहकर कार्य करता है वैसे ही समाज के एक-एक पटक को अर्थों के हित-सम्पादन में संलग्न रहना चाहिये ।

सम्य समा के योग्य बनने का नाम है । समा में सब साथ-साथ चमकते हैं और एक दूसरे को चमकाते हैं । यह चमक बाहर से अन्दर और अन्दर से बाहर आती है । वैद कहता है—इस्ते ब्यातो नृप्या विद्यमानि । मनुष्य के हाथों में ऐश्वर्य राशि

निहित है। माना प्रार के समय बात समझकर मानव हाथों द्वारा ही सम्पन्नित होते हैं। जहाँ मनुष्य के हाथ लग गये, वहाँ ऐश्वर्य छा गया समक-समक का मई, माटी माटी न रहकर देवता बन गई। ऐसा कैसे संभव होता है? वेद कहता है—अग्ने देवान् पात् गुहा निगीधन्। इक्ष्व की गुहा में जो देव धियो बठे वे वे हाथों के सहारे पादर प्रकट हो गये। अमर दिव्यता न हो तो बाहर भी नहीं आ सकेगी। मन के हारे हार है, मन के पीते पीठ। मन में उत्साह है तो बाहर शरीर भी स्फूर्तिर्मय दिखाई देता। मन में यदि विषाद भरा है तो शरीर की सभी मुद्राओं मरी हुई दिखाई देती। मानव की मानवता कर्तृत्व में है, पुरुषार्थ में है, दिव्यता की ओर सम्मुख होने और उसके सम्पादन में है।

मानव का कर्तृत्व विभिन्न दिशाओं में जाता है। व्यापार इस कर्तृत्व का समेकन करने वाला है। ये धर्म सिखाता है। यह धर्म क्षमता है और व्यापार उसे अनेक स्थानों में पहुँचा देता है। मेरे विचार मूल तक ही सीमित न रहकर सबकी सम्पदा बन जाते हैं। अनुवाय कपड़ा बुनता है जिससे न जाने कितने व्यक्तियों के—बड़ेर आच्छादित और सुरक्षित ही नहीं सोमायमान भी होते हैं। किसान कपास बोता है पर व्यापार उस कपास को रई में और रई की बस्त्रों में परिणत कर देता है। भगवती वस्तुधरो में अनेक वस्तु भरे पड़े हैं। मानव हाथ उन्हें बाहर लाते हैं और व्यापार उन्हें अनेक स्थानों में पहुँचा देता है। धर्म और व्यापार एक दूसरे के साथी हैं।

धर्म और व्यापार ही क्यों ज्ञान भी इनका साथी है। ज्ञान बाँटें न सोते तो कुछ भी दिखाई न दे। ज्ञान के अभाव में न धर्म जाये बढ़ सकता है और न व्यापार चल सकता है। इन तीनों को पुन रखा की आवश्यकता है। निरापेक्ष स्थिति में ही सब अपना-अपना कार्य साध पाते हैं। सम्पत्ता-भवन के ये चार स्तम्भ हैं। सम्पत्ता इन्हीं पर टिकी है और इन्हीं के पारस्परिक सहयोग द्वारा वह विकसित एवं परिवर्धित होती है।

धर्म की महत्ता इस युग में एक बाध के रूप में उपस्थित हुई है। वस्तुतः मानव का प्रत्येक कार्य धर्म-साध्य है। धर्म शरीर से ही नहीं मन से भी होता है। फिर शारीरिक धर्म को ही महत्त्व क्यों दिया जाय? सभी प्रकार के धर्म महत्त्वपूर्ण हैं। अकेला शारीरिक धर्म कुछ कर भी नहीं सकता जब तक उसके साथ अन्य प्रकार के धर्म सहयोग न करें। हमारी वर्णव्यवस्था इसी पारस्परिक सहयोग का धर्म एवं संस्कृत रूप है।

बनो में भी कई अबाधर भेद हो जाते हैं क्योंकि उनमें धर्म-विभाजन का कार्य अनिवार्य होता है। एक ही व्यक्ति यदि बड़ा दार्शनिक ज्योतिषी कपड़ा यात्रिक एक साथ नहीं हो सकता। स्वयं जल तथा वायु में काम करने वाले सैनिक

पूयक-पूयक ही होते हैं। किराने के व्यापारी कपड़े बेचने वाले, बिठावी, मोहे के व्यापारी, पुस्तक-बिक्रेता आदि सभी पूयक-पूयक हैं। बर्फ, सुहार कुम्भकार, ठेसी आदि एक नहीं हैं। जो समाज जितना ही अधिक सम्य है उसमें उतने ही अधिक कसाकार, व्यवसायी व्यवसा उद्योग-धर्मों में काम करते वाले होंगे। व्यापार का सम्बन्ध इन सबके साथ है।

व्यापार का कार्य है, एक वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना। कभी इस देश का बना कपड़ा ईरान बाबुल, मिस्र यवन तथा रोमन देशों में जाता था, अब बाहर से यहाँ आता है। कभी हमारे देश के बने बहाम बाहर के देशों में पसंद किये जाते थे अब हमें पनडुब्बी आदि बाहर से लेनी पड़ती है। ऐसा आवश्यक है क्योंकि सभी राष्ट्र मिलकर एक बृहत् विश्व-परिवार का निर्माण करते हैं। जो वस्तु जिसके पास है उसे वह वस्तु वहाँ पहुँचा देनी चाहिये वहाँ उसकी आवश्यकता है। समस्त प्रकृति ज्वात्मक तथा ज्ञात्मक शक्तियों के साम्य से यही कार्य कर रही है और ब्रह्मात्मक का चक्र निरन्तर घटिघटी है।

व्यापार के सिद्धे निमित्त उपयोगी उद्योग-धर्मों को हम सर्व प्रथम लेते हैं। यजुर्वेद अध्याय ३० के ब्रह्मो विनास्य रावस-विमल्लारम् पद में विन्न-विभिन्न ऐश्वर्यसाधक वस्तु के विमल्ला का आह्वान है। प्रभु ही विश्वस्य वनदा-विश्वभार को धन देने वाले हैं। वे ही प्रजापत्यः पुष्टि विमल्लस्य जासते समस्त उत्पन्न प्राणियों में पोषक-सामग्री का विभाजन करने वाले हैं। उन्होंने ज्ञानधन ब्राह्मण को दिया है, रत्नस्य शक्ति छत्रिय को भी है, यवस्य के समान गमनागमन व्यवसायात्मात् कृषी व्यापार का धन वैश्य को दिया है और शारीरिक तप या धर्म कृषी धन शूद्र को दिया है। नृत्य आदि गीत आदि कलाओं में दत्त कतिपय कसाकारों के नाम भी इस अध्याय में आये हैं। उद्योग-धर्मों के सिद्धे निम्नलिखित मंत्र व्यक्त होने लगे हैं—

तपसेकोलातं मायायै कर्मायै न्यायै न्यायिकारं शुभे ।

वयं शक्यामा इयुकार हेतुं अनुष्कारं कर्मणे न्याकारं ॥ ७

कुलात् मा कोलात् कुम्भकार है जो मिट्टी के कच्चे बड़े या अन्य वर्तन बनाकर उन्हें आवा या पबारे की भाँज में रखकर तपाता है। इससे कच्चे वर्तन पक्के और अधिक बेर तक टिकाऊ हो जाते हैं। ताप देने के इस कर्म को मंत्र में 'तपसे' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। कर्मकार सुहार है। वह सोहे से हस का फास आता तलवार आदि बनाता है जिससे जीवन मायामय ही नहीं मायामिमूत भी बनता है। छेटी तथा भुख सबसे बड़ी माया है। एक बीज से अनेक बीजों का उत्पन्न होना कितना अद्भुत चमत्कार है। अपने प्राणों को हृदयी पर रखकर युद्ध करना और अपनी मृत्यु को अपनी आँखों से देखना माया जादू या चमत्कार नहीं तो और क्या है? न्यायिकार जीहरी या सुनार है जिसके बनाये हुये आभूषण कप-सीन्धर्व प्रदान करते हैं। कदाचित् प्रख्यात है—सूयन विनु म विठवई कविता

बनिता मित्र । बप्ता नापित है जो बाण बनाकर आपके मुल को मुल रंग रूप देता है । दणुवार गर या बाण बनाये जाता है । अनुपकार हैति सपुन फेंकने वाले बरनों को ठेमार करता है । ज्याकार वपुष की प्रत्यक्षा या डोरी बनाने जाता है । आये के मंत्रों में भीवर, निपाद बाण कैवर्त भिवग नदात्र-यर्षी अघ्यापक, हापीबाण महाबठ, अश्वपासक गोपास अविपास अजपास, सुराकार छारपी बाबाहर=पकड़हारा, बाण-पस्यूसी=धोबी रजमिणी=रगरेख किछत=पार्वत्य गुहाओं के रसाक, अम्भक=पर्वत छिपत्तों के रसाक कि पुरय=किन्नर पर्वतों के रसाक, हिरप्यकार=सुनार, वणिक्=तुमाधार बहुवारी बीणावादी छंखवादी, गणक, ग्रामीण आदि का उल्लेख है और उनके कार्यों का भी निर्देश है । वाणिज्य व्यापार की ओर भी स्पष्ट संकेत है ।

उद्योग—यह कुछ तो सीमित आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं और कुछ व्यापार के लिये । ग्रामों में बड़ई हल या जुवा बनाता है तो अपने हथक आसामी के लिये । इसे हम व्यापार नहीं कहते । व्यापार की क्रिया तब होगी जब बड़ई अधिक मात्रा में हल ठेमार करे और उन्हें बिक्की के लिये प्रस्तुत करे हाट में ले जाय या अपने घर पर ही उनकी दुकान लगा दे । काछी सौकी कासीफस आदि छेत में ठेमार करता है, अपने घर पर ही या घर-घर भूमकर बेचता है तो उसका कार्य व्यापार है । महाजन गुड़ मसाला आदि बाहर से मौस-सफ़द अपनी दुकान में लाता है या बकुचिया में भरकर बेचने जाता है तो वह व्यापारी है । यही वसा कृषके बर्तन आभूषण आदि के व्यापार की है ।

निष्क्रान्त मन्त्र में वस्तु तथा विक्रय का उल्लेख है —

पूर्वाहवि परापत सुपूर्वा पुनरापत ।

वस्तेवविक्कीया बहुहव पूर्वमृगतप्यतो ॥ यजु ३-४९ ।

उपमा अलकार द्वारा यहाँ अग्निहोत्र की क्रिया की समता वाणिज्य से की गयी है । व्यापार में देन-देन होता है । वैहि मे ववामि ते । तू मुझे वस्तु = बाँसनी में से मुझा निकाल कर दे । मैं तुझे विक्रीय वस्तु दूंगा । अग्निहोत्री वणि अर्चति अम्भ से कहता है— हे वणि । तू भी से पूर्ण होकर प्रज्वलित अग्नि में पिर और फिर पूर्ण होकर हमें भी प्राप्त हो । हमें दणु=अन्न तथा ऊर्ज=वस्त्र से ओतप्रोत कर दे । जैसे वस्तु और विक्रीय वस्तुओं में निमित्त होता है वैसे ही यहाँ भी हो । यजु० ४-२६ में शुक्लेण तथा शुक्लेण कीणागि ... प्रजापतेर्वर्णः परमेज वधुना भीयते सर्व्यो द्वारा अय-विक्रय का संकेत मिलता है । आये मंत्र २७ में सोमकर्मका उल्लेख है ।

व्यापार में वसा व्याज पर भी दिया जाता है । जब में पजियों और बेकमाटों को व्यापारी तथा व्याजोजीवी कहकर निम्नित किया गया है । पणि और वणि में उच्चारण भिन्न है, पर अर्थ एक ही है । यक्षिण मारुत से व्यापारार्थ गये हुये पणि ही

१ यजुसी की अपभ्रंश क्रिया फलकामाया योगे के अर्थ में व्याज भी वज में प्रचलित है ।

बसीरिया में फानीतियन कहे गये हैं । ये जहाजों द्वारा भारत का मास पश्चिमी देशों में से जाते थे और विनिमय में वहाँ का मास यहाँ लाते थे । बौद्ध जातकों में भी बैक्सोनिया (बाबुस) जाने वाले व्यापारियों का वर्णन आता है । श्रम्बेर के निम्नांकित मंत्र में पशियों का उल्लेख है —

कहुमहीरबुध्ता अस्य तविधी कहु बुमघ्मोमस्तुतम ।

इन्द्रो विनवान बैकनादा बहुत सत कत्वा पवीरमि । ८ १६-१०

इन्द्र की महती सेना ने कब किसका वर्णन नहीं किया ? प्रभु के बल के सामने सभी घिपत होते रहे हैं । मयवान बिना किसी बबरोप के पापियों बुजों बारवों को मारले जाते हैं । वे सभी बैकनादों (बैकनादा) खनु कुसीबिनी मबस्ति द्विगुणकारिनी वा द्विमुबवायिनी वा द्विगुण कामयन्ते इति वा । निबल १ २७ ।) सुवसोरी व्याजोप बीवियों समाज-जापकों तथा जन एकत्र करने वाले बजिजों को जो अपने धन का प्रयोग समाज के हित में नहीं करते बुरे दिन बिखाते हैं ।

पशियों का उल्लेख और भी कई स्थानों पर है । वे सर्वत्र बजिज व्यापार करते प्रवृत्त किये गये हैं । पर उनका यह व्यापार तस्कर व्यापार वा । कभी वे मायों को बुरा से जाते थे और कभी व्याज पर कपया देकर मिमयन तैयार करते थे । इसी कारण समाज उन्हें पवित्र दृष्टि से देखता था और बाध भी देता है । पर वेद ऐसे बाधित्य का भी वर्णन करता है जो समाज को सुखी और सम्पन्न बनाता है । यजु० १९ १६ में बाधित्य बल्य ऐसे व्यापार करने वाले के लिये ही प्रयुक्त हुआ है ।

अबर्बदेर काण्ड ३ का सूक्त १५ बाधित्य सूक्त के नाम से प्रख्यात है । इस सूक्त के कतिपय मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं —

इन्द्र महं बजिजं ओदयामि स न पशु पुर पता नो अस्तु ।

बुधभरानि परिपीन्धनं भुगं स ईशानो यनवा अस्तु मध्यम । १

ये पन्वानो बहुषो देवयाना अन्तरा आवापुविषी संवरन्ति ।

ते मां बुधन्तां पयसा पुतेन यथा भीत्वा जनमाहरन्ति ॥ २

शुभं नोमस्तु प्रयजो विज्यमन्त्र प्रतिपन्नः कतिर्ममा कथीतु । ४

येन यनेन प्रयजं वरानि यनेन देवा जन मिच्छमान ।

तन्मे धूपो मबतु मा कनीपोऽग्ने सातघ्नो देवान हविषा निवेध । ३

येन यनेन प्रयजं वरानि यनेन देवा जनमिच्छमानाः ।

तस्मिन् इन्द्रो बजिनाववास्तु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः । ६

ये ऐश्वर्य-सम्पन्न बजिज को प्रेरित करता है । वह हमारे पास आवे । वह हमारे जागे असे । वह चलते हुये अवागबीध तानु को मार्ग से हटा वे । वह सम्पन्न है । हमारे लिये धन देने वाला असे ।

कैक मायं जो देवयान अर्वाध विमानों द्वारा पार किये जाते हैं आवा और पुविषी के मध्य चलते रहते हैं । इन अत्यधिकीय मायों द्वारा भी हम व्यापार करें

जिससे भी और रूप हमें प्राप्त हो और कम विक्रय द्वारा हम अपने घर में बाहर से बन सा सकें ।

हमारा कम तथा विक्रय सामग्री हो और प्रत्येक पण ( व्यवसाय ) हमें फलीभूत हो ।

मूलभूत लगाकर उससे जिस बड़े हुये धन की मैं इच्छा करता हूँ और जिस धन की मैं व्यापार में समाता हूँ वह भगाया हुआ धन अधिक हो बड़ बोड़ा या कम न हो । हे अण पन्था देवो । मेरी हवि आपकी स्वीकार हो । उस हवि द्वारा आप मान के विनाशक बुझारियों को धूर कर दें ।

धन से धन की इच्छा करता हुआ मैं जिस धन से व्यापार करता हूँ उसमें ऐश्वर्यवान् प्रभु मेरी हवि को स्थिर करें । वे प्रजापति हैं, सबके उत्साहक और प्रेरक हैं सोम अर्वात् अपनी शक्ति से समवेत हैं और अग्नि अर्वात् हमारे पच-अवर्तक हैं । पूर्व उद्धृत यजु० ४ २६ में वीणामि तथा श्रियसे संबद्ध आये हैं जो पारस्परिक सेन-सेन के मान को प्रकट करते हैं । यथा शुक्लं तथा सुकोणं वीणामि । पशुना कीमसे । शुक से शुक की मोम लेता हूँ । पशु लेकर पोषण का प्रभ्य लिया जाता है ।

व्यापार धन पुष्टि और अन्न लाने वाला है ऐसा कथन यहाँ स्पष्ट है । व्यापार ही लक्ष्मी बढ़ती है । वाणिज्य अर्थ से अर्थ का साधक है । प्रत्येक व्यक्ति अधिक नहीं बन सकता । जिसकी हवि वाणिज्य में हो उसे ही इधर पण बढ़ाना चाहिये । जिस प्रकार सभी आधम गृहस्वामय पर आश्रित हैं उसी प्रकार समस्त बगों का मरण पोषण बैरव के ऊपर है । वह धन पैदा करता है पर उसे अपने पास ही नहीं रखता बान कर, परोपकार आदि के द्वारा वह उसे समाज के एक-एक पटक के पास पहुंचा देता है । ज्ञानियों को उस धन में वे बलिबा मिलती है । रत्नक राजस्य का पोषण कर द्वारा होता है । मूत्र को भुति प्राप्त होती है । इस प्रकार सबका मानवान बैरव के धन से निकल कर समाज को प्राप्त हो जाता है । सब सुखी और स्वस्थ रहते हैं ।

भारतीय सम्पत्ता में दान की महीयसी कीर्ति है । दान यज्ञ का एक भाग है जो दान नहीं करता उसे अनुम्बत कहा गया है । वह अशान द्वारा मानों अपना ही बंध कर रहा है । शानी के आगे ज्योति रहती है, अशानी के आगे अंधकार । शानी का धन नष्ट नहीं होता अशानी का धन नष्ट हो जाता है ।

वेद में दान-स्तुति के कई सूक्त हैं । ऋग्वेद १ १२१ में स्वर्ण के दान की स्तुति है । सूक्त १२६ में भी दान की महिमा वर्णित हुई है । ऋग्वेद १० १ ७ बलिना सूक्त है और ११७ वनाश्र-दान सूक्त है । इनमें से कुछ मंत्र भीके उद्धृत किए जाते हैं—

प्राता रत्नं प्रातरित्था वधाति त क्षिकिरिबान् प्रतिगृह्णा निधत्ते ।

तेन प्रजां वर्धयमान आपू पायसपोषेण सज्जते सुबोराः । ऋ १-१२१ १

उप भरन्ति शिष्योऽप्योमुख ईजानं च यययमणि च धेनवः ।

पृथग्नां च वज्रि च धवत्सवो घृतस्य घारा उप यन्ति विवधतः ॥ ४

रात राती नाचमासस्य निष्कामं क्षतमश्वान् प्रपतान्तरस्य भावम् ॥

रात कसीवान् असुरस्य गोनां विविधं अश्वोत्तरमासताम् ॥ १ १२५ २

स्नान प्रातः काम उठ कर रत्नावि रख देता है । विधान कसीवान् उन्हें ग्रहण कर देता है । इससे प्रजा और आयु की बृद्धि होती है ।

यज्ञ किये हुये और यज्ञ करने वाले के पास दुधार तथा सुखदा घेनु विपुल ब्रूम एकत्र कर देती हैं । यशोमयी भूत-भाराएँ शानी के पास सब ओर से जाती हैं । शानी कीर्षं आयु प्राप्त करते हैं और अरा-रहित लोकों में स्थान पाते हैं ।

प्रार्थना करने पर राजा ने १०० निष्क, १०० अश्व और १०० गावें दे लीं । इससे राजा की अक्षय कीर्ति ली लोक तक विस्तृत हो गई । आगे जान में भी मयी १०९० गावों और १० रथों में जुते ४० अश्वों का वर्णन है ।

अन्वा विवि दक्षिणावन्तो अश्वे ये अश्वदा सह से सुर्वेज ।

हिरण्यदा अमृतत्वं प्रवन्ते वासीदा सोम प्रतिरन्त आयुः । १० १०७-२ ऋ०

दक्षिणावान् प्रवन्तो हूत पृति दक्षिणावान् ग्रामणी रघनेति ।

तमेव मन्वे नृपति आनामां यः प्रथमी दक्षिणामा विवाय । ३

तमेव ऋषि तमु ब्रह्मायमाहुः यज्म्यं सामगानुक्थ सावम् ।

स शुक्रस्य तन्वी वेद तिली यः प्रथमो दक्षिणया रराय ॥ ६

शानी स्वर्ग में स्थान पाते हैं । अश्वों का दान करने वाले स्वर्ग के शानी बन जाते हैं । स्वर्ग के शानी अमर हो जाते हैं । अश्वों का दान करने वालों की आयु बढ़ जाती है । दक्षिणा दीधीपूर्ति करने वाली है । शानी का आह्वान सर्वप्रथम होता है । जो दक्षिणा—दान में प्रथम आगे आता है वही मनुष्यों में राजा है । वही ऋषि है, वही ब्रह्मा है, वही यज्म्य सामयामक और ओंकार का आप करने वाला है । वही शुक्र की तीन देहों कर्णों को धारण करता है, जो सर्व प्रथम दान देने के लिये अपने हाथ बढ़ाता है ।

न लोका मज्जुर्न व्यर्थमीयु न रिप्यस्ति न व्यचन्तेह मोक्षा ।

इवं यद्विद्वं भुवनं स्वर्ग एतत् सर्वं दक्षिणा दृग्भोरवाति ॥८

दुष्टों को भोजन कराने वाला मरता नहीं अमर हो जाता है । वह सर्वहीन तथा व्यथित नहीं होता । उसका कमी बिनाश नहीं होता । यह समग्र भुवन तथा स्वर्ग उसी के लिये है । यद्विना इसको सब कुछ दे देती है—

स इक्ष्मोजी योगुह्वे ववाति अन्नकामाय चरते कलाय ।

अरमन्म भवति पामहता उतापरीषु कथुते सखामम् ॥ ऋ० १ — ११७—३

पृथीयात् इत्तायमायाय तस्यान् ब्रावीयांसमनुपस्येत पन्थाम् । ३

शानी वही है जो अन्न—नामना से विचरन करते हुये और पर भाये हुये दुर्बल व्यक्ति को अन्न देता है । समय पड़ने पर यह शान उसकी इस माक म तो सहायता करता ही है, पर लोक में भी सदा बनकर सहायक सिद्ध होता है । उम्य अर्थात्



धनिकों को चाहिये कि वे याचक को प्रत्यक्ष करें। जीवन-यात्रा का पथ बहुत संम्बा है। पता नहीं कब कौन सा दान काम आवे।

दान देने वाले को भी अपने ढंग से आवश्यकता पड़ने पर समाज के हित-साधक व्यक्ति या संस्था को दान करना चाहिये। हमारी वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण दान देता है पर वह दान देता भी है। बिद्या दान तो वह देता ही रहता है, साथ ही अन्नदान भी देता है -

गिरन्ध ये ते तुविजात पूर्वी नर इन्द्र प्रसि तिसन्ति अन्नः ।

—ऋ० १०—२९—१ अथर्व० २०—७६—३

प्रख्यात प्रभो ! मनुष्यों का नेता ब्राह्मण तुम्हारी अपूर्व वाणी वेद का तो उप-देव करता ही है वह अन्नदान द्वारा भी दानों को पुष्ट करता है।

दान की यह महिमा संस्कृति के रूप में वैयक्तिक विकास करती है, तो सम्प्रदाय के क्षेत्र में वह संवत्सरी सामाजिक उपयोगिता भी रखती है।

पीछे जिन पणियों का हमने उल्लेख किया है, वे अपनी कृपण वृत्ति के कारण ही समाज में अनावृत्त हुए। ऋग्वेद १-३१—१४ में वही त्वन्निर्ण पणिं वृको हि स-अणियों को भेड़िया और खाने वाले कहकर त्याग्य माना गया है। ऋग्वेद ४ २३-७ में पणियों को रेवता=वनमशमत तथा अमुन्वता=प्याव=भाव से दूष्य कहा गया है। ऐसे समाज-क्षोषकों का भारत में कभी आवर नहीं हुआ।

व्यापार गिर पर निरन्धे वस्तुओं की गठरी बाँचकर भी किया जाता है और अन्न, बैल, खट, जलवायन विमान आदि द्वारा भी। यह सब व्यापारी के बन सामर्थ्य पर अवलम्बित है। पणि लोक जनमान्य द्वारा दूर-दूर देशों की यात्रा करते थे। ऐसा इतिहास से सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार के व्यक्तियों द्वारा भारतीय अविज्ञान मित्र सीरिया आदि देशों में पहुँचे हैं। ईरान तो मार्ग प्रदेष्ट ही है। उनके पुरोहित आचर्य्य है। उनकी प्राचीन भाषा वैदिक शब्दों से जोतप्रोत है। यूनान और लाटिन प्रदेशों की भाषायें संस्कृत के समतुल्य ही थीं ऐसा भाषा विज्ञान कहता है। यह सब पारस्परिक आवागमन तथा आवाग-प्रवास का ही परिणाम था।

अन्न, बैल आदि बाहुलों के सम्बन्ध में हम पहले ही मिल चुके हैं। यहाँ जन मान्य विमान आदि की विद्यमानता देशों से सिद्ध करेंगे।

रघु- मा वा रथं पुष्पाय मनोजुवं वीरान्वं यक्षिणं जीवसे हुवे ।

सहस्र केतु यक्षिणं शतशतु भुष्वीवान् वरिषोवायमिप्रयः । ऋ० १ ११९ १

मंत्र में रथ के विशेषण हैं — पुष्पाय=बहुत भाषा अपाठ कीजकर से बना हुआ मनोजुवं=अमन के समान वेगवाला वीरान्वं=गतिशील अथवा से अथवा अन्न शक्ति से युक्त यक्षिणं=अग्निमन्त्रणीय सहस्रकेतु=सहस्रश्रेणीय वासा यक्षिणं=शेष मीय शतशतु=सीकड़ों वस्तुओं वासा अथवा सीकड़ों को अपने अन्दर निवास देने वाला भुष्वीवानम्=मुखवायक वरिषोवायम्=जल को चारण करने वाला अर्थात् जल सागरे

जाता । ऐसे रथ का जीवन के लिये आह्वान किया गया है । यह रथ आज की रस हो सकता है अथवा कोई अन्य बड़ा यान हो सकता है । धन तथा जीवन दोनों सब्ध इसे व्यापार के योग्य सिद्ध करते हैं ।

अदिक्ता परि वा भियः पुरुषी रीपुर्वीमि र्यतमाता अमुधा ।

रथो ह वामुतता अत्रिभूत परिषावा पुविषी याति सद्यः ॥

ऋ० १-१५-८

इस मंत्र में जिस रथ का वर्णन है वह आवा और पृथिवी के बीच में जीघटा पूर्वक गमन करने वाला है । अत्रि अर्थात् वाहन की जैसी ब्रुति अर्थात् गति होती है वैसी ही गति इसकी है । अन्तरिक्षमायी यह रथ विमान के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? निम्नांकित मंत्र में विमान सब्ध का स्पष्ट उल्लेख है —

विमान एव बिभो मय्य अस्ते आप्रिधान् रौद्रसी अन्तरिक्षम् । ऋ० १४ २९ ।

यह विमान आकाश के मध्य में सावा-पृथ्वी के बीच अन्तरिक्ष में चारों ओर घूम रहा है । ऋग्वेद २४ ३ में स्पष्ट ब्रह्माने रथ का वर्णन है जो रजसो विमान अर्थात् अन्तरिक्ष की माप करने वाला है । ४ ३६ १ में विश्वक्व रथ का वर्णन है जिसमें न बोड़े जुटे हैं और न कोई सयाम ही लगी है । पर वह रथ अर्थात् अन्तरिक्ष में घूम रहा है । यथा— अगस्त्यो जातो अगमीषुस्त्वभ्यो रथस्त्रिचक्र परिवर्तते रथः । यह विश्वक्व रथ विमान ही है ।

निम्नांकित मंत्रों में बिद्युत् रथ का स्पष्ट उल्लेख है —

आ बिद्युत्तमहिम् मरुत स्वर्के रथेभिर्मात ऋधिमहिम् अश्वपथे ।

मा अविच्छेद्या न इषा ययो न पृथता तुमाया ऋ० १-४८-१

बिद्युत्तका मरुत ऋधिमन्तो बिभो मयी ऋतधाता अयास ।

सरस्वती सुमवन् प्रणिवासी वाला रथि सध्वीर तुरासः । ऋ० १ ३४ १३

हे मरुतो ! वैस्यो या सैनिको ! तुम बिजली वाले रथों के द्वारा आओ । इन रथों की गति शीघ्र है । इनके पंख अश्वों की तरह गति करते हैं । इन पर खस्त्र रथे हैं— व्यापार रथा के लिए अथवा सन्तुष्टों का सामना करने के लिए । इन रथों द्वारा तुम श्रेष्ठ अन्न या धन हमारे लिये लाओ । पानी जैसे आकाश में उड़ता है, तुम भी वैसे ही उड़ते हुए हमारे पास आओ । हे मरुतो ! तुम बिद्युत् रथ वाले हो खस्त्र से सज्जित हो, तुम विष्य भाग्य हो 'ऋत—सत्य के लिये जात—प्रसिद्ध हो गति—शीघ्र हो । तुम पुत्रों-सहित हमारे धन को धारण करो ।

ये बिद्युत् रथ बिजली से चलने वाले हैं । आज कल रेलें तथा विमान दोनों ही बिद्युत् शक्ति द्वारा संचालित होते हैं । नारों तथा समुद्री जहाजों का वर्णन भी वेद में आता है । ऋग्वेद १ ११६-५ में सत्तरिणा नावमातरिष्यवसितम्—सी डीङ या पतवार वाली नाव का उल्लेख है । ऋ० १ २५-७ में समुद्रिय नाव का वर्णन है । पानी जैसे आकाश में तैरते हैं, वैसे ही यह नाव समुद्र में तैरती है । अथर्ववेद ३४५ में नाव

को हिरण्ययी कहा गया है। संभवतः इस पर स्वर्ण सदकर आता जाता होगा। नारों द्वारा व्यापार होता था इसका संकेत निम्नांकित मंत्रों से भी मिसता है—

त पुरतो नैमन्मिव परीक्षसं समुद्रं न संवरणे समिप्यथ ।

आनो नावा मतीनां यातं पाराय पन्तर्धे पुञ्जानामविजना रवम ॥

ऋ० १४६-७

जैसे धनाभिवायी बज्रिक समुद्र में (नारों द्वारा) संवरण करते रहते हैं वैसे ही स्तोता प्रभु को बेरे रहते हैं। हे अश्विद्वय ! बुद्धिपूर्वक बनी नाव द्वारा हमें मार्ग का पार सपाम के लिये आधो। पनहुम्बियों का संकेत निम्नांकित मंत्र में है—

यास्तं पूयन नावो अन्त समुद्रे हिरण्ययी रन्तरिक्षे वरमिह ।

तानिर्वासि ब्रह्मा सूर्यस्य कामेन हुत यव इच्छमानः ॥ ऋ० १४८-१

हे पूयन ! तुम्हारी जो नावें समुद्र के अन्दर बसती हैं अथवा स्वर्ण की बनी हुई पयोतिर्मयी विमानरूपा नावें अन्तरिक्ष में बसती हैं उनके द्वारा तुम बसते हो और सूर्य का दौलतकार्य करते हो। तुम यव के आर्क्षणी हो। समुद्र के अन्दर पनहुम्बियाँ ही बसती हैं। सूर्य के प्रकाश का कोई न कोई सम्बन्ध इनके साथ रहता है। तभी तो इन्हें सूर्य का हुत-कार्य करने वाली कहा गया है। ऋग्वेद १६६-७ में एक अनवरत सरयी तथा अनभीक्षु यान का वर्णन है जो चावा पुष्पी तथा = अन्तरिक्ष के मार्ग से बसता है। ऐसा यान अभी तक आधुनिक वैज्ञानिक नहीं बना सके हैं। ऋग्वेद १४४-११ में अन्तरिक्षीय मार्गों का स्पष्ट उल्लेख है जो रेनु-रहित थे तथा जिनमें यातायात सुगमता से हो सकता था।

व्यापार के लिये वस्तु बाहिये मिसता उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वस्तु के द्वारा ही क्रय वस्तुओं खरीदी जाती थीं। वस्तु के दो रूप थे — एक तो एक मात्र देकर दूसरा मात्र लेना जैसे मेहुँ जो बहार आदि देकर मुहुँ सब्जी आदि का लेना। प्राचीन में यह प्रथा अब तक चल रही है। दूसरे सिक्के देकर वस्त्रादि का मोस लेना। मित्रके मोने चाँदी ताम्र आदि के होते हैं। वेद में कुशन हिरण्यवाम्य (ऋ० १३५-४) तथा (११२६-४) निष्ठा (ऋ० ११३६-२) मना (श्रीक मना, रोमन मिन) आदि सिक्कों के नाम आये हैं। कुशन मोटी है। सोना आदि तीसरे के लिये हिरण्य शतमान अने सप्त आदि होते थे। इच्छमान मात्र कम की रत्ती या मुजे का नाम है। वार्तिना = बीड़ी भी विनिमय का नाम लनी थी। अथर्व २०-१२७-३ (कम्पान मूढ) में ही निष्ठा एक मोनायें तीन सौ घोड़े तथा दस सहस्र बैलों का वजन है जो विनिमय द्वारा ही गृहीत हो सकते हैं। हिरण्य का वर्णन बाहुस्य से है। ऋ० १६८-११ में त्रिष्यगवि ८२३२ म त्रिष्यगपरय ८२२२ में हिरण्ययी रवि, १०-१८८-३ में हिरण्ययी अग्नी ऋ० १३३-८ में हिरण्य मवि २३४-२ में स्वम वाम्य ओ वाम्यपरा पर मन्ता रत्ता वा ८७८-३ म कर्त्त मोमन ४१०-२ में स्वम ४६०-७ में त्रिष्यगविनिव अथ ११२०-१८ म त्रिष्यगवि तथा मविद्रीव, ११६३

६ में हिरण्य मू प १० १४६ ५ में हिरण्यस्तूप आदि का वर्णन आया है। हिरण्यमयी नौकामों तथा विधानों के सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका है। निम्नांकित मन्त्र में कठिपय वातुओं के भी नाम आये हैं —

हिरण्य च मे अयसस मे इयामन्त्र मे सोहन्त्र मे सीसन्त्र मे त्रपुत्र मे यज्ञेन कल्पन्ताम । यजु० । १८-१९ ।

हिरण्य चमकते हुए स्वर्ण या चांदी का नाम है। अय फौलाड़ है। इयाम काला सोहा है। सोह चास सोहा या कान्तिसार है। सीस सीसा है। त्रपु तीन या रंगा है। ये सभी वातुयें व्यापार से सम्बन्ध हैं। यजुर्वेद २१ ३७ में रत्न स्रग् भी आया है जो चांदी का घोटक है।

व्यापार में जून भी चलता था पर वह अच्छा नहीं माना जाता था। अनुवा अस्मिन् अनुवा-परस्मिन् (अध्वर्यु ६ ११७-३) आदि शब्द अनुप-रहित रहने की भावना को महत्व देते हैं। ऋ ४ २८-६ में भूपसा वस्तु मचरत कनीयो अविधीतं स्रग् प्रकट कर रहे हैं कि बिछेता तथा जाछेता में कमी कमी बिबाध भी बस पड़ता था। भूपसा वस्तु=बड़े मोल की वस्तु, कनीय=कम मूल्य पर बे दी। अब उसे अविधीत=बिना किसी जैसे समझा जा सकता है? 'बीना बसा बिबुधन्ति प्रबाणम्' =बाहे दीन हो बाहे बल बाहे आनाक हो और बाहे सरत भाव जो तें हो गया बही रहेगा। यह यथार्थवाद जैसा पूर्व या बैसा ही अब भी है। इसे आदर्शवाद नहीं माना जा सकता। आदर्श निहित है सत्य भाव तथा ठोसमाप में। कुछ वस्तुयें ऐसी भी हैं जो किसी भाव पर भी नहीं बे जा सकतीं। ऋ ८ १५ में यहि जन स्वामित्रि पराशुक्ताय वैयाम । न सहजाय मामुताय कहकर किसी भी मूल्य पर न देने का निर्णय अभिव्यक्त हो रहा है। शुक यह वन है जो किसी वस्तु के मोल सेने में दिया जाता है।

बैद विद्याओं का संवेष्ट करण है। उसने बिबाधी तथा असत्य का आशय देने वाले व्यापारियों की ओर भी निर्बंध किया है परन्तु व्यापार हो या अन्य कोई कार्य सबका आचार सत्य है। सत्य ही परमेश्वर है। अनुत्त नहीं। सत्य ही उपासनीय है—'सत्यं स्वयाम न अनुत्तम्'। जो व्यापारी सत्य व्यवहारी नहीं है, उसकी साल उठ जाती है। बिस्वास उसी का रहता है जो सत्य पर आधारित है। जन बही टिकता है जो सरपठा पूर्णक जजित हुआ है। बही शुद्ध=विष्यता का आधान करता है। धीठि और तेज उसी से जाते हैं। असत्य पर आधारित जन पूर्वी और पुष्टि को (तो अर्थ पुष्टीबिब इव आभिवाति) परमात्मा जैसे ही ध्वस्त कर देते हैं जैसे भूवास बड़े से बड़े महुओं को पराजयी कर देते हैं। आर्य जीवन सत्यरथ पर टिका है। सूबसोरों ओपकों का सम्मान आर्य समाज ने कभी नहीं नहीं किया।

## क युद्ध और राज्य-व्यवस्था

यहाँ व्यक्ति व्यक्ति में बर्ग बर्ग में राष्ट्र राष्ट्र में युद्ध होता रहता है। कोई ऐसा समय नहीं कोई ऐसा स्थान नहीं जिसमें अब तक युद्ध न हुआ हो। जब कसित प्राणियों में प्रवृत्ति तथा विवक्षित प्राणियों में चैतन्यत संघर्ष हुआ करता है। वैयक्तिक क्षेत्र में भी मानसिक बराबर पर सत-असत प्रवृत्तियों में युद्ध चलता है। मानव इस युद्ध के द्वारा ही असत पर विजय प्राप्त करके प्रभु के आपित्व को प्राप्त करता है। वैयक्तिक क्षेत्र का यह युद्ध ही आवर्त रूप में आगे बढ़कर बर्ग-बर्ग और राष्ट्र राष्ट्र का युद्ध बन जाता है। सत्य एकही है सत की असत पर विजय।

सुद्ध स्वार्थ के लिये भी युद्ध होते हैं और हुये हैं। वस्तुओं धानों तथा अनायों के युद्ध इसी प्रकार के थे। इन युद्धों का सत्य था मोग-दुसरे की रोटी छीन कर अपने मुँह में ले जाना अन्य राष्ट्रों की भूमि को आत्मसात करना निर्वास को बसाकर अपने उपभोग में सहायक बनाना। ऐसे युद्ध मानव की विविगीया नहीं मोक्ष-सिद्धि हैं। छोटक हैं और मरुंधीय हैं। विविगीया भी तभी वसावनीय रूप धारण करती हैं, जब उसके समस्त सत के संरक्षण तथा संवर्धन का आवर्त हो। मानवमात्र का सुख उसका सत्य हो। इस सत्य के अभाव में उसे भी परिवर्ण्य समझा जायगा।

मीकेल्स ऐसन ने The Great Illusion ( भारी भ्रम ) नाम का एक अमूल्य ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने युद्धियों तथा उपाहरकों द्वारा सिद्ध किया है कि युद्ध-विविगीया विव्रता तथा पराजित दोनों ही के लिये हानिकारक है। युद्ध से लाभ किसी को नहीं होता। पराजित तो मारा ही जाता है उसकी यत्न समृद्धि तथा जन-जन की हानि होती ही है विजयी को भी विजय बड़ी मरुंधी पड़ती है। उसे भी जन-जन की हानि सहन करनी पड़ती है। शक्ति इनकी अधिक दीप्त हो जाती है कि उसकी वृद्धि मरुंधी शाबकों द्वारा तथा दीर्घकाल में हो पानी है। जिन व्यक्तियों की सम्मति में युद्ध मनुष्यों की जनसत्ता के अतिरेक या प्राकृतिक परिणाम या उपचार है वे भ्रम जाते हैं कि यह मनुष्य की वृद्धि है और बड़ी भयंकर भ्रम है। इससे युद्ध नहीं रुक उठता होता है। अब जब हम युद्ध कला की चर्चा करते हैं, तब पाठकों को

स्मरण रखना चाहिये कि वेद जिन युद्धों का संकेत देते हैं वे मानवता के भाग के लिये, सहाचार के सरक्षण के लिये तथा उसके विकास में सहायता देने के लिये हैं।

युद्ध हुए हैं और होंगे। न एनेन महोदय उन्हें रोक पाये और न किसी अन्य व्यक्ति की सेहतमी ही उन्हें रोकने में समर्थ है। महात्मा गांधी हिंसा के मोर विरोधी थे पर हिंसकों का सामना करने के लिये वे भी कटिबद्ध हो जाते थे। उनका यह सारमक असहयोग साथ ही प्रतिरोध भी युद्ध का ही एक रूप था। दीन बनकर बचने के स्वान पर वे भीर बनकर हाथ में हथियार लेने को भी श्रेयस्कर समझते थे। असत से उन्होंने कभी समझौता करने के लिये नहीं कहा। हाँ वे मानव नहीं मानव के बन्धर निहित दानव के विरोधी थे। वे अंग्रेज को नहीं अन्न त्रिपत को उसकी दुर्गुण राशि को सोपण-मण्डित को बुर कम्पा चाहते थे। रहने को भारत का विकास हृदय सबके लिये खुला है पर अनाचार, कत्ताचार परोनशीलता अथवा कुशासन के लिये नहीं फिर वे चाहे अपनों की ओर से हों और चाहे परावों की ओर से।

भारत ने अपनों से भी युद्ध किये हैं और परावों से भी। कौरव तथा पाण्डवों का युद्ध माई माई के बीच का युद्ध था। महाकवि व्यास ने जब जबसा महामारत नाम के काव्य में उस निबद्ध किया है। राम और रावण का युद्ध जिसे आदिकवि वाल्मीकि ने अपने काव्य का विषय बनाया आर्य एवं अनार्य पद्धतियों के युद्ध का रूप था। आर्य सतति रामायण को उल्लाह पूर्वक पढ़ती है पर महामारत का नाम सुनते ही वह जानों पर हाथ रख लेती है। गृह-युद्ध की विभीषिका उसे सहन नहीं हाटी। मोर यवार्थ उसके हृदय को सन्नहोर देता है। शोक से अमिमुत कर देता है। पर ध्यान से देखा जाय तो भावार्थ की सरला तो इस युद्ध का भी सत्य है। यदि राम की राक्षस पर विजय आर्यत्व की अनार्यत्व पर संतुष्टि है तो पाण्डवों की कौरवों पर विजय भी वर्म की अवर्म पर विजय है, सहाचार का कत्ताचार पर बुद्धि-जोष है।

वेद में इन्द्र के जिन युद्धों का वर्णन है वे ऐतिहासिक युद्ध नहीं। वेद में इन युद्धों का माया कह दिया है (माया इत् स ते धानि युद्धानि आहुः) अर्थात् इनके बहाने बर व्याख्या देता है कि सत को असत के विरोध में खड़ा होना चाहिये। इन्द्र अर्थात् प्रभु का न कोई अन्त है न हो सगता है। इन्द्र मा बरष के षष्ठ अक्षर्य है। उन्हें कोई ब्रह्मा नहीं सगता। जो ब्रह्माने बसता है वह स्वयं दब जाता है। जो अपने को बाहुबल से जनबल से जनबल से अभ्युत समझता है प्रभु उसे भी अभ्युत कर दत्त है। उनके व्रतों का उस्मंभन पाप है। पाप फिर उठाता है तो उसे कृपसा भी जाता है। प्रभु पाप की नहीं पुण्य की विजय चाहते हैं। वे स्वयं पाप-पुण्य से परे हैं, पर पाप-पुण्य की अगेदा हमारे लिये तो है ही। पाप की पराजय और पुण्य की विजय मानों मानवता की पोषिका है। मानवता का पोषण दिव्यता का द्वार था

उद्घाटन है। सभ्य समाज इसी विश्वास में आता है, इसी द्वार में प्रवेश करने का आकांक्षी है।

अच्छा आइये इन्द्र-बृज युद्ध पर विचार करें। ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में बृज की विभीषिका वर्णित हुई है—

बृजस्य त्वा वसन्तवा वीपमाणा बिभौ देवा अजहुर्यं सखायः ।

मरुद्भिर्मरिभ्य सख्य से अस्तबभेमा बिभवाः पृतना जयासि ॥ ८-१६-७

हे इन्द्र ! देखो तो बृज के उन्मुखता से भयभीत होकर ये सभी देव जो तुम्हारे सखा थे तुम्हें छोड़कर भाग रहे हैं। यदि मरुतों की मैत्री, सहायता तुम प्राप्त कर लो, तो बृज की समस्त सेना पर तुम विजय प्राप्त कर लोगे।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह एक ऐतिहासिक युद्ध का रूप जान पड़ता है। पर जब वेद युद्ध की ऐतिहासिकता को माया कहता है तब हमें मन्त्र-मन्त्र शक्तियों की आत्मा में प्रवेश करके देखना होगा कि वास्तविकता क्या है। नैऋतिक प्रमाणी में बृज का इन्द्र के साथ युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों ही क्षेत्रों में पड़ता है। प्रथम क्षेत्र में बृज बारूक या आच्छादक पाप शक्ति है। यही इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के अभिपति आत्मा को जब अभिभूत कर लेती है तो समस्त देव अर्थात् दिव्य शक्तियाँ आत्मा को छोड़कर भाग जाती हैं। ये शक्तियाँ पुनः लौट आती हैं यदि हमारी मरुत अर्थात् प्राणों की, शक्ति प्रबल हो जाय। जैसे ही हम प्राण शक्ति के सहारे अपने मनोबल को बढ़ाते हुए स्रष्टा की ओर प्रमाण करते हैं असत या पाप की प्रशुति पराजित हो जाती है। पाप को पछाड़ने के लिये प्राणशक्ति की प्रबलता परमावश्यक है। प्राण आत्मा की छाया है। आत्मा के साथ रहने में ही उसकी सार्थकता है। असुर प्राण का प्रयोग या बिनाश लोग में करते हैं। सुर उसका प्रयोग त्याग मन्त्र मन्त्र आत्मशक्ति के विवर्जन में करते हैं।

आधिदैविक क्षेत्र में ऋज मेघ है जो सूर्य को आच्छादित कर लेता है। इन्द्र ही सूर्य है। मरुत वायु है। वायु के सहारे सूर्य मेघ को छिन्न-मिन्न कर देता है और तेजःमय अंधकार को हटाकर प्रकाश करता है। इस प्रकार यह युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक क्षेत्रों में चलता रहता है।

इसी प्रकार के युद्ध वर्गों एवं राष्ट्रों के मध्य भी होते हैं। इन युद्धों का उद्देश्य दुष्ट के स्थान पर शुभ और अंधकार के स्थान पर प्रकाश होना चाहिये। यदि मानव इस उपलक्ष्य से वंचित रहता है तो युद्ध निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी है। जैसा हम लिल चूके हैं वे में युद्धों का रूप इसी उपलक्ष्य का ज्ञापक है।

ऋ १-११-८ में आर्य तथा दस्यु का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है—

१ बहिष्मते रथया शासवन्नतान् । आर्यं बहिष्मान है पात्रक है धनी है मर्यादा

का पासक है। इसकी रक्षा के लिये आवश्यक है कि अग्रणी दस्युओं का शासन में, नियन्त्रण में रखा जाय और न रहें तो उन्हें शक्ति दिया जाय। इससे भी बल में न रहें तो उनका विनाश किया जाय। अग्रणी चुप बैठकर आपके शासन या दण्ड को स्वीकार कर लेगा यह उसकी मनोवृत्ति के अधिकून है। वह प्रतिरोध करेगा बकेसे भी और अपने समानधर्मा दस्युओं का संगठन करके भी। संभव है कुछ भले आदमी भी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आकर उसका साथ देने लगे। ऐसी दशा में कुछ अवश्यमावी हो जाता है।

पुत्र नामा क्लेशों तथा आपवाओं का जनक है। यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र भले आदमी ही बोलें। असुर अपने भौतिक बल द्वारा अनेक बार देशों पर विजयी हुये थे पर अन्त में विजय सत्य या देवत्व की ही होती है इसमें सन्देह नहीं। इसके लिये देशों पर्याप्त पासकों जायों को भी संगठन करना पड़ता है और ऐसा खासक चुनना पड़ता है जो आर्य हो और जो देश में सत्ताचार की स्थापना कर सके। देश में संगठन की बहुता प्रवर्धित करने वाले—समेत विश्वे वाचसा पति विश्व संयच्छर्म्भं सवदध्नी संयमाता अविभुगुयी जाति अनेक वर्ग हैं। राजा का चुनाव भी सावधानी से करना चाहिये। राजा ऐसा हो जो प्रजा को अपना समझे। अर्हं राष्ट्रस्य समीक्ष्यं निजो भूवासुपुत्तम अथर्व १-१-२ राजा समी वर्ग अथवा कुलीन जातिवार्य वर्ग में उत्तम तो होता ही है, वह राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु के साथ भारतीयता का सम्बन्ध भी स्थापित करता है। जब राजा इस प्रकार का व्यवहार करेगा तो प्रजा जन भी उससे समान आचरण करेंगे वे भी राष्ट्र के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के साथ अपनेपन का सम्बन्ध जोड़ेंगे राष्ट्र में कोई पराया बन कर नहीं रहेगा। राष्ट्र का हित और अहित उनका अपना हित और अहित होना।

प्रजा विविधकृपा होती है। बहुधा विख्या सर्वा (अथर्व १-४-७) यह समी प्रकार की प्रजा समस्त एकत्र होकर राष्ट्र का निर्माण करती है। विंति है शोम अवीमरन् (अथर्व १-१-२) राष्ट्र और राजा का क्षेत्र इसी विविध कृपा प्रजा में निहित है। विंति राजा प्रतिष्ठित (यजु० २-६) प्रजा में ही राजा प्रतिष्ठित है। अथर्व १-१-१ के अनुसार राष्ट्र को स्वर्णा मात्परसा में समर्थ होना चाहिये। जो राष्ट्र अपनी रक्षा की निम्ता नहीं करते विसास और प्रमाद में डूबे रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

रवां विजो वृणतां राग्माय स्वामिमां प्रतिता पंच देवी ।

अथर्व १-४-१

प्रजा राजा का चरण करती है, उसे चुनती है। पंच जन पांच प्रकार की जनता प्राणी बली बनी घनी तथा अस्म्य जनस्य वर्ग का चुनाव हुआ राजा राष्ट्र



उत्पादन है । सम्य समान इमी विद्या में जाता है इसी द्वार में प्रवेश करने का आकांक्षी है ।

अथवा आह्वये इन्द्र-भुज युद्ध पर विचार करें । ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में भुज की विभीषिका वर्णित हुई है —

भुजस्य त्वा इवसया वीपमाणा विह्वे देवा अत्रहुर्य सताय ।

मरुद्भिर्मरिग्र सव्यं ते अस्तवनेमा विजवा- पुतना जयासि ॥ ८-१६-७

हे इन्द्र ! देखो तो भुज के उच्छ्वास से भयभीत होकर ये सभी देव जो तुम्हारे सखा थे, तुम्हें छोड़कर भाग रहे हैं । यदि भयों की मंत्री, सहायता तुम प्राप्त कर लो तो भुज की समस्त सेना पर तुम विजय प्राप्त कर लो ।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह एक ऐतिहासिक युद्ध का रूप जान पड़ता है । पर जब वेद युद्ध की ऐतिहासिकता को सामा कहता है तब हमें मंत्र-गत शक्तियों की आत्मा में प्रवेश करके देखना होता कि वास्तविकता क्या है । नैतिक प्रजाली में भुज का इन्द्र के साथ युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों ही क्षेत्रों में घटता है । प्रथम क्षेत्र में भुज वारक या आच्छादक पाप वृत्ति है । यही इन्द्र वर्णित इन्द्रियों के अधिपति आत्मा को जब अभिभूत कर लेता है तो समस्त देव वर्णित दिव्य शक्तियाँ आत्मा को छोड़कर भाग जाती हैं । ये शक्तियाँ पुन लौट आती हैं यदि हमारी मरुत वर्णित प्राणों की, शक्ति प्रबल हो जाय । जैसे ही हम प्राण शक्ति के सहारे अपने मनोबल को बढ़ाते हुए सत की ओर प्रमाण करते हैं, असत या पाप की प्रवृत्ति पराजित हो जाती है । पाप को पछाड़ने के सिधे प्राणशक्ति की प्रबलता परमावश्यक है । प्राण आत्मा की छाया है । आत्मा के साथ रहने में ही उसकी सार्वकता है । असुर प्राण का प्रयोग या बिनाश भोग में करते हैं । सुर उसका प्रयोग त्याग यज्ञ अथवा आत्मशक्ति के विवर्धन में करते हैं ।

आधिदैविक क्षेत्र में अत्र मेघ है जो सूर्य को आच्छादित कर लेता है । इन्द्र ही सूर्य है । मरुत वायु है । वायु के सहारे सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न कर लेता है और मेघमय अंधकार को हटाकर प्रकाश करता है । इस प्रकार यह युद्ध आध्यात्मिक तथा आधिदैविक क्षेत्रों में चलता रहता है ।

इसी प्रकार के युद्ध बर्गों एवं राष्ट्रों के मध्य भी होते हैं । इन युद्धों का उद्देश्य दुष्ट के स्थान पर सुख और अंधकार के स्थान पर प्रकाश होना चाहिये । यदि भाग्य इस उपसम्पत्ति से वंचित रहता है तो युद्ध निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी है । जैसा हम निम्न चूके हैं वेद में युद्धों का रूप इसी उपसम्पत्ति का आपक है ।

ऋ १-५१-८ में आर्य तथा वस्यु का वस्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है —

‘वस्त्रिभते रण्वया शासवस्तान् । आर्य वहिष्मान है याजक है बली है मर्यादा

का पासक है। इसकी रक्षा के लिये आवश्यक है कि जंगली वस्तुओं की वास्तव में, निर्माण में रखा जाय और न उन्हें वञ्चित किया जाय। इससे भी बल में न रहें तो उनका विनाश किया जाय। जंगली चुप बैठकर आपके साधन या सत्त्व को स्वीकार कर लया यह उसकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल है। वह प्रतिरोध करेगा अकेले भी और अपने समानधर्मा वस्तुओं का संगठन करके भी। समझ है कृत्रिम भले आदमी भी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आकर उसका साथ देने लगे। ऐसी रक्षा में युद्ध अवश्यभावी हो जाता है।

युद्ध माना क्लेशों तथा आपदाओं का जनक है। यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र भले आदमी ही पीछें। असुर अपने भौतिक बल द्वारा जनक बार बेबों पर विजयी हुये थे पर अन्त में विजय सत्य या देवत्व की ही होती है, इसमें संदेह नहीं। इसके लिये बेबों मर्यादा पासकों आयों की भी संगठन करना पड़ता है और ऐसा साधक चुनना पड़ता है जो कार्य हो और जो देश में सबाचार की स्थापना कर सकता हो। देश में संगठन की मद्दत प्रवर्धित करने वाला—समेत बिस्वै वाचसा पति बिब-संपञ्चस्य सवदध्या संज्ञमावा अभिमुपुयी जाति अनेक मत्र है। राजा का चुनाव भी सावधानी से करना चाहिये। राजा ऐसा हो जो प्रजा को अपना समझे। अर्ह राष्ट्रस्य अमीकर्म निजो भूयासमुत्तम—अधर्ष ३-५-२ राजा अभी वर्ग बचवा कुलीन आभिजात्य वर्ग में उत्तम तो होता ही है वह राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध भी स्थापित करता है। जब राजा इस प्रकार का व्यवहार करेगा, तो प्रजा धन भी उसके समान आचरण करिये वे भी राष्ट्र के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के साथ अपनेपन का सम्बन्ध ओढ़ेंगे, राष्ट्र में कोई परया बन कर नहीं रहेगा। राष्ट्र का हित और अहित उनका अपना हित और अहित होगा।

प्रजा विविधक्या होती है। बहुधा बिख्या सदा (अधर्ष ३-४-७) यह सभी प्रकार की प्रजा संगम्य एकत्र होकर राष्ट्र का निर्माण करती है। बिस्ति से शोम असीवरन् (अधर्ष ३-३-५) राष्ट्र और राजा का क्षेत्र इसी विविध क्पा प्रजा में निहित है। बिधि राजा प्रतिष्ठित (यजु० २०-२) प्रजा में ही राजा प्रतिष्ठित है। अधर्ष ३-३-१ के अनुसार राष्ट्र को स्वया आत्मरक्षा में समर्थ होना चाहिये। जो राष्ट्र अपनी रक्षा की विन्ता नहीं करते बिम्रास और प्रमात्र में डूबे रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

एवा बितो बुधता राज्याय स्वामिमाः प्रविश पंच देवो ।

अधर्ष ३-४-२

प्रजा राजा का बरण करती है, उसे चुनती है। पंच जन पांच प्रकार की जनता ज्ञानी बभी धनी धमी तथा असम्य वगैरह वर्ग का चुनाव हुआ राजा राष्ट्र

के उच्चासन पर विराजमान होता है। वह उग्र सैन्यवीर तथा भीरु होता है। राजा के पास धन तो जाता ही है पर वह उसे प्रजा का ही धन समझता है और प्रजा के हितकारी कार्यों में ही उसे मगाना रहता है। इस प्रकार प्रजा का धन प्रजा में ही बिभक्त हो जाता है प्रजा ने ही पास पहुँच पाता है।

इन्द्रोऽत्र मनुष्याश्च परेहि सं ह्यज्ञास्या मरुते तविदालः ।

सत्वायमहं वरस्ये सयस्ये स वैवान् मशत स उ कल्पयाद्रिषा । अथर्व १-४-१

हे इन्द्र के इन्द्र ! प्रजाओं के सम्राट ! मनुष्यों के समान भ्रमण करो वरभीय विद्वानों तथा श्रेष्ठजनों से मिलकर सब बातों को समझो प्रजा की आवश्यकताओं को जानो। ऐसा करने पर ही राजा प्रजा के लिये आह्वनीय बनता है दिव्यता की आराधना करता है और प्रजा को समर्पण बनाता है। वह उपसर्ग ममस्य यहाँ बन्धनीय तथा निकट आने योग्य बनता है। प्रजा उसे चाहती है और वह सन्ने अर्थों में नृपति होता है।

सतपथ ब्राह्मण में प्रजा को चेतावनी दी गयी है कि वह राजा को निरंकुश न होने दे। प्रभुता पाकर मर जा जाता है और मरने में मनुष्य निरंकुश क्या सब कुछ हो सकता है। सासक यदि कार्य भावापन्न न हुआ तो वह अनार्य तत्त्वों को पकड़ा धरता। सतपथ के शब्दों में ऐसे सासक राष्ट्र के विषय अज्ञान और 'तस्माद् राष्ट्री बिभक्तम् घातुक राष्ट्र में प्रवेश कर प्रजा की हत्या करते हैं। वे प्रजा को कर भार से दबाकर तथा विविध प्रकार के अत्याचारों द्वारा अस्त मयनीय एवं दुखी बनाकर नाशक का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे वन में व्याघ्रादि निर्बल पशुओं को खा जाते हैं वैसे ही वे राजा प्रजा के मदक बन जाते हैं। अतः प्रजा को सचेत रहकर शासन पर नियन्त्रण रखना चाहिये। सतपथ के इसी ११ वें काण्ड में राजा के सङ्कुलों पर भी प्रकाश डाला गया है।

सतपथ ५.१.१ में ग्यारह रत्नियों के नाम दिये गये हैं। इनमें सेनानी, पुरोहित राजा रानी सूत ग्रामणी अर्थात् संघहीता सायबुह बलाबाप और गोविकर्ता की मरना की गई है। सूत परवर्ती काल के पौराणिक या वंश विवरण रखने वाले हैं। ग्रामणी खेतापति प्रतीत होता है। अर्थात् रथकार या बहई है। संघहीता संग्रह करने वाला शोपाध्यक्ष है। सायबुह कर वसूल करने वाले हैं। बलाबाप सूत मर्यादा पर नियन्त्रण रखने वाले हैं और गोविकर्ता गन्ध सम्पत्ति की देखभाल करने वाले हैं।

अथर्व ३.५-७ के अनुसार ये राजानो राजकुल सूत ग्रामध्यक्ष ये 'राजा के निर्माण करने वालों में सूत तथा ग्रामणी जाते हैं। मंत्र १ में भीवान् रथकार कर्मर तथा मनीषी का नाम भी दिया गया है। भीवान् और मनीषी विशेषण भी हो सकते हैं। मंत्र २ में अग्नीर्वय अर्थात् अभिजात कुल वालों का उल्लेख है। मंत्र ३

में जनस्पति विभाग तथा मंत्र ४ में सोम इन्द्र और बरुण देवताओं के नाम आये हैं। संभवत इन्हीं का उपबृंहण शतपथकार ने कर दिया है।

यजुर्वेद १-४० तथा १०-१८ में 'महते सभाय महते ज्यैष्ठ्याय, महते सामराज्याय' शब्द आते हैं जो जनराज्य या प्रजातंत्र की सूचना देते हैं। यजुर्वेद १०-१३ में वैराज्य शब्द भी आता है जिसका अर्थ है विधेय रूप में बचकने वाला या राजा से बिहीन। कीटनीय ज्यैष्ठ्याय में वैराज्य की निन्दा की गई है, क्योंकि वही राजा के बर्मा में सब अपनी मनमानी करने लगते हैं। यजु० १४-१३ में राज शक्ति को राजी विराट् सम्राट् स्वराट् तथा अभिपत्नी कहा गया है और अध्याय १४ के मंत्र १० से १४ तक इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इनमें विराट् वैराज्य का शीतक है। ऐतरेय ब्राह्मण कार में वैराज्य पद्धति को परेष हिमवन्तम् हिमवान के परे जो देश है उनमें प्रचलित माना है। यजुर्वेद ५-२४ में स्वराट् सत्रराज जनराट् तथा सर्वराट् १०-३७ में साम्राज्य और काठ १४-३ म स्वाराज्य शब्द आये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ८-१२-४-५ में राज्य साम्राज्य भीम्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य और माहाराज्य नाम आये हैं जो विभिन्न राज्य प्रणालियों के शीतक हैं।

सामान्यतः भीम राजाना विषमि युष्मि ऋ० ३-३८-६ राजा तीन घस्त्राओं राज्य के कार्य भार को बलाने के लिये बनाता है। सर्व प्रथम उसे देश के आन्तरिक उपद्रवों के समनार्थ तथा बाह्य प्राणमनों से बचने के लिये प्रतिरक्षा विभाग की आवश्यकता होती है। इसके लिय उसे सेना रखनी पड़ती है। द्वितीय विभाग स्वाम का है। इसके भी दो उपविभाग हैं। एक में विचारों का निर्णय करना और दोपी को दोपी तथा पवित्र को पवित्र सिद्ध करना रहता है। द्वितीय में उसका काम-न्यायन। इसके लिय उसे न्यायाधीश तथा रक्षक वर्ग की व्यवस्था करनी पड़ती है। तीसरा विभाग प्रजा की शिक्षा तथा अर्थ व्यवस्था से संबंध रखता है। इसके लिये विद्या-यातायाउ-कर-कृषि-उद्योगधन्य-कृपादि के विकास के लिये और देश को समृद्ध बनाने के लिये एक संस्था की आवश्यकता होती है। अथर्ववेद काण्ड १३ में 'सं सभाय समितिष्व सेवा ज' शब्दों द्वारा इन्हीं तीन घस्त्राओं का निर्देश किया गया है।

युद्ध कला का सम्बन्ध सेना के साथ है। अथर्व वेद काण्ड ३ के प्रथम दो सूक्त तथा सामवेद का अन्तिम अध्याय या ऋग्वेद मन्त्र १० सूक्त १०३ और अथर्व० ११-१३ में भी है। युद्ध के चार पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। सैनिक एवं सेनापति के पुन सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना, शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय तथा विस्वास बातियों से बचना।

के उच्चासन पर विराजमान होता है। यह उच्च वैश्वी तथा भीर होता है। राजा के पास धन तो जाता ही है पर वह उसे प्रजा का ही धन समझता है और प्रजा के हितकारी कार्यों में ही उसे लगाता रहता है। इस प्रकार प्रजा का धन प्रजा में ही निहित हो जाता है, प्रजा के ही पास पहुँच जाता है।

इन्द्रोऽयं मनुष्याः परेहि सं ह्युतास्या बभूव सविधान् ।

सत्वायमहं बभूवै सपत्न्ये स वैवान् यज्ञत स ज कल्पयाद्रिषा । अथर्व १-४-५

हे इन्द्र के इन्द्र ! प्रजाओं के सम्राट ! मनुष्यों के समान भ्रमण करो बरभीय विद्वानों तथा श्रेष्ठजनों से मिलकर सब बातों को समझो प्रजा की आवश्यकताओं को जानो। ऐसा करने पर ही राजा प्रजा के लिये माह्वनीय बनता है दिव्यता की आराधना करता है और प्रजा को समर्थ बनाता है। वह 'उपसन्न नमस्य' यहाँ बन्धनीय तथा निष्ठा जाने योग्य बनता है। प्रजा उसे चाहती है और वह अपने अधीन में नृपति होता है।

सतपथ ब्राह्मण में प्रजा को चेतावनी दी गयी है कि वह राजा को निरंकुश न होने दे। प्रभुता पाकर मर आ जाता है और मर में मनुष्य निरंकुश क्या सब कुछ हो सकता है। सासक यदि आर्य ब्राह्मण न हुआ तो वह जनार्ण तत्त्वों को बड़ाबा देगा। सतपथ के शब्दों में ऐसे सासक राष्ट्र में बुराई फैलाएंगे और तत्त्वाद् राष्ट्री विनाम् घातुक राष्ट्र में प्रवेश कर प्रजा की हत्या करते हैं। वे प्रजा को कर भार से दबाकर तथा विविध प्रकार के अत्याचारों द्वारा बस्त भवभीत एवं दुष्टी बनाकर घातक का रूप धारण कर बैठे हैं। जैसे वन में व्याघ्रादि निर्बल पशुओं को खा जाते हैं वैसे ही ये राजा प्रजा के भक्षक बन जाते हैं। अतः प्रजा को सचेत रहकर शासन पर नियन्त्रण रखना चाहिये। सतपथ के इसी १३ वें काण्ड में राजा के सङ्गुओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

सतपथ ५३१ में ग्यारह रत्नियों के नाम बिले गये हैं। इनमें सेनापति पुरोहित राजा राजी सुत ग्रामणी क्षत्रा सग्रहीता भागवुह ब्रह्मर्षि और मोक्षकर्ता की वृण्णा की गई है। सुत परवर्ती कास के पौराणिक या वर विवरण रखने वाले हैं। ग्रामणी क्षेत्रपति प्रतीत होता है। क्षत्रा रक्षक या बड़ी है। सग्रहीता संग्रह करने वाला कोषाध्यक्ष है। भागवुह कर वसूल करने वाले हैं। ब्रह्मर्षि धर्म पर नियन्त्रण रखने वाले हैं और मोक्षकर्ता धर्म सम्पत्ति की रक्षण करने वाले हैं।

अथर्व १५-७ के अनुसार ये राजानो राजकृत सूता ग्रामप्यस्थ ये 'राजा के निर्माण करने वालों में सूत तथा ग्रामणी जाते हैं। मंत्र ५ में भीवान् रक्षक कर्मार तथा मनीषी का नाम भी लिया गया है। भीवान् और मनीषी विशेषण भी हो सकते हैं। मंत्र २ में अभीवर्ष अर्थात् अभिजात कुल वालों का उल्लेख है। मंत्र ३

तथा रसोहा—राजसौ का हनन करने वाले हैं। ये गोत्रमिद—सन्धु ब्यूह का वेध करने वाले बर्धवाहू—बध के समान कठोर युवाओं वाले योनिव—संयमी, इन्द्रियबधी तथा पृथ्वी के विजेता कहे गये हैं। इन वीरों के विशेषण हैं अक्षय—व्यारहित निर्मम और सतमय्यु—अनेक प्रकार से श्रेष्ठ धारण करने वाले। ये अक्षय पर बैठकर युद्ध करते हैं पवाति भी होते हैं सेनापति की आज्ञा का अनुसरण करते हैं और अपने श्रेष्ठ द्वारा सन्धु का पराभव करते हैं।

### ग सेना की स्थिति तथा ब्यूह रचना

इन्द्र आसामेता बृहस्पति वसिष्ठा यत्त पुर एतु सोमः ।

इव सेनानाममिमञ्जसीनां जयन्तीनां भवतो यस्तु जघन् ॥

इन्द्रस्य कुन्ती बभ्रवस्य राज्ञ आशिर्यानां भवतां सर्वं जघन् ।

महामन्त्रां भुवमभ्यवानां शोषो वैवानां जयतामुवस्थात् ॥ २ ॥

जिन सैनिकों का ऊपर वर्णन हुआ है उनका नेता इन्द्र है। ये सैनिक अपने सेनापति, अपने नेता की आज्ञा के अनुसार बचने वाले हैं। ये मन्त्रमण-अर्थात् सनिक और बापु के समान शीघ्रगति से आक्रमण करते हैं। ब्यूह-रचना में सेनापति आगे हैं पीछे सेना है। वसिष्ठा की ओर बृहस्पति संस्था प्रदान करने वाला ज्ञानी पुरोहित जो युद्ध का उद्देश्य युद्ध नहीं अपितु यज्ञ है ऐसा समझता है और पुर—सामने यज्ञ = पूज्य सोम = वैरज सोम है। सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा = ब्राह्मणों में विदित्युक्त रूप से बचने वाला विराजमान होने वाला श्रेष्ठस्वामी वाली से योद्धाओं के हृदय में उत्साह का संचार करने वाला भाव-वनी कवि आगे है। इस प्रकार ब्यूह-बद्ध दोनों की यह सेना जघनुसेना को जय करती हुई तथा स्वयं विजयप्राप्तिनी बनी हुई आगे बढ़ती है। इन बसवान बरणीय तेजस्वी अपराजित अक्षय वीरों का पराक्रम जग्न होता है। ये समस्त भूमण्डल को अपने वश में करने की शक्ति रखते हैं और वस्तुओं का वसन करके जगत् के सम्मूर्ति राज्य की स्थापना करते हैं। इन जयन्ती वीरों का जयजोय सर्व भूतों में व्याप्त हो जाता है।

विरसो विभुषो अहि विभुजस्य ह्युपज ।

विमन्थु मित्रा बृहहमित्रस्या मिवासत ॥

वि न इन्द्र मुषो अहि नीचा यज्य पूतम्यतः ।

योऽस्मान् अभिवासति अथर शमया तम ॥

इन्द्रस्य बाहू स्वधिरौ युवानौ जनाघर्यौ सुप्रतीकौ जसह्यौ ।

सौ युञ्जीत प्रथमो वीर्य आभते पाथुर्या जितमसुराणां सहोमहत् ॥ ७

जगत् के युद्ध ऐसे मनुष्यों बलों और शक्तियों के प्रति होते हैं जो राजस है, दूसरों के ब्रह्म, सम्पदा जयवा स्वतन्त्र का हरण तथा शोषण करने वाले जो हिंसक हैं जोभी हैं। पुरा जलकर सत्पुत्रों के मार्ग में विघ्न डालने वाले हैं आघतामी हैं नासिक एवं व्याय-परायण पुरुषों को दास बनाने के आशीर्वादी हैं और नीच हैं। नीच ब्रह्म में जो ब्रह्मा भिन्नी पड़ी है वह वह ब्रह्मप्राप्ति के लिये शक्तिपूर्ण एवं जयवा

### स्व सैनिक एव सेनापति के गुण

भ्रातृ शिरागतो वृषभो न भीमो घनायतनं सोमजहर्षजीवाम् ।

सम्पन्नो निमिष एक वीरः शत सेना व्ययत् साकमिन्द्रः

संक्षयनेन अनिमिषेण विष्णुना पुष्करेण पुष्पयवनेन पुष्पना ।

तदिन्नेन जयत तत्सहस्रं पुणो नर इषुहस्तेन वृष्या ।

यहाँ इन्द्र सभ्य सेनापति के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र का अर्थ है ऐश्वर्यवान् तथा इन्द्रिय-शक्ति से सम्पन्न। जैसे व्यष्टि में इन्द्रियों की शक्ति से युक्त इन्द्र आत्मा है वैसे ही सेना में सैनिकों की शक्ति से युक्त सेनापति है। सैनिकों के जमाव में सेनापति सभ्य सार्वक ही नहीं होता। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं।

सेनापति को मरण के अनुसार आधु अर्थात् शीघ्रगामी होना चाहिये । जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता हो वहाँ वह शीघ्र पहुँचानी चाहिये और सेनापति को स्वयं भाग के अनुकूल उपस्थित होना चाहिये । यदि सेनापति में यह गुण नहीं है, तो वह प्रभावशाली अपनी सेना का ही सब सेना द्वारा सहारा करा डालेगा । अनेक अवसर ऐसे आ जाते हैं जब थोड़ा सा भी विलम्ब अल्पमात्रा की भी असावधानी देश के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती है । अतः सेनापति को सबसे सावधान बानरूढ़, बेगवान और प्रत्युपक्रमति वाला होना चाहिये । अनिमित्त का अर्थ ही है जागरूक रहना पसक बन्ध न करना । आलस्य और प्रमाद में पड़ने वाला व्यक्ति सेनापति नहीं हो सकता ।

विद्यान का अर्थ है तीक्ष्ण । मनुष्य एवं कोमल स्वभाव वाला व्यक्ति युद्ध के योग्य नहीं है । युद्ध में अपने प्राणों को हुयेसी पर रखकर जाना पड़ता है । तीक्ष्णता फटोरता बख्खव्य होना पौरव-सम्पन्न सेनापति का विशेष गुण है । सेनापति को वृषभ के समान लक्ष्मिवासी तथा भयंकर होना चाहिये । वह समरांगण में बनाबन अर्थात् चोट पर चोट करने वाला है । जिससे सन्तु-सना में शोक तथा भय उत्पन्न हो । उसका सफन्दन उसकी ललकार और तेज आवाज शत्रुओं के लिये झुका है । ऐसा जयशील युद्ध करने वाला अभ्युत् और चर्यशील सेनापति अपने सैनिकों की सहायता में लक्ष्मि की अंतरंग सेवा का भी विचार कर सकता है ।

आमासी मन्त्र म उगे वषट्कारवा कहा गया है। आत्मकर्म का मूत्र-बीजस सेना पति को पीछे और मैत्रिकों को आगे रखने में माना जाता है पर आर्यों की रक्षनीति में सेनापति स्वयं आगे अस्त्र-जस्त्र से गुसजिगत होकर चलता है और अपने सैनिकों के निपे उत्साहपूर्वक आदर्श उपस्थित करता है।

सैनिकों के लिये हम युद्ध में गण-वीर तथा मरण शत्रुओं का प्रयोग किया गया है। सेनापति के गुण सैनिकों में भी होने चाहिये। वे गण हैं अर्थात् समूह-वीर धनु में बड़ शस्त्र शपथना का साम्मुख्य करते हैं। वे वीर हैं सामर्थ्य से सम्पन्न एवं पराक्रम से युक्त हैं। वे मरण अर्थात् शत्रुओं को मृत्यु और मारनेवाले हैं। सेनापति के सामर्थ्य से भी साम्मुख्य करते हैं। वे वीर हैं सामर्थ्य से सम्पन्न एवं पराक्रम से युक्त हैं। वे मरण अर्थात् शत्रुओं को मृत्यु और मारनेवाले हैं। सेनापति के सामर्थ्य से भी साम्मुख्य करते हैं।

तथा रक्षोहा = राजसौ का हनन करने वाले हैं । ये गोनमिह = लघु व्यूह का रेष  
 करने वाले बन्धुबाहु = बन्धु के समान कठोर युद्धार्थी वाले योधि = संगमी इति  
 पञ्चमी तथा पुष्पी के विजेता कहे गये हैं । इन बीरों के विशेषण हैं अहम = अपार  
 हित, निर्मम और सतमग्न्यु = अनेक प्रकार से श्रेष्ठ धारण करने वाले । ये ब्रह्म रथ  
 पर बैठकर युद्ध करते हैं यथाति भी होते हैं सेनापति की आज्ञा का अनुसरण करते  
 हैं और अपने बोज द्वारा शत्रु का पराभव करते हैं ।

ग सेना की स्थिति तथा व्यूह रचना

इन्द्र आस्तामेता बृहस्पति रक्षिषा यज्ञ पुर एतु सोमः ।

इव सेनानामग्निश्चरतीनां जपनीनां मस्तो यन्तु यज्ञम् ॥

इन्द्रस्य ब्रह्मो बभूवस्य राज्ञ आशिर्यानां मरुतां शब्द उग्रम् ।

महामनसां भुवनध्यक्षानां बोधो देवानां जयतामुदरथात् ॥ २ ॥

जिन सैनिकों का ऊपर वर्णन हुआ है उनका नेता इन्द्र है । ये सैनिक अपने  
 सेनापति, अपने नेता की आज्ञा के अनुसार चलते वाले हैं । ये मरुत्यज-जर्वाति सैनिक  
 बीर वायु के समान तीव्रगति से आक्रमण करते हैं । व्यूह रचना में सेनापति आगे हैं,  
 पीछे सेना है । रक्षिष की ओर बृहस्पति, मंत्रणा प्रधान करने वाला जानी पुणेहित,  
 जो युद्ध का उद्देश्य मुझ नहीं अपितु यज्ञ है ऐसा समझता है और पुर = सामने  
 यज्ञ = द्रव्य सोम = त्रेक सोम है । सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा = ब्राह्मणों में  
 विद्यिष्ठ रूप से चलने वाला विराजमान होने वाला शोबस्विनी काशी के योद्धाओं  
 के हृदय में ब्रह्मा का संचार करने वाला माद-अनी कवि आगे हैं । इस प्रकार व्यूह-बद्ध  
 देवों की यह सेना यज्ञसेना को मग्न करती हुई तथा स्वयं विजयवाप्तिनी बनी हुई  
 आगे बढ़ती है । इन बलवान् बरणीय तेजस्वी अपराधित अक्षरित बीरों का परा  
 क्त उग्र होता है । वे समस्त भूमण्डल को अपने वश में करने की शक्ति रखते हैं और  
 वस्तुओं का वसन करके आगों के चक्रवर्ती राज्य की स्थापना करते हैं । इन जयशील  
 बीरों का जयघोष सर्व भुवनों में व्याप्त हो जाता है ।

विरभी विमूषो बहि विबुधस्य हनुध्वजः ।

विमग्न्यु मित्र बृहस्पतिमित्रस्या मिवास्त ॥

वि म इन्द्र मुनी बहि नीचा यत्तु पुतग्यत ।

योऽ स्माम् अभिवासति अघर्ष यमया तम ॥

इन्द्रस्य बाहु स्वविरा पीुवानी यन्नाभ्युयो शुप्रतीको यज्ञहरी ।

तौ पुञ्जीत प्रजयो योग आमते याभ्यां जितममुरार्थं सहोमहत् ॥ ७

आगों के युद्ध ऐसे यन्त्रों बगों और बातियों के प्रति होते हैं जो राजस है,  
 दूसरों के इन्द्र सम्पदा अथवा स्वयं का हारण तथा लोपण करने वाले हैं, जो हिंसक  
 हैं सोपी हैं यरा वासकर सत्पुरुषों के मार्ग में विघ्न डालने वाले हैं बातलायी हैं  
 बामिक एवं न्याय-अराधन पुरषों को वास बनाने के आकांक्षी हैं और पीन हैं । नीच  
 शत्रु में जो पूजा सिद्धी पड़ी है, वह इन दुष्टात्माओं के लिये सभी आर्य एवं सदाचारी



पुरुषों के हृदय से प्रगट होती रहती है ।

मन्त्र में कहा गया है कि ऐम हिंगर्षो राशर्षो बर्बरो एव मातृतामियों को कुचन देना चाहिये उन्हें भीष गिरा देना चाहिये । इन गुप्त जगुओं के बान की बड़ी ही बड़ी शक्ति को नष्ट करने के लिये आयों की भुजायें युवामी—तदन रक्त से मोठ मोठ, बलवान, स्वबिरी—मन्त्रवृत्त प्रीह, अनायुष्यो—बभी न दबने वाली असह्यो—मनु के लिये अमह्य तथा योग आगम प्रथमो—अवसर आ जाने पर सर्व प्रथम उठने वाली राशर्षों पर आक्रमण करने वाली हानी चाहिये ।

आगे के संघ में कहा गया है—अप्यस्तं तथा मनु देवा मरुतु—अर्थात् बर्बर राशर्षों पर जब आयों की सेना विजय प्राप्त करती है ता देवता—दिव्यगुणवाली प्राची प्रसन्न होते हैं । आयों के युद्ध विश्व में दिव्य शक्तों के प्रसार के लिए ही होने चाहिये । जिस हिंसा से संसार में सार्वत्रिक वृत्ति बान देवों और सज्जनों की रक्षा तथा प्रमप्रज्ञा सम्पादित हो वह हिंसा मुक्त स्वर से स्थापनीय है । कौन अपम ऐसी हिंसा का ठिठकार करेगा ? और जो अहिंसा मनु पक्ष के साहच एव पराक्रम को बढ़ाने वाली सिद्ध हो जिससे अपना बल हीन तथा भीष बर्बरों का बल उत्तरोत्तर उन्नत उन्नत होता जाय, उसे कौन मूर्ख प्रशंसा की दृष्टि से देखेगा और अपनावेगा ?

घ शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपाय

उद्धपय मघवन् आयुषामि उत सत्त्वना मामकानां मर्नामि ।

उत बृहन् बाजिनां बाजिनामि उत रघोनां जयतां पशू घोषा ।

अस्माकं मित्रां समृतेषु ध्वजेषु अस्माकं वा इयवस्ता जयन्तु ।

अस्माकं बीरा उरारे अविम्वु अस्यां उ देवा अवता हवेषु ॥

असी या सेना मित्रा परेषामभ्येति न ओजसास्पृशमाना ।

तां गूह्यत तमसापवृतेन यथा एतेषामभ्योऽर्थं न जानात् ॥ ४

मनु पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम अपने बल पर विश्वास करने की आवश्यकता है । हमारे हाथों में हथियार हों हमारे मन उरसाह की महर्षों और हर्ष की भावनाओं से जोठ मोठ हों हमारे अस्माराहियों के अवश अवसर तिर किये निमत गति से चल रहे हों और हमारे रथियों के जयधोष विजिगम्य में व्याप्त हो रहे हों । इस प्रकार यदि हमारी मनावना बाह्यवातावरण के साथ एक हो रही हो तो हमारे बान निस्संदेह मनु को विजय करेगा और हमारी ध्वजा समरीगम्य में विजय की प्रतीक बनी हुई फहरायगी । हमारे बीर सैनिक मनु घरा पर दृष्टे ही उसे ध्वस्त कर देंगे क्योंकि दिव्य शक्तियों का रक्षक बल हस्त उनके तिर पर होगा ।

और यदि मनु-जने अपने बल से अधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है उसकी सेना हमारी सेना से स्पर्षा करती हुई हमारी ओर बढ़ती जसी या रही है तो वैद कहता कि पहले तो ऐसा कोष करो जो मनुपक्ष को मयनीय कर दे फिर ऐसे उपायों का व्यवसायन करो जिससे मनु सेना में अन्धकार फैल जाय उसके सैनिकों के विमात और मन क्रिद्वर्ध-विभूत हो जायें, अपना ऐसी वेद छोड़ो जिसका विष फैलकर मनु

सेना को मूर्च्छित कर दे और तमसाच्छादित वातावरण में शत्रुओं के सैनिक एक दूसरे को पहिचान ही न सकें ।

अमोघा चित्तं प्रतिशोभयन्ती पृथग्न भयानि भवे परेहि ।

अभिप्रेक्षि निर्बह दूरतु शीकरण्येन अमित्रास्तमसा सजस्ताम् ॥१॥

इस मंत्र में किसी ऐसी व्याधि को शत्रुपक्ष में फैला देने की योजना संकल्प है जो शत्रुओं के चित्त को विमोहित करती हुई उनके अंगों की बकड़ से और शरीरों का नाश कर दे । कोई ऐसी युक्त की जाय जिससे शत्रुओं के हृदय सोक की अग्नि से जल उठें और प्रगाढ़ अंधकार अथवा मोह से युक्ति हो जायें । यदि हमारे हृदयों में उत्साह बना रहा और शत्रुओं के हृदय व्यामोह से आतुर हो गये तो हमारी विजय निश्चित है । मंत्रगत अथे सख्य वा अर्थ रोष या व्याधि है ।

ऊपर जो मंत्र उद्धृत किये गये हैं उनमें से कुछ अथर्व काण्ड ३ सूक्त २ में भी पाये हैं । केवल कतिपय शब्दों का अन्तर है । भाव ज्यों का त्यों विद्यमान है । अन्य विचार भी इस काण्ड के सूक्त सख्या १ तथा २ में वर्तमान हैं । यथा—

आग्ने वातस्य प्राञ्जया तान् विनाशाय । अथर्व ३।१।१५ + ३।२।३

अग्नि तथा वायु की गति द्वारा शत्रुओं का नाश करो । ये सध्व महामारुत काशीन आग्नेयास्त्र तथा वायव्यास्त्र का स्मरण कराते हैं—

तां विम्वस्त तमसा अपव्रतेन । अथर्व ३।२।६ अथवा तानूहस्त तमसा अपव्रतेन । यजु० १७-४७ ।

शत्रु की उस सेना को वृत्तबिहीन कर देने वाले अंधकार से बीप दो ।

अभिजान् शत्रून् तमसा विम्व । ३।२।१५ अथर्व

शत्रुओं को अंधकार फैलाने वाले अस्त्रों से विद्ध कर दो ।

अग्निः शत्रू विनाशताम् । अथर्व ३।१।६

आग्नेयास्त्र का ऐसा प्रव्यसन हो कि शत्रु की जाँचें उसे सहन न कर सकें और नष्ट हो जायें । उनकी दृष्टि-शक्ति जाती रहे ।

नीचे सिद्ध मंत्र स्वपक्ष का उत्साह-वर्धन करने वाले हैं—

ब्रैता अमता नर इन्द्रो वः शर्म अचक्षुः ।

उग्रः वा सप्तु बाहुषो नायुष्या मयासव ॥

अचक्षुषा परापत शरव्ये बहू संसिते ।

गच्छ अभिजान् प्रपद्यस्व मासीषी क व भोक्षित ॥

हे सैनिको ! जागे बढ़ो और विजय प्राप्त करो । परमेश्वर तुम्हें सुख और अभ्युदय दे । दुम्हारी जुआँबी उग्र और अमरान हो जिससे तुम किसी के द्वारा पराजित न हो सको ।

हे राजा ! मंत्र द्वारा सीधे दिलों पर गुप्त जोड़े जाकर दूर शत्रुओं तक पहुँचो और उनमें से किसी को भी रोष नष्ट रहने दो ।

कंठाः सुपर्वा अनुयन्तु एतान् सुप्रयायामर्षं भती भ्रातृ सेना ।

मया मोहि अपहारश्च मेघं घर्षाति एताम् अनुसंयन्तु सर्वाः ॥ ९

शत्रु सेना के ऊपर गूँध धीमे और अग्न्य मांस भभी परी दूट पड़े । शत्रुदल उनका भोग्य वध वग जाये । कोई भी पापी न बच छड़े । पथी इन सबको खा जाये ।

सेनापति को सम्बोधन करते हुये कहा गया है—

प्रेहि भगोहि धृष्णुहि न ते बन्धो निर्यसते ।

इन्द्र भृष्णो हि ते शशो हनोवृत्रं जया अप अर्धप्रभुस्वराज्यम् । ऋ० १-८० ३

हे इन्द्र । तू इन्द्रिय भ्य संमिकों का स्वाधी है । जिस वृत्र ने तेरे राज्य के चारों ओर बेरा डाल रखा है उसे मार । तू बड़े सामना कर और शत्रु का धर्पण कर । तेरे राज्य को कोई नहीं रोक सकता । तेरा बल सबको शूका देने वाला है । वृत्र का वध करके अपने राज्य और प्रजा को विजय प्रदान कर । स्वराज्य की अर्चना तेरा प्रमुख कर्तव्य है ।

निम्नांकित मंत्र में युद्ध की एक और विधा का संकेत पाया जाता है । कभी कभी ऐसा होता है कि शत्रु पक्ष विलक्षण अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर सदाचार पक्ष को बहा भेठा है । उस समय परिस्थिति को देखते हुये जीवन तथा सत्व की सुरक्षा के लिये शत्रु की दृष्टि से ओझस हो जाना पड़ता है । परंतु यदि सुरक्षित स्थानों का आश्रय लेना पड़ता है और येन केन प्रकारेण शत्रु से प्रतिघोष लेने का संयोग न होना पड़ता है । प्रतीक्षा में समय तो जाता है पर प्रति + ईक्षण = विघ्नभी भ्रुटियों पर दृष्टि डालना उन्हें सुधारना और प्रति वर्मांत शत्रु के बलाबल पर ध्यान रखते हुये अपने बल को बढ़ाना भी इस प्रतीक्षा में सिद्ध हो जाता है ।

वेद कहता है —

मुनी न भीमः कुबरो विरिष्ठा परावत आ जयन्ता परस्या ।

सुक्त संताप पविमिन्न तिम्रं वि शत्रून् साङ्कि वि धृषो मुदस्व ॥ ९

जैसे पर्वतों में विचारण करने वाला कुत्सित अन्न का भी सेवन करके जीवन चारण करने वाला भयंकर पशु दूर से आकर अपनी लिकार पर दूट पड़ता है वैसे ही परिस्थिति-बल यदि हमें पर्वतों का आश्रय लेना पड़े कुत्सित अन्न का भी सेवन करना पड़े तो भी सब कुछ सहन करते हुए अनुभूत बलसर पाठे ही हमें अपने प्रसरण-सीस तीक्ष्ण एव प्रसर वध के साथ शत्रुओं पर दूट पड़ना चाहिये और आर्य संस्कृति का विध्वंस करने वाले नारकीय क्रत्याचारियों को नष्ट कर देना चाहिये । मुगलों की प्रणष्ट सेना का सामना न कर सकने के कारण महाराजा प्रताप स्वपति लिबा भी और स्वसाम ने इसी नीति का अनुसरण किया था । इसी आपामार भुरीना युद्ध नीति के प्रयोग द्वारा वे मुगलों की महती सेना

पर विजय प्राप्त कर सके थे। अकबर और अकबर के भूत महाराणा को गिरिबर, बनबर और तुणबर कह कर निम्नित कर रहे थे परन्तु इस निन्दा की अचहेमना करते हुये महाराणा ने अपना साहस न छोड़ा और स्वाधीन रहने के प्रयत्न को न छोड़ा। वे तुणबर रहकर भी अकबर के अनुचर न बने। पराधीनता की अपेक्षा सांगपात आकर स्वाधीन बने रहना बेमस्कर है, बिसास और बेमन का उपभोग करते हुये पराधीन रहना अच्छा नहीं है। जब तक यह आर्मे भावना विद्यमान है जब तक बर्बरों का अनुचर कहमाने की अपेक्षा स्वाधीनता पूर्वक जीवित रहना हमारा आदर्श है तब तक हमें सर्वत्र के लिये पद-बसित रहने वाला कोई भी मार्ग का नाम इस पृथ्वी पर पैदा नहीं हो सकता। भावहार प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारे मार्ग में आकर रोड़े अटकावें बसुता नेचमाता के रूप में हमारे अस्तित्व की आकाश को आच्छादित करने और शानबता भले ही चतुर्विध फैलकर अपने प्रत्येक रूप को प्रकट करे पर आर्यों के अस्तित्व में निहित स्वाधीनता की यह भावना, सहाचार-संरक्षण की यह कामना और विषयता के बरत की यह उत्कट वासना हमारे मार्ग को आलोकित करती रहेगी और हम एक दिन अपने सत्य की सिद्धि में अवश्यमेव सफल होंगे। ननु भार्यस्य दास भाव महारना कौटस्य की यह उक्ति अमोघ है। ननुर्वेद अथ्याय १२ के मंत्र १० और ११ के पद सहरम्या निवर्तस्व तथा विद्यस्व सर्वा वाङ्मनु मास्व राष्ट्रम् अभिमतत्। राष्ट्र सुरक्षित रहे और राजा पुन ऐश्वर्य के साथ आर्य सिंहासन पर समासीन होकर प्रजा का हित सम्पादन करे प्रजा भी उसे चाहे ऐसा भाव प्रकट करते हैं।

### ॐ विश्वासघाती से बचना

मीथे जिन्हे मन्त्रों में अपने संरक्षण का उपाय तथा विश्वासघातियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार का उल्लेख है।

धर्माभि ते वर्मनाच्छाद्यामि सोमस्त्वा राजामृतेन अनुवत्साम् ।

हरीर्वरीमो वरुणस्ते कुषीतु जयन्तं त्वा अनुदेवामवगन्तु ।

अथ्वा अमित्रा मघत अशीर्षानोभूय इव ।

तेषां वो अग्निगुणानाम् इन्द्रो हस्तु वरम् वरम् ।

यो न त्वो अरयो यश्च मिध्यो जिघांसति ।

वैवास्त सर्वभूर्गन्तु ब्रह्म वर्म मयान्तरम् शर्म वर्म मयान्तरम् । ॥

हमें स्वयं अपने बचाव का प्रयत्न करना चाहिये। हमारे विरुद्ध मर्मस्पर्श हैं उसके सब अनेक एवं कुछ कबल से सुरक्षित रहने चाहिये। ये मर्मस्पर्श व्यक्ति के शरीर में भी होते हैं और समाज के अन्दर एवं बाहर भी। आन्तरिक मर्मस्पर्श

अभिन्न पाठक होते हैं। अतः उनके बचाव की ओर अभिन्न ध्यान देना पड़ता है। ये मर्मस्पर्श वास्तव में अपने धोर शत्रु हैं। शारीरिक मर्मस्पर्शों को बचव पहन कर सुरक्षित किया जा सकता है पर आन्तरिक शत्रुओं का दमन कैसे किया जाय ? उनसे अपनी रक्षा किस प्रकार की जाय ? वेद कहता है कि हम आन्तरिक अभिनों को जो या तो हमारी सहायता नहीं करते और इस प्रकार हमारी शक्ति को बढ़ाने के स्थान पर घटाने के कारण बने हुये हैं अथवा जो हमारे मार्ग में विचारमग्न रूप से विप्लव डालने वाले हैं इन दोनों ही प्रकार के आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट कर देना चाहिये। इनकी शक्ति को जैसे ही ध्वस्त कर देना चाहिये जैसे सर्प के सिर को कुचल दिया जाता है। हमारे ये शत्रु बिना विभाग के बिना भिन्न बाने अविभेकी और अचे हो जायें और अपने ही शोध एवं अविभेक की अग्नि में जल कर नष्ट भ्रष्ट हो जायें। इनके बरम् बरम् ध्वेष्ट-ध्वेष्ट नेताओं और अग्रगताओं को राजा नष्ट कर दे।

जो व्यक्ति या वर्ग हमारा अपना सम्बन्धी होकर भी हमारे विरुद्ध आचरण करता है, हमारा प्रिय एवं हित साधन नहीं करता और इस प्रकार हमसे दूर रह कर क्षिये हुये रूप में हमें मारना चाहता है उसको सब विद्वान् अपमानित कर मार डालें। सम्भावितस्य आकौर्ति भर्त्सावतिरिष्यते। ऐसे अवसर पर समाज को शान्ति एवं सुखद्वि से काम लेना चाहिये। हमारे शुभ होने तथा अविभेकी बनने से यह हमारा आन्तरिक शत्रु अभिन्न पाठक सिद्ध हो सकता है और गृह कलह (Civil war) का बीज बो सकता है और शत्रु पक्ष से मिल कर हमारी पराजय का कारण बन सकता है। वर का भेदी संका डाले।" यह उक्ति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। अतः वेद कहता है कि ब्रह्म—ज्ञान और धर्म—शान्ति हमारे आन्तरिक धर्म बनें हमारे अन्तर के कण्व हों आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करने वाले साधन हों।

इस प्रकार आन्तरिक शत्रुओं से सुरक्षित होकर अपने मर्मस्पर्शों को कवच द्वारा आच्छादित करके हम अपने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इन्हीं साधनों द्वारा प्रभु हमें अभरता से आभूत एवं संयुक्त करता है और अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख प्रदान करता है। विषय शक्तिर्षा इसी अनुकूल परिस्थिति में आसुरी शक्तियों के दब जाने एवं ध्वस्त हो जाने से हृषित होती और फलती फूलती है।

वेद में सुशोभित कवच के साथ कुशिल वज्र अग्नि इषु हेति आदि शस्त्रों के नाम भी आये हैं। गैर व्याधि का उल्लेख पीछे हो ही चुका है। आग्नेयास्त्र वाय्वास्त्र वामव्यास्त्र की ओर भी पर्याप्त संकेत हैं ब्यूह रचना युद्धकला का विशिष्ट अंग है। पञ्चाति रक्षाकूट अश्वारोही जलयानी विमानि आदि सैनिकों तथा सेनापतियों का भी निर्देश है। युद्ध कला कैसी होनी चाहिये इसका इस प्रकार पूर्ण विवरण वेद में विद्यमान है।

## ५ । कला, विज्ञान और दर्शन

### क कला-कौशल

कला भस्तिष्क की अपेक्षा हस्त-लाभ से अधिक सम्बन्ध रखती है। मिट्टी कलामें है सब में हाथ का प्रयोग होता है। कलाकार के हाथ मिट्टी को ऐसा आकार प्रदान कर देते हैं जो सजीव सा प्रतीत होता है। मिट्टी ही नहीं काष्ठ प्रस्तर मोटा चामी ठाँवा आदि को भी अनेक आकर्षक रूप कलाकार के द्वारा प्राप्त होते हैं।

वेद कलाकारों को ऋग्वेद संज्ञा देता है और कहता है “सप्तऋमव सुहस्ताः सुहस्ताः। ऋग्वेदों के हाथ सुन्दर हैं उनकी कृतियाँ सुन्दर हैं उनकी रचनाएँ सुन्दर हैं वे हमें आतिथि दें। ऋग्वेद विद्वान् हैं और सुन्दर कलाकृतियों को जन्म देने वाले हैं। जैसे सूर्य की किरणें अनेक प्रकार के पुष्पों को विकसित करती हैं भूमि को हरित पूर्वा के कोमल मखमली पत्तों से सुसज्जित कर देती हैं, वेतों को स्वर्ण आतियों से मण्डित कर देती हैं वैसे ही कलाकार अपने हाथ की कला द्वारा जगत्पुत्र को सुन्दर और कुसुम को सुसुमना बना देते हैं। कविपद्माचार्यों ने ऋग्वेदों को सूर्य की किरणों का रूप माना भी है।

कलाओं में आत्मा निर्माण आदि उपयोगी कलाओं का निवेदन हम इसके पूर्व कर चुके हैं। सज्जित कलाओं में सबसे प्रथम प्रासाद मन्दिर अथवा हर्म्य आते हैं। प्रासमिक रूप से इनका उत्प्रेषण भी हो चुका है। मन्दिर और मन्दिर के उपरान्त मूर्तिकला आती है। प्रभु ने इस ब्रह्माण्ड में माना प्रकार की मूर्तियों की रचना की है जिनमें ‘पुरुषो वाच मुहुरम्’ मूर्त्य की मूर्ति सबसे सुन्दर है। तेज भं सूर्य-मूर्ति की समता कोई नहीं कर सकता। उसमें साक्षात् साक्षात्-आतिथि मरी पड़ी है। जन्म की बस ज्योत्स्ना की समता किन्तु कलाकार की रचना कर सकती है? मन्त्रों की उद्गमसत्ता भी प्रक्याप्त है। इन्हीं के साथ प्रकृति और भी अनेक कलाओं की रचना किया करती है। क्यामलसेव ठण्डावादी हुई विजयी सप्तरवी दृश्यमनुष्य बना कम आश्चर्यकारी है। वर्षों के दिनों में कीरवभूटियों को देखिये। उस सज्जित की आतिथि अवर्धनीय है। रात्रि में लघुओं की जगमगाहट भी अद्भुत एव विचित्र है। पार्वत्य प्रवेश की कुछ

वस्तुतया भी इसी तरह का प्रकाश देती हैं। ये मूर्तियाँ प्रभु की और प्रकृति की भी हुई हैं। न तस्य प्रतिमा अस्ति' कहकर वेद प्रभु की प्रतिमा का तो निवेश करता है पर साथ ही प्रतिमा का नाम भी लेता है। उसने प्रभु को त्वष्टा तथा वास्तोष्पति विश्वकर्मा आदि नाम भी प्रदान किये हैं। वह काय है कवि है। महद्यम्ब कलाकारों तथा उनकी कलाओं की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। मानव ने इन कलाकारों की कलाओं के रूप में मानों प्रभु का ही अनुकरण किया है —

देवत्वष्टा सविता विश्वकर्म युवोवप्रजा पुष्पा जजान ।

इमा न विद्वा भुवनाप्यस्य मह्य देवानाम सुरस्वमेकम् ॥

ये त्रिवप्तापरिमन्ति विद्वा कपाणि विधत्त ।

इन्द्रो मायामि पुष्कम् ईयते ।

जानानाम् वेना जज्जाकशब्धुवा ।

इन मंत्र पदों में प्रभु की महती शक्ति का अभिव्यक्ति है। वह त्वष्टा के रूप में विभिन्न प्रकार की मूर्तियों को उत्पन्न कर रहा है और सविता रूप में विश्व-रूपा प्रजाओं को पोषण प्रदान कर रहा है। माया कला कौशल ही है जो नाना प्रकार के आदुपर उसे पुरुषों एवं शिष्टों की रचना करती है।

मूर्ति कला के ऊपर विश्वकला है। उससे भी ऊपर संपीठ है और काव्य कला समस्तकलाओं में उसके ऊर्ध्व स्थान पर है। काव्य कला के अतिरिक्त अन्य सभी कलाओं मानव के हाथों का कौशल है। तो क्या मानव ने बिना किसी आदर्श या साँचे के इन कलाओं को जन्म दिया होगा? नहीं। आवश्यक विद्यमान थे। मानव ने केवल उनका अनुकरण किया। पर्वत चरिता वृक्ष पशु आदि विद्यमान हैं कलाकार केवल इनके अनुकरण पर मूर्ति या चित्र का निर्माण करता है। कभी-कभी कलाकार मानव निर्मिति का भी अनुकरण करता है। तब हम उसे अनुकरण का अनुकरण कहते हैं। जब कलाकार किसी भवन का चित्र खींचता है तब वह अनुकरण का अनुकरण कर रहा है। मह्य अनुकरण प्यों का त्यों हो ऐसा नहीं है। कलाकार के मस्तिष्क और हृदय भी उसके माय मन्त्र के प्रभाव में रहते हैं। उसकी कल्पना भी निर्माण में सहयोग देती है और इसी हेतु प्राय देखा गया है कि कलागत सौन्दर्य यथार्थ सौन्दर्य से कुछ पृथक् है या भावे बढ गया है। महारमा बुद्ध की मूर्ति के दर्शन कीजिये अथवा सूर्य के चित्र को देखिये। इनमें जो भाव मुद्रा आ गई है बुद्ध के मस्तिष्क के भौतिक जो शीटि चक्र मन्त्रित किया गया है अथवा सूर्य को जो रूप में आसीन किया गया है, वह सब मूल में नहीं है। वह कलाकार के हृदय और मस्तिष्क की देन है। जब कला में अनुकरण के साथ कलाकार की कल्पना भी सम्मिश्रित हो जाती है और कला को ऐसा रमणीय रूप में आती है जिससे वह पक्षों तथा मानकों को बेर तक आकृष्ट किए रहे।

दियाँ एक दूसरी के साथ कौसी सटी अनुक्रम में युग्मित तथा येणियों में विभाजित हैं। 'को बोडम्बरं तु विजाता अरंकरणी — कौन है वह कसाकार जिसने अरंकरण किया है ? मानव कसाकार । तुम तो अपनी कसा भा रचना से पुष्पक दिखाई देते हो । यद्यपि उस रचना में तुम्हारा अन्तस्तम भी हाथों के साथ लगा था पर कसा को बन्ध देकर तुम उससे पुष्पक हो गये । फूम में ऐसी बात नहीं है । उसका कसाकार उसके अन्तस्तम में ही विद्यमान है । वह अपनी सूर्य-चंद्रादि सभी कमनीय कतियों में विद्यमान है । चूड़ी को बंधकर हम चूड़ी बनाने वाले का अनुमान करते हैं पर वह कहीं दूर बैठा है । सूर्य चंद्रादि क साथ मानव शरीर के निर्माता का भी हम अनुमान करते हैं । पर वह निर्माता दूर नहीं निकटतम है । वह नेष्टिष्ठ है । हम सबका अन्तर्पामी है । वह निरन्तर निर्माण कर रहा है और निर्माण को अर्शकृत कर रहा है । मानव-अरंकरण क प्रसाधन भी वही बुटा रहा है । यहाँ भी कुछ है सब उसी का है ।

वेद प्रतिमा और रूप का ही नहीं चित्र का भी नाम सेवा है । 'चित्र इत् राजा राजका इत् अन्धके 'चित्रं देवानामु बगावनीकं 'वसो' चित्रस्य रापस', 'यज्ञेषु चित्रमातर' 'पुत्रैषु चित्रं चित्रं चित्रं चित्रं' आदि अनेक मंत्र-पदों में चित्र का नाम आता है । चित्र विचित्र है अद्भुत है । कसाओं में जिस चित्र का हम वर्णन करते हैं वह नी विचित्र होता है । उसे चित्र कहते भी इसी कारण हैं । अनुकरण कसा का प्राण है । छाया यकार की अनुकृति होती है पर वह यकार से कितनी सुन्दर होती है । सरिता के जल में तट पर खड़े वृक्षों के प्रतिबिम्ब को छरोवरों या निर्मरों के जल में पर्वत-श्रेणियों की प्रतिच्छाया को यमुना के प्रवाह में ताम्र महल की स्म-स्मृति को देखिये मूल से कहीं अधिक वह सुन्दर जान पड़ेगी । वह चित्र है विचित्र है अद्भुत है आश्चर्य-कारक है । मानव मन अनुकारिणी कसा में मग्न होकर इसीमिये अनुरंजन प्राप्त करता है ।

वेद में गान है संगीत है । सामवेद तो सहस्रधर्मा संगीतों का कोष ही है । संगीत जिस सप्त स्वरों के आरोह-अवरोह पर अवसम्बित है उनके तथा उनके आचार पर बने छन्दों के नाम वेद के प्रत्येक मंत्र के ऊपर आज तक लिखे जाते आते हैं । यजुर्वेद के प्रथम मात्र के ऊपर लिखा है, परमेष्ठी प्रजापति ऋषिः, सविता देवता (१) स्वराह् बृहती छन्दः मध्यमा स्वराः (२) प्राज्ञी छन्दिक् छन्दः, ऋषयः स्वराः । स्वर सात हैं — पञ्चम, ऋषयः, गान्धार मध्यम पंचम ऋषय और निषाद । इनके आचार पर तीन मुख्य छन्द बने हैं — गायत्री, त्रिष्टुप और जगती । यजुर्वेद ४ २४, ८ ४७ १९ २, १९ २१ आदि कई स्थानों पर इन छन्दों के नाम आये हैं । यथा—

उपयाममूहीतोऽप्रयमये तथा गायत्र्यध्वंसं गृह्णामि । त्रिष्टुपं तथा त्रिष्टुपध्वंसं गृह्णामि । त्रिष्टुपध्वंसं गृह्णामि । अनुष्टुप्तेऽनिरः । ८-४७ -





महसे बीणाबाहम् कोशाय तुषवध्मम् अवरस्पराय तंजध्मम् ॥ १९ ॥

महसे बीणाबाहम् पानिध्मम् तुषवध्मम् तान् नृत्ताय आमन्त्राय ततवम् । २०

इन मन्त्रों में बीणा-वादन, कोश उन्नयन या तुरही बजाना तब बजाना हाथ से तबसा आदि बजाना तबल अर्थात् करताल बजाना और नृत्य का संकेत स्पष्ट-रूप से है। इसी अध्याय के मन्त्र १ में नृत्ताय सूतम् यीताय शम्भूपम् अर्थात् नृत्य के लिये सूत और यीत के लिये शम्भु का नाम आया है। वाष्पीकि न रामामण में कृत्त और सब को संघीत सिखाने का उल्लेख किया है। इन लोगों के नाम पर जाने बासों की सहा ही कृवीलक पड़ गई है। लतूप गतों का एक मेर है। गाने-बजाने का काम बाब भी ये किया करते हैं। सूत पौराणिक युग में ऐतिहासिक तथा कला-आचक के रूप में विचार दिये हैं। सम्भव है प्राचीन काल में उनका सम्बन्ध नृत्य कला के साथ रहा हो। वर्तमान समय में कथक या करक यही कार्य करते हैं। किसी-किसी कोप कार ने सूत का कार्य करक किया भी है।

संगीत के उपरान्त काव्यकला आती है। काव्य कला भी है और विद्या भी। हमारे यहां १४ कलाओं में समस्या पुति प्रहेलिका कूट काव्य आदि को कला के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। इसमें वग्ध्य-अमी-मणिति भी आ जाती है। परन्तु काव्य त्रिभ विचारों और भावनों का बोध देता है वह विद्या के अन्तर्गत है। समस्या पुति असे मंत्र वेद में अनेक हैं। कर्म देवाय हविषा विषेम तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम् अथ न योग्य वचनम् अर्चप्रनुस्तरायम् आदि वाच्य अस्तिम टेक के रूप में अनेक सूक्तों से सम्बद्ध है। प्रहेलिकायें यजु० अ० २३ में आई हैं। ओपधियों का बौद्धों से बार्तालाप यात्रा पृथिवी का बोलना अस-आयु-यज्ञ-सोमसता आदि का बरबादी होना वह जसता भी है और नहीं भी जसता आदि बातें प्रहेलिकाओं के ही समान हैं। साधारण बनों के लिये मल्लो का रात्रि में निकलना और दिन में अदृश्य हो जाना पहेली ही है जिसे ऋग्वेद १२४ १० में इसी रूप में प्रकट किया गया है। कूट काव्य भी वेद में विद्यमान है। प्रहेलिका रंगीर रूप बारण करके कूटकाव्य में परिणत हो जाती है। किं स्विद्वनं कठसं वृत्तं भासं किंस्विदासीदधिष्ठानम् 'को बड़ा वेद कहूँ प्रबोधन' आदि पर कूट काव्य के चोतक हैं। त्रयः कविनः ऋतुषा विचक्षते तत्रस्तरे वपत एक एषाम् । विश्वमेको अभिचक्षते सखीनि । आत्रि एकस्य द्युतो न वपम् । ऋ० ११५ ४४ मन्त्र विद्युद्ध रूप से कूट काव्य है।

जहाँ तक विद्या का सम्बन्ध है वेद में कवि और उसके काव्य की महिमा मुक्त कण्ठ से स्वीकार की गई है निम्न लिखित मन्त्रों पर विचार कीजिये —

मूर्धनि दिवोऽजरतिम् पृथिव्या बज्रानरमुत आ जातयमिन् ।

कवि सन्नाद्धमतिभिः जगता भा सन्ना पार्थ जनयस्त देवा । यजु० ७-२४

देवताओं ने अपने मुख से मनुष्यों में योग्य एक पूज्य पात्र योग्य व्यक्तिको उत्पन्न किया। यह सचमुच पात्र है परमपूज्य है। कौन है यह व्यक्ति? मन्त्र कहता है, यह कवि है। इस कवि के गुण क्या-क्या हैं? यह सञ्ज्ञा है। सम्यक् प्रकार से दीप्त होता है। जमकता है। यह अविधि है। कभी कभी उत्पन्न होता है। देवदूत के रूप में इसका अग्र विधाय अश्वरों पर ही होता है। यह ऋतुषा वैराग्यर अभि

है। अग्नि सब का भक्षणी या नेता है। भैरवानर सब नरों का हितकारी है। ऋतु जात ऋतु में सगन्धार में प्रतिष्ठित है नियमों और व्यवस्थाओं का जनक है। जो स्वयं ऋतुवान है मर्यादा-भासक है आदमों के सिये प्रत्यात है वही आदर्श मर्यादा का उपदेष्टा बन सकता है। भारतीय इतिहास में कवि के वर्णनों का प्रत्यास्थान किसी ने नहीं किया। अकबर ने नरहरि की बात मानी और राज्यभर में गोपब बन्द कर दिया। जयपुराधीश ने बिहारी की आज्ञा शिरोधार्य करके राज-काज संभाला। पृथ्वीराज ने बंदवरायी की प्रेरणा पर सयोगिता के सहवास का सुख छोड़ा और गोरी के साथ युद्ध किया। कवि की यह प्रतिष्ठा क्यों थी? क्योंकि उसे 'पुमिब्या मरति' किसी भी पाश्चि ऐश्वर्य में आसक्ति नहीं थी। वह दिवो भूर्पान् धी की भूर्पा प्रकाश का तिरस्त्वानीय विषयता का घनी था। यथार्थवाद की पीठ पर पैर रखकर वह अपना तिर आदर्शवाद में स्थापित करता था। जो है वह ठो है ही क्या होना चाहिये क्या करनीय है किधर बढ़ना है इसकी ओर वह इंगित किया करता था। प्रत्येक कवि को जो वस्तुतः कवि है इसी विज्ञा का निर्देश करना चाहिये। कवि आसीर्वाह के रूप में मजितव्य गुणों का जो वर्णन किया करते हैं उससे भी यही प्रयोजन सिद्ध होता है।

उद्यमसि कविः अंघारिरसि बग्मारिः अवस्थूरसि कुवस्थान् दुम्पूरसि मार्जनीय ।  
सन्नाहसि कुरान् परिप्लोमसि पबमान् ऋतुचामासि स्वर्ग्योतिः । यजु० ५.३२ ।

कवि उद्यमक है, कमनीय है सब उसे चाहते हैं आवागच्छ सबको उसकी बातों में रस आता है। बाणी ही तो कवि का वस है। बाणी आग्नेय है। अतः कवि की बाणी में अग्नि निवास करती है। वह तेजस्विनी प्रेरणावती तथा अग्नि के समान पापों को भस्म करने वाली होती है। वह भरण-पोषण करने वाली भी है। कवि अपनी इसी बाणी से सब को संरक्षण देता है और इसी रूप में वह जनतात्मा की सेवा करता है। वह विकारों का मार्जन करके जनता की व्यक्ति या वर्ग की पवित्रता की ओर ले जाता है। वह सम्राट है जिसे ने विशेष रूप से विराजमान होता है। वह कुरान् है दुर्बल का मान है। दुर्बान् की भाँति वह ऊर्ध्वगामी है और इसी हेतु अग्न्यों को भी बढ़ाने वाला ऊपर ले जाने वाला है। वह परिप्ल के योग्य है। बाग्मी कवि के बिना परिवर्ध की शोभा नहीं होती। वह पबमान है पवित्र है प्रगतिशील है तथा अग्न्यों का पत्र प्रवर्धक है। उसे ऋतु का धाम सत्य का तेज प्राप्त है। वह निर्मय है। जब सम्राट से ही वह नहीं करता तो सामान्य जन से क्यों भयभीत होगा? उसके मस्तिष्क में स्वर्ग्योतिः = आनन्द और प्रकाश है।

कवि वाग्देवी सारस्वती का वरद पुत्र है। मनो वा सारस्वत वाक् सारस्वती ऐता शतपथ ७-३-१-२१ का वचन है। सारस्वती का पुत्र सारस्वत कवि मानों अनेक भाव प्रवाहों का स्रोत है। ऐसा स्रोत जिस बेस के पास है वह सदैव सुरभिष्ठ रहेगा। सारस्वती तथा उसी प्रावताम -यजु १३.३५ राष्ट्र वही पत्र भ्रष्ट होता है जिसके पास सिद्ध सारस्वत कवि न हो।

अबोधान कवये भेष्याप यच्चो बन्धाव वृषमाय कृत्वे ।

गविष्ठिरो ममसा स्तोममणी दिवीव कश्ममहम्बम्बमभेत ॥ यजु० १५-१५

पवित्र मुणों एवं आचरणों से परिपूर्ण अस्तवर्ती मेधावी स्पेष्ठ कवि क लिये हमें बन्दना-योम्य सम्मान-मूर्ध्न बचनों का प्रयोग करना चाहिये । कवि गविष्ठिर=बाभी में स्थिर होता है । वह नम्रभाव से अग्नि में आग्नेय शात्रभाव में अपने स्तोमों स्तुतियों का जैसे ही विस्तार करता है उसे दिवि=दीप्तोक्त में गविष्ठिर=किरणों में स्थित सूर्य स्वमय उरव्यम्बम अयेत् अपने प्रकाश का विस्तार करता है ।

सूर्य शोक लोहान्तरों को प्रकाश देता है कवि जन-जन के मानस को आसक्ति करता है । कवि राज्यायय में पसता है सूर्य प्रभु के आश्रय में पस रहा है । साथ ही दोनों स्वाधीन भी हैं । सूर्य अपने प्रकाश के साथ किसी का श्चभी नहीं बनाता । वह दूसरों को श्चणी बनाता है । कवि भी फनकड़ होते हैं किसी के अक्षुप्त को स्वीकार नहीं करते-निरंकुष्टा हि कवय पर साथ ही अपनी शान्तवसिता से सब को उपकृत भी करते रहते हैं ।

काव्ययो राजानेषु क्वहा वसत्य दुरोगे ।

रिषावसा सप्तम्यमा । यजु० ३३-७२

हे रिषावसी । मित्र और बरुण । तुम वरुण रूप में पापों के निवारक और मित्र रूप में सद्यमें के सहायक हो । तुम दोनों साथ-साथ रहकर वस के दुरांग में वस के भवन में दोनों प्रकार के काव्यों ( ब्रह्म तथा यज्य ) में निष्णात विद्वानों के ज्ञान तथा संकल्प के अनुकूल व्यवहार करो ।

यहां दो प्रकार के काव्य का उल्लेख है । भरतापि परवर्ती आचार्यों ने काव्य के दो प्रमुख भेद किये हैं — यज्य तथा ब्रह्म । फिर इन दो के भी अनेक भेद हैं । दोनों ही प्रकारों के काव्य बनता तथा राजर्षी दोनों क लिये अनेक हितकारी उपदेश देते हैं । काव्यमय उपदेश आचार्य मम्मट के अनुसार शान्तासम्मित होना चाहिये उपदेश मित्र भी जाय और प्रतीत न हो कि उपदेश दिया जा रहा है । काव्य की यही विशेष पद्धति है ।

काव्य की दो बिसायाँ और हो सकती हैं शौकिक एवं आध्यात्मिक । शौकिक काव्य व्यवहारापयोगी उपदेश दे सकता है । आध्यात्मिक काव्य पाठक को निःश्वेयस की ओर प्रवृत्त करेगा । एक से अम्युष्य और दूसरे से मोक्ष की सिद्धि होगी । स्वार्थ और परमार्थ दोनों बिसायाँ में मानव के पुरुषार्थ का उपयोग होना चाहिये । पूर्णता के लिये यही अभिवाञ्छनीय है । अम्बर मयका यज्ञ का यही उद्देश्य है । 'सोऽम्बराय परिणीमते कवि' यजु० ३३-७३ । कवि इसी अम्बर के लिये परिणीत होता है अर्थात् नियुक्त होता है । जैसे परिणय में बधू वर के साथ अनिवार्य होती है जैसे ही कवि इस अम्बर के साथ समुक्त होता है । जीवन यज्ञ है । वह शुकुत्तु सोमनकर्मा है ।

कवि का वर्तमान दली यज्ञ को गहन बनाना है ।

अग्नि के लिये उदात्त हुआ कवि अग्नि की रक्षा करे बचनों उद्गमों, प्रेरक एवं उद्योगशील मन्त्रों द्वारा ही नहीं बल्कि स्वयं स्वयंभूत बचनर बचनमानी हुई समचार हाथ में लेकर द्विगुण राधाओं की रक्षा भी करता है । वह वायुमूर ही नहीं मृदुमूर भी होता है । वह रोग-नी वा ही नहीं गहन वा भी आश्रय लेता है । बार-बार इतिहास ऐसे कवियों के उदाहरणों में भरा पड़ा है । बार के शायरी में—

रक्षमाने प्रथमो अग्निरा अग्निं देवा देवानाममम शिवं सता ।

सब उसे कवयो बिभ्रमनापसो अत्रायस्त मरुतो भ्रातृदुष्ट्यः । ऋगु० १४ १२

हे अग्निरक्ष ! तुम्हीं प्रथम हो तुम्हीं प्रमुग हो । अग्निरा = अग-अग मं राग मरने वाला भी तुम्हीं हो । तुम्हीं अग्नि हो इन्द्र हो । तुम्हीं देव हो । अग्निना तुम्हारे ही हाथ रहती है । देवों के वस्त्रागच्छरी रक्षा भी तुम्हीं हो । कवि तुम्हारे ही व्रत में रहते हैं । वे अग्निजन्ती होते हैं । आग्नेय उष्णता भाव में रहती है बिचार में नहीं । भाषा में रमण करने वाला कवि इसी हेतु अग्नि के समान जलता-जलती को लिये लिये फिरता है— प्रसोमाद्यो विप्रविषतो अगानयधूमिनि । जनानि महिषा इव जैवे मेघ जलो को दमर उधर संबंध लिये घूमता है अपना ऊँचियाँ राहों जलो को घपड़े बेठी हुई दूर दूर से जाती हैं । बने ही कवि प्रजाओं का जानी भाव-महुरियों द्वारा वहीं से कही पहुँचा देता है । कवि काय भादुद ही नहीं हाता । वह विरचित = विज्ञानी भी होता है । सभी को वह परिस्थिति को दृष्टि लाड़ लाता है । वह बिभ्रमनापस = करणीय कर्म को जानता है । सब क्या करना चाहिये—इसे उसकी प्रत्युपपन्न बुद्धि उत्कृष्ट जान जाती है । सब का संरक्षण यज्ञ द्वारा ही होगा । जब इस तथ्य का उसे निश्चय हो जाता है—तब वह उपदेश छोड़कर बचनमात्रे हुये अस्त्रों को हाथ में लेता है और मरुत = मारक और योद्धा बन जाता है । ब्रह्म के साव शत्रु का यह आचरण संयुक्त होकर जन-संगम का कारण बनता है ।

वेद में कवि यह के विश्लेषक अनेक संज्ञ हैं । वेद और कवि विषय को लेकर पूरा एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है । विस्तार से बचने के लिए हमने ऊपर जो संज्ञों की व्याख्या मिली है, वह काव्यविद्या का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त है ।

## ख विज्ञान

आज विज्ञान अपनी अनेक शाखाओं में फँस-फूटकर विविध आविष्कारों द्वारा जन-मानस को चमकृत कर रहा है । उसने पृथ्वी के बाह्य एवं आन्तरिक भागों में निहित तत्त्वों की खानबीन की है । अन्तरिक्ष की प्रकाश-सहरोँ जल्य तरंगों एवं विविध स्तरीय अभिक गतियों तथा प्रत्यागतियों का उद्घाटन किया है, गभीर तारों तथा तारापुञ्जों की खोज की है और जब पृथ्वी से उड़ कर चन्द्र-संगम आदि ग्रहों में उतर कर वहाँ के रहस्योद्घोषण का प्रयत्न भी बड़ी गम्भीर लग्ननस्कृता तथा संसम्पदा

के साथ चल रहा है। वेद में विज्ञान की इन शाखाओं के बीज विद्यमान हैं। ऐसा महर्षि ब्रह्मन्त्र ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सप्रमाण सिद्ध किया है। अनेक विद्वान् वेद को सृष्टि विद्या की संज्ञा भी देते हैं। वैदिक संपत्ति के अमर लेखक स्व० पं० रघुनन्दन शर्मा ने इन विद्वानों का मूल यज्ञ संस्था है— इस मत का दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन किया है। यज्ञों से वायुमण्डल बृद्ध होता है जिससे रोग निवृत्त होते हैं और परिणामतः मानव स्वस्थ बनता है। इस ज्ञान ने यज्ञों से आमुर्वेद का प्रादुर्भाव किया। जो यज्ञ हम बाहर करते हैं वही शरीर में भी हो रहा है। इस प्रतिबोध ने शरीर-विज्ञान को जन्म दिया। यह यज्ञ आकाशीय सौरमण्डलों में भी स्वभावतः चल रहा है। यह ज्ञान मानव को नीतिकी तथा ज्योतिष की ओर ले गया। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में यज्ञ पुरुष की महिमा ही तो वर्णित हुई है। पुरुष स्वयं इस यज्ञ में आहुत हो रहा है। इस यज्ञ में सप्त परिवर्णा इक्कीस समिधायें बसन्त ऋतु की धीप्प-रश्मि और शरद ऋतु हवि है। यही नहीं—तत्स्य अग्निर्होताऽऽसीत्। वायुरम्भुः। सूर्य उद्भाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्य सवस्य (योष १११)—अग्नि इस यज्ञ में ऋग्वेदी होता है। वायु अम्भु का कार्य कर रहा है, यजुर्वेदी है। सूर्य सामवेदी उद्भाता है। चन्द्रमा ब्रह्मा है और पर्जन्य सवस्य है। इस कथन पर यदि ध्यानपूर्वक मनन किया जाय तो भौतिक विज्ञान की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। 'पुत्रपो वाय यज्ञ' इस वाक्य की व्याख्या शरीर विज्ञान की दृष्टियों को सुलझा सकती है। पीछे दिन कलाओं पर लिखा गया है वे भी यज्ञ संस्था की ही उपज हैं। यज्ञ की परिपाटी मूर्तिपूजा में परिणत हुई। ऐसा हम अपने घन्य भक्ति का विनाश में दिख कर चुके हैं। 'मूर्तिपूजा ने मूर्तिकला को जन्म दिया। यज्ञवेदी की सजावट से चित्रकला उभरी। याज्ञिक बीजा-भादन से संगीत तथा मंत्र-गायन से काम्यकला का आविर्भाव हुआ। यज्ञवेदी की माप न ज्यामिति दृष्टका-यजमान ने मण्डित, काल ज्ञान ने ज्योतिष और वैद ज्ञान ने भूगोल विद्या का विस्तार किया। दिग्दर्शन मान के सिद्धे कतिपय विद्वानों का वर्णन वेद के आधार पर नीचे लिखा जाता है।

### ग आमुर्वेद

प्रकृति का एक-एक पक्षार्थ सम्यक् रूप से प्रयुक्त होकर भीरोगता से मुक्तता है जिससे स्वास्थ्य का संशोधन तथा आयु का संवर्धन होता है। 'स्वस्ति छाया पवित्री सुवेतुना 'तन्नो छायापवित्री पूर्वहृती नमस्तस्मिन् वृशये गोभ्यस्तु'—छाया से लेकर पवित्री पर्यन्त सभी पदार्थ स्वस्तिककारी तथा लाभप्रदा हैं। उन्मूलक वायुमण्डल में बिखरना करना स्वास्थ्य तथा आयु को बढ़ाने वाला है। वायु भेषज है सामान्य नहीं विश्वभेषज है—

हौ इमी वाती वात आ तिथोरापरानत-

धरा से अल्प आवातु पराधरो वातु धरा-

आवाप्त बाहि मेयबन्धिवात बाहि घटप ।

एवं हि विद्वन् मेयबो देवानां ब्रूत ईयसे ॥ ऋ० १० १३७-२

यह बात प्राण-अपान के रूप में हमारे शरीर पर द्विविध प्रमाण प्राप्त रही है। प्राण वायु से बल का संचार होता है तो अपान वायु से शरीर के आभ्यन्तर मलों का अपनयन होता है। यह बात देवब्रूत है विद्वयता का सबेरा देती है। बलवती प्राणवृत्ति विद्वय गुणों के आधान में पुरुष की अनुपम सहायिका है। प्राणवृत्ति के कई रूप हैं जिनमें से प्राण अपान ध्यान और उदान के नाम यजुर्वेद ११-१६ १४-८ तथा १२ आदि कई स्थानों पर आये हैं। पञ्चतत्त्व और उनसे बने हुए अन्व अनेक पदार्थ मानव के लिए सुप्रयुक्त होने पर ओपधि का कार्य करते हैं यथा—‘अग्निश्चित्तस्य मेयजम् अग्नि ओपधि है। हिम या शीत उसी से दूर होता है। अथर्व २-१११ में आयुर्वा अग्ने वरसं कृष्णानो अग्नि को आयु प्रदायी कहा गया है। वही मानव को बृद्धावस्था में भी बल देती है। यही क्यों मृत्यो पर ओपयन्तो वरैत ब्राह्मीय आयु प्रतरं दधाना मम में मृत्यु को हटा देने का भी वर्णन है। जल में भी ओपधि उत्पन्न है। अणु अन्तः, अमृतं अणु मेयजम् जलों में मृत्यु-निवारक अमृत उत्पन्न है और रोमाङ्गहारक ओपज है। जलों के भी भेद हैं। समुद्र का जल अपेय है, पर उसमें जीवन के लिये उपयोगी सब्ज विद्यमान है। पाठासी जल कूप-बाजरी आदि खोदकर निकाला जाता है। जलो रसम् अहमसं सूर्यं सन्त समाहितम्। अपां रसस्य यो रसः तं वो गृह जनि सूर्य में सब्ज वर्तमान और सघनकी किरणों के द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट आयु प्रदाता जलों के रस को तथा उस रस के भी रस को अर्थात् सार रूप रस को मैं ग्रहण करता हूँ। जलमा को तो सुभाकर कहते ही हैं। उसकी किरणों में समुत्तरस है। पामिन् ओपधियों की उसी से रस प्राप्त होता है। पृथ्वी अनेक ओपधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करती है।

यन्नीवधी समम्पत राजानः समिता विन । विप्र स वञ्च्यते मियक रसोद्दामीव

आतमः ऋ० १०-१७-१

या ओपधयः सोमरात्रो बहुवो शतविचक्षया । बृहस्पतिप्रसूतास्ता भी मुञ्चतु अर्हता ।

अथर्व १-११-७

जिस ब्राह्मण के पास ओपधियाँ एकत्र हैं वही मियक है वही रोगों का शमन कर सकता है। ये ओपधियाँ समिति में उपस्थित राजाओं के समान हैं जो मिसकर जनता के कष्टों के निवारणार्थ योजनाएँ बनाते हैं। ये ओपधियाँ सोम की राशियाँ हैं और सब प्रकार के राशियों को दूर करने में विचक्षण अर्थात् समर्थ हैं। ‘ओपधे रिति मातरः’ ओपधियाँ माँ के समान पालन-पोषण तथा देख-भाल करती

॥ श्रुत्येव १०-१७ ओपधि सूक्त के नाम से प्रख्यात है । यजुर्वेद के १२ वें अध्याय में मंत्र ७५ से लेकर १०१ तक ओपधि प्रकरण है । इसके मंत्र श्रुत्येव १०-१७ के जनेक मंत्रों से मेल खाते हैं ।

ओपधि त्वचा के बिहृत कन को पुन सुकृत करने में समर्थ है इसका संकेत नीचे मिली श्रुति में है —

सक्यद्वत्त्वमोपधे सा सकपमिर्ह कृधि । अथर्व० १-२४-३

इयामा सकप करधी पुधिध्या अवि उदता । इदमपु प्रसाधय

पुन कपाधि कस्यय । अथ० १-२४-४

हे ओपधि । तू त्वचा को कपवान करने वाली है । तू उसे सुकृत प्रदान कर । इयामा नाम की पड़ी रूप लगी है । पुष्पी से उखाड़ी जाती है । यह पुन रूप दे । पितृ-परम्परा से यदि कोई रोग बसा आ रहा हो तो ओपधि द्वारा वह भी नष्ट किया जा सकता है । यथा— वीक्ष् क्षेत्रिय नाशनी मय क्षेत्रियमुज्जनु । अथर्व २-८२ हे वीरय । तुम क्षेत्रिय ब्रह्म परम्परा से बने आये रोग का नाश करने वाली हो । तुम इस रोग को दूर करो ।

वेद में अश्विनी कुमार देव-बैलों के नाम से प्रसिद्ध हैं । वे बूढ़ को युवा तथा बर्षा को बराने के योग्य बना सकते थे । श्रुत्येव १० सूक्त ३६ के नीचे लिखे मंत्रों पर विचार कीजिए—

अमादुरश्चिब्रूमवधो मुधं भगी अनातोश्चिब्रवितारापमस्य चित् ।

अन्वस्य क्षिप्तासत्मा कृतास्य चिध वा मिवाहुमियया एतस्य चित् ॥ ३

मुधं व्यवानं सनयं यथा रथं पुनपु बानं वरपाय तप्तान् ॥४

मुधं क्षिप्रस्य वरनामुपेयुयाः पुन कसेरह्वपुत पुवद्वय ।

मुधं अन्वममुधवाहुवपु मुधं सद्यो विवसतामेतये कृण ॥ ८

हे अश्विनीकुमार । तुम दोनों ने उस बीवा को ऐश्वर्य दिया जो पितृ गृह में बूढ़ा हो चुकी थी । तुम बनावट और अरापम गतिहीन तथा शून्य के अविता—रक्त हो और अन्धे दुर्बल तथा विनवते हुए प्राणी को तुम्हीं मेयव देने वाले हो ।

जैसे कोई बीर्य रथ को गया बनाकर गतिशील कर देता है, वैसे ही तुमने बूढ़ व्यवन को युवा बनाकर बराने में समर्थ कर दिया । तुमने वरन को प्राप्त ब्राह्मण कक्षि को पुन युवावस्था प्रदान की । तुम्हीं ने वप में विनष्ट होठे हुये बन्दन को ऊपर निकाला वा । तुम्हीं ने विवसता का (क्षिप्रती टांग टूट गई थी सोहे की टांग देकर) बराने के योग्य कर दिया था । विवसता का इसी प्रकार का उत्प्रेषण ऋ० १-११२-१० तथा १-११६-१५ में भी है जिसमें आयसी जंघा के सगाने का वर्णन है । ऋ० १-११६-१५ में अश्विद्वय वैधों द्वारा क्षिप्रती को ( जो बध्मा थी ) पुनवती बनाने की वार्ता है । १-११६-१६ में अन्वा



आवात बाहि मेघजम्बिवात बाहि यद्वप ।

एवं हि विश्व मेघजो देवानां ब्रूत ईयसे ॥ ऋ० १० १३७-२

यह बात प्राण-अपान के रूप में हमारे शरीर पर द्विविध प्रमाण इस रही है। प्राण वायु से बल का संचार होता है तो अपान वायु से शरीर के आम्यन्तर मसों का अपनयन होता है। यह बात वेदवृत्त है। निष्पत्ता का सबेस देती है। जलबती प्राणशक्ति निष्पत्तियों के आवात में पुष्प की अनुपम सहायिका है। प्राण शक्ति के कई रूप हैं जिनमें से प्राण अपान व्यान और उदान के नाम यजुर्वेद १३-१६ १४-८ तथा १२ आदि कई स्थानों पर आये हैं। पञ्चतत्त्व और उनसे बने हुए अन्य अनेक पदार्थ मानव के लिए सुप्रयुक्त होने पर ओपधि का कार्य करते हैं यथा— 'अग्निर्हिमस्य मेघजम्बु अग्नि ओपधि है। हिम या शीत उरी से दूर होता है। अथर्व १-१३१ में आपूर्वा अग्ने अरत्तं कुचानी अग्नि को आयु प्रदाती कहा गया है। वही मानव को बुढ़ावस्था में भी बल देती है। यही क्यों मृत्यो पर ओपयन्तो सर्वतः प्राणोय आयु प्रतरं ब्रह्मणा' मंत्र में मृत्यु को हटा देने का भी वर्णन है। जल में भी ओपधि उत्पन्न है। अम्बु अस्त, अमृतं अम्बु मेघजम्बु जलों में मृत्यु-निवारक अमृत उत्पन्न है और रोगार्थहारक ओपधि है। जलों के भी भेद है। समुद्र का जल अपेय है पर उसमें जीवन के लिये उपयोगी लवण विद्यमान है। पाताली जल कप-बाजरी आदि खोदकर निकाला जाता है। अपो रसम् उद्वपत्तं सूर्ये सप्त समाहितम् । अपो रसस्य यो रसः तं वो गृह जमि सूर्य में सबेस वर्तमान ओह संसकी किरणों के द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट आयु प्रदाता जलों के रस को तथा नल रस के भी रस को अर्थात् सार रूप रस को ही ग्रहण करता है। ब्रह्मा को वो सुभाकर कहते ही हैं। उसकी किरणों में अमृतरस है। पार्थिव ओपधियों की उरी से रस प्राप्त होता है। पृथ्वी अनेक ओपधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करती है।

यजोपधी क्षमग्रतः राजानं समिता विज । विप्रः स उच्यते मिपक रत्नोद्गामीव

आतनः ऋ० १०-१७-१

या ओपधयः सोमरातो बहवो शतविचसन्वा । गृहस्पतिप्रसूतास्ता लो मुंचतु बर्हसः ।

अथर्व १-१६-७

विश्व ब्राह्मण के पास ओपधियाँ एकत्र हैं वही मिपक है वही रोगों का दमन कर सकता है। ये ओपधियाँ समिति में उपस्थित राजाओं के समान हैं जो मिमहर जनता के कष्टों के निवारणार्थ योजनायें बनाते हैं। ये ओपधियाँ सोम की रानियाँ हैं और सब प्रजा के रोगों को दूर करने में विचक्षण अर्थात् समर्थ हैं। ओपधो रिति मन्त्रर ओपधियों माँ के समान पालन-पोषण तथा देख-भाल करती

है। ऋग्वेद १०-६७ ओषधिसूक्त के मान में प्रस्ताव है। यजुर्वेद के १२ वें अध्याय में मंत्र ७१ मंत्र केकर १०१ तक ओषधि प्रस्ताव है। इसका मंत्र ऋग्वेद १०-६७ के शतक मंत्रों के नाम बताते हैं।

ओषधि स्वभा के विज्ञान का जो पुनः मुद्रित करने में समय है इसका संकेत नीचे लिखी शब्दा में है —

सक्यहृत्स्वोपधे सा सक्यमिह कृधि । अथर्व० १-२४-३

श्यामा सक्यं करणी पुषिष्मा अपि यद्वता । इत्यमुषु प्रसाधय

पुनः कपाणि कल्पय । अथ० १-२४-४

हे ओषधि । तू स्वभा को बरवान करने वाली है। तू उसे सुरूप प्रदान कर। श्यामा नाम की जड़ी रूप लेती है। पृष्ठी से उत्पत्ती जाती है। यह पुनः रूप ले। पितृ-परम्परा से यदि कोई रोग फैला जा रहा हो तो, ओषधि द्वारा वह भी नष्ट किया जा सकता है। यथा— वीरत् ओषिष माशनी अप ओषिषमुच्छतु । अथर्व २-८२ है वीरम् । तुम ओषिष यंत्र परम्परा से जैसे आये रोष का नाश करने वाली हो। तुम इस रोग को दूर करो।

वेद में अग्निनी कुमार देव-देवियों के नाम हैं प्रसिद्ध हैं। वे पूछ का पूरा तथा संयुक्त को बसने के योग्य बना सकते हैं। ऋग्वेद १० सूक्त ६६ के नीचे लिखे मंत्रों

आवात बाहि मेघज्जिवात बाहि यद्वप ।

त्वं हि विश्व मेघज्जो देवानां ब्रूत ईयसे ॥ ऋ० १० १६७-२

यह बात प्राण-अपान के रूप में हमारे शरीर पर द्विविध प्रभाव डाल रही है । प्राण वायु से बल का संचार होता है तो अपान वायु से शरीर के आम्यन्तर मसों का अपनयन होता है । यह बात देखभूत है दिव्यता का सबेस देती है । बलवती प्राणशक्ति दिव्य गुणों के आधान में पुरुष की अनुपम सहायिका है । प्राण शक्ति के कई रूप हैं जिनमें से प्राण अपान ध्यान और उदान के नाम मनुबोध ११-१३ १४-८ तथा १२ आदि कई स्थानों पर आये हैं । पञ्चतत्त्व और उनसे बने हुए अल्प अनेक पदार्थ मानव के लिए सुप्रयुक्त होने पर ओपधि का कार्य करते हैं यथा— 'अग्निहिमस्य मेघज्जम् अग्नि ओपधि है । हिम या सीढ़ उसी से बुर होता है । अथर्व २-१३१ में आपूर्वा अनेक वरस कृष्णो अग्नि को वायु प्रवाही कहा गया है । वही मानव को बुढ़ावस्था में भी बल देती है । वही क्यों मृत्यो पर ओपयन्तो यवत ब्राधिय आयु प्रतरं बधानाः मम में मृत्यु को हटा देने का भी वर्णन है । जल में भी ओपधि उत्पन्न है । अप्सु जन्तु; अमृतं अप्सु मेघज्जम् जलों में मृत्यु-निवारक अमृत उत्पन्न है और रोगाह्नारक ओपधि है । जलों के भी भेद है । समुद्र का जल अपेक्ष है, पर उसमें जीवन के लिये उपयोगी लवण विद्यमान है । पाठाभी जल कप-बाजकी आदि जोड़कर निकाला जाता है । अपो रसम् उह्यसे सूर्ये सन्त ज्जमाहितम् । अपो रसस्य यो रसः तं वो पृथ्वि अग्नि सूर्य में सद्य वर्तमान और उसकी किरणों के द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट आयु प्रदाता जलों के रस को तथा नर रस के भी रस को अर्थात् सार रूप रस को मैं ग्रहण करता हूँ । चंद्रमा को तो सुपाकर कहते ही है । उसकी किरणों में अमृत रस है । पानिध ओपधियों की उसी से रस प्राप्त होता है । पृथ्वी अनेक ओपधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करती है ।

यत्रीवधो धमम्मत्त राजान समिता विप । विप्र स उच्यते मियक् रसोहामीव

धातवः ऋ० १०-१७-९

या ओपयय सोमराती बहुधो शतविधसया । धृत्स्पतिप्रसुतास्ता नो मुञ्चतु बर्हत् ।

अथर्व ९-१९-७

विष बाह्य के पास ओपधियाँ एकत्र हैं वही मियक है वही रोगों का शमन कर सकता है । ये ओपधियाँ समिति में उपस्थित राजाजों के समान हैं जो मिमहर जनता के कष्टों के निवारणार्थ मोक्षमार्ग बनाते हैं । ये ओपधियाँ सोम की रानियाँ हैं और सब प्रकार के रोगों को दूर करने में विजयश्रव दर्शाते समर्थ हैं । ओपधि रिति मातरः ओपधियाँ माँ के समान पालन-पोषण तथा देख-भाल करती

इससे होता है। ज्योतिष वेदाङ्ग है और ज्ञानों में यह वेद का भेद है। भेद का कार्य है दर्शन करके भाग से जाना। ज्योतिष भी ज्ञान का ज्ञान कराकर मानव को यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करता है। यज्ञों का समय संश्लेषण है। यह संश्लेषण और राशि में होती है। शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष के बीच में होती है। दो-दो मासों अर्थात् ऋतुओं के बीच में होती है। जातुर्मास्यों के मध्य में होती है और वक्षिणामन तथा उत्तरायण के मध्य में भी होती है। इन्हीं समयों के आधार पर यज्ञों के विविध नाम ऐसे पड़े हैं जैसे ईनिष्ठ अग्निहोत्र, दार्श पीर्णमास यज्ञ, जातुर्मास्य नवस-स्पेष्टि आदि।

‘महो राजाभि बिबधत् बिबधस्य निपतो बली — बिबध को स्वभावतः बल में रखने वाले प्रभु ने दिन और रात्रि बनाये-ऐसा अचमर्यपण सूक्त में कहा गया है। यस्यां कृष्णमवर्णं च संहितेऽमहोरात्रे अथर्व १२ १ २९ में दिन और रात्रि को जो मह्य तथा कृष्ण कहा गया है, वह सूर्य के आलोक के कारण। चन्द्र के आलोक के आधार पर यही शब्द कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष के धातक हो जाते हैं। चार दिशाओं का उल्लेख कई स्थानों पर है यथा—अस्मा अतस प्रविश। अथर्व १२ १४ शत अतस प्रविशो नवन्तु ऋ० ७-३३-५। विज्ञानों के प्राची प्रतीची आवि नाम भी आये हैं। इस सम्बन्ध में यजु० २२ २४ १६ १४ तथा १४ ११ दर्शनीय हैं। महीनों और ऋतुओं के नाम निम्नांकित मंत्रों में आये हैं — मनुज माधव्य वासन्तिकी ऋतु। यजु० १३-२३ शुक्ल्य धुविश्व रैप्पी ऋतु। १४ ६ नमश्च नमस्त्यश्च वापिकी ऋतु। १४-१५। इत्यश्च ऊर्जदधसारणी ऋतु। १४ १६ सहश्च सहस्त्यश्च हैमन्तिकी ऋतु। १४ २० तपश्च तपस्त्यश्च शैतिली ऋतु। १३ २७ ऋतुओं के नाम तो यही ज्ञान रहे हैं, पर महीनों के नाम बलम पड़े हैं। यजु० २२ ११ के मनु-माधव यज्ञ वैशाख हैं। सुक्-शुधि ज्येष्ठ-आषाढ हैं। नम-नमस्त्य आष्विन भाद्रपद हैं। इप ऊर्ज आश्विन-कातिक हैं। सह-सहस्त्य अमहन्-पौष हैं। अगहन को आश्वयण या आश्वहान्त तथा मार्गशीर्ष भी कहा जाता है। तप-तपस्त्य माघ-फाल्गुन हैं। वैदिक नाम काल की विशेषता के सूचक हैं। परमर्षी नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं। जिस नक्षत्र में पूर्णिमा हो उसी के नाम पर माघ का नाम पड़ा है। महीनों के चिन्तों की गणना भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होती है। अमावस्या तीसरा दिन और पूर्णिमा पंद्रहवाँ दिन माना जाता है। यजुर्वेद २२ २८ तथा २७-४३ में नक्षत्र अहोरात्र अर्द्धमास मास ऋतु, संवत्सर, इवावत्सर, चत्सर आदि पृथिवी अथ सूर्य आदि शब्द आये हैं जो ज्योतिष ही से संबद्ध हैं।

वर्ष के दो विभाग हैं। एक में सूर्य उत्तरायण और दूसरे में वक्षिणामन रहता है। एक में उष्णता ता दूसरे में शैत्य की प्रचलता रहती है। यह भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेश की बात है। उत्तर और वक्षिण की ओर चलने पर समय में म्यूना भिन्न हो जायगा। यथा—

पराह्ण शीतान् यजुमास उज्जान् ऋतु नो द्रुत यतनोऽतिरिक्तः। अथर्व०

भूत्राण्य अभियन्त्री कमारा से नेत्र प्राप्त करना है । १०वें मंत्र में प्यवन को युवा बनाने का तथा १०-२२-११ में अंगे दीपतमा को सामान्य हाग नेत्र और पराव्रज को जी शोण अर्थात् पंगु पा, चनन के गिये सामान्य प्राप्त करने का वर्णन है । मंत्र में नाम गड़ी है । शायण में भाष्य में दीपतमा और पराव्रज के नाम जोड़ दिये हैं ।

मैट्रिक्स साइन्स के आज विभाग तो बनक हैं पर वे मुख्यतः मैगीमिन और सर्जरी को विभागों के अन्तर्गत आ जाते हैं । आयुर्वेद के आपाओं में चिकित्सा को मानवी दैवी तथा राक्षसी तीन भागों में विभक्त किया है । एक अनुस विभाग तांत्रिकी भी है जो शाङ्ग-शूक से सम्बन्ध रखता है । अथर्ववेद में यह विभाग पाया जाता है । मणि आदि का वचन, हस्तादि का स्पर्श और दृष्टा शक्ति का प्रयोग इसके अन्तर्गत आते हैं । यथा— मणि बिन्दुगुण्यज्जगिर्द बिभ्रुमो वसम् अथ २ ४ १ यदा ब्रह्मन् बासायणा हिरण्यं शतानीकाय मुमनस्यमानाः । तत्ते ब्रह्मन्मणि आयुर्वेद बर्षसे ब्रह्मन् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व १ ३१ १ यदि लितायु यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिरुमोक्ष एव । तमाहरामि निष्कृते उपस्थात् अस्पाप्येनं शतशारदाय । अ० १ ११ २ सतायुया हविषा हावमेनम् । अ० १ ११ ३ वस्त्वामुत्पुष्टभूयपत्त आयुर्मानं सुपासया । तं ते सत्पराय हस्ताभ्यां उदमुञ्च्य यहस्पति । अ० १ ११ ८ । जिस मृत्यु ने तुझे उत्पन्न होते ही पाश में बांध लिया है उस वृहस्पति (मानी बंध) सत्य के हाथों द्वारा बुर करके तुझे मुक्त करता है । पोषक रोग को बुर करने वाली बलिष्ठ मणि को हम भारण करते हैं । जब बासायण स्पर्श को धीरे पर बांधा जाता है तो संकड़ों बल और प्रसन्न मन प्राप्त हो जाते हैं । दीर्घायु ऐव तथा सामर्थ्य साधी बन जाते हैं । यदि तुम्हारी आयु क्षीण हो रही है और तुम मृत्यु के पास भी पहुँच गये हो तब भी तुम्हें अपने स्वर्ण द्वारा धीरे धीरे मृत्यु से बचाता हूँ और उसी वर्ष की आयु देता हूँ । हवम द्वारा मैं तुम्हें उसी वर्ष तक जीवित रखता हूँ । अथर्व १ ३१ के ११ मंत्रों के अन्त में ब्रह्ममेव सतायुया पर आता है जिसका अर्थ है— मैं मृत्यु से दूर तथा आयु से संयुक्त रहूँ । परित्या रोहितर्षेण दीर्घायुत्वाय ब्रह्मसि । अ० १ २२ २ सूर्य की भास करणों में रोग दूर करने की शक्ति है, ऐसा इस मंत्र से सिद्ध होता है । रस का विधान भी वैदिक है—उदायुया सतायुया उदोवनीनां रसेन । अ० १ ३१ १ ओषधियों का रस आयुर्वर्धक है । यात वा सुसोद् भिषज्जस्ते अक्षम् । अ० २२-७ प्रभु ने जब बल भारक शक्ति तथा अक्षीयता को जीवों के लिये बनाया है । ये सब प्रजा के लिये हैं । इनसे युक्त होकर तू तेजस्वी रूप में उसी वर्ष तक जीवित रह । तुझे अभाव कभी न आटके । भिषकों ने तेरे लिये रसयोग का निर्माण किया है ।

घ ज्योतिष

ज्योतिष एक प्रकार का यह विज्ञान है । यहाँ की एक कूदरे से पूरी कलानुत्त, गति उत्तमयन बलिष्ठावन मास ऋतु सबस्तर नक्षत्र राशि आदि का ज्ञान

इससे होता है । ज्योतिष वेदाङ्ग है और अंगों में यह वेद का नेत्र है । नेत्र का कार्य है वर्तन करके आगे ले जाना । ज्योतिष भी कस का ज्ञान करके मानव को यज्ञ जैसे ध्येष्टतम कर्म में प्रवृत्त करता है । यज्ञों का समय संधिकाल है । यह संधि दिन और रात्रि में होती है शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष के बीच में होती है दो-दो मासों अर्थात् ऋतुओं के बीच में होती है चातुर्मास्यों के मध्य में होती है और दक्षिणायन तथा उत्तरायण के मध्य में भी होती है । इसी संधियों के आधार पर यज्ञों के विभिन्न नाम रखे गये हैं जैसे दैनिक अग्निहोत्र वार्षिक गौर्धमाद्य यज्ञ चातुर्मास्य नवस-स्वेष्टि आदि ।

‘अहो रात्राणि द्विविद्यन्तु विश्वस्य मिततो ब्रवी — विश्व को स्वभावतः बत में रखने का प्रभु ने दिन और रात्रि बनाये-ऐसा अवमर्पण सूक्त में कहा गया है । यस्यां कृत्स्नमवर्चं च संहितेऽग्रहोरात्रे अवर्चं १२ १ ३२ में दिन और रात्रि को जो अलग तथा कृष्ण कहा गया है, वह सूर्य के आशोक के कारण । चंद्र के आशोक के आधार पर यही शब्द कृष्ण पक्ष तथा ज्येष्ठ पक्ष के बोलक हो जाते हैं । चार दिनों का जस्तेख कई स्थानों पर है यथा—यस्याः अतस्य प्रविष्टः । अर्च्यं १२ १ ४ सप्त अतस्य प्रविष्टो मघन्तु ऋ० ७-३३ = । दिनों के प्राची प्रवीची आदि नाम भी आये हैं । इस सम्बन्ध में यजु० २२ १४ १९ १४ तथा १४ १३ वर्तनीय हैं । महीनों और ऋतुओं के नाम निम्नांकित मंत्रों में आये हैं —मनुष्य मायवश्च वासन्तिकी ऋतु । यजु० ११-२३ शुक्लश्च शुक्लश्च प्राची ऋतु । १४ ९ नमस्व नमस्वश्च वासन्तिकी ऋतु । १४-१५ । इषश्च ऊर्ध्वश्च गारुडी ऋतु । १४ १९ सहश्च सहस्यश्च ईमन्तिकी ऋतु । १४ २७ तपश्च तपस्यश्च गारुडी ऋतु । १५ ५७ ऋतुओं के नाम तो यही चल रहे हैं पर महीनों के नाम बदल गये हैं । यजु० २२ ३१ के मनु-मायश्च चैत्र वशाश्च हैं । शुक्ल-शुक्ल ज्येष्ठ-आषाढ़ हैं । नम-नमस्य आश्विन माघपद हैं । इष-ऊर्ध्व आश्विन-कार्तिक हैं । सह-सहस्य ज्येष्ठ-पौष हैं । जमहन् को आश्वयुज या आषहायन तथा मार्गशीर्ष भी कहा जाता है । तप-तपस्य माघ-फाल्गुन हैं । वैदिक नाम कस की विशेषता के सूचक हैं । परवर्ती नाम नक्षत्रों के आधार पर हैं । जिस नक्षत्र में पूजिमा हो उसी के नाम पर माघ का नाम पड़ा है । महीनों के दिनों की गणना भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होती है । अमावस्या तीसरा दिन और पूजिमा पञ्चदश दिन माना जाता है । यजुर्वेद २२ २८ तथा २७-४३ में नवम अहोरात्र अर्द्धमास माघ ऋतु, संवत्सर इषावत्सर, वत्सर, द्वावा पूजिनी चन्द्र सूर्य आदि शब्द आये हैं जो ज्योतिष ही से संबद्ध हैं ।

वर्ष के दो विभाग हैं । एक में सूर्य उत्तरायण और दूसरे में दक्षिणायन रहता है । एक में उष्णता तो दूसरे में शीत की प्रधानता रहती है । यह भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेश की बात है । उत्तर और दक्षिण की ओर चलने पर समय में ग्यूना विषय हो जाना । यथा—

पञ्चानु शीतान् पञ्चमास उष्णान् ऋतु नो द्यूत यतनोऽतिरिक्तः । अर्च्यं०

भृङ्गाक्ष अश्विनी कुमारों से भेज प्राप्त करता है। १०वें मंत्र में अश्विन को युवा बनाने का तथा १०-२५-११ में अंधे दीर्घतमा को सोमपान द्वारा भेज और पराश्रम की जो ध्येय अर्वात्त पंगु वा चलने के लिये सामर्थ्य प्राप्त करने का वर्णन है। मंत्र में नाम नहीं है। सामन्त ने भाष्य में दीर्घतमा और पराश्रम के नाम जोड़ दिये हैं।

[illegible]

घ ज्यातिष

प्रकार का यह विज्ञान है। यहाँ की एक छूट से दूरी कसबूत, जति, उत्तरायण, दक्षिणायन यास भक्ति संवत्सर, मकर राशि यादि का ज्ञान

इससे होता है । ज्योतिष वेदान्त है और अंगों में यह वेद का मेघ है । मेघ का कार्य है दर्शन कराने का अर्थ न जाना । ज्योतिष भी काल का ज्ञान कराके मानव को यज्ञ जैसे धेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करता है । यज्ञों का समय संविकाल है । यह संपि दिन और रात्रि में होती है । सुप्त पक्ष तथा कृष्ण पक्ष के बीच में होती है, दो-दो मासों अर्थात् ऋतुओं के बीच में होती है । चातुर्मास्यों के मध्य में होती है और दक्षिणायन तथा उत्तरायण के मध्य में भी होती है । इन्हीं संधियों के आधार पर मन्त्रों के विविध नाम ऐसे पड़े हैं जैसे वैदिक अग्निहोत्र चार्त्त गोर्धमास यज्ञ चातुर्मास्य, त्रयस-स्पेष्टि आदि ।

‘अहो रात्राणि विहयन्तु विहयन्तु मियतो वसो — विहय को स्वभावतः वस में रहने जाने प्रभु ने दिन और रात्रि बनाये-ऐसा अथर्ववेद सूक्त में कहा गया है । यस्यां कृष्णमवर्त्त च संहितेऽहोरात्रे-अवर्त्त १२ १ १२ में दिन और रात्रि को जो अरुण तथा कृष्ण कहा गया है, वह सूर्य के आसोक के कारण । अरुण के आसोक के आधार पर यही अरुण कृष्ण पक्ष तथा सुक्ल पक्ष के सोपक हो जाते हैं । चार विचारों का उत्सव कई स्थानों पर है यथा—यस्याः अतस्त्व प्रविता । अथर्व १२-१४ तस्य अतस्त्व प्रविता अहन्तु ऋ० ७-३५-८ । दिवाओं के प्राची प्रतीची आदि नाम भी आये हैं । इस सम्बन्ध में यजु २२-२४ १६ १४ तथा १४ १६ दर्शनीय हैं । महीनों और ऋतुओं के नाम निम्नांकित अंगों में आये हैं —समुद्रायणायण चार्त्तमिहो ऋतु । यजु० १३-२५ शुक्लपक्ष शुक्लपक्ष प्रेम्नी ऋतु । १४ १ नमस्क नमस्तयस्य आदिहो ऋतु । १४-१५ । इयस्य अर्द्धययारो ऋतु । १४ १६ सहरस्य सहरस्य हैमन्तिको ऋतु । १४ २७ तपस्य तपस्यस्य यतिरी ऋतु । १५ २७ ऋतुओं के नाम दो यही बन रहे हैं पर महीनों के नाम बदल गये हैं । यजु० २२ ११ के यजु-नामक चैत्र वैशाख हैं । शुक्ल-शुक्ल ज्येष्ठ-आषाढ हैं । नम-नमस्य आषाढ माघपक्ष हैं । इय-अर्द्ध आश्विन-आश्विन हैं । सहर-सहरस्य अश्विन-जीव है । अश्विन को आश्विन मा आश्विन तथा मार्गशीर्ष भी कहा जाता है । तप-तपस्य माघ-अश्विन हैं । वैदिक नाम काय की विशेषता के सूचक हैं । परवर्त्त नाम मन्त्रों के आधार पर है । विश्व मन्त्र में पृथिवी हो उसी के नाम पर माघ का नाम पड़ा है । महीनों के दिनों की गणना भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होती है । अमावस्या तीसरा दिन और पूर्णिमा पंद्रहवाँ दिन माना जाता है । यजुर्वेद २२ २८ तथा २७-४५ में नमन, अहोरात्र अर्द्धमाघ, माघ, ऋतु, संवत्सर इवावत्सर, वत्सर चावा पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि अरुण आये हैं जो ज्योतिष ही से संबन्ध हैं ।

अर्थ के दो विभाग हैं । एक में सूर्य उत्तरायण और दूसरे में दक्षिणायन आया है । एक में उज्जता या दूसरे में क्षीय की प्रधानता रहती है । यह भूमध्य रेखा के निकटवर्ती प्रदेश की बात है । उत्तर और दक्षिण की ओर चलने पर समय में न्यूना-बिस्व हो जायगा । यथा—

पञ्चमः शीतान् यजुमास उष्मान् ऋतुः शीतं यतपीडितिरिह । मर्षा०



८९-१७ पय के बारह महीना में ६ महीन मात्र तथा ६ महीने उष्ण रहते हैं। इनके अतिरिक्त जो ऋतु हैं वह हम बताया। अतिरिक्त गरम के मनमाम की ओर भी संकेत जा सकता है। मनमाम अथवा तेरहवें महीन का उत्पन्न इस मंत्र में भी है। अहोरात्रनिमित्त त्रिरात्रम षयोदश मास यो निर्मिमीते। अथर्व १३-१८ उतरायन का देवयान और दक्षिणायन का विनुमान से संयथ है। इनके नाम भी यत्र मं आये हैं। यथा ये देवयाना विनुमानादयः लोकाः। तथा हे सृती अशुभम् विनुमानम् देवानामुत।

वर्ष के बारह मासों तथा ३६० दिनों का संवत् नीचे लिखे मंत्र में है —

द्राक्षत प्रपञ्चचमेकं त्रीणि मय्यानि क च तद्विदेत।

तस्मिन् सार्कं प्रियता न शंको अपिता पठिन यसाधसास।

ऋ० १-१६४-४८

संसार एक रूप है। इसमें बारह प्रणियाँ या अरे बारह महीने हैं। तीन मय्या नामों को जोड़ने वाली तीन ब्रह्मा तीन धातुर्मास्य हैं जो गर्मी सर्प और सर्पों से संबंध रखते हैं। तीन सी साठ संतु वर्ष भर के दिन हैं या निरन्तर चलते रहते हैं। अहोरात्रेपरिसूर्य वसाने। अथर्व १३ २ ३२ में दिन रात्रि को सूर्य पर आविर्भूत माना है। तिम्रो विष्णोऽन्तः तन्व सितानो। अथर्व १३ २ ३३ में सूर्य की किरणें छिरी पड़ती हैं ऐसा उल्लेख है। सप्त सूर्यो हरितो यातवे १ये हिरण्यत्वचो बृहतीरयुक्तः। अथर्व १३-२-८ मं सूर्य की सतरंगी किरणों का संकेत है जो कमल के पुष्पों की भाँति हैं। यस्य यज्ञं कश्यप रोचनाब्दं यत् संहित पुष्कलं चित्रमानु। यस्मिन् सूर्या अपिता सप्त साकम्। अथर्व १३ ३ १० में रोचनाब्द वर्ष को अपना प्रकाश उसमें अपित सूर्य की सात किरणों द्वारा ही प्राप्त होता है ऐसा कहा गया है। विवि लोमी अविधितः। अथर्व १४ १ १ इस पद में भी सोम—वर्षमा अपने प्रकाश के लिए विवि=सूर्य पर आविर्भूत है ऐसा संकेत है सूर्योत्पत्तिता यो समस्त यो अर्वात् प्रकाश का आधार सूर्य है।

यो अक्षरिखे रजसो विमानः। ऋ० १० १२१ ५ अथर्व ४ २४ यजु २२ ६

इस मंत्र पद के अनुसार विश्व होता है कि परमेश्वर ने अन्तरिक्ष में समस्त लोकों को नाप कर रक्त दिया है। समस्त लोकों धर्तु और पिण्डों की एक वृत्त से घूरी गयीरुमी है। उसका भार तथा कक्षा-भूतका घमण भी नपातुसा है। लोका रजसि ध्रुवत्वे-ऐसा निबद्ध ४ १९ का कथन है। आहुत्वेन रजसा वर्तमानो। यजु ३३ ४३ का माप्य करते हुए महर्षि ध्यानव ने लिखा है— सविता परमात्मा सूर्य लोको का रजसा सर्वलोकः सह आहुत्वेन आकर्षणमुनेन सह वर्तमानोऽस्ति। परमात्मा तो समग्र ब्रह्माण्ड का भाता है ही उसकी व्यवस्था में सूर्य भी अपनी आकर्षण—शक्ति द्वारा सौर जगत् के सभी पिण्डों को धारण कर रहा है। ऋ० ८-१२-१० के अनुसार पञ्चभूतममु विवि शुक्रं ज्योतिरपारयः। आदिश्री विष्णो भुवनानि येमिरे। सूर्य के

आकार से ही समस्त भुवन या ग्रह नियम-बद्ध और व्यवस्थित भवि में बसे जा रहे हैं । यह सूर्य या आदित्य भी यह लोक के सोम से वन प्राप्त करता रहता है, ऐसा सीमेनाक्षियावलिना अर्थात् १४ १ २ मंत्र पद से प्रकट होता है ।

नक्षत्रानामुपरमे सोम आहित । यह सोम नक्षत्रों की मोद में-अप्यनाग में उप स्थित है । प्रज्ञानाय नक्षत्रवर्णम् । यजु० ३ १० नक्षत्रवर्णन या जाकासीपज्ञान प्रज्ञा बढ़ाने वाला है ।

यत्र पृथ्वी के बह्विध भ्रमण करता हुआ वायु का चलकर भी काटता है यह निम्नांकित मंत्र से स्पष्ट हो रहा है—

एव सोमपितृभिः संविधानोऽनुद्याया पृथिवी आततन्व । ऋ० ८ ४८ १३

हे ऋतु ! तुम अपनी पालन किरणों तथा क्षतियों के साथ ही और भूमि के चारों ओर घूमते हो । सूर्य और पृथ्वी भी अन्तरिक्ष में घूमते हैं ऐसा कई मंत्रों में आया है । यथा— या गो वर्तनिपर्वेति ऋ० १० ११ ६ जो पृथ्वी अपनी कला में घूमती हुई विस्त्वत् अर्थात् सूर्य के चारों ओर घूमती है । निम्नांकित मंत्र भी इसी विचार को प्रकट कर रहा है —

आयं गो पृथ्वि रक्ष्मीदस इमात्तरं पुर । पितर च प्रयस्तन्व । यजु० ९ ६

यह पृथ्वी पृथ्वि है चित्र-विचित्र-वर्ण वाली है । यह मातरपुर = जमीन अन्तरिक्ष में घूमती हुई पितर = सूर्य के चारों ओर घूमती है ।

सूर्य ग्रहन का ज्ञान नीचे लिखे मंत्र से प्राप्त होता है —

यस्या सूर्य स्वर्गानुत्तमसा विप्यवासुर ।

अनेक विद्यया युक्तो भुवनाय बीजयुः ।

ऋ० १-४ —३

हे सूर्य ! इस आसुर स्वर्गानु ने तुमको तमसे बिड़ कर दिया है । पृथ्वी को तुम्हारी ज्योति के प्राप्त न होने से व्याकुलता हो रही है । अनेकविध मुख होकर भुवनों का ध्यान कर रहे हैं । स्वर्गानु ब्रह्म है । जब पृथ्वी और सूर्य न बीच में ब्रह्म आ जाता है तो सूर्य का प्रकाश पृथ्वी तक आने में रुक जाता है । इसी को सूर्य-ग्रहण कहते हैं । इसी प्रकार जब सूर्य और चंद्र के बीच में पृथ्वी आ जाती है तो चंद्र-ग्रहण होता है । निम्नांकित मंत्र में दोनों का क्रम वर्णित है — पृथिव्या अह मुहन्तरिमाह-हमस्त रिआदिव मायहम् । द्वयो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्यो तिरयामहम् । यजु० १७-१७ अर्थात् ४ १४ ६ पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष उधरे ऊपर ही और ही न नाक से ऊपर स्वर्ग है ।

ज्योतिष का अधिकृत रूप धर्मिष्ठ सम्बन्ध है । सूर्य किस राशि में कब पहुँचेगा चंद्र इस समय किस राशि पर है नक्षत्रों की ग्रहों के साथ युति अथवा उनका प्रवेश कब होता है सप्त जारकों की भूचार्किका तथा मृगशिरा आदि का प्रति भ्रमन आदि सब धर्मिष्ठ की भोजन रखी हैं । आधुनिक की भक्ति, ज्योतिष विज्ञान

का भी विकास भारतवर्ष में हुआ। यद में उसके बीज बिद्यमान है। यजुर्वेद के बठारहवें अध्याय में अनेक संख्यायें भी हुई हैं। अयुग्म संख्यायें दो जोड़ कर निकाती हुई संख्यायें चार का गुणा करके निराली हुई संख्यायें इन्हीं से जोड़ना, घुना करना, भाग देना आदि सिद्ध हो जाता है। यजु० १८२८ से ३१ तक भी संख्यायें भी हैं जो कमबख्त हैं।

निम्नांकित मंत्र के अनुसार व्रतगुणा करते जाइये तो आप अतःसाथ संस्था पर पहुँचेंगे । शुद्ध संस्थायें इस प्रकार हैं —

[illegible]

अधिक प्राणियों ने महापरक अनेक वैदिक विधियों का आश्रय लेकर लिया है।  
मनु की वेदी विशेषण अतुल्योत्तम ब्रह्माकार या ब्रह्म, पत्नी देवी, ब्रह्माकार की होती है।  
ऐसा मनु की विद्या का विस्तार इन्हीं विधियों-

प्रयोग्य आकाशीय विद्या है। १०१. १. से शुरू है।  
भी पड़ी है। नियत ध्वनियां तो होती हैं। कात शब्द/कुल बाधा है। उसमें ध्वनियां  
भी। आत्मनस की छार है। समस्त सोही, वर्तमान ध्वनियां भी हैं और भावी ध्वनियां  
मुख मिल कर देत हैं। इस कार्य सिद्धान्त को सिद्ध कर दिया है। हम को  
जाता है। हम जो करार कर रहे हैं इस कार्य सिद्धान्त को सिद्ध कर दिया है। हम को  
फैस जाता है। रॉयो उमे एक स्थान से दूसरे स्थान पर छार द्वारा पहुँचा दिया  
या भावनों को सुनते हैं। मरुति जोसते हैं यह भी इसी विद्या द्वारा मित्र-निष्ठ स्थानों तक  
जा जाता है। एम यम भी उमन द्वारा हम पर बैठ अमेरिका या रूस में बिने पये बातालापों  
भी बाहर फैला दें। मरुति को जब छोटी सी बिजली द्वारा बांसने वाले का बिजली भी सामने  
या मून निम्नादि मंत्र में सातिरसे बन गये हैं जो भावकी एकान्त में होने वाली मंत्रवा को  
र ह्यानग ने श्रुत्येवादि बाध्य भूमिका में इस छार विद्या  
देन विद्याया या पुन पैरवी पुष्कार मरुतिवा स्तुपा हो

तत्सारं बुधस्य च । शर्ये रिमर्षं पुतनासु बुध्दरं बह्वैत्यभिग्रमिव चर्वणीसहम् ।  
 ऋ० १-११९-१० हे शरिवद्रथ ! तुम लोगों ने पुनर्भारम्—अनेकों ने द्वारा स्वीकरणीय,  
 श्वेत—सुख प्राप्तु द्वारा निमित्त अभिर्षं—विद्युत से युक्त पुतनासु बुध्दरं—विरोधियों  
 की शक्ति से परे, बह्वैत्य—बार बार क्रियाओं में योग्यता तत्सारं—सार नाम के यत्र  
 को बुधस्य च—सेवार्थ बनाया है । शर्ये—हनन प्रेरण गुणों से युक्त पैदले—परमोत्तम  
 व्यवहार की स्थिति के लिये स्पर्धा—अपुर्वा की पराजय और स्वकीय बीरों की विजय  
 के लिये परमोत्तम और चर्वणीसहम्—मनुष्यों का बस देने के लिये इन्द्रमिव—सूर्य के  
 समान दूरस्थ व्यवहार को भी प्रकाशित करने में जो समर्थ है ।

निम्नांकित मंत्र सूर्य विज्ञान से सम्बन्ध रखता है —

सुदुग्धोत्तिरमृत विश्वजन्म विश्वामर सविता देवो मधेत । ऋ० ७-७६-१  
 इस मंत्र पर यास्क लिखते हैं — सवशिधिपत्य । ज्योतिरमृत सर्वजन्म विश्वामरः  
 सविता देवः । विश्वामर दिव्यगुण युक्त सविता देव ने सबके लिये हितकर अमृत  
 ज्योति को अमर उठाया । पं० मयबहूत जी ने अपने निरुक्त भाष्य में इस पर महा  
 भारत शान्ति पर्व अष्टमाय ३३६ के ६६ ७० ७१ तीन श्लोक उद्धृत करके लिखा है कि  
 पृथ्वी से उठे आप परमाणु मध्यम स्थान में पहुँचते हैं । वहाँ आप के पृष्ठ परिब्रह्म में  
 वे आप दिव्य होकर सूर्य में पहुँचते हैं ।

दूरत् प्रतिहृती यस्मिन् एकरविम विचारः ।

दीप्तिं मंशुसहस्रस्य येन भाति वसुधरा । ७

ये दिव्य आप जब वायु-विद्युत के कारण चंचल हो उठते हैं तब सूर्य की एक  
 किरण इनमें प्रतिबिम्ब (reflected) या प्रतिस्फिरित होकर सहस्रकिरणों का रूप  
 धारण कर लेती है और उसी से पृथ्वी प्रकाशित होती है । सूर्य का प्रतिबिम्ब इसी  
 प्रकार क्षत्र पर पड़कर और फिर ग्री पर प्रतिस्फिरित होकर रई को जसा देता  
 है । यास्क अपने निरुक्त ७-१६ में लिखते हैं — अथ आदित्यात् । ज्योति प्रबल  
 समा वृत्ते आदित्ये कंठं वामाग्निं वा परिवृत्त्य प्रतिहरे यत्र शुष्क गोमयम संस्पर्शमन  
 वारपति तत् प्रदीप्यते ।

उत्तर दिशा में आदित्य के लौंगे पर कसि जपवा मणि को मोज़ कर यदि सूर्य  
 के सामने किया जाय और सूखे गोबर को बिना स्पर्श कराते हुये कुछ दूर पर रखा  
 जाय तो उस बाँसे या मणि के गोबर पर प्रतिस्फिरित प्रकाश के पड़ते ही गोबर जल  
 उठता है । ऋ० १-३५ में सूर्य की विशेषताओं का वर्णन है ।

सूर्य विज्ञान का एक मठ या प्रयोग शाला मग्यान् सिन्धत में हिमासय के ऊपर था ।  
 विद्वानों को मार कर सूर्य किरणों के घन से जीवित कर देने वाले वायुमयी के स्थायी  
 विशुद्धान्ध ने इसी मठ में सूर्य विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी ।

निरुक्तकार ने ११ १४ में ऋग्वेद १ ८८ १ के आ बिद्यमश्मि मस्त स्वर्गे मादि मंत्र का भाष्य करते हुये लिखा है मस्त विद्युत वास है। अग्निकारमपी राशि में भी जो मन्द-मन्द ज्योति प्रतीत होती रहती है उसका सात यही है। यास्क ने स्वर्ग के कई अर्थ लिखे हैं। उनमें से एक अर्थ है—सु अग्निभि। इसी प्रकार अग्न विज्ञान पर भी वेद की सहायता से यास्क ने प्रकाश डाला है। ऋग्वेद १०-८५ ३ के अनुसार अग्नि जो क्षीन होता है वह भागों पैलों द्वारा पिया जाता है। उसके उपरान्त वह आप्यायसै=वृद्धि को प्राप्त होता है। यहाँ आयु सोमस्य रक्षिता आयु सोम का रक्षक बनता है। इसी से सभानाम अर्थात् सम्बत्सरा के महीने बमते हैं। ऋग्वेद १०-८५ ११ में नबो नबो मवति आयमान पद द्वारा इसी तथ्य को प्रकट किया गया है।

छ० तत्त्व चिन्तन

आधुनिक यूरोपीय वर्तन के उच्चायक फ्रांस निवासी डेकार्टे महादय ने यहाँ जो तर्कों का अनुभव किया—विचार और विस्तार। भारतीय परिभाषा में इन्हें चेतन और अज्ञ तत्त्व कहा जा सकता है। वेद इन्हें अज्ञ और सत्य अथवा अगण और तत्सुप नाम देता है। विस्तार का अन्त नहीं है। विचार का भी अन्त नहीं है। दोनों का कुछ भाग ही विदित है अविज्ञात अविबिध है। वेद विदित और अविदित दोनों के ऊपर एक तीसरे तत्त्व की भी प्रतिष्ठा करता है और उसी से विचार एवं विस्तार दोनों के प्रादुर्भाव की बात कहता है।

वेद ने विस्तार के मोटे-मोटे चार भाग किये हैं—पृथ्वी माक स्व और द्यौः। विचार तो नहीं पर प्राणवत्ता के उसने चार विभाग किये हैं निमिषमान प्राणवान् अतुष्यद और द्विपद। निमेष प्राण का निम्नतम रूप है। द्विपद प्राण का सर्वोत्तम विकसित रूप है। जैसे निमिषमान अज्ञ तत्त्व के निकट पहुँच जाता है वैसे ही द्विपद पूर्ण रूप में तृतीय तत्त्व के निकट पहुँच जाता है। इस तीसरे तत्त्व के नाम वेद में अनेक<sup>१</sup> हैं। उनमें एक नाम प्रजापति है। शतपथ ४ ३ ४ १ के अनुसार पृथ्वी भी प्रजापतेर्तेरिष्टम्। पुण्य प्रजापति के सर्वाधिक निकट है।

जिसका विस्तार होता है वह क्या है? ऋग्वेद का नासदीय सूक्त इसे आमु<sup>२</sup> तथा स्वधा<sup>३</sup> नाम देता है। आयु का अर्थ है जो जागे और अपना अस्तित्व पैसावे। स्वधा का अर्थ है जो स्व को धारण करे। स्व का अर्थ है बन संपदा रत्न आदि। यजुर्वेद ने इसे पिसिप्यसा पिगङ्गिमा और ब्रवा कहा है। पिसिप्यसा अनुकरण मूलक

१- नामानिते शतव्रतो बिद्यमानिर्गीमिरीमहे। इष्टं मित्रं ब्रह्ममग्निमा तुरयो विध्यः ॥ सुपर्णो भरुमाल्। एक सब विप्राबहुवाववन्ति। तदेव शुक्रं तव ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।

२-तुष्ट्येनामु अपिहित यवासीत ॥ ३

३-आनीदवातं स्वधयातरेकम् ॥२

ध्वन्यात्मक सञ्च है। जहाँ भी हो समृद्धि हो, वहाँ ऐस-ऐस सगी ही रहती है। भी और सोमा भी इसका अर्थ है। प्रकृति जब विकृति वर्णित रचना में आती है, तब उससे नाना प्रकार के पदार्थ प्रकट होते हैं। धी जो प्रकाश-सम्पन्न है और पृथ्वी जो तमसाच्छन्न है उसी के विकृत रूप हैं। रचना की इस स्थिति को पिप्पिलिना कहते हैं। घासों में इसी के अनुकरण पर पिलपिलाना क्रिया बनी है। ठोस आम को बचा कर पिलपिलाते हैं। तब उसका रस बाबिभूत होता है। ठोस प्रकृति भी रचना में आकर यही रूप धारण करती है। पिप्पिलिना का अर्थ है— नाना मनोरम रूपों को जो निगस जाय। रात्रि में जैसे सब सो जाते हैं तो रात्रि मानों सबको निगस गई, वैसे ही प्रलय सबको निगस जाती है। प्रलय में प्रकृति अपने मूलरूप में समाविष्ट हो जाती है। यही उसकी पिप्पिलिना अवस्था है। जबा मूल प्रकृति है।

जबा के साथ ही अब भी है। अब का विस्तार होता है। अब विचार-अधान है। अबों में भी अन्तर है। अब भीज है जिसका सङ्काश रूपी वृक्ष में विस्तार होता है। दोनों अब इसी वृक्ष पर बैठे हैं —

हासुवर्णा सयुजा सञ्जाया जमत्सं वृक्षं परिपस्वजाते ।

सयोरस्य पिप्पलं स्वाद्विशि अमलन अग्नौ अभिजातपीति । आ० ११५४ २०

दोनों अब हो पड़ी हैं जो सयुजा और सञ्जा हैं। अन्तर इतना है कि एक पत्ती स्वाद से-लेकर वृक्ष के फलों को खा रहा है दूसरा खाता नहीं। इष्टा मान है। यह भेद दोनों के स्वस्व को पृथक्-पृथक् कर देता है। एक पत्ती या अब को जीवात्मा और दूसरे को परमात्मा कहते हैं।

जीव फलों को खाने के कारण अनीस असमर्थ तथा विविध प्रकार के शरीर धारण करने वाला बनता है। परमात्मा इष्टा रूप से ईश समर्थ तथा जीवों को कर्म फल देने वाला है।

अपाङ् प्राङ् एति स्वजया धुभीतो अमत्यो मर्त्येना सयोनि ।

ता शश्वन्ता विपुभीना विमन्ता म्याम्य विम्यु र्निनिचिविगुरम्यम ॥

आ० ११५४ ३८

अमर्त्य जीव स्वजा— प्रकृति सं पकड़ा हुआ मर्त्य शरीर के साथ रहता हुआ कभी नीचे जाता है और कभी ऊँचे। शरीर और जीव सयोनि बनकर विविध शोकों तथा योनियों में गति करते हैं। इनमें से शरीर को हम सोम देखते हैं जीव को नहीं।

अमप्यये गुरगस्तु जीवमेज्ज् भ्रुवं मय्य या परयामाम् ।

जीवो नृत्तस्य वरति स्वयामि रमत्यो मर्त्येना सयोनि ॥ आ० ११५४ ३०

विविध शरीर-मूर्तियों के मध्य भ्रुव रूप से उपस्थित जीव प्राण धारण किये हुये सोता रहता है परन्तु जीव यहाँ से चल भी देता है। जीव अमर है। मर्त्य शरीर के साथ वह समयानिहोकर वर्धमान है। शरीर मरता हो जाता है पर जीव स्वभावों कर्म-फल-वासनाओं के साथ, यहाँ से निवृत्तकर अमरिता में भूमता है और फिर

किसी न किसी शरीर को अपने कर्म-फलों के अनुसार ग्रहण कर लेता है ।

य ई प्रकार स एो अस्य वेद्य य ई वर्या हिरुगिग्र तस्मात् ।

स मातुर्योना परिबीतो अस्त बहु प्रजा निश्चति या विवेता ॥ ऋ० १-१६४-११

जीव जो कुछ करता है उसे जामता नहीं और जो कुछ देखता है वह भी इससे क्षिप्त हुआ ही रहता है । इसलिए यह माता के गर्भ में जाता है और बहुत संतति वासा बना हुआ मोर से घोर कष्ट को प्राप्त करता है ।

अपश्य गोपामनिपद्यमानमा च पराच पश्चिन्निचरन्तम् ।

स सप्तीची स विपूचीर्बसाम आ वरीचति मुपनेत्यस्त । ऋ० १-१६४-११

जीव मोपा है गो अर्थात् इन्द्रियों का पासक है । यह अनिपद्यमान-न गिरने के योग्य है फिर भी नीचे के और ऊपर के पक्षों से बसता हुआ यह अनेक मूवनों के अन्दर चक्कर काटा करता है । इसका कारण यह है कि कभी तो यह अपनी समान सीधी पथ में बसता है और कभी विविध विषम गतियों में निवास करता है ।

न दिवाजानामि यक्षि वा इवमस्मि निष्य सन्मद्यो मगसा जरासि ।

पदा मागम्रचमजा ऋतम्य आत् इत् बाओ मधनुवे मागमस्याः । १-१६४-३७

भोग योनियों तथा कर्म—भोग योनियों में पड़ा हुआ जीव शरीरों के साथ ऐसा एक हो जाता है कि अपने को उनसे पृथक् नहीं कर पाता । शरीरों से जकड़ा हुआ तथा असत-सत विचारों से बंधा हुआ इधर-उधर बिचरण किया करता है । जब ऋत की प्रथमजा इसे प्राप्त होती है तब बापी का भाग इसकी समझ में आता है । तनी शास्त्रों के रहस्य खुलते हैं और तभी जीव को शरीरों से अपने पार्वक्य की प्रतीति होती है ।

आत्म ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान कराता है । आत्मज्ञ ही प्रभु को प्राप्त करते हैं ऐसा नीचे लिखी ऋचा से ज्ञात होता है —

उपस्थाय प्रथमजानुतस्य आत्मना आत्मानमसि संविभेता ।

ऋत की प्रथमजा आत्मज्ञान कराती है और आत्मज्ञान परमात्मा के ज्ञान में प्रवेश कराता है । जब तक उस परमेश्वर का ज्ञान नहीं होगा तब तक अपना भवन भी प्राप्त नहीं होगा । घर से बाहर कष्ट है । मृत्यु से मुक्ति या अतिक्रान्ति प्रभु को जान कर ही हो पाती है ।

तमेव विदित्वाऽ तिमृत्युमेति नाम्य पंचा विद्यते अयनाय ।

अथवा

यस्तन्मवेह किमुचा करिष्यति य इत्यद्विबुध इमे समासते ॥

यह परमतरु किमु है सर्व व्यापक है ।

स ओत प्रोतव्य किमु प्रजासु । यजु १२—८

प्रजायें जीव तथा प्राकृत मृष्टि इरी में लीन होती तथा विविध रूपों में प्रकट होती है ।

तस्मिन्निवम सं च विचरति सर्वम् ।

बीज का सखा बन्धु तथा विधाता यही परमेश्वर है —

स जो बन्धु अनिता स विधाता नामानि वेद भुवनानि धिक्ता ।

यस वेदा भनृतमानशानास्तुतीये नामान्यपरमस्त ॥ ३२ १०

इन्द्रस्य युज्यं सखा । यजु० ६—४ ऋ० ७—२६—६

इन्द्र इन्द्रियों से संयुक्त बीज का नाम है । इस बीज का योग्य सखा परमेश्वर परमात्मा ही है । वह सबका बन्धु है अर्थात् सर्वव्यापी है । उसी के विधान में बीज कर्मकर्मों को योग्यता हुआ सब वेद योगि में पहुँचता है तो तृतीय नाम में मोक्ष भुक्त का मापी बनता है । वह प्रभु महान् अभिभू है । भूत भविष्य वर्तमान सब कृत्तृ जिसकी दृष्टि में है । वही आयमत्—सबको नियन्त्रण में रखता है । महां अभिभू आयमत् । ऋ० ८—१२—३

इन्हीं तीन तत्त्वों की व्याख्या वेद में है । इनका उल्लेख कई रूपों में वेद के अन्तर्गत हुआ है । नीचे लिखी ऋचा पर विचार कीजिए —

अम कैतिन ऋतुना विचरते संवत्सरे वपथ एक एवाम् ।

विरचमेको जनिचटौ शचीमि भाविरैकस्य बहो न कम् । ऋ० १ १६४ ४४

तीन ऋतुकार पदान्वित हैं । वे ऋतु के अनुसार वृष्टिगोचर होते हैं । जब संवत्सर प्रारम्भ होता है, रचना का समय आता है, तब इनमें से एक बोया जाता है जिसमें ब्रह्माण्ड रूपी बुझ तैयार होता है । एक अपनी शक्तियों के साथ सबको देख रहा है । एक की पति अनुभूत होती है रूप दिखाई नहीं देता ।

जिसका वपन होता है, वह प्रकृति है । जो देख रहा है वह परमात्मा है और जिसकी पति क्रिया देखी जाती है रूप नहीं वह बीज है । बीज के कर्म शुभ अशुभ करणीय-अकरणीय ऐहिक-आमुत्तिक पुण्यमय-पापमय सब के अनुभव में आते हैं । इनके फल भी भोग रूप में गिरगिर समझ आते रहते हैं । 'विमलप्रारम्भह्वामहे बतो' विमलस्य रावस' बीजों में बन्धु का विभाजन जो प्रभु द्वारा होता रहता है, वह उनके कर्मों की विविधकृता के कारण । जिसके जैसे कर्म हैं उसे उन्हीं के अनुकूल सम्पदा प्राप्त होती है । यह सम्पदा जाति आयु तथा भोग तीन रूपों में प्रत्यक्ष होती है ।

निश्चित निधि समग्र सम्पदा निश्च-वैजय का स्वामी वही परम तत्व है । वह बन्धुओं का बन्धु है । साधा और पूष्णी जिस बन्धु का पोषण करते हैं वह विभिन्न बन्धु उसी का है । 'तवेदिवम अभित' ऐकित्वं बन्धु एवावस्था इन्द्र सत्यसमाद् 'तथा करत बन्धु पतिर्वसुनाम्, निधीनां तथा निधि पतिं ह्वामहे जावि पर इषी तस्य की पोषणा कर रहे हैं ।

उस परम तत्व के समान यहाँ कुछ भी नहीं है । न कोई उससे गुप्तों में छेड़तर है और न कोई उससे आयु में ज्येष्ठतर है । वह जैसा है, जैसा यहाँ कोई भी नहीं है—



न कि रिग् एवदुसरो न वयायी अस्ति युञ्जहन् ।

न कि रेवा यया एवम । ऋ० ४-३०-१

बहु अनन्तदानी अनन्त ऐश्वर्यवान और अनन्त रणारमक शक्तियों में युक्त है—

विष्माहि रया तुषिर्दूमि तुबिरेत्थं तुषीमयम ।

तुषिमात्रमस्मात् । ऋ० ८-८१-१

बहु पूर्यों में पूर्य है बलवानों में बलवान है दूरियों के दूर का विधत्त करने वाला और सत्तों भक्तों की अभिलाषाओं को पूरा करने वाला है—

मम्ये रवा यज्ञियं यज्ञियानी मम्ये रवा यजमनम अयुतानाम ।

मम्ये रवा सत्त्वनामिन्द्र वेनु मम्ये रवा युषमं ययनीनाम । ऋ० ८-९९-४

जितना ज्ञात एवं अज्ञात विश्व है वह सब उसी की महिमा को प्रकट कर रहा है परन्तु वह इसके भी आगे है इसके भी ऊपर है—

एतावानस्य महिमा अतो जयायाश्च पूर्य । ऋ० १०-९०-४

पादोऽस्य विश्वायुतानि त्रिपादस्यायुतं द्विवि । यजु० ३१-३

विश्वभूत सब निर्मित जगत उसके एक पाद, एक भाग में समा जाते हैं। उसका त्रिपाद अधिक भाग निर्मित से ऊपर है। निर्मित मृति है प्रलय को प्राप्त होती है परन्तु वहां प्रलय नहीं मृत्यु नहीं उस अमृत अवस्था में वह अमृतस्वरूप है। वह निकट से निकट और दूर से दूर है—

तवेजति तन्नेजति तद्बहुरे तद्गन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद्गु सर्वस्यास्य याद्व्यतः । यजु० ४०-५

बहु भी के योग द्वारा प्राप्त होता है —

यस्माद्वते न सिध्यति यज्ञो विपश्चित्तवचन

सचीनां योग मिन्वति ॥ ऋ० १-१८-७

बी बीबी मन द्वारा प्राप्त होती है —

अग्निमिन्वातो मनसा विषं सचेत् सत्यं ।

अग्निमीधे विषस्त्वग्निः ऋ० अ १०-२२

बीबी मन वाणी के संयम से प्राप्त होता है —

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसासह ।

वसोऽप्येते निरमय मय्येवास्तु ययि युतम । अथर्व १-१२

जो वाचस्पति है वाणी का स्वामी है वाणी का संयम जिसके पास है उसी के पास बीबी मन निवास करता है। वही वाचक शक्तियों की भी रक्षा करने वाला है। उसका धुना-मेला सब उसके अन्तर बस जाता है उसका अंग बन जाता है। मेला उसी को प्राप्त होती है जो मृत के साथ उसका संयम कराती है और पवित्र बनाती है।

पण्डित तत्त्व का ज्ञान मेटाफिजिक्स है त्रिपाद की ऊर्ध्व अवस्था है जो एक

पाद से आये या उपरान्त आती है। रैवी मन का विवेचन साहजिकीमी का विषय है। यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय में तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु टेक वासे छ मंत्र मन की विस्तृत व्याख्या करने वाले हैं। यथा—

यज्मापतो दूर मुदेति बवं तद्गु सुप्तस्य तपयति

दूरगम ज्योतिषो ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।

यह मेरा रैवी मन शिव संकल्प वासा बने जो जागृत अवस्था में तो दूर-दूर जाता ही है, स्वप्न में भी दूर-दूर घूमता रहता है। यह दूर की चौड़ सगामे वासा ज्योतिषों की भी ज्योति है, इन्द्रिया की भी आन्तरिक इन्द्रिय है।

देनकर्माण्यपक्षो मनीषिणो यज्ञे कुण्वन्ति विबन्धेषु बीराः ।

यदपूर्वं यज्ञ मन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जिसके द्वारा मनीषी तथा धर्मवाली कर्मकाण्डी पुरुष ज्ञान-मक्ति के सत्रों में तथा मुझों में अव्युत्त कर्म कर जाते हैं जो प्रजाओं इन्द्रियों के अन्दर अपूर्व मान्य तरव है, वह मेरा मन कल्याणकारी रैवी संकल्प वासा बने।

यत्प्रज्ञानमुत् जेतो धृतिवत् यज्ज्योतिरभ्यरमुत् प्रजासु ।

यस्मात्प्र ज्ञते विज्ञान कम क्षियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।

जिसमें प्रज्ञा जेतना तथा धृति भरी पड़ी है जो इन्द्रियों तथा अवयवों की आन्तरिक अमर ज्योति है और जिसके बिना कोई भी काम नहीं किया जा सकता वह मेरा मन शिवसंकल्पों वासा बने।

येनैव धृतं मुच्यत मन्त्रिष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।

येन यज्ञस्तापते सप्तहोता तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जिस अमृत मन के द्वारा विगत अनागत तथा आगत सब कुछ परिगृहीत बनता है जाना जाता है और सप्त होता ( दो कान दो आँख दो नासिका रस तथा एक मुँह ) जिसके द्वारा भौतिक तथा मानसिक यज्ञ का सम्पादन करते हैं, वह मेरा मन शिवसंकल्पों से युक्त हो।

यस्मिन्मूत्रं साम यजुं चि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रचनामा विचाराः ।

यस्मिन्विद्यत सर्वमोत प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जैसे रस की नाभि में अरे धुँके रहते हैं वैसे ही ऋक यजुं तथा साम की वेदरूपी जिसमें प्रतिष्ठित है और जिसमें प्रजाओं का चित्त संस्कार तथा वासना पुष्प बोधप्रोष्ठ है वह मेरा मन विषय संकल्पों का बनी बने।

सुपारयिरवगमिष यज्मनुष्यासेनीपतेऽभीष्टु निर्वाजिन इव ।

हृत्प्रतिष्ठं यद्विजिर्द्विजिर्द्वं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जैसे सुन्दर सारनी बलवान् बोटों को सगामों द्वारा जहाँ चाहता है से जाता है वैसे ही जो मन मनुष्यों को लिये लिये घूमता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित है अमर और सर्वाधिक बलवान् है, वह मेरा मन शिवसंकल्पों से युक्त होकर मुझे विषयता की

घोर से बसे ।

दर्शन में साहजिकीभीती से नीचे ऐश्वर्य की नीतिशास्त्र या सदाचार की शिक्षा है । आचार-प्रथमो धर्म-आचार धर्म की आधार शिक्षा है । आचारान् समते ह्याप्तु-सदाचारी व्यक्ति की आयु सम्बन्धी होती है । सदाचार-व्यक्ति के पीछे पाप नहीं लगते । इसी हेतु वह सर्वदा भद्र भोग्य तथा शुभ परिस्थिति में ही जीवन व्यतीत करता है ।

इन्द्रश्च भूयति नो न नः पञ्चादयं भवत् ।

भद्रं भवति नः पुर । ऋ० २-४१-११

प्रभु की कृपा से जिसके पीछे पाप नहीं पड़ता उसके भागे भद्र ही भद्र रहता है ।

परमं वामुपे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेतत् सत्यं वगिरः । ऋ० १-१-६

यह प्रभु सरय है कि जिसका हृदय आगे वाली की प्रभु की ओर से कस्याम ही प्राप्त होता है । गीता ने इसी भाव की व्याप्ति की है — न हि कस्याप्यहं करिष्यत् बुवंति तात यज्यसि । शुभ कर्म करने वाला कभी दुर्गति में नहीं पड़ता । दुरितानि परासुग और यज्ञज्ञं तप्त आलुष-दुरित का अपनयन और भद्र का आनयन साध-साध करते हैं । भद्र कर्त्तव्य शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमात्मनिर्मयभा । तथा 'आ नो भद्राः कृतवो यस्तु' हम कानों से भोग्य शब्दों का ध्यान करें और बाँझों से शुभ वृत्तियों को देखें । भद्र यही हमारे पास आये । दिव्यता इसी पथ से बचकर प्राप्त होती है । सहस्रायु मुहुस्तनवरेमम् । हजारों वर्षों की आयु मिले पर वह सुष्ठु पुण्य कर्म करने में ही व्यतीत हो ।

ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १ के अनुसार हम यहाँ सन्निहित होने के लिये नहीं आये हैं । हमें तो अविति अर्थात् अवलम्ब अवस्था का वरण करना है । हमें सन्निहित अवस्था किसका कौन करता है ? स्वार्थ आपाधापी जवान अवलम्बिता बुद्धिजन द्वेय अवस्था एक शब्द में व्युत्पत्ता । अविति का विपरीत भाव विधि है । यही हमें अनृत अवस्था अव की ओर ल आती है । दिव्यता की अवलम्बना इसी के द्वारा होती है । पुष्कृती का सम्पादन इसी वृत्ति द्वारा होता है । अथ वेद कहता है —

आनी ईशः सविता सा विषद्वय ऋजुयते यजमानाय सुम्बते ।

यथा देवान् प्रतिभूयेम पाकवत् आ सर्वताति अर्वाति पुषीमहे ॥ ३ ।

हम विधि को वस्तुता को दूर करते हैं और अविति को अपनाते हैं । वस्तुता हमें समा या समाज के योग्य नहीं रहने देती । ऋग्वेद करके हमें समा की योग्यता से पुष्क कर देती है । हम अवलम्ब का अनुभव करने लगते हैं । सर्वताति सब में विस्तार सबके साथ अपनत्व का भाव तो अविति की सेवा से ही प्राप्त होता है । सम्प्रदाय अविति का चिह्न है । उसमें ऋजुयते ऋजु सरल बनने का भाव है ।

मुम्बते=बहु मानव को यज्ञ परायण बनाना सिखाती है । सबके साथ मिलकर रहो एक दूसरे के लिये त्याग करो, सटगुणों को सम्मान दो यही यज्ञ-परायणता है । सविता देव अन्न हैं आमु हैं त्रिसप्त हम देवों विष्णुगुणों को विभूषित कर सकें । देव जमकते हैं । हमारे अन्दर भी उनकी जमक आ सकती है यदि हम यज्ञ करना सीख लें । समा का भाव सम्य में आता है । समा बहु है जहाँ सब समान मान से जमकें विष्णु बनें । सम्यता मानवता को विष्णुता का संज्ञक होती है । यज्ञ उसका आधार है । सम्य बनने के लिये यज्ञपरायण बनना आवश्यक है ।

यसो मनु प्रमत्तिर्न पिता हि कम् आ सर्वताति अर्धिति बृषीमहे ॥ १ ।

यज्ञ ही हमारी मति है मुख है पिता है पासपितृ शक्ति है । यज्ञ में ही मनु-मानुषता छिपी पड़ी है । जो यज्ञ नहीं करता वह मनुष्यता से पछित हो जाता है ।

इन्द्रस्य तु सुहृत्तं बर्ष्य सहो जग्मिषुहि अरिता मेधिरः कवि ।

यज्ञाच्च मुहिरये आचरन्तम आ सर्वतातिमर्धिति बृषी महे ॥ २ ।

जो कुछ हमारा सुकृत है पुण्य है खरी वस है वह सब यज्ञ के जग्मिष्ठाता प्रभु का है । यज्ञान्नि हमारे घर में स्तोता तथा मेधावी कवि क रूप में उपस्थित है । यह हमारा अन्तम = अत्यन्त समीपी मित्र है । वही पाद अर्चात् प्रिय है । अपने विरुद्ध मैंहम इसी यज्ञ रूप अविति का वरण करते हैं ।

न नो पुहा बह्वम भूमि सुहृत्तं आ बिप्यस वसवो देवहेडनम् ।

मादिनो देवा अनुतस्य बर्षस आ सर्वतातिमर्धिति बृषी महे ॥ ३ ।

जो मानक है वह छिपकर पापों की मठरी छिद पर नहीं रखता है और न वह आवेश में आकर देवों का अपमान ही करता है । इस प्रकार वह अनुत के शरीर से पूजक रहता है । यज्ञ करना सत्यपथानुगामी बनना है । अनुत असुरों को प्यारा है देवों को नहीं । सम्य व्यक्ति अनुत से जूना करते हैं । सत्य व्यवहार ही उनको प्रिय है । इसी से लोक बनता है । सम्यता का यह प्रमुख चिन्ह है सत्यस्य नाम सुहृत्तमपीवरम् । अथ १-७३-१

यज्ञ से परमोक तो बनता ही है इस शोक की साधना भी होती है । जो यज्ञ नहीं करता और हाङ्गह्य एवं यक्ष गीता में विश्वास ही नहीं रखता तदनुकूल आचरण भी करता है उसका यह शोक भी नहीं बनता परमोक की तो बात ही क्या है । स्वामी उद्धरमरी निष्ठा वाले अयाजक कुछ दिनों के लिए समाज से भले ही अपना कार्य-साधन कर लें पर अन्त में उनकी सूट-मार की प्रशुति सुन ही जाती है और उनकी असामाजिकता से सम्य समाज क्षुब्ध हो उठता है । आप दूसरे के लिए कुछ भी त्याग न करें जो कुछ करें अपने और अपने घर को मरने के ही निम्ने करें इसे समाज बेर तक सहन नहीं कर सकता । सम्यता चाहती है कि आप समा के योग्य बनें समाज के लिए भी कुछ करें ।

गीता कहती है परस्पर माधम्यं येयं परमवाप्स्यन् ।' एक दूसरे से

प्रेम करते हुये ही हम सामाजिकता का निर्वाह कर सकेंगे ।

सुख मिलकर काम करने में है । जैसे भी एक मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में नहीं अर्थों के सहयोग द्वारा ही कर पाता है । वेब कहता है —

अपामीबामप विविवामनात्तु तिमपारति बुविबवामवायत ।

धारे वेवा द्वेयोऽमव् युपोतनोववन् वाम यच्छता स्वस्तये । ऋ १० ६३ १२

अब की ओर जाने वाला व्यक्ति रोगी बनता है । हम अब से दूर रहें तो बमिव=रोगों से भी दूर रहेंगे स्वस्व करने में । जो ज्ञान-यज्ञ से भागता है अथवा विम्वता का आह्वान नहीं करता और अवाणी है वह भी सुखी नहीं रह सकता । द्वेप भी सुख नहीं दुःख देता है । अतः हमें कम से कम स्वयं रहने के लिए तो यज्ञ करना ही चाहिये । सत्य प्रेम सत्याचरण पारस्परिक प्रेम की भावना यज्ञ के ही बम हैं और जैसे वे यज्ञ के अंग हैं, वैसे ही सम्प्रदाय के भी । सम्प्रदाय धुम कुर्यों की पोषिका है, दुष्कर्मों की नहीं । दुष्कर्म मानव को असम्प्रदाय बनाते हैं । दुराचारी समाज द्वारा दुराचार जाता है । वह समाज में बैठने या सुख दिखाने के योग्य नहीं रहता ।

प्रभु की रचना में जो वैषम्य है या विविचरणता है वह पद-भग पर परिणत होता है । हम सब न एक जाति के हैं न हमारे आयु तथा भोग ही समान हैं । कोई मनुष्य योनि में है तो कोई पशु योनि में । कोई पक्षी बना आकाश में विचरण करता है तो कोई कुमि-कीट रूप में गन्धी नाभियों में सड़ रहा है । किसी की आयु १ वर्ष की है तो किसी की २ वर्ष की । किसी किसी की आयु ६० व० और १०० से लेकर १५० या २०० वर्षों तक जाती है । भोजन पक कर और फल देकर ९ महीने में ही समाप्त हो जाती है । वनस्पति वृक्षों के रूप में प्रतिवर्ष फल देती है और कई वर्षों तक जीवित रहती है । भोगों पर वृष्टि डालिये तो कोई बीन-हीन वृक्ष में उत्पन्न होता है और राजसीय भोगों से बधित रहता है । एक मुस्वावु भोजन से तृप्ति प्राप्त करता है तो दूसरे को सामान्य अब भी प्राप्त नहीं हो पाता । फिर कर्म का विपाक दितिये कि एक मूख से उद्वेग-उद्वेग कर मरता है तो दूसरा भोग-विषादों के मध्य डूबा रहने पर भी मानसिक क्लेशों का भाजन बनता है । एक क्लेश-सुखे अन्न में से ही विटमिन प्राप्त कर सता है तो दूसरा विटमिन की डेरा गोसियाँ खाकर भी बीज एक कृमि बना रहता है । यह वैषम्य क्या है ? वैज्ञानिक इसकी व्याख्या नहीं कर सकते । इसे तो धर्म-शास्त्र (Ethics) का पञ्चित ही समझा सकता है । जो इस सोच को ही सब कुछ समझता है वह भी इसे वास्तविक रूप में हृदयगत नहीं कर सकेगा पर जो समझता है कि इस सोच के पीछे भी सोच था और इस जन्म के उत्तरात्म भी एक नहीं अभी अनेक जन्म होंगे (महात्मा का वास्तव ऐसा ही निर्णय देता है) वही वैषम्य की मूल भूमी को समझा सकता है ।

प्रकृति भी रचना में आकर विदग्धा विविध जातियों वाली बन जाती है ।

इसो मायासि बुद्धय ईवो इय परमेश्वर प्रकृति रूपी माया के अनेक रूपों द्वारा

बपनी बिद्या का प्रकाश करता है । जिसे हमने बिस्तार कहा है, वह इसी प्रकृति का प्रसार है । प्रकृति भी सत-रज-तम की साम्यावस्था है । सृष्टि में बड़ी बपम्प की बगनी बनती है । कहाँ प्रकाश और अँधकार ।। कहाँ भीटी और कहाँ हाथी ? कहाँ पहाड़ और कहाँ मर्त ? कहाँ फूल और कहाँ मिट्टी ? कहाँ बर्षा और कहाँ मस्सल ? कहाँ ऊँचा और कहाँ खेत ? कहाँ हनुमन्ट और कहाँ सबल ? बपम्प ही बपम्प ।। पर इस बिपमता में भी कसी अद्भुत व्यवस्था है । कैसा बिबिध साम्य है । सब-ऊँचा-नीचा मनु-बृहत् तम प्रकाश सुरमित-बुर्गन्वित पूर-समीप एक बृहत् इकाई के निर्माता हैं । यत्र के छोटे-बड़े पुर्जे बिपम होकर भी यत्र की एकता का निर्माण करते हैं । फूल की छोटी-बड़ी पंखुइयाँ फूल के सौन्दर्य-विधान का कारण बनती हैं । काम्य के छोटे बड़े स्त्व सर्ग और भावोद्रेकों के बिबिध रूप एक काम्य-कृति की रचना में योग देते हैं जैसे ही इस ब्रह्माण्ड के बिबिध अंग एक-एक बमल की सृष्टि कर रहे हैं । प्रभु का यह मूर्ति कपी काम्य दर्शनीय है मननीय है भावनीय है, हृदयंगम करने योग्य है ।

पर इसे कौन हृदयंगम करेगा ? हृदयंगम तो सभी करेंगे क्योंकि हृदय सबके पास है । अनुमृति की सीध-मद भाषा में अन्तर होगा । तत्त्व दर्शन भी सब करते हैं । पर बिस्लेषण सबके पास एक समान नहीं है । भावना के समान बिस्लेषण भी मानवता के बिबिध स्तरों में बिकप है । जो व्यक्ति या जाति जितनी ही अधिक बिकसित है मन्म है उसके पास भावना और बिस्लेषण की शक्ति भी उसी भाषा के अनुकूल है । सम्यता एक ऐसी उपलब्धि है जो बर्ग-बिधेय को भावना तथा बिस्लेषण में ऊँचा उठा देती है और इन्हीं में नहीं वह बर्ग बिधेय के कटु त्व में भी फूट पड़ती है । सम्यता के सबसे बड़े साधन बाणी और कम हैं । तत्त्वचिन्तन इन दोनों का सहायक बनता है । बाणी साहित्य को अग्र्य देती है । मेखन-क्रिया स्वर-विज्ञान, विधि-द्रव्या इसके संगी-साथी हैं । कर्म बिबिध बसाओं क कौशल में अबिब्यक्ति पाता है । तत्त्व दर्शन बाणी और कम के क्षेत्र में आर्य जाति बिस्व की समस्त जातियों में ऊर्ध्व स्थान पर खड़ी है । इसे मैसमूनर रैसन आदि सभी पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार दिया है ।

बापामी पुष्ठों में हम ऐतिहासिक कम में इनका संक्षिप्त बिबरण उपस्थित करेंगे ।

हमारे चिन्तन बिज्ञान कला साहित्य आदि सभी पर वेदों का प्रभाव पड़ा है । वेद ने बिद्या मुझाई और हम उसके द्वारा निरिष्ट प्रभासी पर चल पड़े । संकेत पहले है क्रिया उसने उपरान्त । वेद में बीज है शास्त्रा-यन्त्र-मुष्टों में उठे परम्परा करना मानव के हाथ की बात है । वेद ने इस महारण को मनु से लेकर इयानन्द वरविन्द प्रभृति आज तक के सभी मनीषियों ने मूकदण्ड से स्वीकार दिया है । पीछे जो कुछ सिखा गया है वह इसी सिद्धान्त का समर्पण करता है ।

## ५ साहित्य

आज तक भारतीय आस्तिक मनीषा वेद को समस्त विद्याओं का भीम और परवर्ती निधि मानकर बाक्यमय का आधार मानती रही है। पीछे संस्कृति और सम्प्रदाय पर हमने जो कुछ लिखा है वह भी इसी तथ्य का गोपन है। वेद प्रभु के निश्वास हैं। वे नित्य हैं। किसी पुरुष ने उनका निर्माण नहीं किया। अतः वे अपौरुषेय कहलाते हैं। वेद-आणी कल्पान-रूपा है यह मानव-हित-माचिक है और मानव मान के लिये है। भारतीय ब्राह्मणों ने उसकी विशेषज्ञता से रक्षा की है। भद्र और धोषिय हो वर्ग वैदिक ब्राह्मणों में प्रख्यात है अग्नि पारों वेदों को दृष्टव्य करते इस मध्य निधि को क्यों का क्यों सुरक्षित रखा है। मंत्र पाठ की ओर श्रुति कुतन्मामत रूप में अब तक बसी धाई है वह विश्व साहित्य के इतिहास में अपूर्व है।

भारतीय आर्य वेदों में प्रामाण्य-बुद्धि रखते रहे हैं। अथ शास्त्र वेदानुरूप होने पर ही प्रामाणिक माने गये हैं। वेद-विद्वत् किसी भी मत को प्रामाणिकता नहीं मिली। मनु 'प्रमाण परमं भूति' शब्दों द्वारा इसी सिद्धान्त का आस्पाद करते हैं। ब्रह्म 'तद्वचनान्त् आम्नायस्य प्रामाण्यम्' सूत्र में वेद को प्रभु के वचन कहकर उनके प्रामाण्य की घोषणा करते हैं। उद्मन् तात्त्विक आचार्य शंकर वेदान्त के मतएव न नित्यत्वम् १। ३। २६ सूत्र की व्याख्या करते हुये इसी वाक्य नित्य है। वेद इसी वाणी है अतएव नित्य है — शब्दों द्वारा इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। इस स्वस पर आचार्य शंकर ने वेद के नित्यत्व में कई युक्तियाँ दी हैं। वाक्यपदीयकार महारमा भट्ट हरि लिखते हैं—

सत्या विशुद्धिः तत्रोक्ता विद्यैर्बैक्यवापसा ।  
युक्ता प्रत्यक्ष केष्वपि सर्वबाधाविरोधिनी ॥  
विद्यास्तुस्तस्य भोक्तृमामगोपाय निवन्धना ।  
विद्यामेवा प्रतापन्ते ज्ञान संस्कार इत्यत्र ॥

वाक्यपदीय—१९१०

एकपदागमा विद्या ही सत्य है विशुद्धि भी वहीं पर है। अथवा मानव-कृत विद्याओं में कुछ न कुछ अशुद्धि जा ही जाती है। वेद विद्या विशुद्ध है। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो इस विद्या का आगम एक पद से हुआ है। यह एक पद जो है। उस पद का प्रत्यक्ष सूत्र में योग दर्शनकार महर्षि पंतबसि ने जो को ही प्रभु का वाचक माना है। यह प्रत्यक्ष अ उ म तीन मात्राओं द्वारा व्याख्यात होता है। अतः द्वितीय कारण है प्रत्यक्ष के रूप-रूप तीन मात्राओं से इस विद्या की पुष्टि। वेद विद्या कभी कहलाती है। प्रत्यक्ष के अ रूप से अक्षर 'उ' रूप से यजु और म रूप से साम का सम्बन्ध है। इन्हीं से सू यजु और स्व तीन महाव्याहृतियों और तीन लोकों का जन्म हुआ। समस्तवाच इन्हीं तीन को लेकर प्रवृत्त हुये हैं। अतः यह विद्या सर्व बाधों से बहिरोप रहती है। ईश्वरवाच जीववाच प्रकृतिवाच अथवा ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड भक्तिकाण्ड जैन धर्म के सद्भाव, सद्भाव और दुःखनिवृत्ति अथवा एक-

वायु ईतबाद नैतबाय इमी बिद्या से प्रादुर्भूत हुये हैं। सदाचार ( Ethics ) नतबाय का मनोविज्ञान ( Psychology ) इतबाद का तथा पर-तत्त्व दर्शन ( Metaphysics ) एकबाय का सम्बन्ध है। सार्वनिर्द्धों मे कभी भीष और प्रकृति के सम्बन्ध की उद्घापोह की है कभी भीष और परमात्मा के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है और कभी परमेश्वर तथा प्रकृति के सम्बन्ध पर विचार किया है। वेद तीनों का प्रवर्तक है। अतः उसमें तीनों वायों का समाहार है। बिबाठा की इसी बिद्या के बर्णों तथा उपांगों में निबद्ध अनेक भेद हुये हैं और वे सब लोक के ज्ञान संस्कार के कारण हैं। यहाँ जो कुछ पदार्थ-विज्ञान या तत्त्वज्ञान का विस्तार हुआ है, उसका मूल कारण वेद है। मानव में ज्ञान के संस्कार इन्हीं के कारण पड़े हैं।

### क वेद

वेद चार हैं ऋक यजु साम और अथर्व। इन्हें अपौरुषेय माना जाता है। मन्त्रों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम आये हैं वे मंत्रद्रष्टा हैं मन्त्रकर्ता नहीं। इसका एक कारण यह भी है कि एक ही मन्त्र के द्रष्टा दो-दो ऋषि भी हुये हैं। मनु १२३ तथा तत्त्वच ११४१३ के अनुसार जग्नि वायु, आग्नि तथा अगिरा पर क्रमशः ऋक यजु, साम तथा अथर्व का प्राकट्य हुआ। इनसे ब्रह्मा ने वेद पढ़े और फिर भुवि तथा प्रवचन रूप में आये वेदों का विस्तार हुआ।

चारों वेदों में ऋक सबसे बड़ा है। इसमें दस मण्डल तथा १०५१२ मन्त्र हैं। वायवी उष्णिक् अनुष्टुप बृहती पंक्ति त्रिष्टुप जगती चत्वारि मासि २० प्रकार के छन्द् हैं। ऋग्वेद का एक विभाजन मण्डलों में भी पाया जाता है परन्तु निरुद्धकार मास्क ने बसतभी सव्य के प्रयोग द्वारा दस मंडलों वाल विभाजन की प्राचीन सिद्ध कर दिया है। इन मण्डलों में १००८ सूक्त हैं जिनमें वासिष्ठिय नाम के ११ सूक्त भी सम्मिलित हैं। ये सूक्त अष्टम मंडल में संख्या ४६ से ५६ तक हैं। इनमें ८० मन्त्र हैं। इन मन्त्रों का छोड़ कर तत्त्वच १०-४२२३ के अनुसार ऋग्वेद १२ हजार बृहती छन्दों के परिमाण का है। बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। अतः ऋग्वेद के समस्त अक्षरों की संख्या ४३२००० है।

ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम पक्वान् से सम्बन्धित ऋचाएँ हैं। सूक्तों की संख्या १११ प्रथम तथा दसम मण्डल में समान है। बीच में द्वितीय मण्डल का सम्बन्ध गृत्थमय से तृतीय का विश्वामित्र से चतुर्थ का वायदेव से पंचम का अग्नि से षष्ठ का भस्त्राज से और सप्तम का बसिष्ठ ऋषि से है। अष्टम मण्डल के मन्त्र द्रष्टा ऋषि कश्यप तथा अगिरा रत्न के हैं। प्रथम मण्डल के मन्त्रद्रष्टा मधुच्छन्दा ऋषि का शतविन् चतुस्रमन्त्र के मातृवीय सूक्त (१-१२६) में पढ़ने के सूक्तों का महासूक्त और बार बार सूक्तों को शूद्र सूक्त की संज्ञा भी प्राप्त है।

महाभारत के समय जब विद्वानों और बसतार्थों की क्षीणता हो गई तो महर्षि व्यास ने पेशरक्षा के प्रयत्न में 'नैव' को ऋग्वेद उद्गिरि ऋषि को नाम संस्थापन



को मनु तथा दाम्प्य मुनि गुप्तगुप्त वा अग्रगण्य गिना की। इनमें अग्र गिना का यह गिना प्राप्त हुई। शाखाओं तथा चरणों का विभाग हुआ। चरण उग्र जनगण को कहा जाता है जो शाखा विभाग के अग्रगण्य में निरुक्त तथा उग्रगण्य है। महा माध्य के अनुसार ऋषेय की शाखाओं २१ मनुवेद का १०१, साम की १००० और अथर्व की ६ थी। इन ११११ शाखाओं में मूल चार संहिताओं भी सम्मिलित हैं।

ऋग्वेद की शाखा शाखा ही आद्यतन प्रचलित है। अथ शाखाओं में वाचस्पत्य आश्वलायन शाखायन तथा माण्डूकायन के नाम विचार प्रचलित हैं। वाचस्पत्य शाखा का सम्भवतः शाकल्य शाखा से भिन्न कहा जाता है। शाकल्य के अतिरिक्त अन्य शाखाओं अनुपलब्ध हैं।

ऋग्वेद १००१ ११ की ऋषीय चारवाले पुत्रान् ऋषीय के अनुसार होता ऋषीयों का पोषक उद्गाता शक्यरी एता में साम का सामक यज्ञ की मात्रा तथा माप करने वाला अभ्यय मनुर्वेदी तथा यज्ञ का निरीक्षक ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। ऋषीय एतामयी हैं, उनकी अग्र संख्या नियत है पर मनुर्वेद व मनु अनियत अथर्ववेदान्त वाले हैं। साम प्रायः मध्य ऋषीयक है और अथर्व वेदान्त प्रचार का है। उसमें गद्य भाग तथा छन्द भाग दोनों हैं।

मनुर्वेद की वाजसनेयी संहिता आश्विन्य सम्प्रदाय के अग्रगण्य है परन्तु ऐतिह्यिक संहिता ब्रह्म सम्प्रदाय से सम्बन्ध है। प्रथम की गुरुत तथा द्वितीय की कृष्ण मनुर्वेद भी कहा जाता है। गुरुत मनु संहिता-मात्र है। कृष्ण मनु में संहिता तथा ब्राह्मण भाग का सम्मिश्रण है। गुरुत मनुर्वेद में ४० अध्याय तथा १६०५ मंत्र हैं। इसकी काण्व तथा माध्यम्यिन नाम की दो शाखाएँ उत्पन्न हैं। कृष्ण मनुर्वेद की चार शाखाएँ मिलती हैं-ऐतिह्यिक मैत्रायणी कठ तथा कपिष्ठल कठ। शाशिणाचार्यों में प्रायः इन्हीं शाखाओं का प्रचार है। सामणाचार्य कृष्ण मनुर्वेदी थे। उनसे पूर्व भट्ट भास्कर मिश्र हुए थे जिनका ऐतिह्यिक संहिता पर 'ज्ञान यज्ञ' नामक भाष्य मैसूर से प्रकाशित हो चुका है। मैत्रायणी संहिता का सम्पादन तथा प्रकाशन डा० थोडर ने जर्मनी से किया था। कठ संहिता का सम्पादन भी इन्होंने किया था।

कपिष्ठल कठ शाखा पूर्णरूप से नहीं मिलती। इसके उपलब्ध अंश का संपादन डा० रघुवीर ने किया था जो १९३२ ई० में लाहौर से छपा था। ऋग्वेद की वाचस्पत्य शाखा की भाँति इसका विभाजन अष्टकों में है।

सामवेद में १८७५ मंत्र हैं जो पूर्वाचिक तथा उत्तराचिक दो भागों में विभाजित हैं। बीच में महात्माजी बस ऋषीय हैं। ऋषि अध्वर्यु साम के आधार पर सामवेद की ऋषीय ऋग्वेद से भी गई है। इसकी अपनी ऋषीयें बहुत कम हैं। जिन पर सामवाग पावे जाते हैं उन ऋषीयों को 'साम योनि' कहा जाता है। सामवेद के आचार्यों में अमिनि कवि का नाम सर्व प्रथम आता है। अमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को सुमन्तु ने स्वपुत्र सम्मान को और सुमान ने स्वपुत्र सुमनी को साम का ज्ञान

कराया । सुरुमी के दो शिष्य थे—हिरण्यनाभ कौशस्थ तथा पौण्ड्रिज । प्रथम को प्राप्य सामन और द्वितीय को उदीच्यसामन भी कहा जाता है । सामन की १००० शाखाओं में से अब केवल तीन ही शाखाएँ बची हैं जिनमें कौबुमीय मुजरात में, राणायनीय महाराष्ट्र में तथा बैमिनीय कर्णाटक में प्रचलित है । प्रथम दो शाखाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है । बैमिनीय शाखा की एक अन्तर शाखा तबलकार नाम से प्रख्यात है ।

सामगान चार प्रकार के हैं—वेयगान (जो ग्रामवेय हैं) आरप्यक पान (जो ग्राम से बाहर पाये जाते हैं) ऊहपान तथा ऊहपान जिन्हें रहस्य गान भी कहा जाता है । प्रथम दो का सम्बन्ध पूर्वाह्निक से और दो का सम्बन्ध उत्तराह्निक के मंत्रों से है । साम के वेय मन्त्र स्तोत्र हैं तो आक मन्त्र सत्त्व हैं । स्तुतिपरक दोनों ही हैं केवल प्रगीत और अप्रगीत का अन्तर है । सामपान के पाँच विभाग हैं—हिवार प्रस्ताव (हृ पूर्वक प्रारम्भ) उव्गीय (जो से प्रारम्भ उव्गाता का सामगान) प्रतिहार, तथा निष्पान (अन्त में जो रहता है) इन गानों को प्रस्तोता उव्गाता तथा प्रतिहर्ता सब साथ मिलकर पाठे हैं । गान में जो निरर्थक जो ही हा आदि पद बोड़े जाते हैं, वे स्तोम कहलाते हैं ।

अमर्षवेद का ज्ञाता ब्रह्मा यज्ञ का प्रमुख ऋत्विक् है । शरीर में जो बासी है उससे तुरन्त तो ही होता आदि ऋत्विक् परन्तु शरीर में जो मन है उससे तुरन्त ही ब्रह्मा । मन जैसे अग्न्य इन्द्रियों के कार्यों का समेकन करता है वैसे ही ब्रह्मा अग्न्य ऋत्विजों के कार्यों का । अमर्ष को ब्रह्मवेद जमिरी वेद अथर्वगिरस वेद सुवेद तथा सोमवेद भी कहते हैं । इसमें एक ओर आयुर्वेद अभिचार, मोहन आदि विद्याएँ हैं तो दूसरी ओर गनीर अप्यारम विद्या भी है । अमर्ष का अर्थ ही है अविनाश अवस्था ।

अमर्ष की भी शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं—पिप्पसाय स्त्री मीर शौनकीय जानक वसव ब्रह्मव देववर्ष और चारण वज । पिप्पसाय का नाम प्रश्नोपनिषद् में भी आता है । इनकी शाखा 'सधोदेवी रन्निष्टय' मन्त्र से प्रारम्भ होती थी । प्रचलित शौनक शाखा 'ये जियप्ता' मन्त्र से प्रारम्भ होती है । गोपय ब्राह्मण शौनक शाखा से ही संबद्ध है । इस शाखा में २० काण्ड ७३१ सूक्त तथा २२७७ मंत्र हैं । इसके कुन्ताप सूक्तों को सिस भाष माना जाता है । अमर्ष का पृथिवी सूक्त (१२१) मानव जाति की एकता का परिचायक है । 'माता भूमि' पुत्रोऽहं पृथिव्याः भूमि हम सब मानवों की माता है, हम सब इस पृथ्वी के पुत्र हैं । यह कथन समस्त पृथ्वी को इन्द्रि में रखता है, एक-एक देश को नहीं । एक-एक देश वाले भी अपने देश का पृथ्वी माता का ही एक रूप समझे और मानव मान को अपना बंधु । यह व्यापक दृष्टिकोण ही वास्तविक सम्पत्ता और संस्कृति का उदात्त सिद्ध हो सकता है ।

### ख उपवेद

वेद के साथ उपवेद भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं । आयुर्वेद

धनुर्वेद यजुर्वेद का गोधर्म वे- सामवेद का और अथर्ववेद या तिल्लवेद अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है । इन पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । आयुर्वेद पर चरक सुभूत भाङ्ग पर भाग्यट भाग्यनिदान आदि धनुर्वेद पर शाक्यसक्ति से सम्बद्ध मुष्नीति धनुर्वेद संहिता दोष विद्या आदि गोधर्मवेद पर नाट्यशास्त्र संगीत रत्नाकर संगीत मकरन्द आदि और अथर्व वेद पर अथर्वशास्त्र कामान्वकीय मय संहिता बाराह संहिता आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं । आयुर्वेद के प्रसार में आग्नेय पुनर्वसु, भरुहान धन्वन्तरि, अग्निवेश अतुर्कर्म भय पराक्षर क्षारपाणि आदि का विशेष हाथ रहा है ।

ग ब्राह्मण

वेद की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ हैं जिन्हें प्रबचन भी कहा जाता है । ब्राह्मण मन्त्र तत्स्य वाचक ब्राह्मण — वैदिक विषयों में मन्त्र प्रमुख हैं । ब्राह्मणों में अन्य विषयों के साथ यज्ञ का मुख्य रूप से प्रतिपादन है । भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता १.५.१ के भाष्य में ब्राह्मण नाम कर्मण तत्समाणां च व्याख्यानं ग्रन्थ शब्दों द्वारा इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है । संहितायें प्रायः पद्यात्मक हैं परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ पद्यात्मक हैं । इनसे उत्क्रांतीन माया का भी ज्ञान होता है । यह माया एक ओर वैदिक माया की शक्त दिखाती है जो बुरी ओर प्रबलित संस्कृत के रूप को भी प्रकट करती है । छोटे छोटे वाक्यों में विषय को स्पष्ट करना ब्राह्मण मुनीन माया की विशेषता है ।

ब्राह्मणों में ऋग्वेद के एतरेय तथा सांख्यिक यजुर्वेद का वतपथ कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीय अथर्व का गोपथ तथा सामवेद के ताण्ड्य पञ्चविश आर्षेय वैवत जैमिनीय बथ ब्राह्मण आदि प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और उपसम्भ हैं ।

अनुपनम्ब ब्राह्मणों में आद्यायन का नाम सायन तथा शंकर के भाष्यों में मिलता है । मान्वादि ब्राह्मण का उत्तम महाभाष्य में है । आह चरक का नाम चरकभ्यूह में आता है । शतानि ब्राह्मण का उत्तम महाभारत में है । कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध चरक छागनय वैशम्पयीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम भी आते हैं । इनके अतिरिक्त बाठन क्षात्रिक्य भीषण गानक मुम्बड आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का कहीं न कहीं उल्लेख हुआ है ।

एतरेय ब्राह्मण के रचयिता महिषास ऐतरेय हैं । इनकी माँ का नाम इतरा था । हममें ८० अध्याय ८ पञ्चिका तथा २५२ कंडिकाएँ हैं । इसके प्रारम्भ में अग्निष्टोम का वर्णन है जो सामगता का मूल है । हममें अग्निष्टोम की विवृतिपा उरथ्य अति रात्र तथा पाण्नी भी वर्णित हैं । अन्त में रात्रमूष तथा एग्न महाभियर और उस पर आवागि चरनी रात्राओ क महाभियर का वर्णन है । मुन छप का आरयान इसी ब्राह्मण में है ।

शान्तापत ब्राह्मण में ३० अध्याय हैं । बौद्धिक आचार्य के मत को इसमें मान्यता प्रदान का गया है और भीषणों का संस्कृत सिमान क निवे आरभ पंडित

स्वीकार किया गया है। इस ब्राह्मण के अनुसार 'सद्गो वै ज्येष्ठश्च येष्ठश्च देवानाम्' यह भी महत्ता देवों में सर्वोपरि है। यज्ञ को बिष्णु मानकर अग्नि को अन्नराध्य तथा बिष्णु को पराध्य कहा गया है। यह ब्राह्मण यज्ञ में पशु हिंसा को स्वीकार नहीं करता। इसके मतानुसार जो मनुष्य मांसमन्त्री है वे परलोक में पशुओं द्वारा खाये जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं जिन्हें मुक्त मजुर्वेद का प्रतिष्ठाता माना जाता है। इसके दो संस्करण हैं। एक में १८ तथा दूसरे में १७ काण्ड हैं जो क्रमशः माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं से सम्बद्ध हैं। काण्वों के विषय क्रम में भी अन्तर है। दोनों का प्रमुख विषय वर्ण पुरुषमास अग्निहोत्र पिण्यपितृ यज्ञ चातुर्मास्य मवाग्नेष्टि सोमयाग वाजपेय याग राजसूय अश्वमेध पुरुषमेध सर्बमेध आदि यज्ञों का विवेचन है। द्वाचक्षसत्र १२ दिनों तक चलने वाले ऋतु से। ये सब इससे भी अधिक काल तक चलते थे। द्वाचक्ष काण्ड में सौषामणि तथा और्ध्वदेहिक अनुष्ठानों का विवरण है। बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का ही अन्तिम भाग मानी जाती है।

यज्ञ को वैदिक ऋतु क्रम में ज्येष्ठतम कर्म की सजा दी गई है। उसमें मन तथा वाणी दोनों का योग रहता है। मन आन्तरिक है, वाणी बाह्य। दोनों के सम्मान में आहुतियाँ दी जाती हैं। मन का सम्बन्ध पूर्वाचार आहुति से है तो वाणी का उत्तराचार आहुति से। मन प्राणपरक है वाणी रथिपरक। याज्ञिक मन है तो अग्नि वाणी है। याज्ञिक को दक्षिणा की आहुति मिलती है, तो अग्नि को हविष्य की। मन की आहुति बैठकर तो अग्नि की आहुति सड़े होकर दी जाती है। शतपथ १ = १ में उस जल-प्लावन का उल्लेख है जिसमें आज से तहल्लों पूर्व वर्ष समुद्र का जल बढ़ता हुआ हिमालय तक पहुँच गया था सब प्रजा नष्ट हो गयी थी और अकेले मनु बचे थे जिसकी तब मत्स्य का बच्चा पाकर हिमालय की चोटी से टकराई और मनु ऊँचाई पर पहुँच कर सुरक्षित हो गये। पानी बटा और सृष्टि का प्रारम्भ नये सिरे से हुआ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण इन्द्र मजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसकी भाषा प्राचीन है और वैदिक भाषा के निकट है। इसी की भाँति यह स्वरांकित भी है। शतपथ की भाषा भी स्वरांकित है। यह तीन काण्डों में विभक्त है। पहले दो काण्डों में आठ प्रपाठक तथा तीसरे में १२ प्रपाठक हैं। इस ब्राह्मण में भी अग्न्याधान, वाजपेय सोम राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन है। तृतीय काण्ड में मध्यमष्टि का विवेचन है। वैश्वसूय याग द्वारा देवों के स्वर्गलाभ का भी वर्णन है।

ठाण्ड्य ब्राह्मण सामवेद से सम्बद्ध है और पञ्चीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण पंचविद तथा महाब्राह्मण भी कहलाता है। इसमें बर्षों तक चलने वाले यागा अनुष्ठान वर्णित हैं। अन्नमयज ज्योतिष्टोम, अतिरात्र आदि दस अहीन कहे जाते हैं।

इसमें स्तोमों (त्रिबृत्तपञ्चदश आदि) तथा सामों (रघुमन्दर बृहद आदि) का भी वर्णन है। बस्य मपातिवि तथा अपवन ऋषियों के आश्रय इती ब्राह्मण में है। इगमें धार्य यज्ञ रा भी उल्लेख है जिसके द्वारा ब्राह्मण (आचारहीन आर्य) पुन आर्य बन जाते थे।

पद्भिन ब्राह्मण ताण्ड्य ब्राह्मण का ही पूरक कहा जा सकता है। इसमें पाँच प्रपाठ हैं। अन्तिम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है। 'तस्माद् ब्राह्मणो महो राजस्य सद्योमे सम्प्रामुपास्ते ४-१-४ की उक्ति मनुजोक्त न निष्ठाति तुप पुर्वी मोपास्ते यज्ञ परिचयान का स्मरण करा देती है।

सामविधान उपब्रह्मों की शान्ति तथा शत्रु को बधीभूत करने के उपायों का विधान करता है। आर्य्य ब्राह्मण में सामगायक ऋषियों का वर्णन है। देवत ब्राह्मण में तीन खण्ड हैं जिनमें अग्नि इन्द्र आदि देवों के नाम तथा छन्द नामों के निर्बचन पाये जाते हैं। बंश ब्राह्मण में आचार्यों की बंश-परम्परा वर्णित है।

गोपय ब्राह्मण अपरबैवीय है। इसके दो भाग हैं — पूर्व तथा उत्तर। यह ब्राह्मण अपरबैदेव की महत्ता स्थापित करता है। इसमें ओम तथा पायसी का स्तवन अश्वमेध मोमेध पुरुषमेध आदि यज्ञों का वर्णन और विभिन्न आख्यायिकाओं का समावेश है। इसमें ब्राह्मण के सिये माचने गाने का नियम है। बरुण मृत्यु बीजित आदि तन्त्रों के अद्भुत निर्बचन भी इस ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं।

उपमृत्त ब्राह्मणों में से कतिपय ब्राह्मणों के भक्ति संबन्धी निर्देशों का विवरण हमने अपने 'भक्ति का विकास' नामक ग्रन्थ में दिया है।

### घ आरम्भक एवं उपनिषद्

ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ आरम्भक तथा उपनिषद् भी संबद्ध हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के साथ तैत्तिरीय आरम्भक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् का सम्बन्ध है।

ऐतरेय ब्राह्मण के साथ ऐतरेय आरम्भक तथा ऐतरेय उपनिषद् हैं। इसी प्रकार ऋतपथ के साथ बृहदारण्यक तथा उपनिषद् और तल्लकार ब्राह्मण के साथ उत्तलकार आरम्भक और केन तथा छान्दोग्य उपनिषदों का सम्बन्ध है। एक प्रकार से इन्हें ब्राह्मणों का ही भाग कहना चाहिये। आरम्भकों का महत्त्व यज्ञ-मीमांसा में नहीं तत्त्व विवेचन में है।

ऐतरेय आरम्भक में पाँच विभाग हैं जिनमें से प्रथम तीन ऐतरेय द्वारा रचित हैं। चतुर्थ के रचयिता आश्वभाषा तथा पंचम के रचयिता गौतम हैं। इस आरम्भक में प्राणों की कल्पना ऋषिकण में की गयी है। प्राण ही मृत्युसमय है। समय के समय इन्द्रिया प्राण द्वारा निगल ली जाती हैं। अतः प्राण मृत्यु है। अपान के समय बाह्य होता है अतः प्राण सत्य है। प्राण ही विश्वामित्र है विश्वामर इसका मित्र है। प्राण ही बननीय या भगनीय होने के कारण आश्वमेध है। प्राणों से बचाने के कारण तपः यज्ञ है। प्राण ही अधिष्ठ है, बसाने वालों में श्रेष्ठ है। अतः प्राण ही

उपासनीय है ।

इसके द्वितीय आरण्यक के अध्याय ४, ३ और ९ ऐतरेय उपनिषद कहलाते हैं । शांतायन आरण्यक १३ अध्यायों में विभक्त है । कौपीनकी उपनिषद इसी का एक भाग है । बृहदारण्यक उपनिषद ही है । तैत्तिरीय आरण्यक में १० प्रपाठक हैं जिनमें से ७ = तथा ६ तीन प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद कहलाते हैं । प्रपाठकों के नाम उनके प्रथम शब्द पर आधारित हैं यथा ऋद्ध, सहस्र चित्ति आदि । दशम प्रपाठक नारायणीय उपनिषद के नाम से प्रख्यात है ।

उपनिषद साहित्य भारतीय ब्राह्मण में बहुवर्णित है । सुसमान तथा अंशेन समान रूप से इसकी ओर आकृष्ट हुए । वाराहिकोह सोपनहावर आदि के नाम उपनिषद प्रेमियों में प्रख्यात हैं । श्रीमद् भगवद्गीता जो महाभारत का ही एक अंश है उपनिषद कपी की का दुहा हुआ ब्रह्म माना जाता है । उपनिषदों की संख्या तो बहुत है पर उनमें ११ उपनिषदें ही प्राधान्यिक समझी जाती हैं । इनके नाम हैं ईश कन कठ प्रश्न, मुण्डक माण्डूक्य ऐतरेय तैत्तिरीय, छान्दोग्य बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर । इनमें ईश कठ मुण्डक तथा श्वेताश्वतर पद्यमय हैं, शेष गद्यमय ।

ईशोपनिषद यजुर्वेद का बालीसवाँ अध्याय है अन्तर है केवल नवक्रम में तथा अन्तिम अक्ष में । इसमें ईश की महत्ता कर्म का प्राधान्य विद्या-अविद्या तथा सन्नृति-असन्नृति का भेद सत्यधर्म तथा सुषण पर चलने की प्रार्थना आदि विषयों का वर्णन है । केन उपनिषद मन तथा प्राण किससे प्रेरित होते हैं, इस प्रश्न के साथ प्रारम्भ होती है । इसमें यज्ञ तथा हैमवती उमा का आख्यात आत्मज्ञान के लिये अतीव उपयोगी है । कठोपनिषद में यम और नविकेता का संवाद है । आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ का रूप देकर शरीर से आत्मा को विप्र माना गया है । मानव को अपनी सामना इसी आत्मा की उपसक्ति के लिये करनी चाहिये । प्रश्न उपनिषद में छ. प्रश्न हैं । पूछने वाले हैं—छुकेछा सत्यकाम सीर्षामणि आरवत्तायन भार्गव और कबन्धी । उत्तर देने वाले हैं पिप्पलाव । प्रथम प्रश्न है—यह समस्त प्रजा किससे उत्पन्न होती है ? उत्तर है प्रजापति के ईक्षण और उप से । प्राण और रश्मि प्रजा के पिता और माता बनते हैं । आगे के प्रश्नों में प्रजा को चारण करने वाले देव प्राण की उत्पत्ति और पुनर्जन्म खनन करने तथा जयने वाले देव ओंकार का ध्यान तथा षोडश कलाओं का वर्णन है । मुण्डक संसार कपी बृह पर बैठे दो पक्षी जीवारमा तथा परमात्मा के वर्णन से प्रारम्भ होती है । इसमें आत्मसिद्धि के साधक सत्य का महत्व तथा सिद्ध पुरुष के चिन्हों का वर्णन है । माण्डूक्य उपनिषद सबसे छोटी है पर बहुमुख्य सामग्री से संयुक्त है । इसमें ओम की महिमा तथा चतुष्पाद आत्मा का वर्णन है । तैत्तिरीय उपनिषद में सिद्धाश्वत्थी ब्रह्मानन्द बस्ती तथा भृगुबस्ती नाम के तीन अध्याय हैं । सिद्धाश्वत्थी में स्वाध्याय और प्रवचन का महत्व,

ब्रह्मानन्दब्रह्म में ब्रह्मप्राप्ति के साधन और भृगुवल्की में ब्रह्म का स्वरूप तथा आत्म ज्ञान का पथ वर्णित हुए हैं। ऐतरेय उपनिषद् में मनुष्य शरीर का मूलाव पुरुष का प्रवेश और परोक्षप्रिय वेदों का वर्णन है। ब्रह्मसूत्रकार उपनिषद् विश्वकारण की व्याख्या करती हुई ब्रह्मवाद की स्थापना करती है। इसमें ईश्वर भक्ति जीवार्त्ता की मुख्य निवृत्ति तथा जीव, ईश्वर एवं प्रकृति के स्वर्ग की व्याख्या भी उपलब्ध होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् प्रणव की उपासना से प्रारम्भ होती है। इसमें १० प्राण एक हैं जिनमें देवामुर सधाम आपतिष्ठासीन धर्म विश्वव्यापी धर्म और सामगान धर्म के स्कन्ध तीन सवन आत्मस्वरूप ब्रह्म से चारणाद ध्येष्ट और ध्येष्ट प्रकाश्य मौलम संवाह महापाप जगत की रचना तत्त्वमसि सिद्धास्य सनत्कुमार और मारु का संवाह भूमा ब्रह्मपुत्र और ब्रह्मसोऽपितृसोऽह आत्मा का स्वरूप आदि विषय वर्णित हुये हैं।

बृहदारण्यक में छ. अध्याय है जिनमें सृष्टि रचना देवामुर सधाम वर्ण-भेद अन्न तथा अन्नाद तीन भोक नाम रूप कर्म मूर्त अमूर्त, याज्ञवल्क्यमन्त्रेयी संवाह मनु विद्या हृदयबाह आत्मा और उसकी अवस्थायें सक्राम-निष्क्राम कर्म प्रजापति का उपदेश व' उक्त पञ्चामि विद्या आदि विषयों का महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

### ६. वेदांग

वेदरूपी उत्स से उसके अंगों का भी आविर्भाव हुआ। ये वेदांग कहलाते हैं और संख्या में छ. हैं। पद्यों का उत्सेख योपस ब्राह्मण पूर्व १।२७ में है। मनुस्मृति १।१८२ में पदगणित तथा ४।६८ में वेदांगानि पदों का उत्सेख हुआ है। चास्मीकि रामायण भी 'वेद पदंग पाराग द्विबोत्तमों' का नाम लेती है। महामारुतकार शान्ति पर्व २८४।६२ में पदंगों का उद्भव वेदों से स्वीकार करता है। असे सिद्ध को व्याकरण का आविर्भाव आचार्य ब्रह्म ज्ञाता है जैसे ही अन्य वेदांगों का भी। बृहस्पति ने भी वेदांगों का प्रचार किया है। विद्या-परम्परा में वेद तथा वेदांगों के ज्ञाता को ओषिध कहा गया है। पं० गगनदत्त जी ने वैदिक शास्त्रमय के इतिहास में न्याय भाष्य के आचार्य ज्ञानक्य का जो पक्षिस्वामी के नाम से भी प्रख्यात हैं, निर्माकित बचन उद्धृत किया है -

'य एव मन्त्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मार् प्रवक्तारतत्वे ते जनु इतिहास पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च इति। जिन महात्माओं ने मन्त्रों को देखा और उसका व्याख्यान किया उन्होंने वे इतिहास पुराण और धर्म शास्त्र का भी। जतएव वेदांगों का निर्माण भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा ही हुआ है।

सिद्धा वेदांगों में सिद्धा, का अंग सर्व प्रमुख है। 'पाणिनीय विद्या' के अनुसार "मन्त्रोहीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्पमाह उवाच्यो यवमानं हिनस्ति यवेन्द्रबन्धु स्वरतो ऽपराधात् मन् यवि स्वर या वर्ण

से बिहीन होकर पड़ा जायगा तो बहु मिथ्या प्रयोग के कारण अभिमत अर्थ नहीं दे सकेगा । बहु वाक्य्य बनकर यजमान का ही विनाश कर देगा जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्द स्वर के अपराध से यजमान का विनाशक सिद्ध हुआ ।

शिखा के छ विषय हैं— वर्ण, स्वर यात्रा वल साम और सन्तान । वर्ण १४ है । स्वर तीन हैं—उदात्त अनुदात्त और स्वरित । यात्रा उठने समय को कहते हैं बिलने में वर्ण का उच्चारण होता है । यह तीन प्रकार की है—ह्रस्व दीर्घ और व्युत् । वल स्थान और प्रयत्न का चोत्रक है । स्थान आठ हैं—त्रिह्रस्वा—भूल काठ ठाम् मूर्धा, वल मोष्ठ, उपध्मा और नासिका । प्रयत्न दो प्रकार का है—आम्यन्तर और बाह्य । आम्यन्तर के चार प्रकार हैं स्पृष्ट ईषस्पृष्ट बिबुत् तथा संबुत् । बाह्य के ११ प्रकार हैं विदार संवार व्वात् नाद घोष कषोप व्यस्वप्राण महाप्राण उदात्त अनुदात्त और स्वरित । साम का अर्थ है मंत्र को साम्य यात्र से पढ़ना । पढ़ने में मंत्र का प्रत्येक अक्षर व्यक्त जान पड़े स्वर सुम्भ हो सय युक्त हों पढ़ने में अभीरता तथा क्शाता न होकर बर्य तथा मायुर्य हो । याकर पढ़ना गीमता करना, सिर हिमना सिपिबद्ध पुस्तक से तथा बिना अर्थ समझे पढ़ना—या मंत्र स्वर से पढ़ना अच्छा नहीं समझा गया है । रंका या मय से पढ़ना नासिका—उपाधु—काकस्वर आदि से पढ़ना बात पीस कर, बिभम्बित होकर या अक्षरों को पीस कर पढ़ना निम्ननीय है । पानिनीय शिखा या राजसेखर की काव्यमीमांसा इस संबंध में पठनीय है । सन्तान का अर्थ है विस्तार या पद-संनिधि । एक पद दूसरे पद के साथ सम्बद्ध होकर विस्तृत होता जाता है । संधि दो पदों को जोड़ने वाली है । पृथक् रूप से एक-एक पद का अस्तित्व है परन्तु मंत्र में पद स्वाधीन नहीं एक दूसरे पर अवलम्बित हैं । सन्तान इसी संबंध तथा संधि का नाम है जो पद को आगामी पद से मिलाकर मंत्रार्थ का विस्तार करती है ।

चौतक कृत आक्ष प्रातिशाक्य में आचार्यों के उच्चारण स्वर-विधान सन्धि आदि का विस्तृत एवं संशोभित विवेचन किया गया है । शुक्ल यजुर्वेद पर कारकपयन मुनि का प्रातिशाक्य है । कारकपयन इसी के कारण स्वर-संस्कार-प्रतिष्ठापयिता की उपाधि से विभूयित है । कृष्ण यजुर्वेद या तैत्तिरीय शाखा का भी प्रातिशाक्य है जो १२ १२ अध्यायों के दो खण्डों में विभक्त है । इसमें भी स्वर आदि का विवेचन है । सामवेद पर पुण्यसूत्र नाम का प्रातिशाक्य है जिसके बल प्रपाठकों में स्तोम अर्वात् वेद अरम्य आदि बातों का विशद वर्णन है । आक्षर्तन सामवेद की कौमुदी शाखा का प्रातिशाक्य है जिसमें २८७ सूत्र हैं और पाँच प्रपाठक हैं । इसके रचयिता शाकटायन माने जाते हैं । यजुर्वेद के तीन प्रातिशाक्य प्रकाशित हो चुके हैं । एक है श्वित्ने द्वारा सम्पादित तथा अनुशासित



श्रीनक्षत्राणां चतुष्टयमिति । दूसरा है अथर्व प्रातिशाख्य सूत्र जो साहोदर से प्रकाशित हुआ था । तीसरा है अथर्व प्रातिशाख्य । यह भी साहोदरसे प्रकाशित हुआ था । इन प्रातिशाख्यों से वेदों के मूल पाठ पर भी प्रकाश पड़ता है ।

पाणिनीय निरुक्त ने अतिरिक्त सामवेद से सम्बद्ध मारदीय शिक्षा गौतमी शिक्षा तथा सोमवी शिक्षा जिनमें मारदीय शिक्षा पर जोमाकर भट्ट की विस्तृत व्याख्या भी उपलब्ध होती है अथर्ववेद से सम्बद्ध माण्डूकी शिक्षा मुक्त यजुर्वेद से सम्बद्ध याज्ञवल्क्य शिक्षा वासिष्ठी शिक्षा माण्डूक्य शिक्षा आदि और ऋग्वेद के स्वर आदि से सम्बद्ध कारपायनी पाराशरी प्रातिशाख्य प्रवीण आदि शिक्षा प्रस्य है । इन्हीं के आधार पर डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपना *Phonetic Observations of ancient Hindus* नामका ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है ।

कल्प-वृक्षविहित वर्मों की क्रमशः व्यवस्था करने वाले शास्त्र को कल्प कहते हैं । कल्प ग्रन्थ मूल श्रौतों में लिखे गये हैं और चार प्रकार के हैं — श्रौतगूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और कुल्यसूत्र । श्रौत सूत्रों में दर्श पौर्णमास आश्वयुज्य सोमयाम राजपूय सोमयामि अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है । गृह्यसूत्रों में पौर्णमास संस्कारों की विधि का विस्तार है । धर्मसूत्रों में चारों वर्णों तथा आश्रमों और राजनीति का विवेचन है । कुल्यसूत्रों में यज्ञ-वेदी के निर्माण का विधान है ।

ऋग्वेद के आश्वयुज्य तथा आश्वयुज्य नाम के दो श्रौत तथा गृह्यसूत्र हैं । यजुर्वेद काश्वयुज्य श्रौत सूत्र २६ अध्यायों में वर्णमास्य के शाक शौचमासा काश्वयुज्य से प्रकाशित हुआ है । यजुर्वेद का गृह्यसूत्र पारश्वर शास्त्रसूत्र है । इसमें तीन काण्ड हैं । काश्वयुज्य रविन मूलसूत्र भी काशी में प्रकाशित हुआ है । इन्हें यजुर्वेद के श्रौतगूत्र हैं — आश्वयुज्य श्रौतगूत्र या काश्वयुज्य श्रौतगूत्र शौचमास आश्वयुज्य तथा मानव ।

घोटसूत्र वैमिनीय शाखा से सम्बन्ध है। कौबुमी शाखा का घोटसूत्र प्राचीन है। रामायणीय शाखा का सादिरगृहसूत्र तथा वैमिनीय शाखा का वैमिनीय गृह सूत्र क्रमशः मैसूर तथा साहोर से प्रकाशित हुए थे।

अपर्बदेव का चैतान घोटसूत्र तथा कौमिक गृहसूत्र क्रमशः सञ्जन तथा अमेरिका से प्रकाशित हुए हैं। ४१० गाँवों ने प्रथम तथा कसेन्द्र ने दोनों पर अनुवाद तथा टिप्पणियाँ लिखी हैं। यातु विद्या तथा औपध विज्ञान के लिए ये सूत्र अतीव उपयोगी हैं।

धर्मसूत्रों में सबसे प्राचीन मानवसूत्र हैं जिनका उल्लेख गार्गिस आदि ऋषियों में किया है परन्तु ये मनु प्रोक्त धर्मसूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं। इन सूत्रों के आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का निर्माण हुआ। इस स्मृति में मिमांसक भी होती रही। यह मनुस्मृति कई संस्करणों में आज उपलब्ध है। मानव धर्मसूत्र के उपरान्त प्राचीनता में गौतमधर्मसूत्रों का स्थान है। ये सूत्र हरदत्त की व्याख्या के साथ आनंदात्मन पूना से और मत्सरि भाष्य के साथ मैसूर से प्रकाशित हुए हैं। गौडायन तथा बसिष्ठ दोनों ने अपने अपने धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्रों से सहायता ली है। गौडायन धर्मसूत्र भी प्राचीन है। इसमें पुरातन धर्मियों के नामों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख है। आपस्तम्ब धर्मसूत्रों की माया गौडायन से भी प्राचीन है। इसमें अनेक अभ्यवहृत शास्त्रों का प्रयोग हुआ है। इसमें भी प्राचीन धर्म सूत्रकारों तथा आचार्यों के नाम आते हैं यथा-काम्य कृत्तिक कौत्स नाप्यायणि हारीत श्वेतकेतु आदि। आपस्तम्ब धर्म-सम्बन्धी अनेक विषयों में पूर्ण होने पर भी बर्ण सङ्कर आचार्यों का कोई विवरण नहीं देता जो प्रायः सभी धर्मसूत्रों या स्मृतियों की विशेषता है। हिरण्यकेशी धर्मसूत्र आपस्तम्ब धर्म सूत्र की ही छाया है। विष्णु धर्मशास्त्र मनुस्मृति का अनुकरण करता है। हारीत और शंख के धर्मसूत्र भी प्राप्त हुए हैं। बसिष्ठ धर्मशास्त्र छोटा है परन्तु है महत्वपूर्ण। इसमें ऋग्वेद तथा इन्द्र यजुर्वेद के मंत्र उद्धृत किये गये हैं। मनुस्मृति से भी इसका बलिष्ठ सम्बन्ध है। वाककन इसमें ३० अध्याय पाये जाते हैं परन्तु हस्तलिखित प्रतिमें में अध्यायों की संख्या त्रिध त्रिध है। जत इसके मूलरूप का पहिचानना कठिन है। गौतमधर्मशास्त्र के साथ इसका साम्य अधिक है। संभव है दोनों की सामग्री किसी प्राचीन ग्रन्थ से ली गयी हो।

याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में बसिष्ठ को उद्धृत करते हैं। परवर्ती कुमारिल विश्वरूप मेघातिथि आदि भी सम्मानपूर्वक उनके नाम का स्मरण करते हैं। बसिष्ठ धर्मशास्त्र सूत्रों की जैसी में लिखा गया है वस्तुतः भी कहीं कहीं पर आते हैं। इसके प्रारम्भ में आचार मध्य में व्यवहार तथा अन्त में प्रायश्चित्त का विभाग बलित है। मनु की भाँति बसिष्ठ का भी मत यही है कि आचार ही सबका प्रमुख धर्म है। आचार से हीन ब्राह्मण भले ही चायनेवों को पण्डित हो और वाशिक हो, पर उन्हे

परमात्मा नहीं माना जा सकता । 'वसिष्ठ वा मादेशः' —

'यमं चरत मायमं सत्यं ब्रह्म मायुनम् ।

वीर्यं पश्यत माह स्वं परंपश्यत मापरम् ॥ ' १०-१ ॥

यमं पर पश्यो अयमं पर नहीं । सत्य वासो झूठ नहीं । ब्रह्मर्षी ब्रह्म, प्रत्यक्ष से ही मत बिगड़े रहो । पर अर्थात् देखो तो देखो अगर अर्थात् नीच को नहीं । वसिष्ठ ने प्रारम्भ की अवेगा कर्ममार्ग को भेद्यस्तर माना है । मनु की स्मृति सर्वोत्कृष्ट है । उसमें सभी विषयों का विमल विवेचन पाया जाता है ।

**निबल्ल**—निबल्ल व्याकरण से पृथक् एवं विद्या है जिस निर्वचन विद्या भी कहा जाता है । निबल्ल नाम के कई ग्रन्थ थे, परन्तु इस समय यादगुप्त निबल्ल ही उपलब्ध है । यह निबल्ल भी व्याख्या है । निबल्ल के रचयिता प्रजापति कश्यप माने जाते हैं । निबल्ल यास्क के अनुसार समाध्याय है । यास्क ने निबल्ल के तीन अर्थ दिये हैं—निगमनात् निगन्तु । निगन्तु का ही निबल्ल रूप हो गया । आह्वनात् निहन्तु । यह निहन्तु मन्त्र निबल्ल में परिवर्तित हुआ । आह्वनात् निहर्तु । निहर्तु का निबल्ल हुआ । निगम मन्त्रों के नाम का नाम है । ऐसे निगम यास्क के द्वितीय नैमम काण्ड में उद्धृत हुए हैं । आह्वन् का अर्थ है—आ=चारों ओर से एकत्र करके हन्=पढ़ना । हन् वाद का यह अर्थ प्राचीन है । यथा ब्राह्मणहन्म आह्वतम्—ब्राह्मण ग्रन्थ में यह पढ़ा गया है । नैमिक काण्ड में भी यथा यथा जैसे एकार्थवाची मन्त्र एकत्र पड़े गये हैं । आह्वन का अर्थ है चारों ओर से खींच लेना । इस प्रकार से अर्थ प्रकट करने के लिये मन्त्रों से कठिन पद खींचे गये । ये पद एकार्थवाची नहीं हैं । मिश्र मिश्र अर्थों के घोटक हैं । निबल्ल के इन तीन अर्थों के कारण यह तीन प्रकार का हो जाता है ।

निबल्ल के मूल रचयिता परम्परा में प्रजापति कश्यप माने जाते हैं । निबल्ल में पाँच अध्याय हैं । प्रथम तीन अध्यायों को निबल्ल काण्ड कहा जाता है । चतुर्थ अध्याय नैमकाण्ड है और पाँचवाँ अध्याय वैवत काण्ड कहा जाता है ।

निबल्ल के व्याख्यापरक ग्रन्थ निबल्ल है । यास्क का निबल्ल प्रख्यात है ही, परन्तु उसके पहले १६ निबल्लकार और हो चुके हैं । दुर्गाचार्य ने 'निबल्ल चतुर्विध प्रमेयम्' ऐसा लिखा है । इनमें आकुम्भरायण औपमन्यव और्वनाम कात्थक्य पार्थ्य पासव बाध्यमिनि साकपूणि स्त्रीसाप्तीनि आदि के नाम स्वयं यास्क ने अपने निबल्ल में उनके मतों के साथ लिखे हैं । इनके ग्रन्थ अब अनुपलब्ध हैं । केवल यास्क—रचित निबल्ल का ही पठन-पाठन प्रचलित है ।

निबल्ल पर दुर्गाचार्य की टीका प्राचीनतम है । पूर्व में पहले के टीकाकारों के नाम भी मिलते हैं परन्तु उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । दुर्गा के उपरान्त स्कन्धमहेश्वर की टीका भी प्राश्चित्यपूर्ण है । स्कन्ध स्वामी के पिता का नाम भर्तृ प्रभु वा । इनका

अग्नेय पर भाव्य भी प्राप्त होता है। बुर्गाचार्य ने अन्य वेदों की तुलना में निरुक्त को महत्ता दी है, क्योंकि यह वेदार्थ का ज्ञान कराता है।

**छन्दः—** छन्द छादनात्। छन्द की छन्दता है भावों को भाष्पित करने के कारण। छन्द में भाव छन्दित हो जाता है। छन्द भाव को बाँध सेते हैं। छन्द के परिज्ञान के लिये आचार्य पिंगल का छन्द सूत्र प्रसिद्ध है। यह आठ अध्यायों में विभक्त है। इसमें वैदिक तथा सांख्यिक दोनों प्रकार के छन्दों का सक्षम विमर्श है। भट्ट हनुमान ने इस पर मृत संजीवनी नाम की टीका लिखी है जो वक्तव्य से प्रकाशित हो चुकी है।

पाणिनीय छिन्ना (११३) में 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' शब्दों द्वारा छन्द को वेद के पैर कहा गया है। छन्द वेद मंत्र का आधार है। वेद के सभी मंत्र छन्दात्मक नहीं हैं। यजु तथा अथर्व में सद्यभाग भी पर्याप्त है परन्तु उसे भी छन्द की संज्ञा प्राप्त है। यजु के गद्यमय मंत्र-भाव के ऊपर भी छन्द का नाम लिखा रहता है। पुरुषसूक्त में जहाँ चार वेदों के नाम आये हैं वहाँ छन्द छन्द अथर्व वेद के लिये आया है। पाणिनि ने छन्द का प्रयोग समस्त वेद के लिये भी किया है। कात्यायन ने अपनी सर्वाङ्गश्रुति में छन्द का सक्षम इस प्रकार किया है—यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः। वैदिक छन्दों में अक्षरों की संख्या परिपणित होती है ह स्त-वीर्य मात्रा-मेर की नहीं। सामान्यतः छन्द चार चरणों का होता है परन्तु वेद में गायत्री तीन चरणों की तथा पंक्ति छन्द पाँच चरणों का होता है। एक पाद तथा दोपाद वाले मंत्र भी वेद में पाये जाते हैं परन्तु प्रधानता चार चरणों वाले मंत्रों की ही है। संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में छन्द चार चरणों वाले ही हैं यद्यपि हिन्दी में कुछ छन्द जैसे छप्पय तथा कुण्डलिया छ. चरणों के हैं। इन छन्दों का विस्तार वैदिक छन्दों से ही हुआ है। वेद का अनुष्टुप महर्षि वास्नीकि की रामायण का आधार छन्द बना और परवर्ती साहित्य में उसका बाहुल्य से प्रयोग हुआ। त्रिष्टुप से इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्र-वज्रा का उदय हुआ। वसन्ततिलका शकरी से उत्पन्न हुआ। शकरी सामपायकों का प्रिय छन्द है। संस्कृत और हिन्दी में मुख्य गणात्मक छन्द भी हैं जिनके चरणों में अक्षर तथा मात्राएँ समाज रहती हैं। वेद में इस प्रकार के छन्द नहीं हैं। वेद की मीति हिन्दी तथा संस्कृत में समाक्षरात्मक छन्द हैं।

पीछे संक्षेप पर लिखते हुए हम वैदिक छन्दों पर अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। अनुक्रमिकाओं में आचार्यों ने प्रत्येक संहिता के छन्दों का वर्णन सूक्ष्मेक्षिका से किया है। श्रुत प्रातिशाख्य ऐसा ही ग्रन्थ है। कात्यायन की सर्वाङ्गश्रुति में भी अग्नेय के छन्दों का विवेचन है।

वैदिक छन्द समाक्षरात्मक हैं परन्तु श्रुत प्रातिशाख्य १७-२ के अनुसार किसी छन्द के एक पाद में अक्षरों की संख्या म्यूनाधिक भी हो जाती है। ऐसी दशा में छन्द का नाम बदल दिया जाता है। गायत्री त्रिपदा और अनुष्टुप चतुष्टुप अक्षरा है परन्तु कभी कभी एक पाद में एक अक्षर कम हो जाता है तो उसे त्रिष्टुप गायत्री और एक

अक्षर अधिक हो जाता है तो उसे मूर्ति गायत्री कहा जाता है। कभी कभी दो अक्षरों का भी म्युनाचिक्य हो जाता है। यथा २९ अक्षरों की गायत्री बिराट गायत्री और २६ अक्षरों की स्वराट् गायत्री कहा जाती है।

जब किसी अक्षर की कभी हो तो सन्ध के उच्चारण को कुछ रखने के लिये सयुक्ताक्षर का व्युत्पन्न कर देते हैं, यथा— गायत्री के प्रथम चरण में सात अक्षर हैं, उन्हें साठ बनाने के लिये बरेष्मम् को बरेणिमम् पढ़ेंगे। इसी प्रकार एवं को तुवं, एवं को सुभं मोक्ष को मो अब प्रहर्षितु को प्रहृष्ट एतु पढ़ा जायगा।

गायत्री के तीनों चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। उष्णिक के प्रथम दो पद आठ-आठ अक्षरों के और तीसरा १२ अक्षरों का होता है। पुर उष्णिक में इसके विपरीत प्रथम चरण १२ अक्षरों का तथा द्वेप दो आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। ऋग्वेद के तीनों चरण ८-१२-८ अक्षरों के और अनुष्टुप के चारों चरण आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। बृहती के १ २ ४ चरणों में आठ-आठ परन्तु तृतीय चरण में १२ अक्षर होते हैं। सप्तो बृहती में अक्षरों का क्रम १२-८-१२-८ होता है। पंक्ति के पाँचों चरण आठ-आठ अक्षर रखते हैं। प्रस्तार पंक्ति में चार ही चरण होते हैं जिनमें अक्षरों का क्रम १२-१२-८-८ होता है। शिष्टुप के चारों चरण ११-११ अक्षरों के और जगती के चारों चरण १२-१२ अक्षरों के होते हैं। इन्हीं छन्दों के और भी अनेक भेद भेद में पाये जाते हैं। संस्कृत तथा हिन्दी में छन्दशास्त्र का अधिक विकास हुआ। यादव प्रकाश ने अपने पिता-छन्द सूत्र माध्य के अन्त में छन्द शास्त्र के आचार्यों के नाम परम्परा के रूप में इस प्रकार दिये हैं— भव (महादेव) बृहस्पति बृहस्पति (इन्द्र), मुनि माण्डव्य सैतन यास्क और पिप्पल। एक परम्परा और भी है जिसमें महादेव के पश्चात् गुह तथा सनत्कुमार के पश्चात् बृहस्पति का नाम आता है और इन्द्र के पश्चात् पतञ्जलि तथा पतञ्जलि के शिष्य पिप्पल लिखे गये हैं। पतञ्जलि कविपति हैं तो पाणिनि तथा पिप्पल दोनों आता नामवंशीय हैं। परवर्ती कृतियों में आचार्य वण्डी का छन्दों विधि विधिवि अयकीति का छन्दोज्ञानासन का सिद्धान्त का धृतबोध केवार मृदु का वृत्त रत्नाकर गंगमृदु का छन्दों मंजरी आदि प्रख्यात ग्रन्थ हैं। हिन्दी में भागु जी के छन्द प्रभाकर की टक्कर का ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। वेताव जी का प्रासपुष्प भी अच्छा ग्रन्थ है।

ज्योतिष — ज्योतिष की महत्ता सिद्धान्त-सिरोमणिकार के इस श्लोक से सिद्ध होती है—

वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा मोक्षास्ते तु कासाभयेष ।

शास्त्रावस्मात् कालबोधो यत स्यात् वेदाः परम् ॥

ज्योतिष स्योक्तमस्मात् ॥

वेद यज्ञकर्म में प्रवृत्त हैं। यज्ञ कालापिठ हैं। कामज्ञान ज्योतिष से होता है। अतः ज्योतिष की महत्ता निर्विवाद है।

वेद हम ज्योतिष के विज्ञान से परिचित कराता है यह हम प्रमाण पूर्वक पीछे पढ़ेंगे हैं। वेदों के आधार पर परवर्ती युग में यजुर्वेद से सम्बन्धित मानुष

ज्योतिष तथा ऋग्वेद से सम्बन्धित जार्न ज्योतिष का निर्माण हुआ। प्रथम में ४३ तथा द्वितीय में ३१ श्लोक हैं। इन श्लोकों पर व्याख्याओं भी लिखी गई हैं। पारशर्य व्याख्याकारों में डा० श्रीधर का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने १८७७ ई० में बंगाल एथिनाटिक सोसायटी की पत्रिका में इस विषय पर लेख लिखे थे। लोकमान्य बाल गंगाधर टिलक ने बेदाङ्ग ज्योतिष बंधों में तथा चक्र बालकृष्ण श्रीधर ने भारतीय ज्योतिष शास्त्र मराठी में लिखा था। सुभाकर द्विवेदी ने बेदाङ्ग ज्योतिष का संस्कृत में भाष्य किया था। काशी-बासी लोमाकर जी ने भी प्राचीनकाल में इस पर अपना भाष्य लिखा था। जार्न ज्योतिष श्लोक २ में भूहस्ता लक्षण दो बेदाङ्ग ज्योतिष का रचयिता माना गया है।

संस्कृत में, ज्योतिर्विद्यासरण सिद्धान्त शास्त्र, ज्योतिषचक्रिका मूर्तचिन्ता मणि पारस्करिय सौमन्योप भाषि अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। चरहमिहिर तथा भार्वकद्वय ज्योतिष विज्ञान के लिये प्रख्यात हैं।

भारत में ज्योतिष विज्ञान के लिये बेचसाताओं का निर्माण हुआ था। उज्जयिनी की बेचसाता बहुत दिनों तक कार्य करती रही। जब उसकी देख-रेख करने वाला कोई भी नहीं है। जयपुर में राज्य की ओर से एक बेचसाता बनाई गई। वह अब भी चल रही है। दिल्ली का अंतर-अंतर भवन अबस्था में है। जब तो ग्रीनविच की बेचसाता ही सर्वोपरि है और जहाँ की जाल पधित भाषि सब उसी से संचालित होता है। जिस ज्योतिष का केन्द्र कभी भारत की उज्जयिनी मणरी भी उसका केन्द्र जब इन्वैन्स में पहुँच गया है।

व्याकरण — जिस प्रकार ज्योतिष बेचपुस्त का बल है, उसी प्रकार व्याकरण बेचपुस्त का मुख है। ऋग्वेद का निम्नांकित मन्त्र व्याकरण शास्त्र का बीज माना जाता है —

अत्वारि नृ गा यो अस्य वाहा हे सीर्वे सप्तहस्तासो अस्य ।

जिना अयो नृपसो योरवीति मही देवो यमो भाषिदेव ॥ ४-४८ ३

व्याकरण को इस मन्त्र में नृपस से उपमित किया गया है। यह महादेव मनुष्यों में प्रसिद्ध है। इसके चार चीज हैं — नाम व्याख्या उपसर्ग और निपाठ। तीन पैर हैं — भूत वर्तमान और भविष्य। इसके दो गिर हैं — सुप् और सिङ्। इसके सात हाथ हैं — सात विभक्तियाँ। यह तीन स्तम्भों में बंधा है — धिर कण्ठ और हृदय।

व्याकरण का विषय वाणी है। मानव जीवन के समस्त व्यापार वाणी द्वारा ही सम्पादित होते हैं। यह वाणी चार प्रकार की है — अत्वारि वाक परिमिता पवामि' ये चार भेद बाहर से भीतर तक गये गये हैं और वाणी के घूस ओठ का भी निर्बंध करती हैं। वाणी का जो बाहर का भाग है उसकी संज्ञा वैयाली है। मानव इसी का प्रयोग करते हैं। वेग भेद से इनका भी अनेक भेद है। वैयाली के पीछे मध्यमा वाणी है जिसका इजान नम है। मध्यमा के भी पीछे परमाती है जिसका ज्ञान महत्त्व या व्यापक मूर्ति तत्त्व है। परमाती का पीछे

को आत्मा के साथ रहती है ।

पान्तिनीय सिद्धांत में बाणी ने प्राक्दूय का वर्णन इस प्रकार है —

आत्मा बुद्ध या समीपार्थान मनोयुक्ते जिवसया ।

मनस्तु कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मातृतम ।

मातृतस्तु चरम भर्त्तु ततो जनयति स्वरम ॥

आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्था के साथ सगमन करती है और बोसने की इच्छा से मन को युक्त करती है । मन कायाग्नि पर चोट करता है । कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है और प्राण धीरे-धीरे जल कर स्वर या बाणी को उत्पन्न करता है ।

को बाणी प्रकट हो जाती है उसे तो हम सब जानते हैं परन्तु उसके को तीन आम्पन्तरक्य हैं उन्हें सब नहीं मनीषी साक्षात् ही जान पाते हैं । 'भीमि पदा मिहिता मैगयन्ति' बाणी के तीन पद भीतर छिपे हैं इंगित नहीं हो रहे । 'तुरीय बाणो मनुष्या वदन्ति' बाणी का चतुर्थरूप ही व्याकरण का विषय बनता है ।

व्याकरण का प्रारम्भ कैसे हुआ ? इस विषय पर ऐतिहासिक संहिता का निम्नांकित उद्धरण ध्यातव्य है —

नाम र्बे पराधी अभ्याकृता जगदत । ते देवा इन्द्रमबुवन इमां नो वाचं व्याकुरु इति । सोऽब्रवीत् वरं वुच । मह्य चैवीय वापये च सद् गुह्यता इति । तस्माद् ऐन्द्रवापयं सद् वुह्यते । तामिन्द्रो मप्यतो जगदकम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वापुयते ।

प्राचीन काल की बाणी अभ्याकृत थी । देवों ने इन्द्र से कहा—हमारी इस बाणी को व्याकृत कर दो । इन्द्र ने कहा 'अच्छा' । येरे लिये और वायु के लिये यह साध साध प्राप्त होनेगी । इसीलिये इन्द्र और वायु सम्बन्धी वाक एक साथ प्रह्वन की जाती है । इन्द्र ने उस बाणी को बीच से चीर कर या कम बिच्छे करके व्याकृत कर दिया । इसी हेतु यह व्याकृत बाणी बाली जाती है । इन कथनों द्वारा ऐतिहासिक संहिताकार इन्द्र को प्रथम व्याकरण मानता है । महर्षि शाकटायन ऋक्संह में इस कर्म को और पीछे ठरु से मरे हैं । उनके अनुसार ब्रह्मा सर्व प्रथम व्याकरणकार हैं । उन्होंने इस शास्त्र का ज्ञान बृहस्पति को दिया । बृहस्पति से इन्द्र को इन्द्र से मरुताम को मरुताम से ऋषियों को और ऋषियों से ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ । पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इसी तथ्य का समर्थन किया है । ब्रह्मा का उन्होंने छोड़ दिया है और मिसा है — बृहस्पतिरथ ब्रह्मा । इन्द्रवसप्येता । दिव्यं वर्त्तसहस्रम अभ्ययनकालः । जन्तं च न जगाम । ( पञ्चमाह निक ) बृहस्पति ब्रह्मा ये । इन्द्र विद्यापीं ये । सहस्र दिव्यवर्षों तक अभ्ययन का कर्म चला परन्तु व्याकरण शास्त्र का अन्त न मिसा ।

शाकटायन ब्रह्मा को मूल व्याकरण मानते हैं तो एक सांप्रदायिक किम्बदन्ती महेश्वर को यह गौरव प्रदान करती है । पानिनि के प्रत्याहार मूल महादेव के इमर की ध्वनिमान है । बृहस्पति और इन्द्र अपने अपने स्थान पर हैं । महेश्वर ने भी बृहस्पति को ही व्याकरण की जिम्मा दी थी और ऋक्संह में भी ब्रह्मा को । यह है

निष्पृथ होकर व्याकरण अपनी भुक्ता में कम होता गया। माहेश्वर ( या ब्राह्म ) व्याकरण समुद्र या तो बृहस्पति का व्याकरण—ज्ञान अर्चकुम्भ—परिणत जल के समान रह गया। उसका भी यथास्तमाय ऐन्द्र व्याकरण बना और पाणिनि के पास तो कृताग्र बिन्दु ही रह गये।

बोपदेव ने वैयाकरणों के नाम इस प्रकार दिये हैं —

इन्द्रवज्र- काशकृत्स्नापिशाली शाकटायन ।

पाणिन्यमर जनेश्वर- अयमयट्वादि शाब्दिका ॥

इन्द्र, वज्र, काशकृत्स्न आपिशालि शाकटायन पाणिनि अमर जनेन्द्र अयन्ती ये आदि शाब्दिक अर्थात् शब्दानुशासन कर्ता हैं। इन वैयाकरणों के साथ नन्दिनेश्वर बरहनि बोपदेव अनुसूति स्वर्णाचार्य, कवट नागेश भट्ट भट्टोजी दीक्षित आदि के नाम भी प्रख्यात हैं।

पाणिनि का व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त है और उसमें बार हजार सूत्र हैं। शाकटायन ने इस पर आर्तिक लिखा और पञ्चभक्ति ने महामाध्य की रचना की। व्याकरण में यही तीन मुनि प्रामाणिक माने जाते हैं और तीन में भी कमजोर उतरो चार प्रामाण्य के अधिकारी हैं। एक प्राचीन व्याधि महर्षि भी 'संग्रह' नामक व्याकरण के रचयिता माने गये हैं, पर उनका ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। कामत तथा अयादित्य की लिखी काशिकावृत्ति भी लघुभाष्यायी की विचार व्याख्या करती है। जिनेन्द्र बुद्धि का लिखा व्यास भी काशिका वृत्ति की व्याख्या में लिखा गया है। हरदत्त की पद मञ्जरी भी काशिका की ही व्याख्या करती है।

महार्मा भट्टहरि का भाष्यपरीय दर्शनपरक व्याख्या के कारण व्याकरण का जन्मठा ग्रन्थ माना जाता है। भट्टहरि जीव थे। इनके अनुसार स्फोट ही एकमात्र तत्त्व है। अक्षर या ध्वनि ही रचना के मूल में है। ब्रह्माण्ड अक्षर या ध्वनि (स्फोट) का ही परिणाम है। 'शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्यन्त्यापदिशो विदुः'। बट्टैतबार के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में बहिरु सम्प्रदाय स्वयं जगत् की सृष्टि का मूल कारण (ओमाक्ष-वर्णनीयुत) स्वीकार करता है। आवाज रचना में प्रथम तत्त्व है और उसका गुण अक्षर ही है। भट्ट ने भी लिखा है — वाक्यार्थः निवृत्ता सर्वे वाङ्मूला 'वाङ्मनिस्सुता' । ४-२३६ ॥

महामाध्य पर कव्यट द्वारा विरचित भाष्य प्रदीप एक प्रख्यात ग्रन्थ है जिस पर नागेश भट्ट ने अपना उद्योत लिखा है। भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कीमुदी अष्ट कीलुम और मनोरमा नाम के तीन ग्रन्थ लिखे। नागेश भट्ट थे पाणिनीय परि-भाषाओं को स्पष्ट करने वाला परिभाषेणु सेनर लिखा। भट्टादि दीक्षित की मनोरमा पर इन्होंने अपना व्याख्यानरक लब्धेदु पत्र लिखा। इनकी लघुब्रह्मरूपी भी लब्धार्थ भीमासा के लिये अतीव उपयोगी है। मशहूर भट्ट का व्युत्पत्तिवाद भी



व्याकरण ज्ञान के लिये एक खेप्ट ग्रन्थ है। भरद्वाज आचार्य की सभु सिद्धान्त कौमुदी भी प्रारम्भिक संस्कृत विद्याधियों के लिये उपयोगी है। वैयाकरण सूपम सार और सारस्वत सिद्धान्त चन्द्रिका भी व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

### च बृहद्देवता तथा अनुक्रमणिकार्ये

उपयुक्त ग्रन्थों ब्राह्मणों आरण्यकों, उपनिषदों तथा वेदाङ्गों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थ भी वेदों पर लिखे गये जो ऋषि वेद छन्द, पद्य आदि से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें सौतक—कृत बृहद्देवता का स्थान सर्वोपरि है। डा० मैकडोनाल्ड ने इसे मत्स्य सारवाणी के साथ सम्पादित करके हारबार्ड औरियेण्टल सीरीज में प्रकाशित किया है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में भूमिका सहित भूम ग्रन्थ और दूसरे भाग में ब्रह्म की अनुवाद है।

सौतक ने इस ग्रन्थ में यास्क के निरुक्त से सहायता लेकर ऋग्वेद के देवताओं पर अनुपम सामग्री का सङ्कलन किया है। यास्क का अनुकरण तथा निरुक्त से अनेक वाक्यों का उद्धरण तो इस ग्रन्थ में ही है। परन्तु वहाँ असुखियां ज्ञान पड़ी हैं जहाँ पर उनका निर्देश भी किया गया है। देवता सम्बन्धी आख्यान भी दिये गये हैं। बृहद्देवता में सौतक ने आचार्यों में अपना नाम भी दिया है। बृहद्देवता के अतिरिक्त सौतक ने ऋग्वेद से सम्बद्ध आपानुक्रमणी ऋग्वेदानुक्रमणी सूक्तानुक्रमणी अनुवाकानुक्रमणी प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों की भी रचना की है।

सर्वानुक्रमणी — इसके रचयिता कार्यायन हैं। सूक्त प्रणाली में ऋग्वेद के सूक्त ऋचायें ऋषि योज देवता छन्द आदि प्रायः सभी विषयों पर इस ग्रन्थ में आवश्यक सामग्री एकत्र कर दी गई है। मैकडोनाल्ड ने इसका भी सम्पादन किया है। सुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूक्त का प्रणयन सर्वानुक्रमणीकार कार्यायन का ही किया हुआ है।

सामवेद से सम्बद्ध कार्यायनकृत उपग्रन्थसूत्र तथा पञ्चजलि प्रणीत निदामसूत्र के अतिरिक्त कठिपम अथ्य हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं यथा कस्यानुपदसूत्र, अनुपदसूत्र उपनिदानसूत्र (दोनों आचिकों के छन्दों से सम्बद्ध) पञ्चविधानसूत्र (जर्मनी से साइमन द्वारा प्रकाशित) आदि।

अथर्ववेदीय अनुक्रमणिकाओं में पञ्चपटसिका (जिसमें काण्डों तथा मन्त्रों की संख्या दी है) दशयोष्टिकिचि (उच्चारण से सम्बन्धित) प्रातिशाख्य तथा बृहद् सर्वानुक्रमणी उपलब्ध हो चुके हैं। चारों वेदों की शास्त्राओं का विवरण चरमम्बुह सूत्र में है जिसके प्रणोता जोगक है। चात्रिवेद की नीतिर्यजुसी जो संभवतः सोतहरी यथाग्नी में लिखी गई ऋग्वेद के आख्यानों से सम्बद्ध है।

वेद सुरक्षित रहें इसके लिये हमारे पूर्वजों ने अनुपम कार्य किया है। जटा, बाना जिगा रेया, एवम एवम एव तथा धन पाठों को प्रश्रुत करके उम्होंने वेद के

एक-एक शब्द तथा अक्षर को माथातध्यक्ष में हम तक पहुँचा दिया है। बेरपाठी पाहे पछर का हो, चाहे दक्षिण का जब बेदों का उत्तर पाठ करेगा तो भारतीय एकता का स्वर मुखरित होने लगेगा। हमारे पूर्वज महर्षि शाकस्य ने ऋग्वेद का पद-पाठ प्रस्तुत किया। महर्षि यास्क उनके पद-पाठ को कहीं-कहीं स्वीकृत नहीं करते। मुगल यजुर्वेद के भी पद-पाठ उपलब्ध हैं, परन्तु किसने किये-यह अज्ञात है। तृतीय संहिता के पद-पाठकार आनेय हैं। गार्ग्य ने सामवेद का पद-पाठ बनाया। गार्ग्य का पदपाठ शाकस्य का अनुगमन करता है। अथर्ववेद के पद-पाठकार का नाम अज्ञात है।

## छ. भाष्यकार

भाष्यकारों ने भी वेद के मर्म को सुरक्षित रखने में स्वाध्यायीय योगदान दिया है। ऋग्वेद का भाष्य मातृवद्वट स्कन्धस्वामी नारायण उन्नीस ब्रह्मसाम, नानन्दतीर्थ आदि ने किया। तृतीय संहिता पर नवस्वामी पुद्गेह शूर भट्ट भास्कर मिथ आदि के भाष्य हैं। शुक्ल यजुर्वेद पर उन्मट तथा महीश्वर के भाष्य हैं। सामवेद पर मातृवद्वट स्वामी गुण विष्णु आदि ने भाष्य लिखे। छायन ने शुक्ल यजुर्वेद को छोड़कर सैप सभी संहिताओं कतिपय शास्त्रों तथा आरण्यकों पर भाष्य लिखकर या लिखवा कर जो कार्य किया वह भारतीय वाङ्मय में चिरस्मणीय रहेगा।

वर्तमान काल में पं० मधुसूदन बोझा महर्षि दयानन्द, योगिराज बरबिन्द, पं० सत्यव्रत सामभनी आदि ने वेदों पर अग्रे कार्य किया है। महर्षि दयानन्द और उनके अनुयायियों ने वेदों को सर्वसुलभ बना कर जनता तक पहुँचाया और बोधना की कि प्रभु की सृष्टि की जाति वेदों पर भी अनुपममात्र का अल्पसिद्ध अधिकार है। यजुर्वेद के २१ वें अध्याय का द्वितीय मन्त्र यही बोधना कर रहा है। संस्थाओं में तिलक विद्यापीठ पुना स्वाध्यायमण्डल पारसी साधुनाथम होशियारपुर वैदिक शोध संस्थान कामपुर पुस्तकालय का वेद संस्थान अजमेर तथा दिल्ली का कार्य उपयोगी तथा महत्वपूर्ण है।

हम पुनः पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों पर स्तुत्य कार्य किया है। जब वे दक्षुम्ता का अर्धश्री अनुवाद यूरोपीयों के पास पहुँचा तभी से संस्कृत के प्रति उनका अनुराग व्याप्त हुआ और विद्वानों की एक शृङ्खला की शृङ्खला संस्कृत के अध्ययन में जुट गई। कोसलुक ने वैदिक ग्रन्थों से पाश्चात्यों का परिचय कराया। रोडें ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक पर उपपाठ किया। फ्रीड ने अर्धक महोदय ने अपना शिष्य मध्यम तैयार किया। जर्मनी में उनके शिष्य क्रीष्णरौप ने वैदिक अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पद्धति का आग्रह किया और औपनिषद के साथ सैम्पीटीयर्स संस्कृत-जर्मन कोष साठ भागों में प्रकाशित किया। मैग्नुस आर जर्मनी से चल कर ईम्मेन्ड के निवासी बन गये और सहायता के साथ संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके अनेक ग्रन्थों का निर्माण कर गये। जर्मनी को वे मार्मन्ड देव और आर्य आर्य

उन्होंने मोक्षमूलक भट्ट कर लिया था। उन्होंने सामान्यभाष्य के साथ श्रुतवेद का सम्पादन किया। ओरियण्टल सीरीज में उनके तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों के अनुवादित वैदिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। बबर ने यमुबेद की दोनों शाखाओं का संपादन किया। थोबर ने काठक तथा मैत्रायणी संहिता पर कार्य किया। ब्रिटने ने अथर्ववेद का अनुवाद किया। ब्लूमफील्ड ने श्रुतवेद की पुनरुक्तियों की मीमांसा की। हीग ब्लोफेल्ड प्रासमैन झुडविग वनेल अर्टस कैल्वीन गार्बे प्रिपिथ मैकडोनल, कीथ आदि अनेक विद्वानों ने वेदों तथा उनके व्याकरण छन्द इतिहास आदि पर जो परिश्रम किया है वह हम भारतीयों के लिये अनुकरणीय है।

## ज अथ साहित्य

पीछे तत्त्व चिन्तन पर जो कुछ लिखा गया है, वह हमारे दर्शन साहित्य की मीठिका है। वर्तन छ. है — न्याय वैशेषिक साध्य योग पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा या वेदान्त। न्याय के रचयिता महर्षि गौतम हैं। इसमें प्रमाण, प्रमेय संलग्न प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाक्य अल्प वितण्डा हेत्वाभास, छम आदि तथा निग्रह स्वान इन पौडन पदार्थों का तात्त्विक विवेचन किया गया है। इस विवेचन के प्राचीन न्याय तथा मनीन न्याय को विभाव्य हो गये। एक में पदार्थ मीमांसा तथा दूसरे में प्रमाणमीमांसा को प्रमुखता प्राप्त हुई। पदार्थ मीमांसकों में भाष्यकार वात्स्यायन आतिशकार उल्लोचकर तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट तथा तात्पर्य प्रसिद्धिफार उदयन के नाम प्रख्यात हैं।

प्रमाण मीमांसकों में संक्षेप उपाध्याय रघुनाथ शिरोमणि मधुरानाथ तथा पदार्थ भट्ट प्रसिद्ध हैं जिनके क्रमशः तत्त्व चिन्तामणि उस पर वीचिचि नाम की टीका वीचिचि पर रहस्य नाम की टीका तथा गादावरी ग्रन्थ नव्यन्याय की प्रतिष्ठा करने वाले हैं।

वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद हैं। इन्होंने अम्युवय तथा नि श्वेयस की सिद्धि करने वाले तत्त्व को बर्म कहा है। अम्युवयकारक पदार्थ सात है — द्रव्य भुज बर्म सामान्य विधेय समवाय तथा अभाव। द्रव्य भी है। भुज और बर्म इन्हीं के आश्रित बर्म हैं। तीनों के समान-अर्थों के योग को सामान्य कहते हैं। विधेय का अर्थ है वैधर्म्य जो एक पदार्थ को दूसरे से पृथक् करता है। समवाय नित्य सम्बन्ध का नाम है। अभाव का अनुभव भी मानव किया ही करता है। इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से आत्मबोध होता है जो नि श्वेयस का कारण है।

प्रसस्तपाव ने वैशेषिक पर पदार्थबर्म सग्रह नाम का स्वतंत्र भाष्य लिखा है। इस भाष्य पर भी व्योम सिवाचार्य की व्योमवती उदयन की निरणावली आदि कई व्याख्यायें लिखी गईं। अकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्रों पर उपस्कार नाम का भाष्य लिखा है। अर्ध भट्ट का तर्क संग्रह भी इस विषय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

सांख्यदर्शन के रचयिता कपिल हैं जिन्होंने प्रकृति तथा पुरुष को सत्ताओं की

ध्यास्या अपने वास्तव में की है। प्रकृति सत रज, तम की साम्यावस्था है। इनमें वैषम्य आता है। पुरुष की दृष्टि से और संसार की रचना होती है। प्रकृति से महान महान् से बहंकार और बहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इन्हें सप्त विहृतियाँ कहा जाता है। इन्हीं से आये पञ्चमहाभूत इन्द्रिय आवि उत्पन्न होते हैं। पुरुष दो प्रकार का है — बीवारमा और परमात्मा। परमात्मा एक है परन्तु बीवारमा अनेक हैं। बीवारमा का संसार के साथ सम्बन्ध उसका बंधन का कारण है और उससे छूट कर परमात्मा की प्राप्ति करना ही मोक्ष है। सांख्य ने बौद्धों को अधिक प्रभावित किया। बौद्ध परमात्मा को नहीं मानते। उनका एक ही आत्मा को भी स्वीकार नहीं करता। पञ्च स्कन्धों का बना एक दीपक जल रहा है। इस दीपक का बुझ जाना ही बौद्धों की दृष्टि में निर्वाण है।

सांख्यकार कपिल ने सिध्य आसुरि और आसुरि के सिध्य पञ्चशिखाचार्य ने जिन्होंने सांख्य वास्तव से संबद्ध पण्डितग्न की रचना की। इनके बहुत समय बाद ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका लिखी जिसका अनुबाध परमार्थ द्वारा बीनी मापा में हुआ। आचार्य माठर की कृति चौड़ पाद की युक्तिशीपिका और बाचस्पतिमिश्र की तत्त्वकौमुदी सांख्य-सिद्धान्त के विशेष प्रचारक ग्रन्थ हैं।

योग दर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि हैं। इसमें चित्तवृत्ति के निरोध को योग की संज्ञा दी गई है। योग के आठ अंग हैं — यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। पीछे योग और संस्कृति पर लिखते हुए हम इनकी विस्तृत व्याख्या कर चुके हैं। अब चित्त वृत्तियों के नष्ट होने से एकाग्र हो जाता है उसी वह समाधि के योग्य बनता है। इष्ट की स्वकृपावस्थिति कैवल्या वस्था की सूचिका है। बीच में अनेक सिद्धियाँ भी योगी को प्राप्त होती हैं।

योगदर्शन क्लेश कर्म-विपाक तथा आत्म्य से अपरामृष्ट पुरुष विषेय को ईश्वर की संज्ञा देता है। बीच तथा बौद्ध दोनों ही इस दर्शन से प्रभावित हुए हैं। योग पर व्यास का भाष्य बाचस्पति की तत्त्वब्रीह्यारणी विज्ञानमिश्र का योग वार्तिक राजबामन्द का पाठग्न्यस रहस्य आदि कई ग्रन्थ लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं। पारश्वाथ मनीषियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। क्लेश, अमरीका फ्रांस आदि में अनेक व्यक्ति योग का अभ्यास करने लगे हैं।

पूर्वमीमांसा के रचयिता महर्षि जमिनि हैं जिन्हें कवि का अभिधान भी प्राप्त है। जमिनि सती को धर्म की संज्ञा देते हैं जो यज्ञ कर्मों में मानव को प्रवृत्त करे। वेद की निश्चयता तथा उपन्युक्त अनुष्ठित कर्मकाण्ड की महत्ता का ही प्रतिपादन इनकी पूर्व मीमांसा का मुख्य लक्ष्य है।

मीमांसा पर जबर स्वामी का भाष्य प्रामाणिक माना जाता है। इस भाष्य पर भी कुमारिल प्रभाकर तथा मुरारि ने टीकाएँ लिखीं। आचार्य कुमारिल ब्रह्म पद प्रतिपाद्यामी विज्ञान ने जिनके ज्ञान-खड्ग के सामने किसी भी बौद्ध विज्ञान के मुक्ति-वस्तु न टहर सके। इनके श्लोक वार्तिक तथा तर्कवार्तिक में जबर भाष्य की

ही व्याख्या है। भीमासकों में इनका मत भट्ट मत कहा जाता है और इनके गिण्य प्रमाकर का मत मुद्रमठ के नाम से प्रसिद्ध है। इनके एक गिण्य तथा सम्प्रदायी मंडन मिश्र भी अणुसं विज्ञान हुए हैं जिनका आचार्य शंकर से गौरवार्थ हुआ था। मंडन मिश्र ने विधिबिधेय विधिमविधेय आदि ग्रन्थों द्वारा भट्टमत को प्रामाणिकता की मोटि तक पहुंचा दिया। बाचस्पति मिश्र ने विधिबिधेय पर 'न्यायचिन्ता' नाम की टीका लिखी। उम्बेक ने 'वत्सनाचार्य' की तात्पर्य टीका लिखी। कुछ विज्ञान उम्बेक तथा भवभूति भट्ट कवि को एक ही मानते हैं। जमनाकर भट्ट भी १७वीं शती के प्रसिद्ध भीमासक हैं।

भट्टमत के अन्य अनुयायियों में पार्थसारथिमिश्र माधवाचार्य विरोधरमट्ट (गामाभट्ट) अण्यदीक्षित अनन्तदेव आदि विद्वानों का नाम है। प्रमाकर के मत को मुद्रमठ उनके पुत्र कुमारिन द्वारा ही कहा गया था। मुद्रमठ का मत इन दोनों से ही मिश्र था। तत्त्वचिन्तामणि में गंगेश उपाध्याय ने इस मत का उत्तेज किया है। मुरारिस्तुतीय पंथा की उक्ति इसी आधार पर बनी है।

वेदान्त जिसे उत्तर भीमासा भी कहा जाता है महर्षि व्यास का लिखा हुआ है। यह ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। ब्रह्म संसार का उत्पादक पारक तथा संहारक है। वेदान्त पर कई शास्त्राधिकार्य माध्य लिख गये हैं जिनमें आचार्य शंकर का शरीरक माध्य, रामानुज का श्रीभाष्य निम्बार्क का वेदान्त पारिजात वत्सम का अणुभाष्य और मध्व का पूर्ण प्रज्ञभाष्य प्रख्यात हैं। बाचस्पति ने शंकर माध्य पर भामती नाम की टीका लिखी। विद्यारण्य स्वामी की पंचवशी वेदान्तिनों में अधिक प्रचलित है। श्रीहर्ष का लङ्कनक्षत्राचार्य भी एक प्रख्यात ग्रन्थ है। अण्यदीक्षित ने भामती के शेषों का उद्घाटन अपनी पुस्तक 'कल्पतरु परिमल' द्वारा किया।

आचार्य रामानुज के श्रीभाष्य पर सुवर्धनसूरि ने धृतप्रकाशिका नाम की व्याख्या लिखी। वेदान्त शैलिक की लक्ष्मीका भी इस विषय में वैष्णव सिद्धांतों को समझने के लिये उपयोगी है। श्री जिज्ञासाचार्य ने निम्बार्क के वेदान्त पारिजात शीरम की व्याख्या में वेदान्त कौस्तुभ लिखा। केशवभट्ट ने कौस्तुभ की व्याख्या की। वत्सम के अणुभाष्य को विद्वत्सनाथ ने पूर्ण किया। वेदान्त पर इससे भी अधिक साहित्य लिखा गया है क्योंकि यह भारत का एक विशिष्ट सिद्धांत बन गया है।

वर्तन साहित्य में जैन बौद्ध तथा जार्वाक सम्प्रदायों ने भी अपना योगदान दिया है। न्यायशास्त्र को लेकर आर्य तथा बौद्ध आचार्यों में विशेष संबंध हुआ। बौद्ध नैयायिक बिहू नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय में वास्तव्यायन के न्याय-माध्य पर आक्षेप किये जिनका भवभूति उत्तर सद्योतकर ने माध्य का वातिक लिखकर दिया। जर्मकीर्ति ने न्यायवातिक का खंडन अपने प्रमाण-वातिक में किया जिसका उत्तर बाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्य टीका द्वारा दिया। जयन्त भट्ट ने न्याय संक्षरी में बौद्ध तथा जार्वाक सिद्धांतों का खंडन किया है।

हमारा पुराण साहित्य भी वेदों पर आधारित है। व्यास की मुक्ति है "इति-

सिद्धपुराणाम्। समुपद्भ्येत'। पुराण वस्तुतः वेदों का ही उपबृंहण है। इनमें  
 त्रिमूर्ति-सृष्टिरक्षणा का विषय है। प्रतिस्पर्धा—प्रलय का वर्णन है। ब्रह्म—राजाओं के  
 ढोंकों का विवरण है, मन्वन्तर—७१ अतुर्गुणियों के परपातु जाने जाने अभी तक के  
 मन्वन्तरों का वर्णन है ( सातवाँ मन्वन्तर वैवस्वत इस समय चल रहा है ) और  
 ऋषियों के चरित्रों का भी वर्णन है। पुराण सख्या में १८ हैं और उप-पुराण भी १८  
 ही हैं। पुराणों के ब्रह्मा व्यास माने जाते हैं। परन्तु व्यास वास्तव में एक छपडि हैं।

पुराणों के पक्ष रोमहर्षण के पुत्र सीता उपमत्ता हैं। भविष्यपुराण के ब्रह्मा  
 वेत्ता हैं। पुराण समय-समय पर संशोधित होते रहे हैं और उन्हें आधुनिकतम बनाने  
 का प्रयत्न सतत चलता रहा है। इन्हें एक प्रकार का ऐतहासिकोपीडिया जववा  
 विश्वकोष समझना चाहिए। भविष्यपुराण में अंग्रेजों के समय तक का विवरण  
 विद्यमान है। भविष्यपुराण में विविध प्रकार के विषयों का समावेश है।

पुराण का सामान्य जर्ब पुराण जरीत या विगतकास उसकी मटनायें और  
 परित्यक्तियाँ हैं। वर पुराण का एक निर्बचन और है— पुरा मब भवति इति पुराण।  
 प्राचीन भाष्याम को समय के अनुकूल मबीन परिपारर्ब में प्रकट करना पुराणकार का  
 उद्देश्य रहा है। कौटिल्य ने इसीलिए लिखा है कि उद्देश्य राजकुमारों को पुराणों की  
 सङ्ग्रहसमयी कपायें सुना कर सबाचार के पय पर संलग्न करना चाहिये। पौराणिक  
 सूत राजा के नवरत्नों में से एक है। गौतम धर्मसूत्रकार ने भी शासनव्यवस्था के लिये  
 पुराणों को प्रामाणिक माना है। छान्दोग्य उपनिषद् ७-१२ पुराण को वेदों का वेद  
 कहती है। अथर्व ११। ७। २४ वेदों के साथ पुराण का नाम मेटा है। वेद में  
 पुराण बम्ब गाथा तथा माराजंसी के जर्ब में आया है। पुराण अपने वर्तमान रूप में  
 प्राचीन मूखणों तीनों पर्वतों मवियों ऋषिचरितों राजबखों सृष्टि प्रलयगाथाओं  
 के विवरणों से मोतप्रोट विद्याई वेते हैं। मवि उनमें से पारस्परिक सांप्रदायिक विद्वेय  
 के प्रसर्गों को निकाल दिया बाय और जनका सुस्मेयिका से अय्यमन किया बाय  
 तो पुराण बाज भी हमें बहुमूल्य प्राचीन सामग्री है सकते हैं।

पुराणों का मूल ब्रह्मपुराण में जन्त ब्रह्माण्डपुराण में और मध्य ब्रह्मवैवर्तपुराण  
 में है। ब्रह्म के साथ पद्म विष्णु शिव भागवत मारव मार्वंभेय, मन्त्र और  
 भविष्य पुराण हैं। ब्रह्मवैवर्त के उपरान्त ब्रह्माण्ड पुराण तक शिव वराह स्कन्द,  
 बामन कूर्म मत्स्य और पञ्च पुराणों के नाम बाते हैं।

उपपुराणों में सनत्कुमार नरसिंह नाम्नी विष्वक्कर्ष कुर्वासा मारवीय, कपिल  
 मागव उपनक्ष बरुन काशिका बसिष्ठ महेम्बर शाम्भ सीर, पराधर मारीच  
 मार्वंभ आदि पुराण परिमणित होते हैं। ऐसीमागवत भी पुराण के ही अन्तर्गत है।

पाश्चात्य विद्वानों में पार्सीटर महोदय ने पुराणों पर पश्चिमपूर्वक को सामग्री  
 एकत्र की है। बहु मूल्यवान है और हम सबके लिये प्रेरणा-मय है। मारतीय विद्वानों  
 में डा० बापुदेभनरन अयबाज ने नतिपय पुराणों का सांस्कृतिक अनुमीनन प्रस्तुत  
 करके मतामनीय कार्य किया है। पं० भगवद्दत्त ने भी पुराणों का मनीर मंजन किया है।

काव्यग्रन्थों में सर्वप्रथम आदिकवि वाल्मीकि की रामायण का नाम आता है । रामायण महापुरुष राम के पावन चरित्र से उद्भासित हो रही है । उसके प्रकृति-वर्णन मगर वर्णन कुछ वर्णन आदि सभी उष्णकोटि के तथा मानव-मंस के सामक हैं । व्यासकृत महाभारत भी साहित्य तथा इतिहास का रूप है और 'यदिहास्ति तदस्यैव यदेहास्ति न तत् कश्चित् उक्ति' उस पर पूर्णतया चरितार्थ होती है । रामायण और महाभारत के आख्यान आयागी काव्यों के उपजीव्य बने हैं । मास कासी-वास, भवभूति बाण श्रीहर्ष माध आदि उसके काव्य इन्हीं पर आधारित हैं ।

अम्बपोष का कुछ चरित्र तथा जैनकवि रविवेण का पद्म चरित्रम् जैसे अनेक काव्य संस्कृत में मिले गये । प्राकृत अपभ्रंश और वर्तमानकालीन नाट्यग्रन्थों की बात रहने दीजिये अकेले संस्कृत भाषा के ग्रन्थों को ही लिया जाय तो वे परिणाम में रेप्सल के कवनानुसार जटिन तथा छीक साहित्य के सम्मिश्रित परिमाण से भी अधिक बैठेंगे । इस विपुल साहित्य में हमारे ऋषियों भुनियों कवियों तथा शार्ङ्गिकों ने जो भाव-ज्ञान-सुखी अमिश्र भाण्डार संचयित कर दिया है, वह मानव जाति की अमूल सम्पदा है । हम सभी इस विषय में अपने पूर्वजों के ऋणी हैं । वे कोटी कल्पता को प्रभय नहीं देते । कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान यथार्थवाद की ठोस भूमि पर भी प्रतिष्ठित हैं । मैक्समूलर ने जैसे अपना जीवन इस साहित्य की सेवा में समर्पित कर दिया था, हमें भी वैसा ही इसके अनुशीलन में संलग्न हो जाना चाहिए ।



# ६ । सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्धित मूर्त प्रमाण

## क कला का विकास

भारतवासियों पर शौकिक विषयों से पराङ्मुख रहने का आरोप लगाया जाता है। इसका एकमात्र कारण है उस संस्कृति की विशेषता जिसे भारतीय या वैदिक संस्कृति कहा जाता है। जैन बौद्ध आदि पार्श्वों से प्रचलित संस्कृतियाँ वैदिक संस्कृति से भिन्न नहीं हैं। हम पीछे जाते हैं कि वैदिक संस्कृति विश्वव्यापी संस्कृति है। सूर्योदय मर के लिए संस्कृति एक है, सम्प्रदायों पूषक-पूषक हैं। शौकिक विषयों का समावेश सम्प्रदाय में होता है, संस्कृति में नहीं। सम्प्रदाय क्या है, इसी का विवेचन हम इस प्रश्न में संस्कृति के अन्तर्गत करते रहे हैं।

वैशेषिक दर्शन ने नि शेष का जिस अन्वय के साथ समुक्त किया है वह सम्प्रदाय तथा शौकिक प्रवृत्ति का ही अर्थ देता है। वेद से जो उपदेश लें, वे भी अन्वय के ही परिणामक हैं। अर्थात् वेद का जो अर्थ है उसका सम्बन्ध दर्शनीति स्थापत्य तथा अर्थपरक कला आदि से है। मोक्ष को छोड़ कर धर्म अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ ऐहिक उत्थान से सम्बंधित हैं। ब्रह्मा महारथ इन्द्र बृह स्पति और उत्तमा के नाम अर्थशास्त्र के रचयिताओं में महाभारत तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में आते हैं। कौटिल्य विद्यासागर तथा बाहुबली पुत्र के नाम भी सेता है। इन्द्र के ग्रन्थ का नाम बाहुवस्तक वा। संभव है बाहुवस्तक तथा बाहुबली पुत्र में कोई सम्बन्ध हो। मनु जो अर्थशास्त्र के रचयिता हैं ही। बृहस्पति का नाम अर्थशास्त्रियों में ऊपर आया है। काम का अर्थ कहते हैं लम्बी के क्रिया।

कौटिलीय अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री प्रसिद्ध प्रकाश पण्डित नीति-विचारण भागवत का लिखा हुआ है। इस बृहत् ग्रन्थ में १५ अध्याय तथा १८० प्रकरण हैं। हमें राजनीति के सभी अर्थों का व्यावहारिक विवेचन है। एक-एक अर्थ का इतना विस्तार विवरण है कि यह हर कामकाज के बुद्धि शैल पर आवश्यक-वर्णित हो जाना



पड़ता है। माग पर जसना अंधकार में देखना अयुक्त बन जाना आदि विषयों का प्रतिपादन आचमन कालीन यातुविद्या की प्रखरता प्रकट करता है। कामन्दक मुक्त सोमदेवसूरि हेमचन्द्र, राजा जोर बहि के नाम भी नीति कारों तथा कला-विशेषकों में प्रख्यात हैं।

कलायें १४ या उससे भी अधिक हैं मूल्य गीत बाण विजय सौम्या-प्रसाधन मास्यग्रन्थन पुण्यास्तरण, मजिक्कुटिमता (फर्सेपर मजि आदि का बड़ना), सेखर-योजन कर्ण पत्रमय भूपण-योजन हस्तभावन सूत्रकार्य सूचीकर्म प्रहेसिका, अन्त्या-करी सुर्वाचन या कूट-माठ समस्यापूर्ति पट्टिका-मीड़ा आदि का निर्माण, छलन-कार्य वास्तुविद्या वातुसोपन पक्षि-मुद्रा मुक्त-सारिका को पढ़ाना लजमर्दन, बहुमाया ज्ञान यंत्रनिर्माण अभिधानकोष, ध्वनोज्ञान शूद्र, मत्स्यकला लिपिकला व्यापहृन्म आदि कलायें हैं।

कलाओं का विकास किसी देश में तभी होता है, जब वह समी प्रकार से सुरक्षित, समृद्ध और उत्साहसम्पन्न हो। कलायें सौन्दर्य की बोधिकायें हैं। जो आदि अपने पौरुष से सौन्दर्य को सम्मान न दे सके उसका रक्षण तथा पोषण न कर सके वह कलाओं को जन्म नहीं दे सकती। वेद इस दिशा में मानव मान को स्फूर्ति तथा शक्ति की बूढ़ी पितामहा है। जब तक वेद की शिक्षा भारतीयों को अनुप्राणित करती रही, जब तक उन्होंने कला के क्षेत्र में जो उत्पत्ति की उसके निरर्थक बिन्दु आज भी या तो अपने सजीवकर्म में या व्यवसायिक रूप में बड़े बर्तनों को मन्त्रमुग्ध कर रहे हैं। हड़प्पा की खुदाई में जो मूर्तियाँ निकली हैं मूर्त को बड़ों की खुदाई में जो मूर्तियाँ पात्र नगर निर्माण की स्थिति आदि प्राप्त हुए हैं वे हमारे पूर्वजों की कला प्रियता के सुन्दर उदाहरण हैं। महात्मा बुद्ध महावीर पार्वनाथ सिद्ध आदि की जो मूर्तियाँ विभिन्न प्रदेशों में उपलब्ध हुई हैं सारनाथ साँची और भरहुत में जो स्तूप आज भी विद्यमान हैं, और इन पर जो चित्र चित्रित हैं तथा चित्ता मेघ मुद्रित हैं वे कला क्षेत्र में किसी भी आदि के चित्र को गौरव से ऊँचा उठा सकते हैं। पर्वतों को काट कर जो गुफायें बनाई गई हैं और उनके बाहर सेर, हाथी अप्सरा आदि की जो चित्रकारी है, उसका अमरकार देखते ही बनता है। कासी की गुफा लगभग १२४ फीट लम्बी है। अवधमिरि की गुफा तथा जोगीमारा गुफा के चित्र भी मध्य हैं। जजस्ता में कई गुफायें हैं। उनके चित्रों में मानों का प्रदर्शन भी उत्तमता से किया गया है। स्वातिपर के बाण घाम की गुफाओं में भी जजस्ता कला वाले चित्र पाये गये थे। जब उनका स्वल्प अंश ही बना है।

आबू पर्वत पर सछेय संगमरमर के जैन मन्दिर कोणार्क में सूर्य का मन्दिर, ऐसोरा की गुफायें कैसास मन्दिर पर अंकित चित्र का ताण्डवनृत्य आदि को देखकर भारतीय कलाकारों की भूरि भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। महम्मूद गजनवी के साँची मन्दिरम्बी ने जब मयूरा के मंदिरों को देखा तो वह अंकित रह गया। उसके समय

है—मथुरा के मध्य में स्थित इस मंदिर का पित्र खींचा नहीं जा सकता । यह अवर्धनीय है । मुस्तान ने स्वयं कहा—ऐसी इमारत एक बार खोने के बीना खर्च किये बिना नहीं बन सकती । बड़े से बड़े अनुमयी कारीगर इसे दो छी बरों में बना सकते । मूर्तियों में ५ मूर्तियाँ स्वर्ण-निर्मित, पाँच-पाँच गज लम्बी और हवा में झटक रही थीं । बाँदी की मूर्तियाँ दो छी थीं । यह था भारत का बीमन जिस पर विदेशियों की गुप्त दृष्टि पड़ी और उनसे जितना मूटा जा सका मूटा गया । पर क्या वे इस मूटा को सदैव के लिये भोग का साधन बना सके ?

विश्व के साथ सिपिकता का भी बलिष्ठ सम्बन्ध है । हमारे पूर्वजों ने सिपि-कला का भी विकास किया था । प्रबुद्ध ५-४३ में 'चां भा लेखी और बचबै २०-१३२-८ में 'क एषा कर्करी लिखतु' वाक्य आते हैं जिससे लेखनकला का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है । श्रुत्येव १-७१-४ में उत्तर पश्यन्न बर्हस वाचन् पद आता है जिसमें बाणी को देखने (पढ़ने) और सुनने का वर्णन है । यह देखना या पढ़ना बाणी के लिखित रूप का संकेत देता है । यास्क भी बाणी के लिखित रूप से परिचित हैं । निरुक्त १-९ में यह लिखते हैं—अथ ये प्रबुद्धे बर्हं अमिताक्षरेणु प्रभ्येणु वाक्य पुरणा आयच्छन्ति पदपून्वास्ते मिताक्षरेणु । अमिताक्षर गद्य तथा मिताक्षर पद्य है । अक्षर, वाक्य छन्द्य सभी शब्द बाणी के लिखितरूप के निर्देशक हैं । पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में ही सिपि के लिखित रूप वाले अक्षर विनाये हैं । वात्स्यायन ने अपने नाटिक में अवन सिपि का नाम लिया है । अशोक के समय में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दो सिपियाँ प्रचलित थीं । ब्राह्मी नाम से ब्रह्मण और खरोष्ठी ब्रह्मण से नाम ओग लिखी जाती थी । बौद्ध साहित्य में लिखुओं के कई सिपियों में लिखने का उल्लेख है । अशोक के सिवा केवल ब्राह्मी सिपि में सिखे लिखते हैं । पाणिनि के अक्षरों वाले सूत्र माहेस्वर सूत्र कहलाते हैं । इससे सिद्ध होता है कि हमारे पूर्वज सिपि को भी ब्रह्म या विश्व द्वारा उत्पन्न मानते थे । वर्तमान बैजनागरी सिपि ब्राह्मी सिपि का ही स्वरूप है । भारत की अन्य सिपियाँ भी इसी का प्रतिकल्प हैं । केवल लिखावट में किञ्चित् अन्तर आ गया है ।

### ध्वंसावशेषों का उत्खनन

#### ख हड़प्पा तथा मुए जोदधो

साहित्य तो सम्म्यक्ता का परिचायक है ही कलाओं के रूप भी अपनी जीवित आश्रय अवस्था में सम्म्यक्ता का परिचय देते हैं । ध्वंसावशेष विज्ञान के लक्षण स्तूपभेद मुखार्थ आदि यदि प्राप्त हो सकें तो उनसे भी उत्कामीन समाज की सम्म्यक्ता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । अर्थों को व्यापारियों की जाति कदा कदा रहा है पर ज्ञान की उपलब्धि एवं उत्तरविज्ञान में भी वे किसी से कम नहीं ।

उन्हें भारतीय सभ्यता की उत्कृष्टता का बोध हुआ, अभी से वे अधिक से अधिक उसके उपकरण प्राप्त करने में जुट गये। प्राचीन विभाग की स्थापना करके उन्होंने इन्हों, ध्वसावशेषों आदि की खुदाई कराई और प्राचीन भारतीय सभ्यता से सम्बन्ध बनेक वस्तुयें प्राप्त की।

इन खुदाइयों में हड़प्पा तथा मुएं बोदको के नाम प्रख्यात हैं। हड़प्पा पंजाब के पश्चिमी विभाग में रावी नदी के पश्चिम की ओर ऊँचे टीले पर बसा हुआ है। टीले फूट से छठ फुट तक ऊँचे-ऊँचे बूढ़ हैं। जर्मनेयों ने १९२०—२१ ई० में यहाँ खुदाई कराई। परिष्कारस्वरूप जो वस्तुयें निकलीं उनसे सभ्यता के उच्च स्तर का ज्ञान होता है। इन वस्तुओं में पाषाण मूर्तियाँ तथा मुहरें भी हैं। १९२२ में मुएं बोदको स्थान पर खुदाई हुई। यह स्थान जिसा सरकाना के डाकरी स्टेशन से ८ मील दूर है। यह खुदाई १९३१ तक चलती रही। इस खुदाई में पाषाण मूर्तियाँ मुहरें मकान मन्दिर सरोवर स्नानागार आदि प्राप्त हुए। पाषाण या बर्तन पकाई मिट्टी के बने हैं और रंगे हुए हैं। मूर्तियाँ मिट्टी पत्थर या ताम्र की बनी हुई हैं। मुहरें वैसी ही हैं जैसी हड़प्पा की खुदाई में मिली थीं। मकान पक्की ईंटों के बने हैं। ईंटें १० इंच लम्बी ५ इंच चौड़ी तथा २ ॥ इंच मोटी हैं और आकृति की ईंटों के समान हैं। मकानों में नालियों का प्रबन्ध है। मार्ग चौड़े हैं। राखपथ के दोनों ओर वृक्षार्ण हैं। मकान दोतस्ता हैं। ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ हैं। मकान छिबी साइन में बने हैं। दीवारों चारे से चूनी गई हैं जिन पर चूने की टीप है पसल्लर नहीं है। नालियाँ ढकी हुई हैं। मकान के दोना तल्लों में स्नान गृह है, जिनमें पानी निकलने का बसाव है। प्रवेश गृह में कुआ है जो पक्का है। बौद्ध-स्तूप भी मिले हैं जिनके समीप सरोवर है। एक सरोवर ३५ फुट लम्बा और २३ फुट चौड़ा है। पानी तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं। ठामाव की दीवारों पर पसल्लर है।

मन्दिरों में ज्यमम्बा की मूर्तियाँ मिली हैं। ऐसी मूर्तियाँ मीषोपोटामिया तथा एशिया माइनर में भी मिली हैं। त्रिभुज शिख की मूर्ति भी मिली है। शिख की एक मूर्ति मोवासनमुद्रा में है जिनमें सामन नाग बने हुए हैं। पुजारी की एक प्रस्तार मूर्ति मिली है जिसकी दाढ़ी बड़ी हुई है और माग स्तम्भ के ऊपर से एक बुलासा दतिव

बैदिक देवताओं के नाम उसी प्रकार रखते हैं जिस प्रकार बौद्धाग्रजोई की खुदाई में प्राप्त संघिपम पर मिले हैं। मुद्राओं पर सींग वाले बैल का चित्र है अथवा हाथ में शंख, भँसा हाथी या बारहमिले का।

गले में हार पहिने एक स्त्री की मूर्ति मिली है। एक गर्तकी की धातु की मूर्ति है, जिसकी पीछा में हंसनी है और हाथ में कुन्डियाँ हैं। सवारी की मूर्तियाँ बनी हैं। जसी आकृतियों के घासों में हैं। इनमें दो पहिने हैं, ऊपर छत्र और आगे हाँकने वाले का स्थान है। हथियारों में धनुष बाण भाँसे खँग, कुल्हाड़ी, गदा आदि मिले हैं जो हमारे साहित्य के परिचित अस्त्र हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के मध्य प्रदेश से लेकर मरवा और एशिया के पश्चिमी भाग तक एक ही प्रकार की सम्पत्ता फैली हुई थी क्योंकि हड़प्पा मृत्तुओं को बड़े बसोबिस्तान ईराक आदि में जा खुदाई हुई है उसमें एक जैसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। अब जो कालपी के पास पास खुदाई हुई है उसमें भी वही वस्तुएँ हैं। बनस है कि मानवजाति जसा महर्षि दयानन्द ने सरदार्य प्रमाण में लिखा है तिब्बत और पानीर के पठार पर बसी हो और वहाँ से सप्तसिन्धु को केन्द्र बना कर उसके पूर्व तथा पश्चिम में फैल गई हो। दिशि की सतान पश्चिम की ओर और अदिशि की संतान पूर्व की ओर रही ऐसी कल्पना भी की जा सकती है। दोनों में बहुत कुछ समानता थी। शानों बैद पड़ते थे यज्ञ करते थे अर्घ्य भस्ते ही मिश्र-मिश्र भगाते हों। कस से कम पुराणों का साक्ष्य तो यही सिद्ध करता है। इबिण भापा भापी जिनकी एक आबा ब्राह्मी बसोबिस्तान में पाई गई है इन्हीं में से है। पुराणों के अनुसार वे विश्वामित्र की संतान तथा अगस्त्य के शिष्य हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की शून रोप-कथा के आकार पर जब विश्वामित्र ने शून रोप को बेबरार के रूप में अपना पुत्र बना लिया तो उनके १० पुत्रों का बुरा संग और वे पिता का विरोध करने लगे। विश्वामित्र ने उन्हें अमिषाप दिया जिसके परिणामस्वरूप वे मध्य देश को छोड़कर आग्नेय, मुत्तिल, पीन्ध आदि बाघिण्यात्प देशों में बस गये। दक्षिण में विश्वामित्र तथा अगस्त्य मान आकर एक प्रचलित हैं। अब इबिणों को हम आर्योत्तर नहीं मानते। इबिण या इबिड़ बन का शोधक है। दक्षिण में हूरे आदि की शानें हैं। संका तो स्वर्णमयी थी ही। इसी आकार पर देश तथा वहाँ के निवासियों का नाम इबिड़ पड़ गया।

## ग तदाशिक्षा

तदाशिक्षा भारत का छिद्र है। इसी के विश्वविद्यालय ने पाणिनि सङ्घ अदि तीर्थ वैमाकरन आगम्य सङ्घ नीतिवेत्ता तथा नीतिक सङ्घ राजवैद्य उत्पन्न किये। प्राप्त पुत्रों के आकार पर यहाँ वेद वेदांग मीमांसा म्याम धर्मशास्त्र पुराण अनुबेद, सिन्धु वैदिक-विद्या ज्योतिष तंत्र तथा आनुबेद की पञ्च काटि की शिक्षा दी जाती थी। भारत ही नहीं विदेशों से भी विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिये यहाँ आते थे। इनकारों को एक सहस्र कार्पाण्य मुष्करूप में बना पड़ता था। निर्बन्ध

विद्यार्थी मुह-मुह-सेवा करके पढ़ा करते थे । कुछ ऐसे भी विद्यार्थी पढ़ते थे जो विद्या समाप्ति के उपरान्त वर्जन करके विश्वविद्यालय का शुल्क चुकाते थे । सबाचार परायण जीवन को प्रमुखता दी जाती थी । आचार्य तथा शिष्य का पिता-पुत्र के समुच्च सम्बन्ध था ।

बर्बर यवन शक तथा हूणों के अनवरत आक्रमणों से इस विश्वविद्यालय तथा नगर को ध्वस्त कर दिया । चीनी यात्री फाहियान ने अपने यात्रावृत्तान्त में इसका विवरण प्रस्तुत किया है जो ईसा की चौथी-पाँचवीं शतियों में यहाँ आया था ।

तथाशिला राजमण्डिरी से २० मील दूर सरायकासा स्टेशन के पास है । यहाँ ओर पहाड़ियों से घिरी हरियाली भूमि है । यंत्रों ने यहाँ एक विपुलकाय टीला बेबा तो १६१२ ई. में उन्होंने इसकी खुदाई प्रारम्भ कर दी । परिणामतः यहाँ तीन नगर निकले जिनमें भीरमंथ प्राचीनतम है । मौर्यकाल में यह उत्तर-पश्चिम प्रदेश की राजधानी थी । कुछ भवन ध्वस्त हैं पर कुछ अभी तक ज्यों के त्यों खड़े हैं जिन पर भगवान् बुद्ध के चित्र अंकित हैं । यवन आक्रमणों में भीरमंथ नष्ट हुआ । उससे थोड़ी दूर पर शिरकप नगर बसाया गया । खुदाई में एक बड़े भवन के खंभे दिखाई दिये जिनके उत्तर की ओर एक समान कई कमरे प्रतीत होते हैं । बीच में एक बीबी है । इन्हीं कमरों को विशेषतः तथाशिला विश्वविद्यालय का रूप देते हैं । छोटी-छोटी मिट्टी में मिट्टा यहाँ एक जिलामेख भी प्राप्त हुआ है । यह नगर कुलम या कुलाब बंध की राजधानी रहा है । जब कमिष्क ने पेशावर को राजधानी बनाया, तो इस नगर का महत्व जाता रहा । टीले के पास वाले मैदान में भी खुदाई हुई तो वहाँ तीसरा नगर निकला जिसे शिरमुक्त कहा जाता है । यहाँ ईसा के द्वितीय शतक की मुद्रायें निकली हैं जिन पर कमिष्क का नाम अंकित है ।

तथाशिला में भगवान् बुद्ध के कई स्तूप मिले हैं जिनमें कुछ गगन हैं और कुछ पूर्ण । इनमें से एक स्तूप का नाम धर्मराज स्तूप है जिस पर संस्कृत भाषा परम्परा छोटी मिट्टी में एक मल मिठा है । कुलाब काल में किसी बौद्ध वासी ने इसे निखराया था । वो छोटी छूट ऊँचे इस स्तूप पर मूर्तियाँ बनी हैं जिनमें से कुछ की पीठा में मातायें भी पड़ी हैं । इससे स्तूप को बाग़द्वार स्तूप कहा जाता है जो महाराज बमोदक का बनवाया हुआ है और तथाशिला से उत्तर की दिशा में है । इस स्थान का बड़ा महत्व माना जाता रहा है और यहाँ बड़े-बड़े मेले लगते रहे हैं । महाराज बमोदक के पुत्र कुमार के नाम पर एक कुलाबस्तूप भी यहाँ मिला है जो १०० छूट ऊँचा है ।

तथाशिला की खुदाई में आमुवन पान मुद्रायें और शिखे भी प्राप्त हुए हैं । आमुवन माने और चाँदी के बने हैं । पात्रों में मिट्टी और पत्थर के बने घटके, गिलास, पानियाँ आदि मिले हैं । शिखे विदेशी जान पड़ते हैं । जो मुद्रायें मिट्टी उन पर कमिष्क इन्द्र और बामुदेव के नाम अंकित हैं । बौद्धकाल का यह विशेष स्थान

रहा है। भाषाई कुमार शुक्ल ने अपने ग्रन्थ यहीं बैठ कर लिखे थे।

## घ नासन्दा

नासन्दा विहार में है। इसकी दो बार खुदाई हो चुकी है। १२ वीं शती में इसे ब्रह्मविहार बिलाली में मण्ड-भण्ड किया था। खुदाई में कुछ कमरे, एक स्तूप और चौड़ी-चौड़ी दीवारें मिली हैं। स्तूप ऊँचा है और उस पर मूर्तियाँ बनी हुई हैं, पर बिगड़त हैं। स्तूप के चिह्न पर भी एक मूर्ति है। कमरे चौड़े हैं और उनमें तीन ओर की दीवारों में फर्श से कुछ ऊपर गंध की हुई पट्ट चिल्लाओं के समान सोने बैठने के स्थान हैं। द्वार में कुछ रखने के लिये लम्बे विद्यालय बने हुए हैं। दो कमरों के बीच में बीथियाँ हैं जो प्रवेश तथा निष्क्रमण का कार्य करती होंगी। एक बीथी बालू है। एक बड़ा आंगन भी है जो संभवतः समास्त्रान के रूप में रहा होगा। कुछ रूप भी मिले हैं पर वे बोल न होकर अठगहनु हैं। बिस्म कला के सुन्दर मनुने पात्र, पहने, अस्त्र चित्र मूर्ति के रूप में मिले हैं। कुछ विद्यालय भी प्राप्त हुए हैं।

चौथी शती ई. पूर्वकाय में इस विद्यालय में रह कर अध्ययन किया था। उसके विवरण के अनुसार यहाँ एक सहस्र विद्यार्थी अध्ययन करते थे। बड़ी बड़ी दीवारों पर सप्ते चौदसे मठ थे जिनके ऊँचरे आकाश चुम्बी थे। ऊँची ऊँची चिड़कियों से मेघमाला बमली-किरली धुल्लि-गोबर होती थी। सबसे ऊपर की छत पर सूर्य-चन्द्र मिले जान पड़ते थे। कल रंगीन चित्र से सजित थे। छायादार कुब और उद्यान, निर्मल सरोवर, नीलकमल जल-जल कर्मिकार और हरीविद्या बामा से रम्याकृति बामे आनन्दन मन को आनन्दित करते थे।

ह. वैनकाय के इस विवरण से मिलता चलता इतिहास का भी मेव है जिसके अनुसार नासन्दा विश्वविद्यालय में जाठ झील तथा तीन सहस्र कम थे। विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे। व्यवसायिक जगमग एक सहस्र थे। प्रवेश से पूर्व एक द्वार भट्ट सबकी परीक्षा लेता था। प्रवेश तथा अनुशासन दोनों ही उच्चकोटि के थे। प्रधानाचार्य श्रीमन्त्र के अतिरिक्त धर्मपाल चम्पलण युगमति प्रामात्रि जिमिभ ज्ञान चन्द्र आदि प्राध्यापक थे जो अपने अपने विषय के पारंगत विद्वान् थे। यी पद्मसंभव जिन्होंने विष्णु में सामा संप्रदाय को जन्म दिया इसी विश्वविद्यालय में पड़े थे। पुस्तकालय नीलकमल विद्यालयभवन में स्थित था। कितनी विस्तृत ग्रन्थ राशि इसमें रही होगी इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। पर किन्हीं ज्ञान भंडार से कोई प्रयोजन नहीं उनके लिये नासन्दा तथा सिकन्दरिया के पुस्तकालय एक जैसे ही निरर्थक हैं।

## छ सारमाय

सारमाय कारागरी से चार मील उत्तर की ओर है। महात्मा बुद्ध ने अपना

प्रथम उपदेव यहीं दिया था । उनके बर्म चक्र का प्रवर्तन भी यहीं से प्रारम्भ हुआ । अठ सारनाथ का बौद्ध बर्म की दृष्टि से बड़ा महत्व है ।

जब काशी नरेश के बीमान जगतसिंह ने अपने नाम से प्रवर बसाने के सिधे सारनाथ के एक स्तूप को बुलवाया तो उसमें मसाले के साथ बुद्ध की एक मूर्ति भी मिली । शिष्टी कमिश्नर ने इसकी सूचना एथियाटिक सोसायटी बंगाल को दी । परिणामतः कनिंथम साहब ने यहाँ खुराई प्रारम्भ की । १९०४-१ में खुराई का सम्पादन किया जिसमें असोक स्तम्भ सिंह जिसर तथा कई मूर्तियाँ मिलीं ।

जो स्तूप नष्ट हो गया उसकी उत्तर दिशा में मुख्य मंदिर के कुछ अंश अब भी सुरक्षित हैं । दीवारें हैं और दीवारों पर छत भी है । एक और स्तूप है जो बहुत ऊँचा है । उसी के पास मठ है समाधि है और पत्थर में कटी छीड़ियाँ हैं ।

असोक स्तम्भ के सिंह जिसर पर सिंह की निम्नो मूर्ति है । इस स्तम्भ पर काही सिपि में असोक का एक लेख भी खुदा है जो बौद्ध संघ के मित्र-मित्रिणियों को प्रेम की विज्ञा देता है ।

सारनाथ से पूर्व प्राप्त मूर्तियाँ तो कलकत्ता के संग्रहालय में रख दी गई थीं पर बाद में जो वस्तुएँ प्राप्त हुई वे सारनाथ के संग्रहालय में ही सुरक्षित हैं ।

इनके अतिरिक्त राजगिरि और वैशाखी भी प्रख्यात ऐतिहासिक स्थान हैं । राजगिरि महाभारत का विरिञ्च है या जरासंध की राजधानी रही है । महात्मा बुद्ध तथा महावीर बर्धमान दोनों ने इसे बौद्ध बर्म तथा जैनबर्म के प्रचार का केन्द्र बनाया था । यहाँ असोक की ९० फीट ऊँची साठ, पर्वतजिसर पर विमित जैनमन्दिर तथा सोनभाण्डार दुफा अब भी दर्शनीय हैं ।

वैशाखी सिन्धुविषी की राजधानी रही है । आजकल इसे बसाऊ कहते हैं जो बिहार के मुगलपुर जिले में है । यहाँ असोक विमित एक स्तूप है जिस पर सिंह पड़ा है । १९०४ ई० में खुराई होने पर प्राचीन भवन निकले । कुछ मुद्राएँ भी प्राप्त हुई जो पाँचवीं—पाँचवीं शताब्दियों की हैं ।

जबलपुर के दण्डन की विज्ञा में जहाँ नर्मदा बहती है एक स्थान बुझा नार कहलाता है । नर्मदा का पाट बीड़ा नहीं है । जो पहलू उसकी बाधा को बेरे हुए हैं । यह द्रुम बुझाबार से ही प्रारम्भ हो जाता है । एक किनारे पर जेतपत्थर की खेदी है तो दूसरे पर ब्यामल पत्थर की । बुझाबार के समीप ही नर्मदा ने इन पर्वतों के बीच से करना मार्ग बनाया है । बुझाबार के ऊपर समतल प्रदेश है जहाँ नर्मदा का प्रवाह तीव्र पर जलसा है । जब नर्मदा नीचे गिरती है तब भयंकर घोर होता है और जल के साथ के साथ ऊपर उठते हैं जो बुझाबार का द्रुम उपस्थित करते हैं । मार्ग में एक मन्दिर है जिसमें अनेक मूर्तियाँ रखी हैं । बहते हैं वे ६४ योगिनियों और वीरानों की मूर्तियाँ हैं, पर अफगानों ने सबके अंग विच्छिन्न कर दिये हैं ।





मूर्तियों होनी चाहिये ।

बुध काल में ब्राह्म राजवंश ने छद्मात्रि की पहाड़ियों पर कुछ गुफाएँ बनवाई जिनमें भावा (पूजा) देवता (पूजा) पीयसाखोरा (खानदेव) और कौशिक्य की गुफाएँ मुख्य हैं । (भारतीय मूर्तिकला पृष्ठ ७४) इन गुफाओं का संबंध बौद्ध धर्म से है यद्यपि निर्माता राजवंश ब्राह्मण थे । उड़ीसा के उदयगिरि और छद्मगिरि में अनेक जैन गुफाएँ हैं जिनमें से रानी गुफा की गुफा दोतस्ता है और उसके द्वार पर सुन्दर मूर्तियाँ अंकित हैं । हाथी गुफा नाम की भी एक गुफा है जिस पर खारवेस का सेल खुदा हुआ है । खारवेस जैन धर्म का अनुयायी था ।

इस बुध की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उन्हें विद्वानों ने तीन शैलियों में विभक्त किया है — पाँचार शैली मधुराशैली तथा ब्राह्मशैली । पाँचार शैली पर यूनानी प्रभाव की चर्चा कतिपय विद्वानों ने की है पर शीककला में जो वास्तविकता है वह पाँचार शैली की विशेषता नहीं जान पड़ती उसमें भारतीयकला की भाव प्रभावता है । बुद्ध की मूर्तियाँ इसी युग की बनी हुई हैं । बुद्ध प्रतिमा की पूजा ब्राह्मण तथा जैन मूर्तियों के अनुकरण पर प्रचलित हुई । अतः उसकी मुद्रा विभुद्ध भारतीय है । मधुरा शैली में भद्रकृत की लोक कला तथा शोची की नायकिक कला का सम्मिश्रण है । मूर्तियों भरतपुर के आसपास की खानों से निकले सफेद चिल्लीवाले लाल-रवादार पत्थर की बनी हुई हैं । बुद्ध प्रतिमाएँ कुछ पद्मासनस्थ हैं और कुछ खड़ी हैं । बस बलिनी आदि की मूर्तियाँ भी महिलाएँ, विहारों तथा स्तूपों पर बनी हैं । पाँचार शैली का कोई प्रभाव इन मूर्तियों पर नहीं है । ब्राह्मशैली में अपरावती की कला भक्तिभावना के सिरे प्रकट है । बुद्ध के चरम-विश्वों के सामने विगत उपासिकाओं की मूर्तियाँ भक्तिभाव का उद्गार करने वाली हैं । आश्रितों ने अपने गुरु राम तक भजे थे । संभव है उसके परिणाम-स्वरूप वहाँ का कुछ प्रभाव ब्राह्मणशैली पर भी पड़ा हो । काली और नासिका की गुफाएँ इसी काल की हैं । गुफाओं की भीतों पर ब्राह्म धर्म के राजा तथा राजाओं की मूर्तियाँ अंकित हैं ।

माधवजी राजा अपने शिर पर शिव की प्रतिमा को बहून करने के कारण मारुतिव कहल जाते हैं । मारुतिव सम्राट् अपनाप ने अपनी कन्या का विवाह बाकाटक प्रसीम अपने सामन्त प्रवरसेन के पुत्र मोदमी पुत्र के साथ कर दिया और अपने दोहिज प्रवरसेन को राजा बना दिया । ये दोनों बंधु साथ थे । अतः इनके समय में अनेक शिव मंदिर बने जिन पर हिमालय-पर्वतों के चित्र हैं । गुप्तकाल में विष्णु मन्दिरों की अविद्यता है जिनमें मूर्तियाँ प्राकृतिक मसीर एवं रमणीय मुद्रा में अंकित की गई हैं । सागर त्रिसे के ऐरण स्थान का विष्णु मंदिर वर्तनीय है । भक्तिभाव का एक चित्र सप्त-प्लमुक्त नागराज की उच्च प्रतिमा में भी है जो मज्जता की १२ वीं गुफा की द्वार मिति पर बनी है । मज्जता के पास उदयगिरि में पृथ्वी का उद्धार करने वाले बाराह की मूर्ति

है। काशी के पास इसी प्रकार की शोचर्चन बारी बृज की मूर्ति पाई गई थी। समि ठुर के पास देवपड़ में शेषशायी बिष्णु की मूर्ति एक मंदिर की बाहरी दीवार पर बनी है। पनेन्द्र मोल का दृश्य अंकित करने वाले शिलापट्ट भी मिले हैं। कार्तिकेय की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। कुमार गुप्त प्रथम की स्वर्णमुद्राओं पर भी कार्तिकेय की मूर्ति है। अन्नकुण्ड विष्णुनाथिख का बनवाया हुआ सोहे का नाट जिसे हिस्सी की किस्सी कहा जाता है, कुनुबमीनार के पास महरोली ग्राम में लड़ा है। इसका सोझा इतना अच्छा है कि उस पर आज तक मोरचा नहीं लगा।

बाज्जीं लती में बीरंगाबाद के पास बेकम स्थान में पहाड़ काट कर जो मंदिर बनाये गये, वे बनने आम में अनुरूप हैं। इनमें बाह्यम बीड़ एवं जैन मंदिर है। कैलास मन्दिर विज्ञानता तथा मध्यता में सबसे बड़कर है। बिना बूने मसाले के ऐसे मन्दिर पहाड़ को काट-काट कर जितन धर्म तथा कौशल के साथ बनाये गये होंगे इसे अनुभव करते ही अनुमान तथा कल्पना की पथार्थता जाने आकर लड़ी हो जाती है। इन मंदिरों की मूर्तियों पर कुछ दृश्य भी अंकित किये गये हैं यथा मुसिहावतार का दृश्य, जैतक की मूर्ति शिव पार्वती का विवाह आदि।

बंबई के पास समुद्र में एक जम्बीप है जिसे पहले बारापुरी कहते थे। वहाँ संभवत बस्ती थी। समुद्र की बारा के बीच में पड़ने से उसे बारापुरी कहते हैं। बंबई में ने इस नाम को बदल कर ऐरीकेष्टा कर दिया। यहाँ दो पहाड़ियाँ हैं जिनके ऊपर आम को काट कर मन्दिर बनाये गये हैं। मन्दिरों के स्वप्न छत तथा कुछ होल अब भी लड़े हैं। कुछ मूर्तियाँ भी हैं जिनमें योगिदास मूर्ति जटानूटबारी महेश्वर की प्रबालमुद्रावाली मूर्ति शिवराज्य की प्रतिमा आदि उत्तेजनीय हैं। मूर्ति पर शिव पार्वती विवाह का दृश्य भी अंकित है।

बसिप में काशी के समीप समुद्रतट पर जो बट्टाएँ हैं उन्हें काट कर भी मन्दिर बनाये गये हैं। ये मन्दिर रत्न नाम से प्रख्यात हैं। ये मन्दिर पल्लवराजाओं के राजकाल में सातवीं लती में बनाये गये थे। इन मन्दिरों में आदि बाराह शेष-शायी बिष्णु तथा लक्ष्मी की मूर्तियाँ हैं। एक बट्टाएँ को काटकर भीमरत्न-उपस्था का दृश्य भी अंकित किया गया है। पंजाब के अन्तर्गत काँगड़ा की बाटी में मसकर के मंदिर भी पहाड़ी काट कर बनाये गये हैं जिनमें शैलनाथ का मन्दिर सुन्दर है।

परवर्ती कलाकृतियों में जयेल राजाओं के बनवाये हुए जम्बुदा के मन्दिर हैं। इनमें कुछ मन्दिरों पर कौसरुता प्रेरित अवसीम चित्र हैं। महादेव और बिष्णु से सम्बन्धित मंदिर इसी प्रकार के हैं। जैन मन्दिरों पर ये अवसीम चित्र नहीं हैं। कुनराट में सोम नाथ का मंदिर यहाँ बाट अपने विष्णु की कहानी कई बार सुना चुका है। मुसलमान मूर्ति चंद्रक तो रखे, पर कला को वे भी सहाते रहे।

उपनी मसजिदा में मूर्ति न रखी गया तो इन्हीं मन्दिरों में सी गई है।

राजस्थान में आजू पर्यंत पर देखाया गया के समीप दो जतीब मय्य जैन मंदिर हैं जो पश्चिम संगमरमर पर्यर के बने हुए हैं। इन मन्दिरों की चित्रकारी अद्भुत है। बेसबूटे पाली आदि सब संगमरमर को तराश कर बनाये गये हैं। छत्रों में मृत्यु कला की भावप्रणाम्ये सुन्दरता से अंकित की गई है। बीच में सटारता हुआ संगमरमर का छाड़ अपनी अद्भुत आभा छिन्का रहा है।

पुरी का जमप्राप मन्दिर कोणार्क का मूर्ध मन्दिर तथा मुक्तेश्वर के मन्दिर भी प्रख्यात हैं। किसी को नाबिका-मेरु पड़ना हो तो इन मन्दिरों को अवश्य देखे। बामनाभियों के पंचमकार कहीं-वहाँ तक फैल गये थे।

दक्षिण में मन्नूर का एक मन्दिर १८११ वर्षों पर टिके अपने मण्डप के कारण प्रसिद्ध है। कर्णाटक में होयसलबंन के एक राजा ने हातेविह स्थान में १२वीं सदी में ऐसा मन्दिर बनवाया जिसमें प्रायः सभी पौराणिक देवी देवताओं के चित्र उत्कीर्ण हैं। पर अपने अछूरे रूप में यह मन्दिर मुसलिम आक्रमण की बर्बरता को भाव भी धुनघुना रहा है।

बिहार में पालवंशी राजाओं के राजकाल में काले परवर की अनेक मूर्तियाँ बनीं जिसमें भारतकला भवन काशी में सुरक्षित बिष्णु की एक मूर्ति है।

मुसलिम काल में महाराजा कम्मा का बनवाया हुआ कीर्ति स्तम्भ प्रख्यात है जिस पर अनेक देवमूर्तियों के साथ नरेश चतुर्भुज आदि काल-सम्बन्धी मूर्तियाँ भी अंकित हैं। अल्ताह शम्भ भी मरबी मन्नरो में लिखा हुआ है। अकबर द्वारा निर्मित फतेहपुर सीकरी तथा आनरे के भवन विपुल भारतीय शिल्प के नमूने हैं। ब्रितिया में महाराज बीरसिंह देव का बनवाया हुआ चतुर्भुज मन्दिर भी बर्तनीय है। ब्रितिया की मुस्लिम मूवीन मूर्तियों के नमूने मद्रास संघाहालय में सुरक्षित हैं।

सुदूरपूर्व अनाम कम्बोज यत्र सुमाना बहल आदि में भी भारतीय कला के कई मन्दिर मिले हैं, जो ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं। इनमें यत्र द्वीप स्थित बोरो बुदुर का मन्दिर अपनी कला के लिये विख्यात है। नवम शतक में यहाँ के प्राम्बनन स्थान में एक विशाल स्थापित किया गया और ब्रह्मा विष्णु तथा महाेश्वर तीनों के मन्दिर बनवाये गये। जिस मन्दिर बीच में है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्माता सब था क्योंकि क्षेत्र के चारों ओर भी अनेक छोटे-छोटे सिद्ध मन्दिर पाये गये हैं। इन मन्दिरों पर राम और कृष्ण के जीवन से भी सम्बद्ध अनेक यात्राओं अंकित हैं। यत्र द्वीप में एक तेरहवीं सदी की बौद्ध प्रतिमा भी प्राप्त हुई है जिसकी शालग्रामा बोधगया के मन्दिर की बौद्ध प्रतिमा से मिलती जुलती है। सीलोन के सीगिरिया स्थान पर ५ वीं सदी के अष्ट के भीति चित्र अजगता के चित्रों की समता करने वाले हैं। कम्बोज के अंगकोरवात मन्दिर के वृक्ष चित्र भी इसी प्रकार के हैं।

अपर भारत तथा बृहत्तर भारत की कलाओं पर जो कुछ लिखा गया है वह

वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकलाओं के इतिहास का अत्यन्त संक्षिप्त रूप है। वास्तु और मूर्ति तथा वास्तु और चित्र कलाएँ एक दूसरे के साथ अनिष्ट रूप से सम्बन्ध हैं। वास्तुकला में मन्दिर की गणना है और मन्दिरों में मूर्तियों की स्थापना की जाती है। इसी प्रकार मन्दिरों, मन्त्रों आदि की मूर्तियों पर चित्र अंकित किये जाते हैं। अब एक बितने चित्र उपलब्ध हुये हैं जिनमें अबन्ता के मूर्तिचित्र कला की दृष्टि से बेबील माने गये हैं। मि० ब्रिटिश इन्स्टीट्यूट के आरम्भिक कला नमूनों के समकक्ष रखते हैं। अबन्ता का कला कोशक वास्तुतः अद्वितीय है। अबन्ता में २६ गुफाएँ हैं जिनकी मूर्तियों पर चित्र अंकित किये गये थे। काम ने इनका अधिकांश भाग भष्ट कर दिया है। अब केवल कतिपय दीवारों तथा छतों पर अंकित चित्र अवशिष्ट हैं। ये चित्र ४०० से ९०० ई० के बीच वाक्याटक तथा चामुन्य राजाओं के संरक्षण में बने थे। चित्र बनाने से पूर्व मिट्टी पोखर तथा पिसी छरियों के मिश्रण का अस्तर रखा जान पड़ता है। उसके ऊपर इक्का सफेद पलस्तर है। फिर उसे चिकना बना कर चित्र अंकित किये गये हैं। चित्रों में सफेद साज हरे और नीले रंग भरे गये हैं। इन भाग-भरित चित्रों में जीवन के विविध रूप जातक कहामियाँ आदि अंकित हैं। पशु, पक्षी, वेन-बूटे आदि के चित्रण द्वारा इन चित्रों को अलंकृत किया गया है। चित्र अत्यन्त स्वाभाविक और उनीच एवं सानुपातिक हैं। मुसलमन कला इस कला के सामने कृत्रिम जान पड़ती है। प्वालिपर के सिविया संघहात्म्य में जो गुजरीबधन में स्थित है मूर्ति तथा चित्रकलाओं के उद्भूत नमूने सुरक्षित हैं। मूर्तियों में जाल भेषिका की हंसरी हुई मूत्रा बर्तनीय है। यह मूर्ति बिजला से कुछ दूर प्यारसपुर में प्राप्त हुई थी। भारत के बाहर विदेशी प्रदर्शनियों में भी आकर यह प्रदर्शक प्राप्त कर चुकी है। बाहर जो सिंहा की मूर्तियाँ हैं। इनमें पशावतार की मूर्तियाँ भी अवशिष्ट हैं। चित्र मुगलकाल से पूर्व के नहीं हैं पर कला की दृष्टि से सरहनीय हैं।

प्वालिपर के बाज घाम की गुफा-मूर्तियों के चित्र लंबोर के मंदिरों के चित्र उड़ीसा तथा गुजरात के ठाकुरों वाले चित्र सीमोन के मूर्तिचित्र जावा में बोरों बुधुर मंदिर की मूर्तियाँ तथा बुधु चित्र आदि अबन्ता की कला सीमों के ही अनुकरण जान पड़ते हैं।

अबन्ता की गुफाएँ कुछ शु गकानीय हैं और कुछ कुपकानीय। गुपकाल कला के विकास की दृष्टि से उत्कृष्ट समझा गया है। ये चित्र भी प्रथम चित्रों की अपेक्षा अधिक आकर्षक हैं। सभी चित्रकला-मर्मज्ञ इनकी सराहना करते हैं। सभी चित्रों का प्राकृत (डिजाइन) भिन्न-भिन्न है। रिक्त स्थानों में यश बर्तन आदि की मूर्तियाँ बनी हैं। जानचित्रों में पशुपति अबसोक्रिस्टर का चित्र और पटनात्मक चित्रों में जातक कथाओं के दृश्य स्थापनीय हैं। पलोरेट की कला का चित्रण तथा भेषिक की कला की रंगीनी इन चित्रों की भाषाभिधायित्व के समस्त निष्पन्न हैं।

## ७ । भारतीय सभ्यता का विस्तार

### क सांस्कृतिक यात्रा

वैदिक आर्य पुरुषार्थ-परायण थे। यह पुरुषार्थ वैदिक विचारों एवं भावनों के ढाँचों में बसा था। 'कृष्वन्तो विश्वमार्यम्' की ध्वनि सब उनके कानों में पड़ती रही। विश्व को आर्य बनाने का अर्थ वा एक व्यवस्थित मर्यादित नियम-व्रत-सीस समाज की स्थापना। मानव दस्यु बन कर प्रजा-पीड़क अस्थाचारी एवं चोपक का रूप धारण न कर सके प्रसूत वह सहृदयता स्नेह सहकार आदि द्वारा मानव समाज का उपयोगी घटक सिद्ध हो ऐसा पुनीत सद्य उनके समक्ष रहता था। इसी हेतु वे पृथ्वी मंडल पर फैले उगुहोनि उपनिवेश बसाये और वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता का प्रचार किया। हमारी यह सांस्कृतिक यात्रा सुदूर अतीत काल से लेकर अब तक चलती रही है।

अथर्ववेद के पंक्तियों काण्ड में विज्ञान शास्त्र की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है। उपमरान से वह आर्यपरिशाजक की चतुर्विध सांस्कृतिक यात्रा का भी निर्देश करती है। परवर्ती साहित्य में शास्त्र व्रत वा नियम को अतिशय्य करने वाला व्यक्ति है। वेद में वह व्रतों के ऊपर प्रतिष्ठित है। परिशाजक सभी व्रतों से ऊपर है। यह मर्यादा को ही नहीं उसने आरम्भिक व्रत को भी तोड़ दिया है। वनस्थों का भी क्षिरोमणि शास्त्र परिशाजक एक का नहीं सबका है। भूमंडल भर उसका कार्यक्षेत्र है प्रचारक्षेत्र है। स्वयं व्रतों से ऊपर होकर भी वह मानवमात्र को व्रतों की सीखा है रहा है। वह व्रतों तथा नियमों में रमण कर चुका है इसी हेतु सबको उनकी उपयोगिता बताने का वह अनिवार्य है। जो व्रतों के भीतर प्रविष्ट नहीं हुआ और उनमें स्नात तथा पारंगत होकर नहीं निकला उस व्रतों की शिक्षा देने का कोई अधिकार नहीं होता। विज्ञान शास्त्र इसे समझता है जानता है। जानबूझ कर ही वह परिशाजक बना है। उसका यह प्रवय्याग्रहण सीमाओं के संकुचित बाधनों का परिणाम अर्थात् शास्त्रमात्र मोक्ष वस्थापन के लिये है जनहितकामना से प्रेरित है, मानवता के संभव का विचारक है।

आर्य परिशाजक, जहाँ तक उसके व्यक्तित्व का संबंध है, ऐश्वर्यों से ऊपर है।

साम्राज्य मुक्तियों में विभक्त था। सेना युद्ध शान्ति कृषि व्यापार व्याप्य आदि विभाग व्यवस्थित रूप में कार्य करते थे। मुक्तियाँ विपर्या में विभक्त थीं। विपक्षपक्ष एक-एक परामर्शदाता समिति के सहयोग से शासन की देखभाल करते थे। दण्ड पाबिक कारागार को सन्हासते थे। जाट गुप्तथेदों को जानने के लिये नियुक्त थे। शौक्षिक कर बसूस करत थे। व्यवसायियों के नियम थे।

परवर्ती काल में भी यही राजनीति चसती रही। सिवा भी ने भी उसी पद्धति पर बट्टप्रधान प्रणाली का सुनपात किया। मुसलमान शासकों ने भी राजपद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया। शासकों की इकाई जैसे पहले स्वतन्त्र की बेंसी ही बनी रही। बरेलू उद्योग-बन्धे पनपते रहे। शासन की दृष्टि से भले ही उद्यम-मुनस होती रहीं। कभी देश एक हुआ कभी कण्ठ-कण्ठों में विभक्त। अब-अब यह एक हुआ अब-अब इसकी धी और शोभा सुमनस भर में प्रवीण होती रही। इसकी विभक्त अवस्था में ही धात्रमन हुए पर इसका रग-रग बहुत कम परिवर्तित हुआ। बैल-मूवा में कलर जाया कभीन सख्यों का समावेश हुआ धार्मिकता आये और गये। कुछ ठहरे भी। जो ठहरे थे इसकी सम्पत्ता के सागर में बुलमिल कर एक हो गए। जो एक नहीं हुये वे भी प्रभावित अवश्य हुये। भारतीय सम्पत्ता आक्रमणों के संसावर्तों को सेलकर भी आक भीवित है और अब तक भीवित रहेगी अब तक यह अपने पूर्वकों के खामख सिद्धान्तों की माम्यता को एकान्त बिस्मृत न कर देगी। इस सम्पत्ता के पास एक अदम्य सांस्कृतिक संवेद्य है जिसकी विश्व भर को आबस्यकता है। इसी संवेद्य के लिये यह भीवित है और भीवित रहेगी। बिस्वनियन्ता का संकेत यही जान पड़ता है।

## ग सहयोग

सम्पत्ति की सम्पत्ता सहाहनीम है राजनीति की कुसलता भी वेपस्कर है, पर यदि उनका सदुपयोग न हुआ दुरूपयोग हुआ तो उनसे बड़ कर जीवन के लिये अन्य कोई अमिश्राप भी नहीं है। इस दुरूपयोग से बचने के लिये आवश्यकता है कि हम धन को प्रभु का दिया हुआ समस्त कर प्रभु-सेवा में ही लगा दें और राजनीति के कौशल को सामाजिक हित का साधन समझें। गर की सेवा मारायण की ही सेवा है। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज समाजोपयोगी कार्य इसी भावना से प्रेरित होकर किया करते थे। जैसे भी एक मानव का बूधरे मानव के साथ सहकार होता ही है। जिस अवस्था में हम पैदा होते हैं उसी में स्थित रहना बसम्भव है। प्राकृत अवस्था से निकल कर सम्पत्ता की अवस्था में आना ही पड़ता है। सम्पत्ता समा या समाज के योग्य बनने का भाव है। इसके लिये हमें अपने व्यक्तित्व के, अपनी सामक सम्पत्ति के कृष्ट अंश का त्याग करना पड़ता है। यह त्याग एक कोर आत्मनयम की जन्म देता है तो दूसरी ओर समाज के लिये हमें उपयोगी बनाता है।

सामाजिकता से पृथक् रह कर जीवन यापन करना दुष्कर है। एकान्तप्रियता सांस्कृतिक उत्थान के लिये तो अपेक्षित है परन्तु शौकिक अभ्युदय के लिये सामाजिकता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। सामाजिकता में भ्रम-विभाजन एक उपयोगी उपादान है। हमारी सभ्यता में वर्ण-व्यवस्था भ्रम विभाजन के रूप में ही है। परिस्थितियों के कष्टाचारों से आज यह भ्रम ही जर्जर होकर अनुपयोगी सिद्ध हो रही हो परन्तु अपने स्वामाजिक लक्षण रूप में यह भारतीय समाज का अभ्युदयान कर चुकी है। अभ्युदयान के साथ उसने समाज का नाम भी किया है। विदेशी आक्रान्ताओं के प्रबल आचार्यों को भारतीय समाज यदि सह गया तो उसका प्रमुख कारण वर्ण - व्यवस्था ही थी। वर्ण समाज के दुर्य से और पारस्परिक सहयोग पर आधारित थे। विभाज्य सर्वत्र होते हैं। आवश्यकता है उनके अन्त्योग्य-अवसन्निध की। ये विभाज्य स्वतन्त्र रह कर यदि एक दूसरे पर अवसन्निध न हुए तो समाज के लिये विनाशकारक सिद्ध होते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों में उच्चावच स्थिति जाती ही रहती है। आचार्य और विद्यार्थी समान स्तर के भागी नहीं हैं। राजा और प्रजा का भी सम्बन्ध इसी प्रकार का है। स्वामी और सेवक में भी ऐसी ही सम्बन्ध भावना कार्य करती है। पर इसके होते हुये भी कौटुम्बिक प्रणाली के रूप में हम सब एक होकर रहते रहे हैं। यह सेवक-सम्बन्ध वर्ण व्यवस्था के भीतर निरन्तर सक्रिय रहा है। हमारी सभ्यता इन्हीं मधुर सम्पर्कों पर फूली और फली है। हममें से एक पुरोहित है, सबके लिये बड़ा है। सबका नेता या पथ प्रदर्शक है, तो दूसरा कर्म-परायणता प्रगतिशीलता सफलता और पराक्रम का पुत्र बना हुआ दिखनाई देता है। तीसरा धनार्जन करके सम्पूर्ण समाज में सम्पदा का वितरण कर रहा है समाज के एक एक घटक को उपलब्ध दे रहा है और चौथा अपने घरीर से कठोर परिश्रम करवा हुआ अम्य चीजों की सेवा कर रहा है। पर-सेवा में अपनी सेवा हो ही जाती है क्योंकि सभी अंग समाज के अंग हैं घरीर के अवयवों की भाँति वे परस्पर सम्मिश्रित हैं। अन्त्योग्याध्यय अवस्था सहयोग की यह भावना हमारी सभ्यता में धम्मीर रूप से प्रविष्ट है।

सहयोग के इसी आधार पर हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त की लक्ष्यों निर्धारों और वर्गों को अपना सेवक ही नहीं, सहयोगी भी बनाया विविध प्रकार की कार्य प्रणालियों में सार्वजनिक की स्थापना की और मानव-मानव के बीच ऐसा मधुर सम्बन्ध स्थापित किया कि हम अपने अभ्युदय के विरोधी तत्वों पर विजय प्राप्त कर सके। सामाजिक आधार पर हमने उच्छृंखल व्यक्तियों का नियमन किया विपल विद्रोह—जम्प उद्रेकों का निराकरण किया और सहानुभूति तथा प्रेम के आधार पर इस पृथ्वी को ही स्वर्ग में परिणत करके दिखा दिया। सबको अपनी उन्नति में ही नहीं सबकी उन्नति में सचेष्ट रहना चाहिये। सर्वहित—चिन्तन सामाजिकता की सबसे बड़ी सिद्धि है। यहाँ एक को नहीं सबको समझना है सबको प्रदीप्त होना है,

अपना अपना मागबाग देते हुए और सिते हुए विकासपथ पर अग्रसर होना है। हम स्वतंत्र भी हैं पर सामाजिक हित में परतन्त्र भी। इस स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य में भी सामंजस्य स्थापित करते हुए हम सबको आगे बढ़ना है। भारतीय सभ्यता इस सहयोग और सामंजस्य की भावना को निरन्तर अपनाते हुये बसी है।

सहिष्णुता सहयोग की सहोदरा है। यदि हमें समाज में रहना है तो सहिष्णु बनना पड़ेगा। भारतीय सभ्यता में विभिन्न मठ और सम्प्रदाय विभिन्न विचार-मनो स्थियों को अपनाते हुये साथ-साथ रहे हैं। चाब चाक बैसा नास्तिक कुछ बैसा पुनर्भगवारी और कबीर जैसा आत्मवारी इसी भारत भूमि की उपज हैं। उद्यान में संत-कवि पादक के साथ कोमल बेसा भी रहता है। अनन्नास के साथ पपीठा रहता है। बाबाम के साथ किसिमिल रहती है, गोबूम के साथ योबुल रहता है। जैसे ही माईय के साथ ईत रहता है, कर्मठता के साथ उपासना रही है और ज्ञान के साथ कमा रही है। हमने वैमिन्स में समत्व और अनकत्व में एकत्व के दर्शन किये हैं। कर्त्तव्य के साथ अधिकार का भान भी हमें रहा है। अहिंसा के साथ हिंसा की उपबोधिता पर भी हमारा ध्यान पया है। इस विमलजगता ने हमें वायम्नुक परिस्थितियों के साथ भीबित रहना सिखाया है। मझा नये नये सिद्धान्त नये नये आचार, संकीर्ण से संकीर्ण और उदार से उदार कट्टर से कट्टर और विनम्र से विनम्र विचार और व्यक्ति आये हैं। हमने सबके सामाजिकता के लिये उपयोगी अर्थों को अपनाया है। अपनी सभ्यता के मेव सख को स्थिर रखते हुए हमने सब कुछ बाँकर अपने अंतों का विकसर्जन किया है। सम्भव है इस विवर्जन में कुछ अनुपयुक्त अर्थ भी आ गया हो और उसने हमें हानि भी पहुंचाई हो पर काल का सर्वातिशायी प्रभाव इन समस्त अर्थों से हमें पार करता रहा है। हमारा सहयोग हमारी सहिष्णुता हमारी उदारता मानव में मानवत्व के दर्शन द्वारा अभ्यास्य मार्ग के समान अनवरत जायक रहती है। पावन व्यामुक्तता उसे आन्ध्र नहीं कर सकती।

इस बराबाम पर अनेक सभ्यताओं ने अपना अपना अभिनय किया। किसी ने कला को महत्त्व दिया किसी ने शक्ति को किसी ने सौन्दर्य को तो किसी ने विनय को। एकांगिता की प्रवृत्ति के कारण वे उत्पन्न होकर विभट्ट हो गईं उनका क्षानिक दर्शन इतिहास में अपनी स्मृति मात्र छोड़ गया है। जिस स्पार्टा ने बल का प्रदर्शन किया जिस एथेन्स ने कला की जीवन्ता का आदर्श समझा जिस रोम ने विपान एवं व्यवस्था का प्रकाश किया उनकी वह विविधता काल के माल में समा गई। जीवन्ता का में आज उसके कहीं दर्शन नहीं होते। पर हमारे सहयोग ने सामंजस्य ने और सहिष्णुता के माध ने हमारी सभ्यता को विनष्ट होने से बचा लिया है।

घ आध्यात्मिकता

यन तथा राजनीति आध्यात्मिकता से संयुक्त होकर उदात्त का भारण कर लेते हैं। सहयोग भी आध्यात्मिकता के आधार पर ही दृढ़ एवं सज्जन होता है। गुरु कामनायें, लक्ष्मी लक्ष्य अनुशास्य उद्देश्य अत्राभीपान वृद्धि हमारे अवलम्ब पुरुषानों एवं



साधनों को व्यर्थ कर देती है। हम चलते हैं पर प्रगति नहीं कर पाते बढ़ नहीं पाते। कोस्तू के बैसे की भांति चक्कर काट कर जहाँ के ठहाँ रह जाते हैं।

आध्यात्मिकता का आदर्श हमें सँकाटा है उठाता है और उदार दृष्टि योग से प्रत्येक विषय को सम्मुख उपस्थित करता है। हम वेग और काम की संकुचित परिधि से निकल कर, क्षणिक खारीरिज आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर विशाल वातावरण में व्यापक दृष्टि और फास में विभरण करने लगते हैं। इससे हमारा हित-सम्पादन ठो होता ही है मानवता का पथ भी प्रशस्त बनता है। स्थावर धीरुष पशु पक्षी सभी एक नवीन परिपार्श्व में सम्मुख आते हैं। हमारी दृष्टि बढम जाती है चिन्तन नवीनरूप धारण करता है और किया सम्पूर्ण उरसाह तथा बढता से ओतप्रोत हो उठती है।

आर्य पुरुषों ने इसी हेतु सुरु को जलोच से मिताया पृथ्वी को धावा से संयुक्त किया और अर्ध निज परेगा बृति का परिवर्णन करके वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को अपनाया। खरीर अर्ध है पर इसका विदारता सम्पूर्ण है। अतः अर्ध नहीं अमर्त्य आत्मा का नाता ही वास्तविक नाता है। इस नाते में ममत्व की व्यापकता एक प्रगल्भता है अपने और पराये हित की एकता है ईर्ष्या-द्वेषादि का अभाव है और सीमन्तत्व की अवस्थिति में कंठ से कथा मिड़ा कर अत्योन्मत्त अवसन्धन पाकर इस पथरीली क्लेश बहुता संयुक्ति—सरिता को पार कर जाना है।

मानव के सभी प्रयत्न दुख से मुक्ति पाने के लिये हैं। इस मुक्ति का मार्ग एक ही है—आत्मस्थ हो जाना। यही आध्यात्म पथ है। आध्यात्मिकता आत्म-व्यपणता है। खारीरिज वैमल्य अनिरय है। आत्मिक ऐश्वर्य ही निरय है। उद्यी का सकल प्राप्तव्य है उद्यी की संगति ध्यातव्य है उद्यी का स्वरूप ज्ञातव्य है। एक मात्र यही हमारा मन्त्रव्य है।

भारतीय सम्प्रदाय भारतीय चिन्तन भारतीय कला भारतीय विज्ञान सबकी यही एक दिशा रही है। धरक या सुषुप्त को गह्रिये बाधकारीय व्याकरण या दर्शनो का अध्ययन कीजिये उपनिषद् या आरण्यक देखिये कलाओं का अनुशीलन कीजिये किसी भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कीजिये सर्वत्र एक ही ध्वनि अवलम्बित होगी—‘आत्मा का अरे इष्टं यथाह मामृतात्मां निमहं तेन कुर्याम हृद्देशनीयं सत्यं मतिं तमेव चिन्तयामासुमुपतिः। वैदिक जन बीड समस्त सभी आर्य इस एत एतं क उपागच्छ रहे हैं। आध्यात्मिकता में सबके प्राणों का निवास है। सब अन्तर्गोचरता श्री य निमल्य होते हैं।

आध्यात्मिक सम्मता संस्कृति की जगती है। बाह्य सम्मता जिसमें रहन-सहन वस्त्र खास मोहन-भाजन आदि की अधिकता है, समग्र है संस्कृति से दूर हो पर आन्तरिक सम्मता जो मन की निर्मलता बुद्धि की विशुद्धता तथा आध्यात्मिक पवित्रता का ही अपर नाम है विशुद्ध संस्कृति है। वैयक्तिक विकास इसी पर अवलम्बित है। सामाजिक विकास सम्मता द्वारा होता है।

भारतीय सम्मता की आध्यात्मिकता उसे यूरोपीय समाजवाद से पृथक् कर देती है। समान रोटी और समान घर-बार का समाजवाद भौतिकता पर टिका है। अध्यात्मवाद भौतिक समारों की असमानता में भी सहृदय सामनस्य की समानता पर खड़ा है। आन्तरिक सम्मता को जब हम संस्कृति कहते हैं तब उसका अर्थ होता है आत्म पर समाज-मन वित्त आदि का संस्कार। हमारी सम्मता बाह्य के दिखाव से भीतर की वास्तविकता की ओर गई है। यही उसकी आध्यात्मिकता है और इसी में उसका अस्य सम्मताओं से पार्श्वव्य है।

हमारी सम्मता के आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने हमारे समग्र वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन क्रम पर प्रभाव डाला है। हम जो कुछ करते हैं उसमें परलोक की बात किसी न किसी रूप में आ ही जाती है। मासोपार्जनों ने हमें जो दार्शनिक जाति की संज्ञा दी है वह निराधार नहीं है। बाह्यभोज में भी हमने खुस कर खेस खेते हैं, यह कामन्विक शुभ, मरदाब आनन्द आदि के धर्मों से सिद्ध है पर इन धर्मों को खेस कर भी हमने आत्मरति आत्मकीर्ति की ही प्रभावता दी है। परिधि में परिभ्रमण करते हुए भी हमने अपने केन्द्र का परित्याग नहीं किया। हमारी सम्मता का मही केन्द्र बिन्दु हमारा धर्मत्व है। विश्व को इसी दृष्टिकोण सम्मता के इसी केन्द्रबिन्दु की आवश्यकता है। धर्मों के जाड़े कितने रूप उलट और बिछे रहें और जन पर बोधित जाड़े कितनी सम्मताओं के रूप अलग होते और परिष्कृत होते रहें, पर अन्त में एक ही बाव समग्र समस्याओं का समाधान करेगा। यह बाव अध्यात्मवाद है। एक ही सम्मता विश्व को शांति दे सकेगी और वह है आध्यात्मिक सम्मता अध्यात्म पर आधारित समाजवाद। रोटी पर टिका समाजवाद धर्म-संघर्ष को लेकर खसा है। उसका मध्य भी नहीं रहा है और अन्त भी नहीं रहेगा। युद्ध और कसह, लताब और संघर्ष समाज में विधोम फैलाते हैं। शांति का प्रसार उनके द्वारा नहीं होता। शांति उपपन्न करनी है, वो हमें अध्यात्मवाद का आश्रय लेना ही पड़ेगा। हमारी सम्मता इस परापर पर इसी पुनीत आदर्श की स्थापना के लिए जीवित है।





